ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं. ४३

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय प्रवचन

भाग-२

श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य कृत पुरुषार्थसिद्धि-उपाय ग्रन्थ की
पण्डित टोडरमलजी कृत भाषा-टीका पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के शब्दशः धारावाहिक प्रवचन
गाथा ३९ से १४९, प्रवचन ३१ से ६०

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

(श्री शान्तिनाथ दिगम्बर जिनबिम्ब पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, विलेपार्ले, मुम्बई के अवसर पर दिनांक 17 मई से 22 मई 2015 तक)

ISBN : 978-93-81057-27-8

न्यौछावर राशि : रुपये 20.00 मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
   फोन : 09997996346, 2410010/11
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां,
   निर्मला कोन्वेन्ट रोड, राजकोट-360007
   फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक : **देशना कम्प्यूटर्स,** जयपुर

प्रकाशकीय

आज से लगभग ९०० वर्ष पहले हुए भावलिंगी सन्त दिगम्बर आचार्य श्री अमृतचन्द्राचार्य, श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य के हृदय में स्थित मर्म को टीका करके खोलकर भव्य जीवों के कल्याण के लिये महान अद्वितीय उपकार किया है। अमृतचन्द्राचार्यदेव ने स्वतन्त्र शास्त्रों की रचना भी की है, जिसमें पुरुषार्थसिद्धि-उपाय नामक ग्रन्थ का भी समावेश होता है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'जिनप्रवचनरहस्य कोश' भी है और इसकी टीका आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने की है, जिन्होंने मूल ढूँढ़ारी भाषा में ग्रन्थ की टीका की है। पण्डितजी ने आचार्य के भावों को अत्यन्त सुन्दर तथा भाववाही सरल शैली में खोला है। इस प्रकार आकाश के आधार स्तम्भ समान आचार्यों ने अनुभव को लेखनी में उतारकर मोक्षमार्ग को अखण्ड रखा है।

आचार्यों के हृदय के भावों को वर्तमान काल में यदि किसी ने खोलकर स्पष्ट किया हो तो वे हैं—भव्य जीवों के तारणहार दिव्यमूर्ति ज्ञानानन्दस्वभावी **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी**। इस काल का एक आश्चर्य समान पूज्य गुरुदेव ने स्वयं के अनुभव के बल द्वारा शास्त्रों में रहे हुए गम्भीर भावों को खोलकर भव्य जीवों को परोसा है। इस काल में आपश्री का अलौकिक सातिशय उपकार भरतक्षेत्र के जीवों पर वर्त रहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने ईस्वी सन् १९६६-६७ में पुरुषार्थसिद्धि-उपाय पर भाववाही प्रवचन किये हैं। यह ग्रन्थ तीन अधिकारों में विभाजित है। मुख्यरूप से श्रावकों के आचार सम्बन्धित वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है, तथापि चारित्र की स्थिरता प्राप्त ज्ञानी धर्मात्मा को सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक ही यह चारित्रदशा प्राप्त होती है। इस वस्तुस्थिति का क्रम आचार्य भगवान ने ग्रन्थ रचना में किया है, जो उनकी लेखनी से स्पष्ट होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान के बिना कोई चारित्र अंगीकार करे तो वह क्रम उल्लंघनरूप दोष है, जिससे किसी काल में भी

सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। अत: आचार्य भगवान ने प्रथम अधिकार में सम्यग्दर्शन का वर्णन किया, द्वितीय अधिकार में सम्यग्ज्ञान का वर्णन करने के पश्चात् सम्यक्चारित्र का वर्णन किया है। इन सभी बातों की स्पष्टता पूज्य गुरुदेवश्री ने सरल भाषा में प्रवचनों में की है।

पूज्य गुरुदेवश्री के पुरुषार्थसिद्धि-उपाय ग्रन्थ पर कुल ८९ प्रवचन हुए हैं। इन प्रवचनों को अक्षरश: लिखाकर उन्हें प्रकाशित करने का निर्णय श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई द्वारा लिया गया है। जिनका प्रकाशन इस ट्रस्ट एवं श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा संयुक्तरूप से किया जा रहा है। इन प्रवचनों को कुल तीन भाग में प्रकाशित करने की योजना है, इस द्वितीय भाग में कुल ३० प्रवचनों का समावेश किया है। इस भाग में सम्यक्चारित्र अधिकार के प्रवचन लिये गये हैं। सभी मुमुक्षु भाई-बहिन इन प्रवचनों का भरपूर लाभ प्राप्त करें—ऐसी भावना है।

इस प्रसङ्ग पर, मुमुक्षु समाज पर जिनका विशिष्ट उपकार है, उन धर्मरत्न प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के चरण कमल में अत्यन्त भक्तिभाव से अभिवन्दन करके भावना भाते हैं कि मुमुक्षुजन अतिशय उल्लासपूर्वक इन प्रवचनों का गहन अभ्यास करके, प्रतीति तथा अनुभव करके शाश्वत् परमानन्द को पायें।

प्रस्तुत प्रवचनों को कम्प्यूटर से सुनकर श्री नीलेशभाई जैन, भावनगर द्वारा गुजराती में कम्पोज किया गया है, तत्पश्चात् श्री चेतनभाई मेहता, राजकोट द्वारा फिर से इन प्रवचनों को सुनकर मिलान किया गया है। प्रवचन तैयार करते समय यथासम्भव सावधानी रखी गयी है। पूज्य गुरुदेवश्री के भाव तथा प्रवचनों का प्रवाह व्यवस्थित बना रहे, ऐसी सावधानी रखी गयी है। तथापि पाठकवर्ग को किसी प्रकार की क्षति दृष्टिगोचर हो तो ज्ञात कराने का विनम्र अनुरोध है।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) द्वारा किया गया है। साथ ही बालब्रह्मचारिणी कल्पनाबेन, सागर द्वारा रचित हिन्दी पद्यानुवाद दिया गया है। ग्रन्थ के मूल अंश को बोल्ड टाईप में दिया गया है। तथा सम्पूर्ण प्रवचनों को शुद्धता की दृष्टि से सी.डी. प्रवचन से सुनकर मिलान किया गया है। तदर्थ संस्था सभी सहयोगियों का सहृदय आभार व्यक्त करती है।

इस प्रकाशन में अत्यन्त सावधानी और सम्हाल रखने पर भी त्रुटियाँ रह जाना सम्भव है। सुज्ञ पाठकगण की ओर से इस सम्बन्धी जो कुछ सूचना दी जायेगी, उसे सहर्ष स्वीकार करते हुए आगामी संस्करण में उन्हें सुधार दिया जायेगा।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिए श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए श्री दिनेश जैन, देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

अन्ततः वीरमार्ग प्रकाशक पूज्य गुरुदेवश्री के पावन चरणों में मस्तक झुकाते हुए भावना भाते हैं कि सभी आत्मार्थी इस ग्रन्थ में समागत निश्चय-व्यवहार की सन्धियुक्त इन प्रवचनों का अवगाहन करके मुक्तिमार्ग की ओर गमन करें।

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर

दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल '**श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर**' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर,

पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी

सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त,

निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन क्रमांक	तारीख	गाथा	पृष्ठ नंबर
३१	०९-०६-१९६७	३९	००१
३२	१०-०६-१९६७	४० से ४३	०२१
३३	११-०६-१९६७	४-४४	०४४
३४	१२-०६-१९६७	४४-४५	०६३
३५	१३-०६-१९६७	४५—४८	०८२
३६	१४-०६-१९६७	४९	१०३
३७	१६-०६-१९६७	५०—५४	१२५
३८	१७-०६-१९६७	५४ से ५८	१४७
३९	१८-०६-१६६७	५९ से ६०	१७०
४०	१९-०६-१६६७	६० से ६१	१९०
४१	२०-०६-१६६७	६१ से ७१	२०८
४२	२१-०६-१६६७	७२ से ७८	२३६
४३	२३-०६-१६६७	७९ से ८५	२६४
४४	२४-०६-१६६७	८५ से ९२	२९०
४५	२५-०६-१६६७	९२	३१४
४६	२६-०६-१६६७	९२ से ९६	३३४

प्रवचन क्रमांक	तारीख	गाथा	पृष्ठ नंबर
४७	२७-०६-१९६७	९७ से १०१	३५६
४८	२८-०६-१९६७	१०२ से १०६	३७९
४९	२९-०६-१९६७	१०६ से १११	४०१
५०	०१-०७-१९६७	११२ से ११६	४२३
५१	०२-०७-१९६७	११६ से ११९	४४४
५२	०३-०७-१९६७	११९ से १२३	४६३
५३	०४-०७-१९६७	१२४ से १२५	४९०
५४	०५-०७-१९६७	१२५ से १२७	५०९
५५	०७-०७-१९६७	१२८ से १३०	५३२
५६	०८-०७-१९६७	१३० से १३५	५५२
५७	०९-०७-१९६७	१३५	५७७
५८	१०-०७-१९६७	१३६ से १४०	५९५
५९	११-०७-१९६७	१४१ से १४७	६१९
६०	१२-०७-१९६७	१४७ से १४९	६४५

ॐ

श्री जिनाय नमः

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय प्रवचन

(भाग-२)

श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य कृत पुरुषार्थसिद्धि-उपाय ग्रन्थ की
पण्डित टोडरमलजी कृत भाषा-टीका पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन

प्रवचन नं. ३१ गाथा-३९ गुरुवार, ज्येष्ठ शुक्ल १, दिनांक ०९.०६.१९६७

चारित्र का अधिकार चलता है, अन्तिम शब्द था। इसलिए **सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् ही चारित्र का आराधन करना कहा है।** है ? ३९ गाथा के ऊपर। पहले सम्यग्दर्शन प्राप्त करना, फिर सम्यग्ज्ञान का आराधन करना और फिर चारित्र अंगीकार करना—ऐसी बात है। कहो, ठीक है ? सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र नहीं होता।

मुमुक्षु : पंचम काल में कोई....

पूज्य गुरुदेवश्री : पंचम काल में दूसरा फेरफार होता होगा ? पंचम काल में सुखड़ी (एक गुजराती मिठाई) कैसे बनती है ? आटा, गुड़, और घी। इन तीन के अतिरिक्त पंचम काल में दूसरी कोई चीज़ होती है ? इसी प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो हों, वे ही होते हैं। पंचम काल में हो या चौथा काल में हो या महाविदेह में हो।

यहाँ तो कहते हैं **तस्मात् ज्ञानान्तरं चारित्राराधनं उक्त्** अन्तिम पद। ३९ के पहले **अतः सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् ही चारित्र का आराधन करना कहा है।** सम्यग्दर्शन के पश्चात् सम्यग्ज्ञान; सम्यग्ज्ञान के पश्चात् ही सम्यक्चारित्र की बात है। यहाँ तो

सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं होता, सम्यग्ज्ञान का ठिकाना नहीं होता और ले लो व्रत।

मुमुक्षु : वे कहाँ चारित्र कहते हैं, व्रत है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भी यह चारित्र, यह चारित्र कहते हैं कि हमारे यह चारित्र है। चारित्र है वहाँ दर्शन-ज्ञान होते ही हैं। मिथ्याचारित्र है, चारित्र कैसा? अब **चारित्र का लक्षण।**

गाथा - ३९

चारित्र का लक्षण

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्।।३९।।

सम्पूर्ण सावद्य योग के, परिहार से चारित्र है।
वह उदासीन विशद कषायों, से रहित निजरूप है।।३९।।

अन्वयार्थ : (यतः) कारण कि (तत्) वह (चारित्रं) चारित्र (समस्तसावद्य-योगपरिहरणात्) समस्त पापयुक्त मन, वचन, काय के योग के त्याग से (सकलकषाय-विमुक्तं) सम्पूर्ण कषाय रहित (विशदं) निर्मल (उदासीनं) परपदार्थों से विरक्ततारूप और (आत्मरूपं) आत्मस्वरूप (भवति) होता है।

टीका : 'यतः समस्त सावद्ययोगपरिहरणात् चारित्रं भवति' - समस्त पापसहित मन, वचन, काय के योग को त्याग करने से चारित्र होता है। मुनि पहले सामायिक चारित्र अंगीकार करता है, तब ऐसी प्रतिज्ञा करता है, 'अहं सर्वसावद्ययोगविरतोऽस्मि' - मैं सर्व पापसहित योगों का त्यागी हूँ। कैसा है चारित्र? 'सकलकषायविमुक्तम्' - समस्त कषायों से रहित है। समस्त कषायों का अभाव होने पर यथाख्यातचारित्र होता है। तथा कैसा है? 'विशदम्'-निर्मल है। आत्म-सरोवर कषायरूपी कीचड़ से मैला था, कषाय के अभाव होने पर सहज ही निर्मलता हो गई। तथा कैसा है? 'उदासीनम्' - परद्रव्य से विरक्त स्वरूप है। 'तत् आत्मरूपं वर्तते' - वह चारित्र आत्मा का स्वरूप है। कषायरहित जो आत्मा का स्वरूप प्रगट हुआ है, वही सदाकाल रहेगा, इस अपेक्षा

से आत्मा का स्वरूप है, नवीन आवरण कभी भी होगा नहीं। सामायिक चारित्र में सकलचारित्र हुआ परन्तु संज्वलन कषाय के सद्भाव से मलिनता नहीं गई, इसलिए जब सकल कषायरहित हुआ, तब यथाख्यात नाम पाया, जैसा चारित्र का स्वरूप था, वैसा प्रगट हुआ।

प्रश्न : शुभोपयोगरूप भाव है, वह चारित्र है या नहीं?

उत्तर : शुभोपयोग विशुद्ध परिणामों से होता है और विशुद्धता मन्दकषाय को कहते हैं, इसलिए कषायों की हीनता के कारण कथंचित् चारित्र कहलाता है।

प्रश्न : देव–गुरु–शास्त्र, शील, तप, संयमादि में अत्यन्त रागरूप प्रवर्तन करते हुए भी उसे मन्दकषाय कैसे कह सकते हैं?

उत्तर : विषय–कषायादिक के राग की अपेक्षा तो वह मन्द कषाय ही है। क्योंकि उनके राग में क्रोध, मान, माया तो है ही नहीं, अब रहा प्रीतिभाव की अपेक्षा लोभकषाय, किन्तु वह भी सांसारिक प्रयोजनयुक्त नहीं है, अत: उसकी भी मन्दता है। यहाँ भी ज्ञानी जीव रागभाव से प्रेरित होता हुआ अशुभराग को छोड़कर शुभराग में प्रवर्तन करता है किन्तु उस शुभराग को उपादेयरूप श्रद्धान नहीं करता, अपितु उसे अपने शुद्धोपयोगरूप चारित्र के लिए मलिनता का ही कारण जानता है। अशुभोपयोग में तो कषायों की तीव्रता हुई है। अत: वह तो किसी भी प्रकार चारित्र संज्ञा को प्राप्त नहीं हो सकता।।३९।।

गाथा ३९ पर प्रवचन

अब चारित्र का लक्षण।

चारित्रं भवति यत: समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्।।३९।।

अन्वयार्थ : कारण कि वह चारित्र समस्त पापयुक्त मन, वचन, काय के योग के त्याग से... सावद्ययोग का त्याग कहा क्योंकि निर्वद्ययोग का त्याग नहीं हो सकता। विकल्प होता है न अमुक? सावद्ययोग का त्याग होता है परन्तु फिर भी वह चारित्र जो है, वह तो **सम्पूर्ण कषाय रहित...** है। आत्मा में जो चारित्र है, वह तो

अकषायभाव से परिणमित स्वरूप को चारित्र कहते हैं। यहाँ तो उत्कृष्ट बात लेते हैं। यथाख्यात (चारित्र) तक ले जाते हैं।

उसमें आया था न? **आत्मरूपं**। वहाँ भी क्षायिक समकित लिया। ज्ञान में भी वह ज्ञान मिलकर केवलज्ञान में हो जाता है - ऐसा लिया था और इसमें भी यही प्रकार लेते हैं कि **सकल कषायरहित हुए तब यथाख्यात नाम प्राप्त हुआ...** अन्तिम शब्द ऐसा प्रयोग किया है। वह आत्मरूप है न, इसलिए तीन में उत्कृष्ट बात लेने में आयी है परन्तु चारित्र है, वह कषायरहित आत्मा के उदासीन, पर से विरक्त वीतरागभावरूप भाव को चारित्र कहने में आता है। पश्चात् महाव्रत आदि के परिणाम होते हैं, वे कथंचित् व्यवहार से चारित्र कहने में आते हैं। वास्तव में वह चारित्र नहीं है। कहो, समझ में आया?

समस्त पापयुक्त मन, वचन, काय के योग के त्याग से सम्पूर्ण कषाय रहित.. ऐसा यहाँ सम्पूर्ण लिया है न, **सकलकषायविमुक्तं विशदं निर्मल..** आत्मा की वीतरागी दशा। सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक स्वरूप की स्थिरता, शान्तता, अविकारता। **विशदं** अर्थात् **निर्मल परपदार्थों से विरक्तारूप... उदासीनं** की व्याख्या की है। **परपदार्थों से विरक्तारूप आत्मस्वरूप होता है।** रागादि से रहित अकषाय परिणाम, वीतरागी शान्तपरिणति, उस आत्मरूप को चारित्र कहने में आता है। कहो, देह की क्रिया, नग्नपना, वस्त्र, वह तो चारित्र नहीं परन्तु पंच महाव्रत भी चारित्र नहीं है।

मुमुक्षु : पंच महाव्रत चारित्र नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। नीचे पूछेंगे तो कहेंगे कथंचित् चारित्र नाम पायेगा शुभ-उपयोग। व्यवहार से नाम पायेगा। कथंचित् अर्थात् निमित्त।

मुमुक्षु : पुरानी रूढ़ि का चारित्र प्रत्येक को...

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ था परन्तु पुरानी रूढ़ि का? था कब, वह जाये। पुरानी रूढ़ि का चारित्र। यह पालते हैं ऐसा कहते हैं कि इन्हें हटता नहीं। पुरानी रूढ़ि का चारित्र कौन सा होगा? राग की मन्दता का कोई भाव हो, वह तो मिथ्यादृष्टि सहित शुभभाव है। उसे तो व्यवहार भी नाम नहीं पड़ता। अन्तर आत्मा ज्ञायकस्वरूप निर्विकल्प अनुभव के आनन्द के भान में प्रतीति होकर, उसका विशेष ज्ञान निर्मल हुई ज्ञान की सेवना करने के

पश्चात् जब स्वरूप में रागरहित स्थिरता की जमावट जम जाती है, ऐसी आत्मरूप दशा को चारित्र कहने में आता है।

यह चारित्र अर्थात् कुछ नहीं हुआ, यह वस्त्र छोड़ दिया, यह वस्त्र रखकर वे श्वेताम्बर कहें, वस्त्र रखकर, जाओ हम त्यागी हो गये। वस्त्र–फस्त्र कहाँ अन्दर थे कब? मुनिदशा तो अन्दर अकषाय परिणाम अर्थात् उदासीन, इतना देखो न, उदासीन कहा है न? परद्रव्य से इतना उदास... इतना उदास.. कि अपने आत्मस्वरूप की शान्ति की जो रमणता, अकषायभाव, परद्रव्य से अत्यन्त विरक्तता उदासीनरूप है।

अहो! इस वन में बाघ और सिंह दहाड़ मारते हों, वहाँ बैठे होते हैं। वनवास। समझ में आया? अन्तर के आनन्द की शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. समरस, उपशम रस के भोजन अनुभव करते हैं। आहा..हा..! उसे चारित्र कहते हैं, भाई! शान्त.. शान्त.. शान्त.. जिसमें शुभविकल्प का भी अवकाश नहीं। ओहो..! ऐसा भगवन आत्मा जो अन्तर शान्तरस का स्वरूप है, उसे ही पर्याय में शान्तरसरूप परिणम कर, सुधारस –आनन्द का रस–पीते हैं। कहो, समझ में आया? जिसे ऐसे बाघ शरीर के टुकड़े लेते हों, तो अन्तर में आनन्द की शान्तिरस के पान शान्त.. शान्त.. शान्त.. अकषायभावरूप शान्ति (परिणमित होती है), उसमें कहीं विषमता है नहीं। ऐसी अन्तर दशा को चारित्र कहते हैं। कहो, समझ में आया?

सम्पूर्ण कषाय रहित निर्मल परपदार्थों से विरक्त... जिनकी बाह्य नग्नदशा तो सहज ही हो जाती है, सहज हो जाती है, करनी नहीं पड़ती। उस भूमिका में पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प उठें, वे भी कोई चारित्र नहीं है; चारित्र का दोष है, चारित्र में मल–मैल है। कहो, समझ में आया? आत्मा अन्तर शान्त.. शान्त.. शान्त.. आहा..हा..! अकषाय वीतरागी पर्याय का वेदन जिसे शान्ति का.. शान्ति का... शान्ति का.. दुनिया कहाँ है और कहाँ है प्रतिकूलता और अनुकूलता, उसका जिसे कुछ ख्याल भी नहीं। समझ में आया? ऐसी आत्मदशा आत्मा के भान की भूमिका में शान्त.. शान्त.. अन्दर शान्तरस का ढाला ढल गया होता है। आहा..हा..! ऐसी सर्व पदार्थ से विरक्तता–उदासीन–उद+आसीन— वहाँ से हटकर स्वभाव की शान्ति में आसन डाला है – ऐसी स्थिर दशा.. आहा..हा..! उसे चारित्र, दर्शन और ज्ञान आराधना के पश्चात् ऐसी दशा को चारित्र कहते हैं। ऐसी बात

अभी सुनने को न मिली हो, वहाँ तो सब कहे चारित्र हो गया और व्रतधारी हो गया। क्या करे? उसमें इसे क्या? उसकी दशा की जो योग्यता है, उस जीव की जो पर्याय, जिस काल में उसकी योग्यता है, वह बात उसे बैठ जाती है। इससे कहीं वस्तु ऐसी हो जाती है? वस्तु-चारित्र न हो और चारित्र माने, वह तो इसे स्वयं को नुकसान है न, उसमें कहीं किसी को नुकसान नहीं। इसे स्वयं को सहन करना पड़ेगा।

यहाँ तो कहते हैं कि ओहो..! धन्य अवतार, धन्य जीवन जिनका! जिसने दर्शन और ज्ञान आराधनापूर्वक, जिसे परम उदास.. उदास.. ऐसा जिसे शान्तरस का परिणमन है, उसे चारित्र कहने में आता है। उस आत्मरूप की व्याख्या में, भाई! तीनों में उत्कृष्टता ली है। २२ में लिया न? २२ में। आत्मरूप। वहाँ क्षायिक लिया। २२ वीं गाथा कही थी न? वहाँ आत्मरूप की व्याख्या ऐसी की है। **वही श्रद्धान आत्मा का स्वरूप है। जो श्रद्धान क्षायिक सम्यग्दृष्टि के उत्पन्न होता है, वही सिद्ध अवस्था तक रहता है।** २७ वें पृष्ठ पर है। इस आत्मरूप की व्याख्या ही ऐसी करते हैं और दूसरा ३५ गाथा में। '**आत्मरूपं**' **यह सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। क्योंकि जो यह सच्चा ज्ञान उत्पन्न हुआ है।** इतनी व्याख्या, हों! सच्चा ज्ञान, **वह केवलज्ञान में मिलकर शाश्वत रहेगा।** है न! '**आत्मरूपं**' की व्याख्या? यहाँ आत्मरूप की यह है। तीनों के लिये उत्कृष्ट वर्णन कहा है। समझ में आया?

टीका, ३९ में चलती **टीका-'यतः समस्त सावद्ययोगपरिहरणात् चारित्रं भवति'** यहाँ तो सामायिक में यह बोलते हैं.. नहीं आता? किया था या नहीं? ऐई मोहनभाई! सामायिक में आया था या नहीं? कितना किया था या नहीं सामायिक में? ...ऐई! वजुभाई! सामायिक-वामायिक की थी या नहीं? ऐसी उस प्रकार की। हमारे भगवानभाई ने भी बहुत की थी, भगवानभाई तो बहुत करते थे। वहाँ निवृत्त थे न! उसमें आता है या नहीं.. सावद्ययोग के प्रत्याख्यान थे। शुभविकल्प के कोई प्रत्याख्यान नहीं थे क्योंकि वह तो होता है न, वह बोलते हैं, तब विकल्प है और फिर आदरे तब भी विकल्प तो बाकी रह जाता है। इसलिए त्याग सावद्ययोग का करते हैं।

अन्तर में तीन कषाय का अभाव, या दो कषाय का अभाव। ऐसी जितनी कषाय के अभाव की शान्तरस की परिणति (प्रगट हुई), उसे चारित्र कहते हैं। दृष्टान्त दिया है

न, भाई ने। टोडरमलजी ने संवर अधिकार में। संवर अधिकार में। कोई गृहस्थ हरितकाय में कन्दमूल का त्याग करे और प्रत्येक वनस्पति की छूट होती है परन्तु वह प्रत्येक वनस्पति खाता है, उसे पाप खाते मानता है। कन्दमूल का त्याग करता है। आता है न? संवर अधिकार (संवरतत्त्व की भूल में) चारित्र है अवश्य? सातवाँ (अधिकार) संवर तत्त्व, देखो!

व्रतादिरूप आस्त्रवभाव को चारित्रपना संभव नहीं होता, परन्तु सर्व कषायरहित उदासीन भाव... देखो! यहाँ शब्द पड़ा है न? उदासीन। ***सर्व कषायरहित उदासीनभाव है, उसका ही नाम चारित्र है। चारित्रमोह के देशघाती स्पर्धकों के उदय से जो महामन्द प्रशस्त राग होता है,*** महाव्रत का राग होता है न? ***वह तो चारित्र का मल है। उसे नहीं छूटता जानकर उसका त्याग नहीं करते और सावद्ययोग का त्याग करते हैं। देखो!*** इस शब्द के साथ (मेल है)। यह स्वयं की (टीका) है न? वह भी स्वयं की है, यह टीका इनकी है।

परन्तु जैसे कोई पुरुष कन्दमूल आदि बहुत दोषवाली हरितकाय का त्याग करता है। यह कन्दमूल—आलू, शकरकन्द नहीं खाता और ***किसी हरितकाय का भक्षण करता है। लौकी आदि (का भक्षण करता है) परन्तु उसे धर्म नहीं मानता। यह लौकी आदि खाये, इसलिए धर्म माने? कन्दमूल का त्याग (करे)। इसी प्रकार मुनि, हिंसादि तीव्र कषायरूप भावों का त्याग करते हैं तथा कोई मन्दकषायरूप महाव्रत आदि को पालन करते हैं परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानते।*** कितना स्पष्ट किया है? परन्तु उन्हें रुचता नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : सावद्ययोग, पुण्य का भाव सावद्ययोग नहीं है। किस अपेक्षा से? उस पाप की अपेक्षा से। पवित्रता की अपेक्षा से तो वह भी पाप है। यहाँ तो दो भावों की अपेक्षा से—अशुभ और शुभ की अपेक्षा से (बात है)। ऐसा वापस पूछते हैं, भाई! सावद्ययोग नहीं न? कौन सा दृष्टान्त नहीं दिया? तब पूछा, ***चारित्र के तेरह भेद में महाव्रत आदि को क्यों कहा है?*** ऐसा पूछा है। ***वह व्यवहार से कहा है।*** सुन न अब! ***व्यवहार नाम उपचार का है, लो! महाव्रत आदि होने पर वीतराग होता है—ऐसा सम्बन्ध जानकर महाव्रत में चारित्र का उपचार किया है। निश्चय से तो निःकषायभाव है, वही सच्चा***

चारित्र है। इस प्रकार से संवर के कारण अन्यथा जानता होने से संवरतत्त्व का भी सच्चा श्रद्धानी नहीं होता। संवरतत्त्व का ठिकाना नहीं होता। व्रतादि का विकल्प होता है, उसे संवर मानता है। ऐसे के ऐसे विपरीत ऐसा कहते हैं। दृष्टि विपरीत है। एक भी तत्त्व की श्रद्धा का ठिकाना नहीं है। न्यालभाई! आहा..हा..! भाई! जैसी वस्तु होगी, वैसी रहेगी न? किसी के मरोड़ने-नचोड़ने से दूसरा होगा? काल फेर हो वह कहीं सत्य हो वह सत्य रहेगा।

चारित्र तो यह है। आहा..हा..! धन्य दशा! जिसे आत्मदर्शनपूर्वक, ज्ञान के सेवन पूर्वक, जिसे अंश भी चारित्र प्रगट हुआ, वह पंचम गुणस्थान है। दो कषाय के अभाव से स्थिरता शान्ति.. शान्ति.. जो सर्वार्थसिद्धि के देव को शान्ति नहीं, तैंतीस सागर की स्थिति और चौदह पूर्व तथा बारह अंग के पाठक कितने ही हैं। कहो, समझ में आया? इतना ज्ञान यहाँ नहीं हो, तथापि पंचम गुणस्थान में दर्शन-ज्ञान आराधनापूर्वक एकदेश व्रत अर्थात् स्थिरता, दो कषाय का अभाव हुआ है, उतनी शान्ति सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा अधिक है। उसमें श्रावक को जो बारह व्रतादि के विकल्प उठते हैं, वह तो आस्रव है, बन्ध का कारण है।

मुनि को तीन कषाय के अभाव का चारित्र है, वह यथार्थ चारित्र है। पंच महाव्रत के परिणाम आदि हैं, वे मैल हैं, दोष है परन्तु उनका त्याग नहीं हो सकता। क्योंकि उनका त्याग कब होता है? शुद्धोपयोग हो, तब होता है। शुभविकल्प का त्याग, शुद्धोपयोग करे तब होता है और अभी शुद्धोपयोग जब तक पूर्ण न हो, तब तक वे हुए बिना रहते नहीं परन्तु वह चारित्र नहीं है। अब उसे चारित्र सिद्ध करना है और कुन्दकुन्द आचार्य ने ऐसा पंच महाव्रत का चारित्र पालन किया था और तुम उसे दोष कहते हो और छोड़नेयोग्य कहते हो। भगवान! भाई! तुझे खबर नहीं।

स्वभाव का सागर प्रभु है, उसमें डुबकी मारने से आत्मा अकषाय समरस, शान्तरस अकेला सुधारस, अमृतरस का पिण्ड प्रभु है। उसमें एकाकार दर्शन-ज्ञानसहित (होता है)। समझ में आया? कि जिस चारित्र में सर्व पापसहित के योग का त्याग होता है। वह तो व्यवहार से बात की है। शुद्धोपयोग की प्रतिज्ञा ले तो शुद्धोपयोग... वास्तव में... क्या कहलाता है? 'जयधवल', की अपेक्षा से शुद्धोपयोग का ही चारित्र लेता है। साम्यभाव ही चारित्र, शुद्धोपयोग वह चारित्र। वहाँ उत्कृष्ट लेते हैं। वही बात यहाँ कहते हैं।

समस्त कषायों से रहित है। कैसा है चारित्र? समस्त कषायों से रहित है।

पंच महाव्रत के परिणाम भी कषाय हैं, राग हैं। बारह व्रत के विकल्प भी राग हैं। इतनी प्रवृत्ति छूटती न जानकर सावद्ययोग का त्याग करते हैं परन्तु वह तीन कषाय का अभाव हुआ है, उस भाव को यहाँ चारित्र कहने में आता है। यहाँ तो उत्कृष्ट लेकर यथाख्यात में मिलाकर सिद्ध में चला जायेगा, वहाँ तक लेंगे। समझ में आया?

समस्त कषायों से रहित है। समस्त कषायों का अभाव होने पर यथाख्यात-चारित्र होता है। देखा? उत्कृष्ट। उसमें क्षायिक समकित रखा था, उसमें सच्चा ज्ञान, केवलज्ञान में जाये ऐसा कहा था न? मतिश्रुत का ज्ञान नहीं दिया था परन्तु वह सच्चा ज्ञान हुआ है, वह उसमें मिला दे, ऐसा। आहा..हा..! टोडरमलजी भी.. टीका करनेवाले। साधारण पण्डित के मस्तिष्क में ऐसा होता है कि (हम बहुत) मानो पढ़े हैं। ठीक, बापू! **समस्त कषायों से रहित है। समस्त कषायों का अभाव होने पर यथाख्यातचारित्र होता है।** देखो? **तथा कैसा है? 'विशदम्'** चारित्र तो निर्मल, ऐसे दर्पण जैसे निर्मल होता है, वैसे शान्त.. शान्त.. अकषाय भाव, जिसमें विकल्प का मैल नहीं। समझ में आया? कहेंगे, देखो!

आत्म-सरोवर कषायरूपी कीचड़ से मैला था,.. वह आत्मसरोवर भगवान अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु! आत्म-सरोवर! जैसे सरोवर में पानी होता है, वह कीचड़ से मैला दिखता है। भगवान आत्म-सरोवर, इन राग, पुण्य-पाप के विकल्प से मैला था। आहा..हा..! **कषाय के अभाव होने पर सहज ही निर्मलता हो गई।** वह कीचड़ जाने से जैसे पानी निर्मल होता है, वैसे भगवान आत्मा उस कषाय का कण जाने से, वह कषायभाव जो सहज था, उसरूप आत्मा निर्मलपने की पर्याय को प्राप्त हुआ।

आत्म-सरोवर कषायरूपी कीचड़ से मैला था,.. ओहो..हो..! सरोवर तो मानो पानी से भरा है, परन्तु ऐसे सामने वह कादव होता है, इसलिए मैला लगता है। उसे कषाय जाने पर, एक कीचड़ का मैल जाने पर जैसे सरोवर निर्मलरूप से भासित होता है, वैसे सहज निर्मलता हुई। सहज स्वभाव, अन्तरस्वभाव का अवलम्बन लेकर और स्थिरता जमी है, उसे यहाँ चारित्र कहने में आता है। कहो, समझ में आया?

तथा कैसा है? 'उदासीनम्' - परद्रव्य से विरक्तस्वरूप है। अस्ति से बात

की, निर्मलता। स्वभाव शुद्ध और निर्मल वीतरागभाव जमा है जहाँ। आहा..हा..! दुनिया चाहे जो डोले, सिद्ध को विकल्प है? दुष्काल पड़े तो? गायों को भूसा न मिले तो क्या करना? आहा..हा..! भगवान! ऐसे तुम हो गये! बड़े हुए और ऐसे हुए। बड़े हुए, उसे विकल्प नहीं होता। इसलिए ऐसे हुए। जगत की पर्याय जानते हैं। जिस समय में उसकी, उसकी होने के योग्य है, उसे जानते हैं। वह कोई घास नहीं मिलता, इसलिए दु:खी है - ऐसा भगवान नहीं जानते। उसके राग की एकता करता है, इसलिए वह दु:खी है, वह उसके कारण दु:खी है। परपदार्थ नहीं मिला, इसलिए दु:खी है - ऐसा नहीं है। आहा..हा..! वह राग का अभाव करके स्थिर होगा, तब उसे शान्ति होगी। वहाँ उसे घास मिलने से शान्ति होगी - ऐसा है नहीं। आहा..हा..! परपदार्थ मिलने से शान्ति किसकी होगी? परन्तु, भाई! यह भूख लगी हो, बहुत ऐसे आँखों में अन्धेरा आता हो और उसमें एक रुपये भर भी शक्कर का सेरो मिला हो पहले.. आहा..हा..! सेरो समझते हो? हलुवा। क्योंकि एकदम अन्दर उतर जाये। मानो सातवाँ गुणस्थान देखता होगा! आहा..हा..! वहाँ अड़ता भी नहीं, उसकी पर्याय को हलुवा छूता भी नहीं। छूए बिना उसे शान्ति कहाँ से आये? आहा..हा..!

भगवान आत्मा परसन्मुख के विकल्प का अभाव करके जितनी निर्विकल्पता, स्थिरता, शान्ति प्रगट करे, वह आत्मा को भूख मिटने का शान्ति का वह रास्ता है। वह इसे सूझ नहीं पड़ती, सूझ नहीं पड़ती। वह कहाँ है? कहाँ होगा? कहाँ होगा—यह शंका करनेवाला ही वहाँ है पूरा।

देखो न! आत्म-सरोवर शब्द आया है न? आहा..हा..! भगवान ज्ञानजल, चैतन्यजल, वह कषाय-राग के कारण से कीचड़ से मलिन दिखता है। उस राग का अभाव करके स्वरूप ऐसा है, सरोवर जैसा स्वरूप है। इस प्रकार शीतल और शान्तरूप परिणमे, बस! उसका नाम चारित्र कहा जाता है। कहो, समझ में आया?

पहली दर्शन की व्याख्या चलती है। लोगों को चारित्र अभी है नहीं, चारित्र होने की योग्यता नहीं। इसलिए उसे यह व्याख्या बहुत कहे, यह तो श्रद्धा कराने के लिए कहे परन्तु प्रगट होने की चारित्रदशा, भाई! वह तो बहुत अलौकिक बात है। आहा..हा..! समझ में

आया ? इसलिए वे दूसरे कहे न, परन्तु व्रत को अतिचार और सब बातें करते नहीं, व्रत को छेड़ते नहीं। ऐसा और कहते हैं। अरे भगवान! भाई! परन्तु इसे दर्शन और ज्ञान की आराधना बिना इसे चारित्र कैसा हो, व्रत कैसे हों, इसकी व्याख्या इसे बैठेगी किस प्रकार ? समझ में आया ? पहली भूमिका सुधारी नहीं।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में भी पहले... परन्तु दर्शन-आराधना के पश्चात् ज्ञान की आराधना में इसके भंग किये हैं। प्रथमानुयोग और आदि। समझ में आया ? वे तो सीधे ऐसा कहते हैं - पहले प्रथमानुयोग का अभ्यास करना परन्तु यह बात ही कहाँ थी उसमें ? पहले दर्शन स्वभाव प्रगट कैसे हो, उसका अभ्यास करना। उसके पश्चात् ज्ञान की आराधना करने में वे चार बोल लिये हैं। प्रथमानुयोग और द्रव्यानुयोग अन्तिम। ये तो सीधे पहले से प्रथमानुयोग... दर्शन का ठिकाना नहीं होता। यहाँ भी दर्शन का आराधन होने के पश्चात् अन्योन्य, अधिक और विपरीतता आदि से रहित ऐसा ज्ञान सेवन करना - ऐसा कहा है। फिर कहा कि करते हो वह अनादि से करते हैं। यह भी टोडरमलजी ने रखा है। राग मन्द करे, पुण्य बाँधे, कदाचित् स्वर्ग में जाये, उसमें आत्मा को क्या ? देह का वेष बदला, परन्तु वह तो अन्दर मूर्ख रहा।

मुमुक्षु : मूर्ख रहा या मूर्ख अधिक हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ तो वापिस ऐसा हो जाता है कि आहा..हा..! हमने कैसा पुण्य किया है न! कैसे देव! आहा..हा..! तब यह सब हमें मिला, विमान, इन्द्राणियाँ, शाश्वत् वस्तु देखे, यह तो कोई अपनी जिन्दगी में से जाये ऐसी नहीं। ऐसे तो यहाँ बहुत देव आ गये। ऐसे का ऐसा रहने का है। लो! मनुष्य को तो चला जाये, बैठा हो और चला जाये, स्त्री मर जाये, पैसा जाये, शरीर सुलगे, सुलगे अर्थात् यह क्षय (टी.बी.) हो। क्षय होने लगे, क्षय हो। पच्चीस वर्ष का युवक।

मुमुक्षु : सुखी है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ सुखी और दुःख भी कहाँ था उसे ? अरे! पच्चीस वर्ष का युवक, दो वर्ष का विवाहित, अरे...! अन्दर में.. कुछ-कुछ छिद्र पड़े हैं। शंका हुई, चलो जिथरी (टी.बी. हॉस्पीटल में) बताने। आते हैं, यहाँ बीस-बीस वर्ष के युवक आते हैं।

एक तो युवक व्यक्ति, कैसा शरीर, एकदम रोने लगा। क्या है भाई! शरीर ऐसा लाल, टी.बी. है, छिद्र पड़े हैं। जिथरी में फोटो लिया। अरे! परन्तु मुँह में कुछ नहीं न! फेफड़े में छिद्र पड़े हैं। गरीब व्यक्ति हूँ, शरीर युवक है, पैसा खर्च करने का योग नहीं। खर्च करे तो वहाँ मिटे ऐसा कहाँ है उसमें? ओहो! रोग तो तुझे आत्मभ्रान्ति का है, भाई!

मुमुक्षु : आत्मभ्रान्ति।

पूज्य गुरुदेवश्री : 'आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं।' वह रोग मिटाने के पश्चात् निरोगता में पुष्टि विशेष होने के लिये चारित्र है। कमजोरी रहती है न? रोग मिटने के पश्चात् निरोग हुआ, परन्तु अभी कमजोरी रही। इसी प्रकार भ्रान्ति मिटी परन्तु अभी कमजोरी रही है। पूर्ण वीतरागता हुई नहीं; इसलिए कमजोरी है, रोग नहीं अब। परन्तु वह जरा कमजोरी का है, उस अस्थिरता का साधन, उसे पूर्ण शान्ति स्थिरता प्रगट करके उसे भी मिटाना, तब इसे अत्यन्त निर्बलता मिटकर सबलता होगी, उस चारित्र से सबलता होगी।

कहते हैं **वह चारित्र आत्मा का स्वरूप है। कषायरहित जो आत्मा का स्वरूप प्रगट हुआ है,...** देखो! **वही सदाकाल रहेगा, इस अपेक्षा से आत्मा का स्वरूप है,..** कषायरहित जो आत्मा का स्वरूप प्रगट हुआ, आत्मा का स्वभाव जो शक्तिरूप था, (वह) प्रगट व्यक्त हुआ। **वही सदाकाल रहेगा,...** ऐसा का ऐसा रहेगा। अपनी निर्मलदशा हुई, वह कहाँ जाये? **इस अपेक्षा से आत्मा का स्वरूप है, नवीन आवरण कभी भी होगा नहीं।** उसे आवरण कैसा? निर्मल शान्ति प्रगट हुई। **सामायिक चारित्र में सकलचारित्र हुआ परन्तु संज्वलन कषाय के सद्भाव से मलिनता नहीं गई,..** देखो! सामायिक अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक तीन कषाय या दो कषाय का अभाव (हुआ)। यहाँ तो मुनिपने की बात है। सामायिक—अन्दर शान्ति, शान्ति बहुत प्रगट हुई, परन्तु संज्वलन कषाय का सद्भाव है। समझ में आया? उसे संज्वलन कहते हैं। समझ में आया या नहीं? यह तो कहते हैं - हम श्रावक हैं तो हमारे संज्वलन का कषाय आवे, परन्तु कहाँ अभी श्रावक का ठिकाना नहीं। समझ में आया?

सामायिक चारित्र में सकलचारित्र हुआ परन्तु संज्वलन कषाय के सद्भाव से मलिनता नहीं गई, इसलिए जब... आत्मारूप की पूर्ण व्याख्या करते हैं। **सकल**

कषायरहित हुआ, तब यथाख्यात नाम पाया,... लो! **जैसा चारित्र का स्वरूप था,..** यथाख्यात ऐसा। यथाख्यात—जैसा प्रसिद्ध था कि चारित्र ऐसा, वैसा प्रगट हुआ। **जैसा चारित्र का स्वरूप था, वैसा प्रगट हुआ।** लो! यह उत्कृष्ट (कहा)। उसमें क्षायिक डाला है, उसमें सच्चा ज्ञान डाला है, यहाँ यथाख्यात डाला है परन्तु उसका अंश प्रगट हुआ है, अकषायभाव से वह पूर्ण होकर अत्यन्त अकषाय होता है।

अब, **प्रश्न : शुभोपयोगरूप भाव है, वह चारित्र है या नहीं?** मुनि को शुभोपयोग पंच महाव्रत का विकल्प, नग्नता, अचेलपना ऐसा शुभभाव, वह चारित्र है या नहीं? ऐसा शिष्य ने प्रश्न किया है। भान हुआ है, चारित्र है। अकषायचारित्र है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। शुभोपयोग है, वह चारित्र है या नहीं?

उत्तर : शुभोपयोग विशुद्ध परिणामों से होता है... शुभोपयोग, वह विशुद्ध अर्थात् मन्द कषाय के परिणाम से होता है। **विशुद्धता मन्दकषाय को कहते हैं...** देखो! शुभोपयोग मन्दकषाय है। वह अकषायभाव नहीं। पंच महाव्रत के परिणाम, अट्ठाईस मूलगुण के भाव, वह विशुद्धता मन्द कषाय है। **इसलिए कषायों की हीनता के कारण...** इसलिए उस कषाय की हीनता कही न? जितना अशुभ टला, कथंचित् चारित्र नाम व्यवहार से प्राप्त होता है, व्यवहारचारित्र नाम प्राप्त होता है। सच्चा चारित्र नहीं। कथंचित् कहा न? कथंचित् अर्थात् व्यवहार। कथंचित् चारित्र, यथार्थ चारित्र नहीं। कथंचित् चारित्र। शुभरागरूप कषाय जितनी घटी, उस अपेक्षा से चारित्र कहने में आता है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, शुद्ध दृष्टि है, शुद्ध ज्ञान है, अकषाय परिणति है। उसके शुभभाव को क्या कहना? कथंचित् चारित्र कहना। कथंचित् अर्थात् वह अशुभ उपयोग है, वह तो बिलकुल नहीं। इसलिए अशुभ उपयोग मिटा है, उतना वह व्यवहार से चारित्र (कहा है)। किसी अपेक्षा से, कथन अर्थात् किसी अपेक्षा से, कषाय की मन्दता की अपेक्षा से। तीव्र राग घटा, इस अपेक्षा से उसे चारित्र कहने में आता है। मूल तो दर्शन और योग के कारण, परन्तु यहाँ वर्तमान परिणाम को सिद्ध करना है। समझ में आया? कथंचित्

कहा जाता है, सर्वथा चारित्र नहीं। कथंचित् अर्थात् अपेक्षा से। तीव्र की अपेक्षा से मन्द राग को अपेक्षा से व्यवहारचारित्र कहने में आता है। वह व्यवहारचारित्र अर्थात् चारित्र वह है नहीं।

मुमुक्षु : चारित्र कहा जाता है, परन्तु है नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दो भाग करेंगे न! इसलिए ऐसा लिखा है। चारित्र के भाग करेंगे - सर्व / सकल और देशविरति। उसमें फिर पंच महाव्रत और यह बारह व्रत - ऐसे भेद करेंगे। इसलिए उसे कथंचित् चारित्र पहले लिखकर, फिर उसका स्पष्टीकरण पाठ में आता है न? पाठ में तो वह आयेगा। सकल चारित्र सीधा आयेगा, देखो! चारित्र के भेद में फिर ऐसा नहीं, पहले दो कषाय मिटे और तीन कषाय मिटे - ऐसा नहीं लिया। ऐई! व्यवहार से बात की है।

मुमुक्षु : यथाख्यात्चारित्र...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यथाख्यात्चारित्र की, यह ठीक, परन्तु यहाँ तो शुभभाव को कहना है या नहीं - ऐसी बात चलती है। क्योंकि बात सब बारह व्रत और उसकी आयेगी। उसे चारित्र के भेद में डालेंगे। सर्वविरतिरूप मुनि और देशविरतिरूप श्रावक। वह तो व्यवहार के चारित्र की व्याख्या है। समझ में आया? वह चारित्र तो शुद्ध अकषायभाव है। थोड़ा शुद्ध, विशेष शुद्ध, विशेष शुद्ध, इतना भेद है। समझ में आया?

मुमुक्षु : थोड़ा भाग व्यवहार का भी...

पूज्य गुरुदेवश्री : कहीं व्यवहार का भाग आया नहीं। व्यवहार उस गुणस्थान में ऐसा होता है, उसे व्यवहार से चारित्र कहने में आता है - ऐसा कहते हैं। कथंचित् अर्थात् किसी अपेक्षा से, ऐसा। वर्तमान अपेक्षा से व्यवहार से उसे ऐसा कहते हैं न? पंच महाव्रत अंगीकार किये, सर्वविरति अंगीकार की और देशविरति अंगीकार की - ऐसा कहते हैं या नहीं? ऐसा कहते हैं। अकषायभाव अंगीकार किया - ऐसा कहते हैं? उस सर्वसावद्ययोग के त्याग से पूरी शैली ली है। भाई! शैली तो जैसी आवे, वैसी आवे।

प्रश्न : शिष्य का प्रश्न हुआ। जब तुम मन्दकषाय कहते हो, मन्द। तो हमें तो ऐसा लगता है कि **देव-गुरु-शास्त्र, शील, तप, संयमादि में अत्यन्त रागरूप प्रवर्तन करते**

हुए भी उसे मन्दकषाय कैसे कह सकते हैं? समझ में आया? सम्यग्दृष्टि, आत्मा का भान है, आत्मा का ज्ञान है और वह देव-गुरु-शास्त्र, कषाय की मन्दतारूप आचरण, तप, मुनिपने का व्यवहार और संयम आदि इन्द्रिय का दमन आदि। अत्यन्त रागरूप प्रवर्तता है। अत्यन्त राग दिखता है, वहाँ ऐसा करे, ऐसा करे, प्रवर्तता है न? उसे मन्दकषाय किस प्रकार कहा जाये? अब ऐसे अत्यन्त मन्द राग प्रवर्तता है और तुम कहो कि मन्दकषाय है। किसी जीव को दुःख न देना - ऐसा विकल्प है। वह है... देखकर चले, समझ में आया? देव का विनय करे, सर्वज्ञपरमात्मा का (विनय करे)। आहा..हा..! जय नाथ, जय प्रभु! गुरु का विनय करे, शास्त्र का विनय करे। ऐसी प्रवृत्ति में तो अत्यन्त राग है और प्रेम है।

टोडरमलजी ने स्वयं ही स्वयं न्याय उठाया है। देव-गुरु-शास्त्र... यह तो समकिती की / ज्ञानी की बात है, हों! अज्ञानी की बात नहीं। वह भी यहाँ बाहर में तो देव की विनय करे, गुरु की विनय करे, यात्रा में जाये, यात्रा में भगवान को ऐसी (प्रार्थना करे), अहो नाथ! आपके कारण हमारा उद्धार हो गया, आपके दर्शन से हम ऐसे पावन हो गये। ऐसे राग से बोलता है और उसे तुम मन्दकषाय कैसे कहते हो? ऐसा कहता है। समझ में आया? देव-गुरु-शास्त्र के लिये तो सिर दे। कहो, मलूपचन्दभाई! रुपयेवाले रुपये दें। कहते हैं, देव-गुरु-शास्त्र ये तीन लिये। शील, तप, और संयम। कषाय की मन्दतारूपी आचरण। तप, वह मुनिपने का व्यवहार विकल्प। बराबर उसकी जो क्रिया है सामायिक करे, भगवान को वन्दन करे और ऐसे चारों दिशा (में) ऐसे वन्दन करना, यह करना, यह करना, उसमें कहीं त्रुटि आने न दे। लो! उसमें लक्ष्य रखकर अत्यन्त रागरूप प्रवर्तता है, उसे मन्द कषाय किस प्रकार कहा जाये? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। समझ में आया? भाई! भिन्न-भिन्न प्रकार के शास्त्र पढ़े तो उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की विविधता ज्ञान में, ख्याल में आवे न!

उत्तर : विषय-कषायादिक के राग की अपेक्षा तो.. खाना, पीना, भोग, इज्जत-कीर्ति, कमाना, ब्याज निकालना, बहियों का ब्याज निकालने बैठा हो, नामा निकालने (बैठा हो), ऐसा जो राग, वह पाप राग है। उसकी **अपेक्षा तो वह मन्द कषाय ही है।** लो! समझ में आया? देव, गुरु, शास्त्र, शील, तप और संयम आदि में, वाँचन, स्वाध्याय भी बराबर करता दिखायी दे, लो! शास्त्र पढ़े तो ऐसा करे, उपदेश दे, ऐसा अत्यन्त

राग प्रवर्ते, उसे मन्द कषाय किस प्रकार कहना ? शिष्य का प्रश्न ऐसा है। भाई ! संसार के पाँच इन्द्रियों के विषय—शब्द, रूप, रस, स्पर्श को भोगने से जो तीव्र राग-कषाय है और अपने पैसे सम्हालना, पुत्र सम्हालना, उसका जो प्रतिकूल क्रोध, उसका मान, उसकी माया, उसका लोभ—ऐसे राग की अपेक्षा से वह मन्द कषाय ही है। समझ में आया ?

क्योंकि उनके राग में क्रोध, मान, माया तो है ही नहीं,... देखो ! एक लोभ है। देव, गुरु, शास्त्र, शील, तप, संयम—ऐसा जो शुभभाव, उसमें क्रोध, मान, माया तो है नहीं। **अब रहा प्रीतिभाव की अपेक्षा लोभकषाय,..** देव-गुरु शास्त्र का, शील, तप का, संयम आदि का प्रेम है, उसकी अपेक्षा से लोभ है। **किन्तु वह भी सांसारिक प्रयोजनयुक्त नहीं है...** मन्द कषाय को सिद्ध करते हैं। मन्द कषाय अत्यन्त अनुराग / राग प्रवर्तता है, तथापि उसे मन्द कषाय कैसे है ? समझ में आया ? उसे क्रोध, मान, माया तो नहीं, प्रीतिभावरूप लोभ है, वह भी कहीं संसारिक प्रयोजन के लिये नहीं है। उस लोभ की मन्दता-कषाय की मन्दता सिद्ध करते हैं। उसे कोई सांसारिक प्रयोजन नहीं है - एक बात।

अतः लोभकषाय की भी मन्दता है। उनमें-तीन में क्रोध, मान, माया में तो इनकार किया था, लोभ में प्रीति की अपेक्षा से लोभ कहा, परन्तु सांसारिक प्रयोजन नहीं है, इसलिए लोभकषाय की भी मन्दता है। **यहाँ भी ज्ञानी जीव रागभाव से प्रेरित होता हुआ...** वह शुभराग आता है। **अशुभराग को छोड़कर शुभराग में प्रवर्तन करता है...** लो ! बहुत परन्तु मर्म की टीका की है, मर्म की टीका (की है), धर्मी जीव, सम्यग्दृष्टि जीव रागभाव से प्रेरित हुआ ऐसा शुभराग मन्द आता है, तब **अशुभराग को छोड़कर शुभराग में प्रवर्तन करता है...** देखो ! उसे ज्ञानी की अपेक्षा से अशुभराग छोड़कर ज्ञानी शुभ में प्रवर्तता है, हों ! वे तो कहें - तुम्हें अशुभराग को छुड़ाने के लिये शुभभाव कहते हैं परन्तु कहाँ अभी एक भी छूटा नहीं, कुछ उसमें छूटे कहाँ से ?

पहला उपदेश तो दर्शन का होना चाहिए। उस दर्शन के अध्यात्म का—द्रव्यानुयोग का उपदेश तो यह है, उससे दर्शन प्राप्त होता है। उसके उपदेश बिना अकेली बातों का कथानुयोग और जगत को प्रसन्न करे, जन-मन-रंजन (करे, वह) पापी है - ऐसा कहते हैं। लिखा है भाई ने। कौन ? तारणस्वामी, कड़क है। जन-मन-रंजन के लिये तेरा

उपदेश ? पापी है, निगोद में जायेगा। दुनिया प्रसन्न रहे, उससे ऐसे प्रसन्न रहे, अपने ऊपर भी ऐसी जिसकी मीठी नजर रहे कि भाई बहुत अच्छा कहते हैं। ऐसे दुनिया को प्रसन्न रखने, जगत के मनोरंजन के लिये ऐसे कषाय की मन्दता के भाव में लाभ मनवाना, वह ठीक है ? आहा..हा..!

ज्ञानी दुनिया को रंजन-प्रसन्न रखने के लिये प्रवर्तन नहीं करता और दुनिया से प्रसन्न होने के लिये (प्रवर्तन नहीं करता)। श्रीमद् में आता है न ? जगत को अच्छा दिखाने के लिये अनन्त काल से बहुत प्रयत्न किया। जगत को अच्छा दिखाने के लिये। जगत कैसे मुझे स्वीकार करे ? श्रद्धावाला, ज्ञानवाला, चारित्रवाला, त्यागवाला, ब्रह्मचारी—ऐसा जगत कैसे स्वीकार करे ? ऐसा जगत को अच्छा दिखाने के लिये, बापू! तूने अनन्त बार किया। आता है ? ऐ.. न्यालचन्दभाई! है या नहीं ? इन्होंने तो बहुत कहा। परन्तु.. कितने में है ? (पत्रांक ३७) ***जगत को अच्छा दिखाने के लिये अनन्त बार प्रयत्न किया...*** रुड़ू समझते हो ? अच्छा, रुड़ू अर्थात् अच्छा ? जगत को अच्छा दिखाने के लिये अनन्त बार प्रयत्न किया। ***इससे अच्छा हुआ नहीं। क्योंकि परिभ्रमण और परिभ्रमण के हेतु अभी प्रत्यक्ष रहे हैं।*** आहा..! कितनी बार तो चोट मारी है ऐसे। परन्तु गृहस्थाश्रम में रहे न, (इसलिए) सब स्पष्ट बाहर नहीं आया। समझ में आया ? ***क्योंकि परिभ्रमण और परिभ्रमण के हेतु अभी प्रत्यक्ष रहे हैं। एक भव यदि आत्मा का अच्छा हो, ऐसे व्यतीत करने में जायेगा...*** हो गया। जगत को अच्छा दिखाने के लिये अनन्त बार प्रयत्न किया, बापू! उससे कुछ अच्छा नहीं हुआ। आहा..हा..! कहो, यह तो २० और २१ वर्ष के अन्दर की बात है। समझ में आया ?

४४ के साल, संवत् १९४४ आसोज कृष्ण २, मुम्बई, ४४ के साल। २२ वर्ष हुए और कितने हुए २०। २४ और २०। २० वर्ष हुए या नहीं ? २४ में जन्म, और ४४। २० वर्ष हुए। २० वर्ष की उम्र में, बीस वर्ष की उम्र में। न्यालचन्दभाई! भाई! ऐसे सत्याभिलाषी जेठाभाई उजमसी, जेठाभाई के प्रति है। उजमसीभाई के भाई के प्रति। ***जगत को अच्छा दिखाने के लिये अनन्त बार प्रयत्न किया; इससे अच्छा हुआ नहीं। क्योंकि परिभ्रमण और परिभ्रमण के हेतु अभी प्रत्यक्ष रहे हैं।*** आहा..हा..! थोड़े में कहने की पद्धति। ***यदि एक भव आत्मा का भला करने में व्यतीत हो जायेगा तो अनन्त भवों का बदला मिल***

जायेगा... एक भव का। समझ में आया? ***यदि एक भव आत्मा का भला करने में व्यतीत हो जायेगा तो अनन्त भवों का बदला मिल जायेगा—ऐसा मैं लघुत्वभाव से समझा हूँ और वैसा करने में ही मेरी प्रवृत्ति है।*** आहा..हा..! इत्यादि.. इत्यादि..

मुमुक्षु : अनन्त भव का बदला मिल जायेगा अर्थात् क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : फिर अनन्त भव रहेंगे ही नहीं, हो गया। अनन्त भव में किया नहीं, (वह) एक भव में किया; (इसलिए) पूरा हो गया। अनन्त भव रहेंगे ही नहीं, फिर भव है ही नहीं। सब बदला मिल गया। अनन्त भव में अच्छा दिखाने को किया था, कुछ हुआ नहीं। एक भव भला (करने में गया तो) अनन्त भव का बदला मिल गया, जाओ, हो गया अच्छा। आहा..हा..!

पूरी शैली ऐसी है। नहीं तो उनका क्षयोपशम और कहने की पद्धति की तो गजब बात है। परन्तु पूरी ऐसी संकलना ऐसी है कि उसमें से समान खड़ा होना, जैन शासन पूरा खड़ा हो समान, तब मैंने (संवत्) १९८१ में कहा था, वे लोग आये तब। 'मनसुख कीरचन्द' 'गढडे' नहीं, कमरे पर। उस ओर नीचे के कमरे में। जेसंगभाई थे, वनेचन्दभाई थे, मनसुख कीरचन्द सब थे। यह बड़ी पुस्तक छपायी थी न? नहीं छपायी थी, उसके पहले वे लेने आये थे, मुझे तो सब ऐसा लगता है कि इस पूरी पुस्तक में वीतराग का जैनशासन पूरा एकरूप से खड़ा होना बहुत कठिन है। कठिन नहीं कहा था परन्तु उस समय (कहा था) पूरा शासन खड़ा होना, (वह) मुझे नहीं लगता। भाई! ऐसा कहा था। उन्हें जरा कठोर लगा। आशा धरकर आये थे न! यह तो वीतरागमार्ग है, जिसमें सर्वज्ञ की मुख्यता आयी और उनकी प्रणालिका सब खड़ी होनी चाहिए। सर्वज्ञ के शरण बिना, सर्वज्ञ के आश्रय बिना कोई भी बात, कथन अपनी कल्पना का नहीं हो सकता।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो जरा ऐसा हुआ कि यह बाहर प्रकाशित करने का ऐसा..

यहाँ तो वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव जो कहना चाहते हैं और उनके सन्त जो कहते हैं, उस बात से दूसरा कुछ विपरीत आना नहीं (चाहिए)। ढीला नहीं आवे, दूसरा नहीं आवे। आता है न वह? क्या आया? उसमें नहीं आया? कम नहीं, विपरीत

नहीं, अधिक नहीं। कम, अधिक और विपरीत। फिर मिथ्यात्व का आता है। फिर मिथ्यात्व का आता है, या नहीं? कम माने तो मिथ्यात्व, अधिक माने तो मिथ्यात्व, विपरीत माने तो (मिथ्यात्व)। पच्चीस में ये तीन आते हैं।

(यहाँ) कहते हैं, उसे मन्दराग क्यों कहना? उसका स्पष्टीकरण करते हैं। बहुत अच्छा (स्पष्टीकरण) है। जिस क्रोध, मान, माया तो नहीं, प्रीतिरूप लोभ तो है परन्तु उस लोभ में सांसारिक प्रयोजन नहीं है, भाई! और ज्ञानी जीव को उसमें जो शुभराग-भाव प्रवर्तता है, वह अशुभराग छोड़कर शुभराग में प्रवर्तता है। शुभराग को उपादेयरूप तो श्रद्धा नहीं करते, परन्तु वह शुभराग आदरणीय है और लाभदायक है - ऐसा नहीं मानता। ऊपर प्रश्न किया है कि अत्यन्त रागरूप प्रवर्तता है, उसे मन्दकषाय कैसे कहा जाये? अत्यन्त- ऐसा शब्द पड़ा है। अत्यन्त रागरूप का यह स्पष्टीकरण चलता है। समझ में आता है न? इन्होंने अत्यन्त राग की व्याख्या बराबर रखी है। अत्यन्त रागरूप है, यह व्याख्या बराबर रखी है। परन्तु उसे मन्दकषाय कैसे कहना - उसका यह स्पष्टीकरण करते हैं। पहले की अपेक्षा से। आहा..हा..! और अपने अशुभभाव की अपेक्षा से भी, शुभभाव उपादेय नहीं और प्रयोजन संसार का नहीं; अशुभराग छोड़कर, शुभराग में प्रवर्तता है। शुभराग को उपादेयरूप तो श्रद्धा नहीं करता। लो!

ज्ञानी को अत्यन्त राग दिखता है। देव-गुरु-शास्त्र के प्रति, पंच महाव्रत के प्रति, शील-अपने आचरण की जो विधि है व्यवहार की, उसमें उस प्रकार से (दिखता है)। समझ में आया? तथापि उस शुभराग के प्रेरित, अशुभराग छोड़कर प्रवर्तते हैं। शुभराग को भी आदरणीयरूप से, उपादेयरूप से, हितरूप से वे श्रद्धा नहीं करते।

अपने शुद्धोपयोगरूप चारित्र के लिए मलिनता का ही कारण जानता है। लो! आहा..हा..! कितनी स्पष्टता है! लोगों (को) मध्यस्थता से, शान्ति से, धीरे से, स्वाध्याय करना चाहिए और स्वाध्याय में कोई सत्य का स्वरूप आना चाहिए। ऐसे का ऐसे जो दिये रखे ऐसे का ऐसा स्वाध्याय कर गये, उसका क्या अर्थ? यह सत् को सिद्ध करते हैं। मन्दकषाय क्यों, उसे अत्यन्त अनुराग कहना? तथापि उसे मन्दकषाय क्यों कहना? यह अत्यन्त राग है और यह ऐसा जो भगवान के पास प्रेम बताते हैं, अहो नाथ! गुरु के

समीप ऐसे ढल जाते हैं। गुरु आपके कारण मोक्ष हुआ, प्रभु! नहीं तो मैं मर जाता, लो!

गोम्मटसार में आता है न? नहीं आता? अभिनन्दन। हमारे गुरु के कारण हम संसार-समुद्र को तिरे हैं। गुरु के कारण तिरे हैं ऐसा है, लो! गोम्मटसार में है। आहा..! ऐसे तो मानो इतना सब यह, और तुम कहो किसी से तिरते नहीं, और तुम तिरे ऐसा कहो, भाई! सुन तो सही! अशुभराग छूटने और शुभराग के प्रेरित ऐसे भाव हुए बिना नहीं रहते, तथापि धर्मी उस शुभराग को आदरणीयरूप से नहीं मानता। आहा..हा..! समझ में आया?

अपितु उसे अपने शुद्धोपयोगरूप चारित्र के लिए मलिनता का ही कारण जानता है। पंच महाव्रत के परिणाम या देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का विनय और तप का विकल्प आदि मुनिपने के आचरण जितने हैं, उतने सब, व्यवहार, हों! उसमें -शुद्धोपयोग में वह मलिन दिखते हैं। मेरे शुद्धोपयोग में वह मैल है। उसके कारण शुद्धोपयोग नहीं होता - ऐसा मानते हैं। आहा..! अन्य कहे-ऐसे राग के कारण शुद्धोपयोग होता है। शुभ उपयोग, शुद्ध में बदल जाता है, कहते हैं। सातवें का शुद्धोपयोग शुभ, वह आठवें में शुद्ध हो जाता है। शुभ स्वयं ही बदलकर शुद्ध हो जाता है। अरे! भगवान! कुछ मिलान आना चाहिए, कुछ मस्तिष्क में, कुछ ज्ञान में, न्याय में, कुछ ख्याल आना चाहिए या ऐसे का ऐसा ठूँस कर बैठाना, वह तो कोई (बात है)। मैल जानता है।

अशुभोपयोग में तो कषायों की तीव्रता हुई है। अतः वह तो किसी भी प्रकार चारित्र.. पहले कथंचित् नाम चारित्र का रखा न, शुभ का। और मन्द कषाय, दोनों को सिद्ध करके यह सारांश कहा। **तीव्रता हुई है। अतः वह तो किसी भी प्रकार चारित्र संज्ञा को प्राप्त नहीं हो सकता।** व्यवहार तो चारित्र पाता नहीं। मन्दकषाय को कथंचित् व्यवहारचारित्र नाम दिया जाता है। शुभराग को अशुभ छोड़कर प्रवर्तता है इसलिए। परन्तु जानता है मैल। आत्मा की शान्ति को शुद्धोपयोग में मैल है, इसलिए वास्तविक चारित्र जो अकषायभाव है, वह है और उसमें पंच महाव्रत आदि के परिणाम वे मैल हैं - ऐसा जानकर प्रवर्तता है। हेय हैं। छोड़कर स्थिर होऊँ - ऐसी उसकी भावना है; इसलिए उसे व्यवहारचारित्र कहने में आता है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - ४०

चारित्र के भेद

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः।
कात्स्न्यैंकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम्।।४०।।

हिंसा अनृत स्तेय मैथुन, परिग्रह से विरतता।
सम्पूर्ण या है अल्प यों, चारित्र को द्विविध कहा।।४०।।

अन्वयार्थ : (हिंसातः) हिंसा से (अनृतवचनात्) असत्य भाषण से (स्तेयात्) चोरी से (अब्रह्मतः) कुशील से और (परिग्रहतः) परिग्रह से (कात्स्न्यैंकदेशविरते) सर्वदेश और एकदेश त्याग से वह (चारित्रं) चारित्र (द्विविधम्) दो प्रकार का (जायते) होता है।

टीका : 'चारित्रं द्विविधं जायते'–चारित्र दो प्रकार से उत्पन्न होता है। किस प्रकार से? 'हिंसातः, अनृतवचनात्, स्तेयात्, अब्रह्मतः, परिग्रहतः कात्स्न्यैंकदेश–विरतेः'– हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के सर्वदेश तथा एकदेश त्याग से चारित्र के दो भेद हैं।

भावार्थ : हिंसादिक का वर्णन आगे किया जा रहा है, इनके सर्वथा त्याग को सकलचारित्र और एकदेश त्याग को देशचारित्र कहते हैं।।४०।।

प्रवचन नं. ३२, गाथा-४० से ४२ शनिवार, ज्येष्ठ शुक्ल २, दिनांक १०-०६-१९६७

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, ३९ गाथा हो गयी। ४० (वीं गाथा)। **चारित्र के भेद।** चारित्र के भेद का वर्णन है।

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः।
कात्स्न्यैंकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम्।।४०।।

अन्वयार्थ : हिंसा से, असत्य भाषण से, चोरी से, कुशील से और परिग्रह

से 'कात्स्न्यैंकदेशविरते:' अर्थात् **सर्वदेश और एकदेश त्याग से वह चारित्र दो प्रकार का होता है।** देखो! वर्णन इस प्रकार किया है। पाँच पाप का सर्वथा त्याग और पाँच पाप का एकदेश त्याग। इस शैली से वर्णन तो चारित्र का। वह जो अन्तर भूमिका में तीन कषाय का अभाव होता है मुनि को, उसमें ऐसे विकल्पों का प्रकार होता है, इसलिए उसे भी व्यवहार से चारित्र कहा है। मूल तो शुद्धोपयोगरूप परिणमन है, वह चारित्र है। समझ में आया?

टीका : 'चारित्रं द्विविधं जायते'-चारित्र दो प्रकार से उत्पन्न होता है। किस प्रकार से? हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के सर्वदेश (अर्थात् सर्ववास) **तथा एकदेश** (अर्थात् एक अंश) **त्याग से चारित्र के दो भेद हैं।** इस प्रकार चारित्र के दो प्रकार हैं। इसलिए लोग उलझते हैं इसमें से। देखो! पाँच पाप का त्याग (करे), उसे चारित्र कहा है। वह चारित्र है और वह चारित्र क्षयोपशमभाव से है। ऐ..ई! पण्डितजी! देखो न! व्याख्या तो ऐसी की। वापस दूसरी लेंगे, हों! तुरन्त ही वह। (गाथा-४१ में) **समयसारभूतोऽयम्**—ऐसा लेंगे।

भावार्थ : हिंसादिक का वर्णन आगे किया जा रहा है, इनके सर्वथा त्याग को सकलचारित्र कहते हैं... हिंसादिक अर्थात् पाँचों ही। झूठ, चोरी, विषय और परिग्रह। **वर्णन आगे किया जा रहा है, इनके सर्वथा त्याग को सकलचारित्र और एकदेश त्याग को देशचारित्र कहते हैं।** यह बात यहाँ पाँच पाप के त्याग से वर्णन की। ४१ में फिर जरा बदलते हैं। इसकी मूल स्थिति (बतायेंगे)। समझ में आता है?

पाँच पाप का त्याग, यह त्याग और ग्रहण तो अभी वास्तव में विकल्प है, परन्तु सच्चा चारित्र तो तीन कषायरहित मुनि को होता है, वह चारित्र है। यह साथ में शुभभाव है यह त्याग का, यह विकल्प है, इतना तो मेल है। कहो, समझ में आया? उसे यहाँ चारित्र (कहते हैं)। लोग (ऐसा कहते हैं) इस पाठ में ऐसा है न कि यह चारित्र कहा, देख, भाई! यह दो प्रकार का। माँगीरामजी! देखो! चारित्र दो प्रकार का कहा। पाँच प्रकार के हिंसादि का त्याग होना, वह सर्वथा (सकल) चारित्र है और पाँच प्रकार के पाप का देश से (एकदेश) त्याग होना, वह देशचारित्र है। ऐसी व्याख्या की, परन्तु अब फिर उसे समाहित करते हैं।

गाथा - ४१

आगे इन दोनों प्रकार के चारित्रों के स्वामी को बताते हैं-

निरतः कात्स्न्र्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम्।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति।।४१।।

जो पूर्ण विरति में निरत, मुनि समयसार स्वरूप हैं।
जो एकदेश विरति निरत, उनके उपासक वही हैं।।४१।।

अन्वयार्थ : (कात्स्न्र्यनिवृत्तौ) सर्वथा-सर्वदेश त्याग में (निरतः) लीन (अयं यतिः) यह मुनि (समयसारभूतः) शुद्धोपयोगरूप स्वरूप में आचरण करनेवाला (भवति) होता है (या तु एकदेशविरतिः) और जो एकदेशविरति है (तस्यां निरतः) उसमें लगा हुआ (उपासकः) उपासक अर्थात् श्रावक (भवति) होता है।

टीका : 'कात्स्न्र्यनिवृत्तौ निरतः अयं यतिः भवति' - (जिसके अन्तरंग में तो तीन कषायरहित शुद्धि का बल है तथा) पाँच पाप के सर्वथा-सर्वदेश त्याग में जो जीव लगा है, वह मुनि है। 'अयं समयसारभूतः' - यह मुनि शुद्धोपयोगरूप शुद्धात्मस्वरूप ही है। मुनि तो शुद्धोपयोगस्वरूप ही होता है, जो शुभोपयोगरूप भाव है, वह भी इस मुनि की पदवी में कालिमा समान है। 'तु एकदेशविरतिः तस्यां निरतः उपासकः भवति' - जो पाँच पाप के कथंचित् एकदेश त्याग में लगा हुआ जीव है, वह श्रावक है।

भावार्थ : सकलचारित्र का स्वामी तो मुनि है और देशचारित्र का स्वामी श्रावक है।।४१।।

गाथा ४१ पर प्रवचन

आगे इन दोनों प्रकार के चारित्रों के स्वामी को बताते हैं- इसकी व्याख्या तो जिस प्रकार आवे, उस प्रकार आवे न! पंच महाव्रत के परिणाम (रूप) ऐसा व्यवहार

होता है, वहाँ उसे अन्तर में तीन कषाय (चौकड़ी) का अभाव होता है, वह वास्तविक चारित्र है। यह जो शुभभाव है, वह कथंचित् व्यवहार से चारित्र कहा जाता है।

निरतः कात्स्न्र्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम्।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति।।४१।।

देखो! दोनों में **'निरतः''निरतः'** शब्द प्रयोग किया है।

अन्वयार्थ : (कात्स्न्र्यनिवृत्तौ) सर्वथा-सर्वदेश त्याग... सर्वथा कहो या सर्वदेश कहो। **सर्वथा-सर्वदेश त्याग में लीन यह मुनि... 'अयं यतिः समयसारभूतः'** यह समयसारभूत है। लो! पंच महाव्रत का त्याग, (पंच पाप के त्यागरूप पंच महाव्रत) वह कोई वास्तव में समयसारभूत नहीं है, परन्तु पंच महाव्रत के विकल्प के काल में उसे ऐसा शुद्धपरिणतिरूप, शुद्धोपयोगरूप, समयसाररूप भाव होता है। **शुद्धोपयोगरूप स्वरूप में आचरण करनेवाला होता है...** वास्तव में तो अन्दर शुद्धोपयोगरूप आचरण, वही चारित्र है। समझ में आया? **कात्स्न्र्यनिवृत्तौ** सर्वथा पाँच पाप का त्याग, उनकी जो निवृत्ति, उसके काल में वहाँ शुद्धोपयोग अथवा शुद्धपरिणतिरूप तीन कषाय के अभावरूप जो भाव है, वह वास्तविक चारित्र कहने में आता है। कहो, ऐसा है। बड़ा विवाद उठा है यह। ऐ... देवचन्दजी! तुम प्रोफेसर, ये सब शब्द ऐसे हैं, देखो!

मुमुक्षु : गाथा का सीधा अर्थ समझाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : सीधा यह **'समयसारभूतः'** सीधा अर्थ यह। इसे पहले सीधा अर्थ इसमें - ४० में कहना था। भाई! कहा न, **'समयसारभूतः'** सीधा अर्थ।

मुनिपना है, वह पाँच पाप के त्यागरूप भाव वर्तते हैं, वहाँ आगे उसे तीन कषाय के अभावरूप शुद्धपरिणति वर्तती है, उस सहित को; उसे चारित्र कहा गया है। ऐसा है, भाई! परन्तु अब क्या हो? कल एक बड़ा बोल आया है इतना कि, आहा...हा...! पंच महाव्रत के परिणाम चारित्र हैं, उदयभाव नहीं, क्षयोपशमभाव है। भाई! यह नहीं। ऐसे विकल्प की वृत्ति (कि) यह पालन करुँ या यह त्याग-ग्रहण की वृत्ति उठती है, वही शुभभाव है। शुद्धोपयोग में और शुद्धपरिणति में त्याग-ग्रहण की वृत्ति नहीं होती। लोगों को खबर नहीं पड़ती।

यहाँ तो कहा **'निरतः कात्स्न्र्यनिवृत्तौ भवति'** पंच महाव्रत के परिणाम में, पंच अव्रत के भाव जो निवृत्त हुआ है, वह जीव आत्मा में **'निरतः'** है। वे विकल्प भले ही है, परन्तु वह आत्मा में **'निरतः'** है, लीन है। देखो! **शुद्धोपयोगरूप स्वरूप में आचरण करनेवाला होता है...** लो! समझ में आया? **लीन यह मुनि शुद्धोपयोगरूप...** आचरण में लीन है। शब्दार्थ भी यह है, देखो!

चारित्र अर्थात् क्या? ओहो...हो...! जिसे अन्तर में अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी—तीन का अभाव होकर स्वरूप में लीनता, **'निरतः'** लीनता, स्वरूप में लीनता-अतीन्द्रिय आनन्द की उग्रता और महाशान्ति का भरचक ज्वार (आता है)। पर्याय में, अवस्था में शान्ति का भरचक ज्वार (आता है)-ऐसा जो... है न? सर्वथा -सर्वदेश त्याग में। इसलिए अब सर्वथा-सर्वदेश त्याग में कौन है? वह लीन है, किसमें लीन है? वह जीव लीन है। त्याग के समय वह सर्वथा शुभ त्याग जो कहा, उसमें लीन है, अर्थात् उस विकल्प में लीन है-ऐसा नहीं; परान्तु ऐसे त्यागकाल में वह स्वरूप में लीन है। भाषा तो ऐसे कहे, भाई! ऊपर तो यह पाँच व्रत का (व्रतरूप) त्याग, उसे सर्वथा कहा और उसको देश कहा। ऐ ई! देवानुप्रिया!

'कात्स्न्र्यनिवृत्तौ' सर्वथा और देश त्याग में लीन है-ऐसा कहा, परन्तु उसका अर्थ कि उस भूमिका में जिसे पंच-हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, (परिग्रह) सर्वथा छूट गये हैं, ऐसे में वह आत्मा के स्वरूप में लीन है। तीन कषाय के अभावरूप चारित्र है, उसे यहाँ **'समयसारभूतः'** कहा गया है। कहो, कल आया था अपने, नहीं? सामायिक, समयसारस्वरूप सामायिक। आया था न? अमृतचन्द्राचार्य! यह भी अमृतचन्द्राचार्य करनेवाले हैं, वह भी अमृतचन्द्राचार्य (करनेवाले) हैं। कहो।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : सीधी की है। उसमें क्या है? उसमें इस प्रमाण है, वहाँ वह आत्मा में लीन है। कहो, समझ में आया? वापस समयसार नहीं लिखा? यह किसलिए लिखा? इन पंच व्रत में पाँच का त्याग, वह कोई समयसार है? उसकी भूमिका में वैसे भाव होते हैं। वह लीन है, तीन कषाय के अभाव में। **'समयसारभूतः'** शुद्धपरिणति। कहो, समझ में आया?

कल आया था या नहीं? १५४ गाथा। रविभाई! इसने पूछा था। समयसारस्वरूप -ऐसा आया था न? एकाग्रता-लक्षण, दूसरा। पहले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप एकरूप ज्ञान का परिणमन। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप ज्ञान का भवन-परिणमन। उस टीका की ही यह सब बात है। तीनों टीका है, तीनों टीका ही है न, तीनों टीका के ही पाठ हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ज्ञानरूप परिणमन, यह टीका है। पश्चात् इसका दूसरा, एकाग्रता-लक्षण; तीसरा, समयसारस्वरूप—तीनों टीका है। तीनों शब्द अमृतचन्द्राचार्य के हैं। समझ में आया? उसे सामायिक कहते हैं। वह यहाँ मूल पाठ में कहा है। **'समयसारभूतः'**। वहाँ टीका में कहा। ये स्वयं अमृतचन्द्राचार्य (कहते हैं)। समझ में आया या नहीं?

इस चारित्र के दो भेद। सर्वथा प्रकार के त्याग में तीन कषाय के अभावरूप भाव। देश त्याग में थोड़ा निरत। ऐसा है, देखो! (समयसार) १५४ (गाथा की टीका)। **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वभाववाले परमार्थभूत ज्ञान के भवन मात्र...** लो! सामायिक इसे कहते हैं कि सम्यग्दर्शन-शुद्ध आनन्दस्वरूप पूर्ण की अन्तर निर्विकल्प प्रतीति (होना), वह सब ज्ञान का परिणमन है; वह राग का (परिणमन नहीं)। विकल्प नहीं। वे पंच महाव्रत आदि विकल्प नहीं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र स्वभाववाले परमार्थभूत ज्ञान में भवनमात्र, ऐसा। एक बोल। **एकाग्रता लक्षणवाला है और समयसारस्वरूप है...** लो! सामायिक तो इसे कहते हैं। १५४।

मुमुक्षु : यहाँ तो सामायिक की बात है, वहाँ चारित्र की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सामायिक कहो या चारित्र कहो। फिर सामायिक और चारित्र दूसरा होगा? सामायिक कहो या चारित्र (कहो)। सामायिकचारित्र, पाँच चारित्र में चारित्र है या नहीं? सामायिकचारित्र... चारित्र, परिहारविशुद्धि चारित्र, सूक्ष्म (साम्पराय) चारित्र। कहो, समझ में आया इसमें? भगवान आत्मा ऐसा शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। उसमें एकाग्र होकर शुद्ध उपयोगरूप परिणमन करे, जिसमें तीन कषाय के अभावरूप भाव वर्ते, उसे यहाँ सर्वविरतिरूप मुनिपने का चारित्र कहा जाता है।

मुमुक्षु : सकलचारित्र की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सकलचारित्र यह। परन्तु यह (शुद्धोपयोग परिणति)। वे अकेले

विकल्प हैं, वे नहीं। अट्ठाईस मूलगुण और व्रत आदि के विकल्प, वे कहीं वास्तविक चारित्र नहीं। उसके द्वारा वह (शुद्धि) बतलाया, व्यवहार द्वारा (बतलाया)। पहले कहा व्यवहार कि ऐसे होते हैं वहाँ; उस द्वारा क्या हुआ? कि अन्दर **'समयसारभूतः'** जो चारित्र है-शुद्धोपयोग, वह सर्वविरतिवाले को चारित्र है। उसमें वह लीन है। विकल्प है, उसमें लीन नहीं। आहा...हा...! सार तो ऐसा आया यहाँ, देखो! परन्तु समझना चाहिए न! व्यवहार में लीन है, वह तो व्यवहार है। सम्यग्दृष्टि व्यवहार में लीन नहीं तो फिर मुनि तो व्यवहार में लीन (कहाँ से होंगे)? समझ में आया?

मुमुक्षु : चौथे में धर्म की शुरुआत है; यहाँ सकलचारित्र में उग्रता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : समझ में आया? सम्यग्दर्शन भी व्यवहार से मुक्त है। आत्मा शुद्धस्वरूप पवित्र है। उसका वेदन, उसकी श्रद्धा और उसमें लीनता का अंश, यह निश्चयदृष्टि जहाँ हुई; इसलिए सम्यग्दृष्टि ही व्यवहार से मुक्त है; व्यवहार में लीन है ही नहीं, व्यवहार परज्ञेय में जाता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह इसके लिये तो यह बात चलती है, यह। वहाँ दूसरा कहा और यहाँ दूसरा कहे-ऐसा है? यहाँ चरणानुयोग का अधिकार है; इसलिए पहले सर्वत्याग से बात ली है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं; ज़रा भी खींचकर नहीं, समझकर निकालना पड़े-ऐसा कहो; समझकर निकालना पड़े, खींचकर नहीं।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, वह तो खींचकर जबरदस्ती नहीं निकलता न, ऐसा (कहते हैं)। हैं? देखो!

निरतः कात्स्न्र्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम्।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति।।४१।।

आहा...हा...! क्या हो? शास्त्र की शैली जो हो, उस विधि से कथन आता है परन्तु उसमें क्या कुछ अपेक्षा है, यह बात तो इसे जानना चाहिए। हार्द-हार्द जानना, आता है न अपने? प्रवचनसार के तीसरे भाग में, नहीं? हार्द। शास्त्र को इस स्थान पर, इस जगह क्या कहना है?—उस हार्द का जाननेवाला होता है-ऐसा लिखा है इसमें। देखो! प्रवचनसार, तीसरे भाग में (अधिकार में)। समझ में आया? एक ओर **'समयसारभूतः'** कहा; वह विकल्प है; पंच महाव्रत के परिणाम एक ओर कहे आस्रव है, वह दोष है, मलिनभाव है, व्यवहार है। सम्यग्दृष्टि व्यवहार से मुक्त है, क्योंकि राग और रागरहित दृष्टि दोनों एक कैसे हो सकते हैं? समझ में आया?

स्वरूप-शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टि, उसका ज्ञान और उसमें लीनता का अंश, वह तो अरागभाव है। वह अरागभाव-ऐसा जो सम्यग्दृष्टि का भाव है, उस-उस काल में उसे विकल्प आदि हों, उनसे तो भेद हैं-पृथक् हैं। निश्चय, व्यवहार से भिन्न है। निश्चय में लीन है, व्यवहार में लीन नहीं। समझ में आया? यहाँ मुनि को कहा अवश्य कि यह बताना है कि भाई! उन्हें पंच अव्रत का त्याग है, परन्तु लीन यहाँ (स्वरूप में) है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : ....गया नहीं,रहा, उसके स्थान में रहा। बन्ध अधिकार में ही कहा है। भगवान जब ऐसा कहते हैं कि परजीव का जीवन-मरण, सुख-दुःख आत्मा नहीं कर सकता, तो फिर इस पर को कर सकता हूँ-ऐसा जो अध्यवसाय; कर नहीं सकता और करना-ऐसा अध्यवसाय भगवान ने छुड़ाया है, तो मुनि कहते हैं कि हम तो ऐसा मानते हैं (कि) भगवान ने पराश्रित ऐसा सर्व व्यवहार ही छुड़ाया है। मूल श्लोक (१७३) यह है।

भगवान ने पराश्रित ऐसा व्यवहार ही त्याग किया है। जब एक जीव, दूसरे जीव को जिला नहीं सकता, मार नहीं सकता, सुखी नहीं कर सकता, उसकी व्यवस्था नहीं कर सकता। एक जीव दूसरे की सुख की-सुविधा की व्यवस्थ्था; दुःख की असुविधा की व्यवस्था या जीने की व्यवस्था या मरने की व्यवस्था सामनेवाले की, एक जीव दूसरे की नहीं कर सकता; और कर सकता है-ऐसा मानता है, वह अध्यवसाय मिथ्यात्व है। भगवान ने कहा कि पर का यह जीना-मरना, सुख-दुःख की दृष्टि छोड़ दे, क्योंकि वह

तेरे अधिकार की बात नहीं है; तो भगवान ने जब पर की एकत्वबुद्धि छुड़ायी, पर का कर सकता सकता नहीं—ऐसा (कहकर) एकत्व अध्यवसाय छुड़ाया तो हम तो ऐसा कहते हैं कि पर के आश्रित ऐसा व्यवहार ही भगवान ने छुड़ाया है। यह तो कहा। नहीं तो २७२ का यह उपोद्घात है।

गाथा २७२ में कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि '**ववहारणओ पडिसिद्धो**' निश्चयनय से व्यवहार प्रतिच्छेद है। इसका यह उपोद्घात किया है। मुनि स्वयं कहते हैं कि हम ऐसे त्याग जानते (हैं)। यह तो एक शैली ली है। परन्तु वे स्वयं २७२ गाथा में कहना चाहते हैं, उसका एक उपोद्घात किया है, एक शैली से उस प्रकार का। समझ में आया? भाई! यह मार्ग तो है ऐसा रहेगा, भाई! सत् को सत्रूप रखेगा तो रहेगा; वरना खींचतान होगी तो इसे मार्ग हाथ नहीं आयेगा।

कहते हैं कि **सर्वथा-सर्वदेश त्याग में लीन...** ऐसे व्रत में जो लीन **यह मुनि शुद्धोपयोगरूप स्वरूप में आचरण करनेवाला...** देखो! **'समयसारभूतः'** होता है **'भवति' 'समयसारभूतः भवति'** ऐसा है। **और जो एकदेशविरति है, उसमें लगा हुआ..** उसमें **'निरतः'** कहा था न? सर्वदेश में लगा हुआ है। यह एकदेश में लगा हुआ है। समझ में आया? **उपासक अर्थात् श्रावक होता है।** जिसे आत्मा का अनुभव-सम्यग्दर्शन हुआ है। यह तो पहली बात लेकर यह बात करते हैं। निर्विकल्प आत्मा शुद्ध चैतन्य का दर्शन हुआ है, उसका ज्ञान-आराधन हुआ है; उसके पश्चात् यह देशविरति श्रावक की व्याख्या चलती है। सर्वविरति के साथ में श्रावक ऐसा होता है। कहो, समझ में आया इसमें?

इसलिए सम्यग्दर्शन—स्वभाव परिपूर्ण शुद्ध चैतन्य के आश्रय से हुआ सम्यग्दर्शन; उसके आश्रय से हुआ आराधन-सम्यग्ज्ञान, और उसके अन्दर देशविरतिपना आया है, पाँच पाप को देश-अंश छोड़ा है, परन्तु उसकी स्थिरता-लीनता यहाँ है। दो कषाय के अभावरूप परिणति है, उसमें उसकी लीनता है। (यदि ऐसा नहीं समझे तो) नहीं तो न्याय बदल जायेगा। एक ओर कहना कि व्यवहार और निश्चय दो विरोध है। फिर कहना कि निश्चयवाला भी व्यवहार में भी लीन है, दो मेल नहीं खायेगा। समझ में आया? ऐसा बतलाया। लीन यहाँ है, भाई! समझ में आया?

भगवान आत्मा अपनी शुद्ध सत्ता की संभाल में आया। श्रद्धा-ज्ञान की स्थिति में (आया), फिर कहते हैं, उसे सर्व विरतिपना पाँच पाप का हुआ, तीन कषाय के अभाव में लीन है; और पाँच पाप के देश का त्याग हुआ तो वह दो कषाय के अभाव में लीन है। आहा...हा...! **विदूषाम**-ऐसा कहा है न? पण्डितों के लिये यह कहता हूँ-ऐसा लिखा है या नहीं? पुरुषार्थसिद्धि-उपाय। यह प्रवचनरहस्य कोष है। यह प्रवचन के रहस्य का भण्डार है। समझ में आया इसमें? इसे सत् है, उस प्रकार से सत् की तो इसे हाँ तो करनी पड़ेगी, वरना किसी प्रकार से मार्ग नहीं निकलेगा।

टीका : 'कात्स्न्र्यनिवृत्तौ निरतः अयं यतिः भवति' - (जिसके अन्तरंग में तो तीन कषायरहित शुद्धि का बल है तथा)... लो ठीक! कोष्ठक में डाला है। **अन्तरंग में तो तीन कषायरहित...** जो मुनि! अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान, तीन का अभाव, यह शुद्धि का जिसे बल है। तथा **पाँच पाप के सर्वथा-सर्वदेश त्याग में जो जीव लगा है...** देखो! **'निरतः'** का अर्थ यहाँ लगा, यहाँ कहा। इसका अर्थ कि वहाँ है। **वह मुनि है।** समझ में आया? कोष्ठक में है न? परन्तु होगा न इसमें मूल में? कहीं घर का नहीं डाला होगा।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक है। तो इसमें नहीं डाला होगा। **(जिसके अन्तरंग में तो तीन कषायरहित शुद्धि का बल है तथा)** भाई! किसने किया है यह? वजुभाई ने, ठीक। **पाँच पाप के सर्वथा-सर्वदेश...** सर्वथा अर्थात् सर्वदेश। मूल तो शुद्धोपयोग। स्वयं तो शुद्धोपयोग की व्याख्या करते हैं। समझे न? टोडरमलजी ने तो शुद्धोपयोग की व्याख्या की है। बाद में भी शुद्धोपयोग करेंगे। '**आत्मपरिणामहिंसनहेतु**' (गाथा-४२) वहाँ भी शुद्धोपयोग करेंगे। आत्मपरिणाम अर्थात् शुद्धोपयोग। पहले में इसके वास्तविक परिणाम नहीं। पाठ ही ऐसा बोलता है, देखो! बाद में आता है, देखो न! ४२ में स्पष्ट आता है। पाठ ही ऐसा बोलता है।

पाँच पाप के सर्वथा-सर्वदेश त्याग में जो जीव लगा है वह मुनि है। यह मुनि शुद्धोपयोगरूप शुद्धात्मस्वरूप ही है। लो! मुनि तो शुद्धोपयोगरूप (ही है)। यह

तो टोडरमल का है। ये मुनि **'समयसारभूतः'** है न? उस **'समयसारभूतः'** का अर्थ शुद्धोपयोग किया। कोई फिर परिणमन कदाचित् करे। **'समयसारभूतः'** है न? अर्थात् ये मुनि शुद्धोपयोगरूप, अन्दर शुद्धोपयोग (अर्थात्) ध्याता-ध्यान-ध्येय भूलकर शुद्धस्वरूप में (लीन हैं)। पंच महाव्रत के विकल्प हैं, वे शुभ हैं; वह तो मेल है। आत्मा के शुद्धस्वरूप में... इन्होंने मोक्षमार्गप्रकाशक में भी इन्होंने ऐसा लिया है न? शुद्धोपयोगरूपी मुनि (धर्म) को अंगीकार करते हैं।

मुमुक्षु : शुद्ध परिणति समझना या....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो है तो परिणति, परन्तु यहाँ शुद्ध ऐसा शब्द प्रयोग किया। यह शब्द सर्वत्र शुद्धोपयोग प्रयोग करते हैं। इसमें एक जगह प्रयोग किया है परन्तु यह इन्होंने प्रयोग किया है। शुद्ध परिणाम कहीं प्रयोग किया है। यह शुद्धोपयोग वह वास्तव में तो शुद्धपरिणति है। परन्तु यह शुद्धोपयोग ही प्रयोग करते हैं, शुद्ध व्यापार। शुद्ध व्यापार। वह शुभ नहीं। कितना हुआ यह? देखो! आत्मा शुद्ध परिणमो। शुद्धोपयोगरूप परिणाम। ४२ के भावार्थ में इन्होंने ऐसा किया। पाँच पाप हिंसा में ही गर्भित है क्योंकि इन सब पापों से आत्मा के शुद्ध परिणामों का घात होता है। इन्होंने ऐसा कहा है यह। शुद्ध परिणामों का। है न? ४२ (गाथा)। वास्तव में तो इस शुद्धोपयोग का अर्थ शुद्ध व्यापार है। समझे न? वे पंच महाव्रत शुभ व्यापार हैं, यह शुद्ध व्यापार है, बस! शुद्ध व्यापार। आत्मा पवित्र शुद्ध आनन्द का शुद्ध व्यापार। सम्यग्दर्शन ज्ञानसहित शुद्ध आत्मपरिणाम शुद्ध आत्मपरिणाम, वह मुनिपना है, मुनिपना वह है। पाँच महाव्रत के विकल्प हैं, वे व्यवहार से हैं। समझ में आया? देखो न! कैसा लिखा है?

यह मुनि शुद्धोपयोगरूप शुद्धात्मस्वरूप ही है। देखा? यह शुद्ध परिणति लेना वहाँ।

मुनि तो शुद्धोपयोगस्वरूप ही होता है,... शुद्ध परिणतिरूप ही मुनिपना होता है। मुनिपना, वह नग्नदशा या अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प, वह वास्तव में मुनिपना है ही नहीं। दर्शनशुद्धि और ज्ञानशुद्धि में ये पंच महाव्रत के विकल्प, उस शुद्ध परिणति में आते ही नहीं। समझ में आया? शुद्धोपयोगरूप शुद्धात्मस्वरूप ही मुनि को कहा जाता है। मुनि

उसे कहते हैं। अकेले देह के क्रियाकाण्ड, वह क्रिया तो आत्मा की है ही नहीं। पंच महाव्रत के परिणाम कदाचित् हों, अहिंसा, सत्य के शुभपरिणाम, वह कोई चारित्र नहीं है, वह तो राग है। उसे कथंचित् चारित्र कब कहा जाये? कि शुद्धपरिणति का उपयोग परिणमित हुआ है, तब शुभभाव को कथंचित् व्यवहाररूप से चारित्र कहने में आता है। समझ में आया?

मुनि तो शुद्धोपयोगस्वरूप ही होता है,.. देखो न! भाषा सरस कही है। मुनिपना उसे कहते हैं। यह सब मुनिपने को माने, वह मुनिपना है नहीं। अभी दृष्टि ही खोटी है, दृष्टि मिथ्यात्व है। अभी पुण्य के परिणाम करते हैं, काया की क्रिया कर सकते हैं, शुभभाव करते हैं तो धर्म होता है, पर की दया पालते हैं, तो पाल सकते हैं और दया के परिणाम धर्म हैं, वह तो मिथ्यादृष्टि है, उसे तो कोई निश्चय भी नहीं और व्यवहार भी नहीं। भारी कठिन बात, बापू! वीतरागमार्ग.. आहा..हा..! समझ में आया?

जो शुभोपयोगरूप भाव है, वह भी इस मुनि की पदवी में कालिमा समान है। है? मुनि को पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण, एक बार आहार, खड़े-खड़े आहार, अदन्त धोवन आदि अट्ठाईस मूलगुण का जो विकल्प है, वह शुभोपयोगरूप भाव भी उन मुनि की पदवी में कालिमा-मैल है। अभी तो उसका भी ठिकाना नहीं और उन्हें मुनिपना माने। क्या हो? भगवान नहीं मिलते। भगवान थे, तब तो इन्द्र उन्हें (भ्रष्ट साधुओं को) कहे कि अकेला नग्नपना रखकर दूसरा करोगे तो दण्ड दूँगा, देव कहे। ऋषभदेव भगवान के समय में तब ऐसा था। बहुत साधु हो गये थे न! कितने? हजार, चार हजार? कितने हो गये थे? कुछ संख्या होगी। चार हजार, उसमें से फिर कितने ही भागे, पालन नहीं कर सके न। व्यवहार से आये थे, तो भगवान ने (दीक्षा ली तो) साथ-साथ में आये थे। फिर भागे। जंगल में छाल पहनी और यह करो और फिर खाये कन्दमूल। भूख लगी तो रह नहीं सके। इन्द्र कहता है - यदि नग्न रहकर चारित्र नाम धराओगे तो दण्ड दूँगा, वेष बदल दो। तब आये थे और अभी तो कोई आया नहीं। इतना पुण्य चाहिए न।

यहाँ तो कहते हैं, शुद्धोपयोगरूपी परिणमन-आत्मा का शुद्ध व्यापार। पंच महाव्रत का विकल्प है, वह तो शुभभाव है। वह कोई मुनिपना नहीं, मुनिपना नहीं। राग, वह

मुनिपना होगा ? वीतरागभाव वह मुनिपना होता है। उसमें लिखा है, देखो ! यह जुगलकिशोर ऐसा कहते हैं कि अकेली वीतरागता की ही वहाँ बात करते हैं। राग की तो बात ही नहीं करते। राग से लाभ हो -ऐसी बात (नहीं करते) वह एकान्त है। ऐई ! अरे ! वीतरागमार्ग में राग से लाभ होता है तो वीतरागमार्ग कहाँ रहा। समझ में आया ? वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ पूर्ण वीतराग का मार्ग वीतरागभाव से ही शुरु होता है। बीच में राग आवे, वह कहीं उनका मार्ग नहीं है। समझ में आया ? वीतरागमार्ग किसे कहना ? दृष्टि में निर्विकल्प आत्मा की दृष्टि होना, वीतराग दृष्टि, वह सम्यग्दर्शन। आत्मा का ज्ञान होना, शास्त्र का नहीं; वह वीतरागी ज्ञान है, वह ज्ञान है और आत्मा में शुद्ध परिणति अकषायरूप से होना, वह वीतराग चारित्र है, वह मार्ग है। समझ में आया ? वे कहते हैं कि व्रत पढ़ते नहीं। लो, यह व्रत आया।

'तु एकदेशविरतिः तस्यां निरतः उपासकः भवति'-जो पाँच पाप के कथंचित् एकदेश त्याग में लगा हुआ जीव है, वह श्रावक है। मूल उसे भी दो कषाय का अभाव है, वह वास्तव में श्रावकपना है। बारह व्रत के विकल्प हैं, वह राग उदयभाव है, वह कहीं चारित्र है ? श्रावकपना है ? उसकी भूमिका में ऐसा व्यवहार होता है। इसलिए उसके द्वारा उसकी दशा ऐसी होती है - ऐसा उस भूमिका में बतलाया है। उसके द्वारा बतलाया है, हों ! उससे होता है, ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : बारह व्रत का निरतिचार पालन करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बारह व्रत का निरतिचाररूप से जहाँ हो, वहाँ पहले दो कषाय के अभाव का चारित्र (होता है), वह चारित्र है - ऐसा कहते हैं। व्यवहारनय से तो ऐसा ही कहा जाता है। बारह व्रत निरतिचार पालना। परन्तु बारह व्रत का विकल्प स्वयं ही राग है, और उसे अतिचार न लगाना ! समझ में आया ? चुस्त पंच महाव्रत और बारह व्रत वह स्वयं राग है, विकल्प है, वृत्ति उठती है। उसमें जो अन्दर लीनता है.. समझ में आया ? उसे यहाँ चारित्र कहने में आता है। वस्तु को वस्तुरूप से रखना, श्रीमद् ऐसा कहते हैं एक बात। वस्तु को बदलना नहीं, तुम्हारे घर का डालना नहीं। सत् को सत्रूप रखना। ऐसा है वहाँ।

भावार्थ : सकलचारित्र का स्वामी तो मुनि है... जिन्हें आत्मा में बहुत शान्त वीतरागरस प्रगट हुआ है। वीतरागभाव की शान्तरसता, स्वभाव में जो समरस पड़ा है। स्वभाव जो आत्मा का समरस है, उसमें से समरसपना, पर्याय में बहुत समरसपना परिणमित हुआ है। वीतरागभावरूप जिसका परिणमन विशेष है, वे मुनि हैं। वे मुनि इस सकलचारित्र के स्वामी हैं। **देशचारित्र का स्वामी श्रावक है।** लो, समझ में आया?

गाथा - ४२

आगे कहते हैं कि पाँच पाप एक हिंसा स्वरूप ही है –

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय।।४२।।

है घात निज परिणाम का, इससे सभी हिंसामयी।
हैं मात्र बोधन-हेतु शिष्यों, को कहे अनृतादि भी।।४२।।

अन्वयार्थ : (आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्) आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों के घात होने के कारण (एतत्सर्वं) यह सब (हिंसैव) हिंसा ही है। (अनृतवचनादि) असत्य वचनादिक के भेद (केवलं) केवल (शिष्यबोधाय) शिष्यों को समझाने के लिए (उदाहृतम्) उदाहरणरूप कहे गए हैं।

टीका : 'सर्वं एतत् हिंसा एव' – यह समस्त पाँचों पाप हिंसा ही हैं। किसलिए? 'आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्' – आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों के घात के कारण हैं, अत: यह सर्व हिंसा ही हैं।

प्रश्न : यदि हिंसा ही हैं तो अन्य भेद क्यों कहे गए?

उत्तर : 'अनृतवचनादि केवलं शिष्यबोधाय उदाहृतम्' – अनृतवचनादि के भेद मात्र शिष्य को समझाने के लिए उदाहरणरूप से कहे गए हैं। जो शिष्य हिंसा के विशेष को न जाने तो उसके लिये हिंसा के उदाहरण अनृतवचनादि कहे गए हैं। हिंसा का एक भेद अनृतवचन है, एक चोरी है – इस भाँति उदाहरणरूप जानना।।४२।।

गाथा ४२ पर प्रवचन

आगे कहते हैं कि पाँच पाप एक हिंसा स्वरूप ही है- ये पाँचों पाप हिंसा के ही प्रकार हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय और परिग्रह, ये पाँच हिंसा के ही उदाहरण हैं, हिंसा के ही प्रकार हैं। देखो! भाषा

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय।।४२।।

आत्मपरिणाम की व्याख्या। आत्मा के शुद्ध परिणाम, वे आत्मा के परिणाम हैं। कहो, समझ में आया? पंच महाव्रत के और बारह व्रत के विकल्परहित जो शुद्धपरिणाम, उन्हें यहाँ आत्मपरिणाम कहा है। **आत्मपरिणामहिंसन** शुभभाव, वह आत्मा के परिणाम तो उसे हिंसा (कहना है)? वे शुभ परिणाम घातक हैं - ऐसा यहाँ कहना है? शुभभाव वह आत्मा के परिणाम और वह घातक तो हिंसा, ऐसा है? परन्तु इस प्रकार मेल किस प्रकार खायेगा? शुभभाव जो है, वह स्वयं राग है। वास्तव में तो वही निश्चय हिंसा है। कहेंगे, समझ में आया? यह ४४ में कहेंगे। ४३ में हिंसा का स्वरूप बताकर ४४ में कहेंगे।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।४४।।

जिनागम-भगवान के आगम, त्रिलोकनाथ परमेश्वर वीतरागदेव सर्वज्ञदेव तीन काल का जिन्हें ज्ञान है- ऐसे परमात्मा, वीतरागदेव के आगम का संक्षेप यह है कि राग की उत्पत्ति वह हिंसा है, राग की अनुत्पत्ति आत्मा में होना, उसका नाम अहिंसा है। पूरे जैन आगम का यह सार है। शुभराग होता है, वह भी आत्मा की हिंसा है। शुद्ध परिणमन का घात होता है। समझ में आया?

वही यहाँ कहते हैं, देखो न! **आत्मपरिणामहिंसन** आत्मा के परिणाम अर्थात् वह शुद्धपरिणमन। **उसके घात होने के कारण यह सब हिंसा ही है।** समझ में आया?

अनृतवचनादि असत्य वचनादिक के भेद... झूठ, चोरी, विषय आदि। ये सब, **केवल शिष्यों को समझाने के लिए उदाहरणरूप कहे गए हैं।** बाकी ये सब हिंसा के ही भेद हैं, हिंसा ही है।

मुमुक्षु : अहिंसा परमो धर्म मिल तो रहा...

पूज्य गुरुदेवश्री : इस प्रकार से मिल रहा, अहिंसा परमो धर्म। शुद्ध चिदानन्दस्वरूप भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने जैसा आत्मा कहा, तीर्थंकरदेव ने जैसा आत्मा देखा और कहा, वैसा जो आत्मा, वह अहिंसकस्वरूप ही है। ऐसा अहिंसकस्वरूप अर्थात् अविकारीस्वरूप है अर्थात् वीतरागस्वरूप है। उसके अवलम्बन से जितनी अरागता-अरागता-वीतरागता, राग के अभावरूप शुद्धता का परिणमन होना, उतनी अहिंसा है। क्योंकि स्वयं वस्तु अहिंसकस्वरूप है। अहिंसक अर्थात् अरागस्वरूप है, समभावस्वरूप है, ज्ञायकस्वरूप है। समझ में आया? अहिंसकस्वरूप ही वस्तु है। उसके अवलम्बन से जितनी शुद्ध परिणति-निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का अंश, रागरहित अहिंसा प्रगट हुई, उसे अहिंसा कहने में आता है। जैनागम में उसे अहिंसा कहा है। समझ में आया?

भगवान ने, परमेश्वर ने, केवली ने जो आत्मा देखा, ऐसा आत्मा जैन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं दूसरे जगह नहीं हो सकता। दूसरे भले बात करें आत्मा-आत्मा की, परन्तु परमेश्वर केवलज्ञानी ने जैसा आत्मा देखा, वैसा आत्मा कोई नहीं देख सकता। सर्वज्ञ के अतिरिक्त किसी ने देखा नहीं और कल्पना से सबने बातें की हैं अर्थात् ऐसा जो आत्मा, ज्ञान समरस, श्रद्धा, आनन्द, स्वच्छता आदि स्वभाव का पिण्ड वस्तु जो है, उस आत्मा का स्वरूप ही अहिंसक है। अर्थात् वीतरागस्वरूप है - ऐसा कहना है। आत्मा का स्वरूप ही वीतराग है। उसके अवलम्बन से वर्तमान दशा में जितनी रागरहित वीतरागदशा प्रगट होती है, उसे भगवान अहिंसा कहते हैं। यह अहिंसा परमो धर्म है। ऐ.. पोपटभाई! सब व्याख्या अलग प्रकार की। आहा..हा..!

सर्वज्ञ के ज्ञान में, एक समय में जिन्होंने तीन काल-तीन लोक देखा, ऐसे सर्वज्ञ परमेश्वर, आत्मा का स्वरूप ऐसा उन्होंने परमेश्वररूप से परमेश्वरपने में परमेश्वरस्वरूप देखा है। समझ में आया?

प्रभु तुम जाणग रीति सौ जग लेखता;
निज सत्ताये शुद्ध सहुने पेखता।

प्रभु! आप सर्वज्ञ हो, नाथ! तीन काल, तीन लोक देखते हो। उसमें इस आत्मा को भी आप ऐसा देखते हो कि, निज सत्ता से शुद्ध देखते हो। शुद्ध, अरागी, वीतरागी, परमानन्द की मूर्ति इस आत्मा को भगवान ने देखा है। इस आत्मा को, हों! उन्होंने तो अपना किया, वह नहीं। ये सब आत्मा को भगवान ने ऐसा देखा है। आहा..हा..! क्योंकि साथ में पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह तो भगवान ने आस्रव देखा है, वह तो आस्रवतत्त्व में डाला। शरीर, कर्म को भगवान ने अजीव में डाला, अजीव देखा। अब भगवान ने जैसा देखा, वैसा जिसे देखना आवे... आहा..हा..! बहुत कठिन बात!

मुमुक्षु : प्रभु! आप....

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सत्य। इसमें तो हिंसा के बहुत भंग आयेंगे। बहुत भंग आयेंगे। प्रभु आत्मा शुद्धस्वरूप से विराजमान ही है। पर्याय की अशुद्धता जो है, वह तो आस्रवतत्त्व की है, वह कहीं इसके मूल तत्त्व की नहीं है। वह तो आस्रवतत्त्व में गयी और कर्म तथा शरीर वह अजीव में गया। सात तत्त्व हैं या नहीं? नौ तत्त्व? तो कर्म-शरीर अजीव में गये; पुण्य-पाप के भाव आस्रव में गये। तो भगवान आत्मा कितना, कैसा रहा? आहा..हा..! अरे! जगत को भगवान का कहा हुआ ऐसा तत्त्व सुनने को नहीं मिलता, वह समझे कब, श्रद्धा कब करे, और उसे चारित्र कब हो? ऐसे का ऐसा मान बैठे कि यह बाहर है, वह चारित्र है।

यहाँ तो आया है क्या? आत्मपरिणाम पर जरा अभी वजन है। आत्मपरिणाम ही उसे कहा है कि जो शुद्ध हों वे। समझ में आया? भगवान आत्मा तो द्रव्य हुआ, वस्तु, परन्तु उसके परिणाम? कि उसके परिणाम भी वह आत्मा जो वीतराग समस्वरूपी है, उसके जैसे परिणाम, वीतरागपरिणाम जिसे प्रगट हुए अर्थात् शुद्धपरिणाम प्रगट हुए, वह शुद्धपरिणति, वही अहिंसा है। उसका जितना राग होकर घात होता है, वह हिंसा है। आहा..हा..! देह की क्रिया और पर की दया मैं पाल सकता हूँ, यह तो मिथ्यात्वभाव है। मिथ्यात्वभाव है, वह कहीं आत्मपरिणाम नहीं है। मिथ्यात्व, शुद्ध की हिंसा करता है। वह परिणाम, शुद्धपरिणाम

की उत्पत्ति नहीं होने देकर; हिंसा करता है। समझ में आया? वह तो पर की... अपने में भी कमजोरी के कारण जो शुभराग होता है, वह भी शुद्धपरिणति की हिंसा है। शुद्धपरिणाम की हिंसा है, क्योंकि वह भाव भी छूट जायेगा, तब निर्मल वीतरागता होगी। तब निर्मल वीतरागता में यह जितना लप अभी दिखता है, वह सब हिंसा है - यहाँ ऐसा कहते हैं। कहो, दीपचन्दजी! वीरचन्दजी क्या है? ओहो..हो..! भगवान! क्या करे?

मुमुक्षु : निश्चय हिंसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह निश्चय हिंसा, वही हिंसा है। व्यवहार हिंसा पर में उस समय होती है, तब उसे व्यवहार हिंसा का आरोप कहा जाता है। यह स्वयं अपने प्राण को, इन्द्रियों को, शरीर को नुकसान करे, तब उसे द्रव्यहिंसा हुई कहलाती है।

लो! यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय। पुरुषार्थसिद्धि अर्थात् चैतन्यस्वभावरूप पुरुष आत्मा; उसके प्रयोजन की सिद्धि अर्थात् मोक्ष; उसका हेतु अर्थात् मोक्ष का मार्ग। उस मोक्ष के मार्ग में सर्वविरति का चारित्र कैसा होता है? उसके मार्ग में, मार्ग में आया हुआ, उसका सर्वविरतिवाले का चारित्र कैसा होता है? कि शुद्धपरिणतिरूप परिणाम हों, उसे सर्वविरति का चारित्र कहने में आता है। कहो, समझ में आया इसमें?

आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों के घात के कारण हैं, अतः यह सर्व हिंसा ही हैं। उसके उदाहरणरूप से पाँच बोल हैं। **'सर्वं एतत् हिंसा एव' - यह समस्त पाँचों पाप हिंसा ही हैं। किसलिए? 'आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्' - आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणामों के घात के कारण हैं, अतः यह सर्व हिंसा ही हैं।** कहो, ऐसा (कहे) कि इसे हिंसा कही परन्तु पहले में शुभ उपयोग को अहिंसा नहीं कहा परन्तु यह तो ऊपर स्पष्टीकरण हो गया। समयसारभूत आत्मा कहा, फिर थोड़ा स्पष्टीकरण किया।

प्रश्न : यदि हिंसा ही हैं तो अन्य भेद क्यों कहे गए? क्या कहते हैं? यदि अनृत-झूठ बोलना, चोरी, विषय और परिग्रह ये पाँचों सब हिंसा ही हो तो इनके पाँच प्रकार किसलिए कहे? **'अनृतवचनादि केवलं शिष्यबोधाय उदाहृतम्'** अनृत अर्थात् झूठ वचन, चोरी, विषय, परिग्रह, **अनृतवचनादि के भेद मात्र शिष्य को समझाने के**

लिए उदाहरणरूप से कहे गए हैं। उदाहरणस्वरूप कहे। देखा? भाई! यह झूठ बोले, वह हिंसा है, चोरी करे वह हिंसा-ऐसा। क्योंकि उनमें राग आता है न? तीव्र राग।

जो शिष्य हिंसा के विशेष को न जाने तो उसके लिये हिंसा के उदाहरण अनृतवचनादि कहे गए हैं। न जाने तो, ऐसा। हिंसा के विशेष न जाने सामान्य में, उसे हिंसा के उदाहरणरूप से झूठ आदि के पाँच बोल कहे हैं। अनृतवचन आदि—झूठ वचन, चोरी, विषय और परिग्रह। **हिंसा का एक भेद अनृतवचन है,..** अनृत अर्थात् झूठ। हिंसा का एक भेद, हिंसा के परिणाम में उसका एक भेद झूठ वचन, वह भी हिंसा। झूठ वचन तो वाणी है, हों! अन्दर भाव (होता है) वह। झूठ बोलने का जो भाव होता है न? भाव, वह हिंसा। आत्मा के प्राण वहाँ घात होते हैं। **एक चोरी है...** हिंसा का एक भेद चोरी है। ऐसे हिंसा का एक भेद विषय है, हिंसा का एक भेद परिग्रह है। ममता, हों! उसे ममता के परिणाम हैं। **इस भाँति उदाहरणरूप जानना।** लो!

देखो, यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, भाई! पहले-पहले पढ़ा जाता है, हों! व्याख्यान में नहीं पढ़ा था। कितने ही कहते हैं, ये श्रावक के आचार नहीं पढ़ते। प्रवचनसार का तीसरा भाग (चरणानुयोगसूचक चूलिका) बहुत बार पढ़ा गया है। उसमें श्रावक का नहीं आता? चरणानुयोग का व्यवहार आया है। व्याख्यान में पहली बार पढ़ा। पुरुषार्थसिद्धि-उपाय कभी पढ़ा नहीं था। लोग कहें, रत्नकरण्ड श्रावकाचार पढ़ो। वह भी पढ़ेंगे, भाई! पढ़ने में कहाँ दिक्कत हैं यहाँ। लाओ न। गुजराती-बुजराती हुआ हो तो पढ़ा जाये। हिन्दी हुआ हो तो। वह बड़ा जो है, इतना बड़ा वह सब नहीं पढ़ा जाता। कितना बड़ा? इतना बड़ा।

गाथा - ४३

आगे हिंसा का स्वरूप कहते हैं -

यत्खलुकषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा।।४३।।

नित द्रव्यभावमयी सुप्राणों, के कषायी योग से।
है घात का उत्कृष्ट कारण, सुनिश्चित हिंसा ही है।।४३।।

अन्वयार्थ : (कषाययोगात्) कषायरूप से परिणमित मन, वचन, काय के योग से (यत्) जो (द्रव्यभावरूपाणाम्) द्रव्य और भावरूप दो प्रकार के (प्राणानां) प्राणों का (व्यपरोपणस्य करणं) व्यपरोपण करना-घात करना (सा) वह (खलु) निश्चय से (सुनिश्चिता) भलीभाँति निश्चित की गई (हिंसा) हिंसा (भवति) है।

टीका : 'खलु कषाययोगात् यत् द्रव्यभावरूपाणां प्राणानां व्यपरोपणस्यकरणं सा सुनिश्चिता हिंसा भवति' - निश्चय से कषायरूप परिणमित हुए मन, वचन, काय के योग के हेतु से द्रव्य-भावरूप दो प्रकार के प्राणों को पीड़न करना-घात करना निश्चय से हिंसा है।

भावार्थ : अपने मन में, वचन में या शरीर में क्रोध-कषाय प्रगट होने पर प्रथम तो अपने शुद्धोपयोग भावप्राण का घात हुआ। यह हिंसा तो अपने भावप्राण के व्यपरोपण होने के कारण पहले ही हो गई, दूसरी हिंसा तो होवे अथवा न भी होवे। पश्चात् कदाचित् तीव्रकषायरूप होने पर अपने दीर्घश्वासादिक से अथवा हाथ-पैर से अपने अंग को पीड़ा उत्पन्न करे या अपघात करके मर जाय तो इसमें अपने द्रव्यप्राण के घातरूप हिंसा हुई। अथवा यदि कषाय से अन्य जीव को कुवचन कहा, मर्मभेदी हास्य किया, या ऐसा कार्य किया जिससे उसका अन्तरंग पीड़ित होकर कषायरूप परिणाम हो जायें तो पर के भावप्राण के व्यपरोपण से हिंसा होती है। जहाँ कषाय के वशीभूत होकर प्रमादी हुआ, अन्य जीव के शरीर को पीड़ा पहुँचाई, अथवा प्राणनाश किया, वहाँ पर के द्रव्यप्राण के घात से हिंसा हुई। इस प्रकार हिंसा का स्वरूप कहा।।४३।।

गाथा ४३ पर प्रवचन

आगे हिंसा का स्वरूप कहते हैं.. लो! हिंसा का भेद कहकर, झूठ बोलना, चोरी इत्यादि हिंसा के भेद हैं, वे मात्र शिष्य को समझाने के (लिये कहे हैं)। सामान्य में न समझे (तो) भेद डालकर उसे समझाया है। **आगे हिंसा का स्वरूप कहते हैं..**

यत्खलुकषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा।।४३।।

लो! **प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा**। तत्त्वार्थसूत्र। **कषायरूप से परिणमित..** क्रोध, मान, माया और लोभ, इस रूप से हुए **मन, वचन, काय के योग से...** योग तो कम्पन है परन्तु साथ में कषाय का परिणमित भाव, जो द्रव्य-भावरूप दो प्रकार के प्राणों का व्यपरण करना, घात करना। द्रव्य का और भाव का दो का (घात करना)। अपना और पर का-ऐसे दो आयेंगे, हों! कषायरूप से। किसी भी विकल्परूप से, रागरूप से, द्वेषरूप से, बहुत प्रकार आयेंगे। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, इनरूप से परिणमना। **परिणमित मन, वचन, काय के योग से जो द्रव्य और भावरूप दो प्रकार के प्राणों का व्यपरोपण करना-घात करना...** द्रव्यप्राण का घात और भावप्राण का घात। अपने भावप्राण का घात और अपने द्रव्यप्राण का, पर के भावप्राण का और पर के द्रव्यप्राण का (घात), **वह निश्चय से 'सुनिश्चिता' भलीभाँति निश्चित की गई हिंसा है।** वास्तव में वही हिंसा है - ऐसा कहते हैं। निश्चित की गयी अर्थात् वही वस्तु का स्वरूप है। वह भलीभाँति निश्चित की गयी अर्थात् वही हिंसा है। **'सुनिश्चिता हिंसा'** वास्तविक हिंसा है, भलीभाँति निश्चित की गयी, भलीभाँति वही वास्तव में हिंसा है। समझ में आया?

अपने शुद्धपरिणमन में जितने ऐसे कषायरूप परिणमनभाव होते हैं, वे द्रव्यप्राण का घात करनेवाले होने से उन्हें वास्तव में हिंसा कहने में आया है। ओहो..! वीतरागमार्ग वह भी पर का कर नहीं सकता, राग-पुण्य है, वह सब रखकर बात करते हैं या वह छोड़कर बात करे? आहा..हा..! एक ओर आत्मतत्त्व ऐसा कहना कि आत्मा है, वह शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। ये पुण्य-पाप के विकल्प, वह आस्रवतत्त्व; कर्म, शरीर अजीवतत्त्व। ऐसे तो बात करना और दूसरे प्रकार से फिर कहते हैं कि आत्मा के परिणाम वे परिणाम, शुभ वे आत्मा के परिणाम। शुभ वे आत्मा के परिणाम और उससे आत्मा को लाभ (हो)। बहुत फेरफार! कहीं मेल खाता नहीं, मेल खाना चाहिए या नहीं? यथायोग्य आना चाहिए न? यथायोग्य।

'खलु कषाययोगात् यत् द्रव्यभावरूपाणां प्राणानां व्यपरोपणस्यकरणं सा सुनिश्चिता हिंसा भवति' करना-ऐसा है न? भाषा तो ऐसी ही आती है न। द्रव्यप्राण का

घात करना, द्रव्यप्राण का घात करना। लो! यह आया न इसमें करना? दूसरे के द्रव्यप्राण का घात करना।

मुमुक्षु : अपने भाव? किसके भाव?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों-दोनों अपने भाव-द्रव्य, दूसरे के भाव-द्रव्य। करना, यहाँ तो मुझे दूसरा लेना है। जब करना शब्द आया...

मुमुक्षु : करना कैसे हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! कथन ही ऐसा आता है क्या हो? इसे समझाना है तो किस प्रकार समझाये?

निश्चय से कषायरूप परिणमित हुए मन, वचन, काय के योग के हेतु से द्रव्य-भावरूप दो प्रकार के प्राणों को पीड़न करना... लो! द्रव्य-भावरूप दो प्रकार के प्राणों को पीड़ित करना। (कोई ऐसा) कहे, देखो! पीड़ित किया जा सकता है या नहीं? अरे! भगवान! यहाँ तो कथन की यह पद्धति है। आहा..हा..! अरे! भगवान! एक ओर द्रव्य के परिणाम दूसरा कर नहीं सकता।—इस सिद्धान्त को तोड़कर दूसरी बात होगी? यह तो निमित्त का ज्ञान कराया है। उसके प्राण उस समय छूटने का काल है, तब इसके परिणाम उसके निमित्त थे, इसलिए इसने कहा कि इसने उसका प्राणघात किया। ऐसा कहते हैं, भाई! क्या हो इसमें?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कथन आता है न, कथन आता है न? घात करना - ऐसा आया न? घात कर सकता है न? ऐसा कहते हैं। देखो! प्राणों को पीड़ित करना। अपने द्रव्यप्राण और दूसरे के द्रव्यप्राण को पीड़ित कर सकता है न?

मुमुक्षु : अपने को पीड़ित करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! अपने क्या, दूसरे के भावप्राण को, द्रव्यप्राण को पीड़ित कर सकता है न? ऐई! भाषा क्या आयी है? देखो! द्रव्य-भावरूप दो प्रकार के प्राण को। अपने भावप्राण और द्रव्यप्राण, दूसरे के भावप्राण और द्रव्यप्राण। चारों आये।

मुमुक्षु : अपने द्रव्यप्राण को कहाँ कर सकता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह कहाँ कर सकता है ? परन्तु यहाँ तो साथ में यहाँ होता है और वहाँ हो तो द्रव्यप्राण घात किये, ऐसा निमित्त से कथन कहने में आता है। वस्तु.. आहा..हा..! क्या हो ? एक परमाणु की पर्याय भी जहाँ अपने से परिणमती है। एक-एक—प्रत्येक जीव उसकी वर्तमान अवस्था से बदलता और रहता है, उसे दूसरा क्या करे ?

मुमुक्षु : यह चरणानुयोग (चलता है), वापस द्रव्यानुयोग आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तर होता है उसमें ? कथन की शैली होती है, परन्तु कथन की शैली में अभिप्राय हो, वह तो एक का एक होता है। चारों में वीतरागता बतानी है। चारों (अनुयोग) में वीतरागता कहकर वीतरागता बतलानी है - ऐसा बताना है या उस राग से लाभ होगा - ऐसा बताना है ? (तब तो) जैन शासन रहा नहीं। आहा..हा..!

द्रव्य-भावरूप दो प्रकार के प्राणों को पीड़ित करना, घातना, वह वास्तव में हिंसा है, लो! इसका (अर्थ) वह घातना और पीड़ित करने में ऐसा ले परन्तु भाई! ऐसी भाषा आती है, भाई! अपने भावप्राण को घात करता है और उस समय जो द्रव्यप्राण को पीड़ा होती है, शरीर को सिर फोड़े और कुछ करता है न ? तोड़ता है, ऐसे इन्द्रिय तोड़ डाले। होना हो तो उसके निमित्त से ऐसा कहा जाता है, ऐसा हुआ तब यह निमित्त था न सामने, परन्तु भावप्राण को क्या यह घात सकता है ? पीड़ा दे सकता है ? सामनेवाले के भावप्राण को पीड़ा दे सकता है ? परन्तु इसने भाव ऐसे किये और वहाँ उसे दुःख हुआ, तब उसके भावप्राण को इसने दुःख दिया, घात किया - ऐसा कहने में आता है। इसका भावार्थ आयेगा। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है। मोक्ष का उपाय क्या? उसकी व्याख्या है। पुरुषार्थ अर्थात् यह चैतन्यस्वरूप आत्मा, उसके चैतन्यस्वरूप आत्मा की प्राप्ति-सिद्धि, उसका नाम मुक्ति, उसका उपाय क्या है?

मुमुक्षु : यह मोक्षमार्ग हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : मोक्षमार्ग हुआ परन्तु ऐसा लिया है। पुरुष चैतन्यस्वरूप आत्मा है न? चैतन्यस्वरूप और चैतन्यस्वरूप की पूर्ण प्राप्ति। जैसा उसका स्वभाव चैतन्य शुद्ध आनन्द ज्ञायक है, वैसी ही पर्याय में चैतन्यस्वरूप की पूर्ण शुद्धि की प्राप्ति (होना), ऐसी जो मुक्ति, सिद्धि अर्थात् जीव का प्रयोजन, उसका उपाय-मोक्ष का मार्ग, उसका कथन है।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : पुरुषार्थ प्रयोजन, प्रयोजन।

मुमुक्षु : पुरुष का अर्थ दूसरा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पुरुष। पुरुष अर्थात् चैतन्यस्वरूप। उसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन। सिद्धि अर्थात् चैतन्यस्वरूप की सिद्धि की प्राप्ति का उपाय।

मुमुक्षु : पुरुष का अर्थ अर्थात् पैसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ पैसा-वैसा की बात कहाँ थी?

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय-पुरुष अर्थात् भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप है। चैतन्यस्वरूप में यह आया। उसका जो अर्थ अर्थात् उसका जो प्रयोजन, उसकी जो सिद्धि। प्रयोजन तो चैतन्यस्वरूप की शुद्ध प्राप्ति, उसका नाम उसका प्रयोजन है। ऐसा जो मोक्ष का भाव, उसका उपाय / मार्ग की व्याख्या है।

निश्चयरत्नत्रय वस्तु शुद्ध चैतन्यप्रभु का... यह आ गया न? दोपहर को आया था।

अपना स्वभाव शुद्धचैतन्यस्वभाव, उसकी अन्तर्दृष्टि, उसका ज्ञान और उसकी लीनता, यह निश्चय मोक्ष का मार्ग है। साथ में व्यवहार जो आता है–देव–गुरु–शास्त्र की श्रद्धा का भाव, पंच महाव्रत आदि विकल्प और बारह व्रत के विकल्प, उसे व्यवहारचारित्र गिनकर, व्यवहार से मोक्ष का मार्ग कहा है। है बन्ध का मार्ग परन्तु उसमें ऐसे भाव होते हैं और अन्दर शुद्ध चैतन्यस्वरूप की श्रद्धा ज्ञान और रमणता उस भूमिका प्रमाण में जितनी चाहिए हो, उसके साथ ऐसे विकल्प पंच महाव्रत के और बारह व्रत के होते हैं, उन्हें भी साधनरूप से, व्यवहाररूप से कहने में आया है। यहाँ हिंसा का स्वरूप कहते हैं। हिंसा... हिंसा। ४३ का भावार्थ है न?

भावार्थ : अपने मन में, वचन में या शरीर में क्रोध–कषाय प्रगट होने पर प्रथम तो अपने शुद्धोपयोग भावप्राण का घात हुआ। शुद्ध व्यापार। आत्मा शुद्ध, पुण्य–पाप के राग से रहित ऐसी जो आत्मा की शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और दशा, उसे यहाँ शुद्ध उपयोग, शुद्धपरिणति कहने में आता है। उसमें क्रोध होने पर उस शुद्धपरिणतिरूपी भावप्राण का घात हुआ। शुद्धोपयोग अर्थात् परिणति, शुद्ध व्यापार। शुद्ध व्यापार, उसमें यह अशुद्ध व्यापार क्रोध हुआ, उतना शुद्ध व्यापार का–भावप्राण का घात हुआ। कहो, समझ में आया इसमें? परिणति प्रगट जो चाहिए, उसके प्राण जो हैं–शुद्धस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति, वह उतनी उत्पन्न नहीं हुई, उतने जीवन का नाश हुआ। समझ में आया?

मुमुक्षु : होवे उसका नाश हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह न हो, उसका नाश हुआ, न हो उसका नाश हुआ। ६९–७० (गाथा समयसार में) आया है न? अवस्था को छोड़कर। कर्ताकर्म में नहीं आया था? अवस्था को छोड़ा, तो शुद्ध अवस्था थी? उसे छोड़कर यह करे। अपेक्षा से (कथन करते हैं)। आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभाव, समरसी निर्विकल्प चैतन्य पदार्थ है। उसमें शुद्धपरिणति, पुण्य–पाप के रागरहित की शुद्धता जितनी श्रद्धा–ज्ञान और स्थिरता हो, वह उसके शुद्धपरिणतिरूप चैतन्यभावप्राण हैं। ज्ञान, दर्शन, आनन्द, और अस्तित्वरूप शुद्धता का भाव, वह भावप्राण। उसमें राग हो, क्रोध हो, उतने भावप्राण की हिंसा हुई। वे उत्पन्न हुए, उतनी शुद्धदशा उत्पन्न नहीं हुई, उतनी हिंसा हुई –ऐसा कहने में आता है।

मुमुक्षु : तो मरा कौन ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मरी अपनी पर्याय। बाकी कौन मरे ? पर मरे या न मरे, उसके साथ सम्बन्ध कहाँ है ? यह तो बहुत कहेंगे। पर के मरने के साथ अतिव्याप्ति लागू पड़ेगी। नहीं, उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं। परप्राणी न मरे परन्तु अन्दर विकारभाव हुआ - मारने का या कषायभाव (हुआ), वही आत्मा के शुद्धभाव श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति आदि के प्राण को घातता है। समझ में आया ? अपना अशुद्धभाव, वह शुद्धपरिणतिभाव को घातता है, उसका नाम यहाँ हिंसा कहने में आता है।

यह हिंसा तो अपने भावप्राण के व्यपरोपण होने के कारण... हुई। देखो! जो क्रोध हुआ, आदि शब्द से सब ४४ के अर्थ में बहुत लेंगे बाद में। राग के अर्थ में बहुत लेंगे। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि। **यह हिंसा तो अपने भावप्राण के व्यपरोपण होने के कारण...** हुई। अपना शुद्ध चैतन्यस्वभाव, निर्मल शुद्धपर्याय जो प्रगट होनी चाहिए, वह शुद्धपर्याय प्रगट नहीं हुई, उसमें क्रोधरूप (परिणमा) उस पर्याय के प्राण का नाश किया। उत्पन्न नहीं होने दी, उसका अर्थ नाश किया। भावप्राण का व्यपरोपण-भावप्राण का अभाव किया। वह तो **पहले ही हो गई,...** विकार करने पर क्रोध, मान, माया, लोभ होने पर अपने शुद्ध भावप्राण की उत्पत्ति नहीं हुई, नहीं हुई उतनी हिंसा तो स्वयं को विकार होने पर हुई।

अब **दूसरी हिंसा तो होवे अथवा न भी होवे।** अपने शरीर में भी कुछ घात होना या दूसरे के प्राण को घात होना या दूसरे के द्रव्य का घात होना, वह हो या न भी हो परन्तु ऐसे विकारीभाव होने पर अपने शुद्ध आनन्दप्राण, ज्ञानप्राण, ज्ञान का उसका जीवन, ज्ञान का जीवन जीवत्व, ज्ञान ज्ञानपने जीवे, ज्ञानपने ज्ञान स्थिर हो, ज्ञान ज्ञानरूप से श्रद्धा करे, ज्ञान ज्ञानपने ज्ञान में रमे—ऐसा जो उसका जीवन भावप्राण है, उसमें यह विकार होने पर वे प्राण घात हुए। दूसरे प्राण घात हों या न हों, वह व्यवहार की बात है। कहो, समझ में आया ?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : किसकी ? यह होता है, उसे खबर पड़ती है। अस्थिरता जितनी हो, वह स्थिरता नहीं, उतना भावप्राण घात होता है या नहीं ? ज्ञान होने पर भी,.. शान्ति, निरन्तर शुद्ध परिणति उत्पन्न न हो, उतनी हिंसा हुई।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह दर्शन की अपेक्षा से बात है। यहाँ तो जो चारित्र की स्थिरता की भी साथ में बात की। सम्यग्दर्शन 'मुक्त एव' ऐसा भी है। किस अपेक्षा से ? मुक्तस्वरूप है-ऐसी दृष्टि हुई, तथापि चारित्र की विभावपरिणति की अपेक्षा लो तो जितना विभाव / विकार होता है, उतनी ज्ञानी को भी हिंसा होती है। कहो, समझ में आया ? हो या न भी हो। अर्थात् आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध प्राण का स्वामी है वह, पर्याय में अवस्था में भी शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति की उत्पत्ति, वह उसका जीवन है। उस जीवन में जितने अंश में रागादि हुए, उतनी उस जीवन में हानि हुई। उतनी हानि हुई, उतने भावप्राण का नाश हुआ। कहो, समझ में आया ? देखो ! यह भगवान ने ऐसा कहा कि जीवो, इस प्रकार और जीने दो इस प्रकार। जीने दो, कहते हैं न ? अंग्रेजी में कहते हैं। सब डालते हैं।

मुमुक्षु : जीवो और जीने दो।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह जीवो और जीने दो क्या ? द्रव्यप्राण से जीने दो, द्रव्यप्राण से जीवो। अनादि काल से द्रव्यप्राण से जी रहा है।

आत्मा आनन्द ज्ञानस्वरूप शुद्ध चैतन्य, सर्वज्ञ परमेश्वर-वीतराग केवलज्ञानी परमात्मा ने जो आत्मा शुद्ध आनन्द देखा, उसकी श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति के परिणाम जो भावप्राण चैतन्य की जागृति, ऐसे जो प्राण, वह जीव का जीवन है। वह जीवे, उस जीव को जीव से जीना और दूसरे को भी ऐसे ही जीवन के जीने का उपदेश कहना कि भाई ! इस प्रकार जीना है। इसका नाम जीवन कहलाता है। कहो, समझ में आया इसमें ?

इसमें राग और विकार होकर जीवन, वह आत्मा का जीवन नहीं है - ऐसा कहते हैं। उसमें तो मरण होता है - ऐसा कहते हैं। पैसा और स्त्री, पुत्र और यह सब क्या कहलाता है तुम्हारा नहीं ? यह मिल। क्या कहलाता है तुम्हारे ? मिल, मिल, मिल का माल। परन्तु इसके मिल का... है न, व्यवसाय करनेवाला। ध्यान रखो मिल का ऐसे हो, वैसे हो, अमुक हो। यह मिल का भावप्राण, घात होता है, उस मिल के भावप्राण की रक्षा का विकल्प होता है। क्यों ? धीरुभाई ! कहाँ गया तुम्हारा ? उसने कहा था। अभी नहीं आवे। नरक में से। कहाँ से जाने का ? देवलोक में जाने का, ठीक है भाई ! जवाब तो एकदम दे। थोड़ा विचार

करके दे, विचार किये बिना न दे। गति में से आया हो, ऐसा कहना था। किसी भी गति में से आया है, सिद्ध में से नहीं। चार गति में से आया है।

मुमुक्षु : यह चारों... नरक की गति है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नरक, वह तो नरक सही न। नर है न उसका। नरक। क्यों? दीपचन्दजी! अनादि है न? पाँच गति में पहली गति कौन सी? जीव की पहली गति कौन सी होगी संसार में? क्यों (कि) सिद्ध हो, वह संसार होकर सिद्ध होता है न? क्या? पहली कौनसी हो? सिद्ध भी अनादि है और संसार भी अनादि है। संसार की दया से नहीं, संसार की वापस पर्याय में गति पहली कौन सी? गति पहली कब होती है? और पर्याय पहली कौन सी? आत्मा की पहली पर्याय कौन सी? अनादि द्रव्य, अनादि पर्याय। आहा..हा..! उस अनादि पर्याय में जो शुद्धभावप्राण से जीव को जो सादि हो, उसमें जितना राग-द्वेष हो, उतने जीवन के प्राण को घातता है। दूसरे प्राण घात हो या न घात हो, उसके साथ इसे सम्बन्ध नहीं है। व्यवहार की बात करेंगे, परन्तु दूसरा कुछ इसके कारण इसके साथ नहीं। समझ में आया? आहा..हा..!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : भावमरण-ऐसा कहते हैं। देखो! अपने भावप्राण का घात हुआ। ....बाद में, अब कहते हैं **पश्चात् कदाचित् तीव्रकषायरूप होने पर...** तीव्रकषाय ली है न यहाँ। समझे न? **अपने दीर्घश्वासादिक से...** दीर्घ श्वास ऐसे स्वयं को भी दुःख होता है। **अथवा हाथ-पैर से अपने अंग को पीड़ा उत्पन्न करे..** श्वास रोके ऐसे करके, और अपने हाथ-पैर को अंग को पीड़ा उपजावे। देखो! आत्मा जड़ के अंग को पीड़ा उपजावे! भाषा और ऐसी आती हो ऐसी आवे न? समझ में आया?

भाव तीव्र कषाय होने पर शरीर के अंग पर नहीं ऐसे सिर फोड़ते कितने ही? छाती (कूटते हैं)। सिर फोड़ते हैं, जीभ खेंचते हैं। कितने ही जीभ खेचतें हैं मरने को। वह द्रव्य निमित्तरूप से आत्मा के परिणाम हैं; इसलिए उसे ऐसे अंग की पीड़ा उपजाता है- ऐसा कहने में आता है। उसे कहाँ वहाँ जड़ की पीड़ा थी? चरणानुयोग की कथन पद्धति तो ऐसी होती है, व्यवहार प्रधान कथन होते हैं, उन्हें उस प्रकार जानना चाहिए।

यहाँ तो ऐसा कहते हैं **हाथ-पैर से अपने अंग को पीड़ा उत्पन्न करे...** ऐसे हाथ मारे न ? पैर मारे, ऐसा करे। समझ में आया ? एक पैर, पैर को मारे, एक हाथ ऐसे मारे, नहीं (करते) कितने ही ? ऐसे झपट्टा मारते हैं। वह क्या है ? अन्दर कुछ विचार फेर हो गया होता है न, तो क्या है उसमें ? तुझे विकारभाव हुआ, वह तुझे दु:ख है, अब उसमें शरीर को ऐसा करने का क्या कारण ? परन्तु यह कहता है कि ऐसा होवे तो पर को पीड़ा उपजाता है - ऐसा कहने में आता है। पीड़ा जड़ को कहाँ है ? पीड़ा उपजाकर ऐसा है, देखा ? ऐसी भाषा है न ? अंगुली तोड़े, नाक तोड़े, कान तोड़े - ऐसे होते हैं न कितने ही ? आँखें फोड़े।

अपघात करके मर जाय... लो ! अपघात करके मरते हैं, तीव्र कषाय हो, (तब) गले में फाँसी खाते हैं। यह मरने की बात आयी। अग्नि में गिरते हैं, जहर खाते हैं, अफीम पीते हैं। **तो इसमें अपने द्रव्यप्राण के घातरूप हिंसा हुई।** लो ! द्रव्यप्राण में उस प्रकार की योग्यता से हुई, राग के प्राण निमित्त थे, इससे उन्हें हिंसा हुई, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। कहो, समझ में आया इसमें ? मूल नियम टूटकर बात एक भी नहीं होती। एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य की पर्याय करे, यह तीन काल में नहीं बनता। यह सिद्धान्त; और शुभराग से धर्म नहीं होता, यह सिद्धान्त, दो को रखकर सब व्याख्या होती है। ये दो नियम रखकर बात अन्दर शुद्ध परिणाम की और दूसरे को दु:ख दे और यह हो, यह सब व्याख्या इस प्रकार होती है।

मुमुक्षु : द्रव्यप्राण का घात तो है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु प्राण कहाँ इसके थे ? वे तो उस जड़ के, मिट्टी के, धूल के हैं। वे तो पुद्गल के हैं, वे कहाँ आत्मा के हैं ? वे तो मिट्टी हैं। आँखें, वह तो मिट्टी, पुद्गल है, परमाणु मिट्टी है। आत्मा उसे दु:ख उपजा सकता है ? उसे-जड़ को दु:ख होता है ? वह तो मिट्टी है। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर केवलज्ञानी ने, आत्मा को अन्दर जो राग होता है, उसे आत्मा के प्राणघात होता है, उसे वास्तव में हिंसा कही है। पर में फिर निमित्तरूप से कोई तीव्र कषाय हुई और अंग की क्रिया ऐसी हो तो उसे पीड़ा उपजाई (-ऐसा कहने में आता है), अथवा अपघात करके मर जाये, अग्नि में गिरे, कुएँ में गिरे, गले में फाँसी खाये।

इसमें अपने द्रव्यप्राण के घातरूप हिंसा हुई। इसका अर्थ निकालना हो, उतना

सब निकाले। देखो! यह लिखा, यह है या नहीं? यह है या नहीं? भगवान सुन, भाई! आहा..हा..! यह वाणी निकलने का भी अधिकार तेरा नहीं है। कथन शैली चले, वह सब वाणी का अधिकार है। आत्मा का अधिकार नहीं। आत्मा में कहाँ वाणी के रजकण अन्दर थे, (कि) वे वाणी बोले? आत्मा में है? आत्मा तो अनन्त आनन्दकन्द है। उल्टा पड़े तो विकार करे परन्तु यह वाणी कहाँ अन्दर थी तो वह वाणी निकले? बापू! बातें बहुत कठिन!

भगवान वीतराग का मार्ग, सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकर का पन्थ बहुत अलौकिक है। ऐसा अन्यत्र कहीं नहीं हो सकता। भगवान कहते हैं कि भाई! यह वाणी निकलती है वह अधिकार तेरा नहीं है, हों! वह वाणी रजकण के कारण निकलती है। वहाँ कहाँ उस वाणी को स्पर्श भी नहीं करता आत्मा तो। इस वाणी के अधिकार में ऐसा आता है-ऐसा कहना है, भाई! कि इसने इसे मारा और इसने प्राण उपजाया, यह वाणी की कथन की शैली, वाणी की शैली है। धीरुभाई! ऐसा है, बापू! आहा..हा..!

यदि कषाय से अन्य जीव को कुवचन कहा,... अन्य जीव को क्रोध, मान, माया से तिरस्कार किया, गाली दी। मानो मर जा, कहाँ जाना? मर जा न - ऐसा कहते हैं न कितने ही? घर में भी कहे, कठोर स्त्री बोलती हो (वह ऐसा कहे) मर न अब। उसमें यदि वह बली हो तो हाय.. हाय..! कहते हैं न कितने ही ऐसा? हो जाये, घर में बहुत ऐसा हो जाये (तो बोले) मर न अब। लो! तब मरूँ। मरे तब कहे, अर र! हाय.. हाय..! यह मुझसे बोला गया। इतना कषाय से, मान से, माया, लोभ आदि अन्य जीव को कुवचन, खराब वचन कहे, अनादर करे, तिरस्कार करे, दूसरे को हल्का करके बतावे। एक दूसरे के प्राण को दु:ख होता है या नहीं? दु:ख होता है। यह तो निमित्त से कथन है, हों! ऐसे भाव उसे दु:ख उपजाते हैं, इसलिए उनका पाप लगता है - ऐसा नहीं। इसके भाव जो थे, उसका इसे पाप है। परन्तु इसके भाव, इसके प्राण में, दु:ख में निमित्त हुए थे, उसे उपजाता है, ऐसा कहने में आया है। इसी प्रकार पर को पीड़ा भाव जो राग-द्वेष हो, उसे कहीं इसके वचन से हुआ है? अथवा इसके भाव से हुआ है वह? परन्तु यह भाव—वाणी उसे निमित्त हुई, इससे इसकी वाणी से उसे पीड़ा हुई - ऐसा कहने में आता है। आहा..हा..! समझ में आया? ओहो..हो..! वस्तु के स्वभाव की कथन पद्धति की वाणी, पद्धति ऐसी है और वस्तु का स्वभाव भी... ऐसा वस्तु का स्वभाव है कि लोगों को अगम्य पड़ता है। कहो, समझ में आया?

द्रव्य-पर्याय में सबेरे में यह बहुत था। कहा, उसमें पर्याय पहली या द्रव्य पहला? कहो, मोहनभाई! यह तो कैसा स्वभाव! क्या है बापू? आहा..हा..! अकेला स्वभाव.. स्वभाव.. स्वभाव.. स्वभाव.. द्रव्य, वह भी अनादि और उसकी अवस्था होती है, वह अनादि। पहला द्रव्य था और फिर पर्याय है - ऐसा है कुछ? वस्तु है, वस्तु और उसकी अवस्था, ये दो अनादि की है। फिर यह क्या? पर्याय भी अनादि की? यह तो स्वभाव है भाई! दूसरे प्रकार से तू उसे किस प्रकार सिद्ध करेगा? प्रवीणभाई!

इसी प्रकार क्षेत्र। जैसे यहाँ पर्याय की आदि नहीं, वैसे इस क्षेत्र का अन्त नहीं। आकाश का कहीं अन्त है? आकाश कहाँ (पूरा) होकर रहेगा? फिर हो रहे परन्तु फिर क्या? फिर क्या? ओहो..! कोई क्षेत्र भी बाद में रहा क्या? फिर कहीं है नहीं और नहीं तो नहीं कहीं नहीं आता। है, है और आयेगा। वह तो कोई स्वभाव क्षेत्रस्वभाव, द्रव्य-पर्यायस्वभाव।

इसी प्रकार एक कालस्वभाव। काल अनादि, आदि परन्तु पहला तो कुछ होगा या नहीं? क्या पहला होगा? सुन न! आहा..हा..!

इसी प्रकार भावस्वभाव। एक जीव के अनन्त गुण और एक गुण का भावस्वभाव अनन्त गुणा। क्यों? क्यों क्या? वस्तु ही ऐसी है। उसका अन्त क्या? पर्याय की शुरुआत क्या? क्षेत्र का अन्त क्या? काल की शुरुआत क्या? काल का अन्त क्या? भाव का अन्त क्या? भाव भी अनन्त-अनन्त स्वभावस्वरूप होता ही है। एक-एक गुण ऐसी शक्तिरूप सत्व है। ऐसे शक्ति के भावप्राण में से जहाँ शुद्धता अन्तर में से प्रगट की, उसे जीवन और भावप्राण को, उसे अहिंसा कहते हैं। आहा..हा..! कितनों ने ही तो यह बात सुनी नहीं होगी, यह क्या? होगा ऐसा? वीतरागमार्ग में ऐसा होगा? जैन परमेश्वर में? भाई! वहाँ तो छह काय की दया पालना, रात्रि भोजन नहीं करना, कन्दमूल नहीं खाना... ऐई! भगवानभाई! पाँच तिथि, छह परखी (पालना).. वह तो सब व्यवहार की बातें, बापू! सुन न! आहा..हा..!

मुमुक्षु : इसमें भी आया न द्रव्यप्राण का घात...

पूज्य गुरुदेवश्री : घात, यह इस प्रकार की शैली। अपने द्रव्यप्राण को घाते, लो! ऐसा कहा, तो क्या इस रजकण की पर्याय को आत्मा कुछ कर सकता है? परन्तु वहाँ उस काल में उस प्रकार से होता है, तब वे प्राण, राग निमित्त थे, इससे उसने ऐसा किया - ऐसा

कहने में आता है। वस्तुस्थिति ऐसी है। आगे लेने जाये तो किसी प्रकार सत्य सिद्ध नहीं होता।

यह तो सत्स्वरूप है, सत्स्वरूप है। द्रव्य सत्स्वरूप, पर्याय सत्स्वरूप, सिद्ध सत्स्वरूप। सिद्ध पहला कौन? सिद्ध पहला कौन? पहला सिद्ध कौन? ये तो व्यक्तिरूप से एक, बाकी अनादि सिद्ध है। संसार और सिद्ध दोनों अनादि है। साधक पहला जीव कौन सा? साधक जीव इस जगत में पहला कौन सा पका होगा? कहो, प्रवीणभाई! साधक आत्मा के ऐसे सम्यग्दर्शन को पानेवाला पहला जीव जगत में नहीं था और कौन-सा पका होगा? साधक भी अनादि, केवलज्ञानी भी अनादि, सिद्ध भी अनादि, संसार भी अनादि। नौ तत्त्व अनादि हैं। आहा..हा..!

त्रिकाल में केवलज्ञानी न हो - ऐसा काल कौन सा होगा? त्रिकाल में साधक जीव न हो - ऐसा काल कौन सा होगा? त्रिकाल में नरक में जानेवाले न हो - ऐसा कौन सा काल होगा? ऐसा का ऐसा सब है। यह कथन की शैली के बापू! स्वभाव की बात है और स्वभाव में जहाँ विरोध हुआ, तब वहाँ बाह्य प्राण में निमित्तरूप से प्राण में किस अवस्था का हीनपना, विपरीतपना हुआ, उसे यहाँ पीड़ा उपजायी (- ऐसा कहते हैं)। जड़ की पीड़ा होती होगी इसे? इसे होती होगी? समझ में आया?

कषाय से अन्य जीव को कुवचन कहा, मर्मभेदी हास्य किया,... मर्मभेदी कोई गुप्त बात हो, उसे खुली की और उसे बेचारे को हाय.. हाय..! मेरी गुप्त बात इसने बाहर रखी, मुझे समाज में कैसे निभना? इस प्रकार उसके प्राण तो इसके कारण (दु:खी) हुए परन्तु उसकी वाणी निमित्त हुई, इसलिए उसने नुकसान पहुँचाया-ऐसा कहने में आता है।

या ऐसा कार्य किया जिससे उसका अन्तरंग पीड़ित होकर... कषायरूप से अन्तरंग। जैसे उस राग में, कषाय में उत्तेजित हो जाये, उस उत्तेजना की भाषा बोले। भाषा, वह भाषा के कारण, परन्तु भाषा में इसे यहाँ विकार का निमित्त है न, इसलिए भाषा से उसने पीड़ा की, ऐसा कहने में आया। अरे भाई! वीतराग के व्यवहार कथन इसी प्रकार के हैं। समझ में आया? पोपटभाई! इसने ईश्वर को सौंप दिया तो कुछ मेहनत नहीं, लो! ईश्वर करे जाये। यहाँ कहते हैं कि ईश्वर-विश्वर कोई कर्ता-फर्ता नहीं, सुन न! एक ईश्वर करे, जप भगवान! तुम तारो, अब हमारे कुछ नहीं, हम सफेद मूली जैसे। चाहे जैसे दोष करेंगे

परन्तु तुम दोष कराओ और तुम दोष टालो, हमारे कुछ नहीं। ऐसा कुछ है नहीं। ऐसा ईश्वर कोई जगत का कर्ता-फर्ता है ही नहीं। तू तेरे दोष का कर्ता और तू तेरे दोष का मिटानेवाला। समझ में आया? ऐसा ही वीतराग परमेश्वर द्वारा कथित और ऐसा तत्त्व जगत में है। आहा..हा..!

कहते हैं **कषायरूप परिणमे वैसा कार्य किया...** देखा? वह कषायरूप परिणमे, सामनेवाले को बहुत क्रोध हो जाये, मरने जाये, मरने। समझे न? जलकर, जलकर मर। कौन कहता है तुझे? ऐसा वह कहे। वहाँ वह जले। हाय.. हाय.. समझ में आया? **तो पर के भावप्राण के व्यपरोपण से हिंसा होती है।** लो! **जहाँ कषाय के वशीभूत होकर प्रमादी हुआ,...** इन राग-द्वेष आदि से आत्मा (को) प्रमाद हुआ, विकल्प आदि से। **अन्य जीव के शरीर को पीड़ा पहुँचाई, अथवा प्राणनाश किया, वहाँ पर के द्रव्यप्राण के घात से हिंसा हुई। इस प्रकार हिंसा का स्वरूप कहा।** कहो, समझ में आया इसमें?

यह किया, किया अर्थात् वह निमित्तभाव हुआ, इसलिए किया – ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। ऐसा है। समझ में आया? यह श्रावक का आचरण समझाते हैं। आत्मा पवित्र शुद्ध अखण्डानन्द सिद्ध समान आत्मा का स्वरूप है। उसके अन्तर में सम्यग्दर्शन प्रतीति स्वरूप के भानसहित की प्रतीति करना, वह श्रावक का कर्तव्य है और उस आत्मा का अन्तर ज्ञान करना, आत्मा का ज्ञान करना, वह श्रावक का कर्तव्य है और स्वरूप में स्थिरता करना, वह श्रावक का कर्तव्य है। उसमें जितनी अस्थिरता होती है, वह उसकी हिंसा है, वह उसका अकर्तव्य है, अनाचरण है – ऐसा बताते हैं। समझ में आया?

यह, भाई! मार्ग तो एक-एक ऐसा है कि इसे पकड़ने के लिये सूक्ष्म दृष्टि चाहिए। यह तो सब हड्डियाँ मोटी.. वह तो अरूपी है। इन इन्द्रियों से कुछ पकड़ में आवे, ऐसा नहीं है। वैसे ही पुण्य-पाप का राग होता है, उससे ज्ञात हो (ऐसा नहीं है)। यह तो पूरी चीज़ ही बड़ी महान सूक्ष्म पदार्थ है। कहो,

मत मारो- मत मारो निकले। ऐसा कहते हैं, घाते ऐसा निकला तो न घाते यह निकला। घाते ऐसा निकला या नहीं? फिर नहीं घाते, ऐसा निकले। व्यवहार भाषा तो ऐसी

ही आती है। व्यवहार की भाषा ऐसी आती है। वहाँ हिंसा की व्याख्या की थी, अब इसमें हिंसा और अहिंसा का दोनों का पूरा वास्तविक लक्षण वर्णन करते हैं। समझे न? ४२ में अमुक वर्णन किया था, पाँच पाप—हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग और परिग्रह का भाव वे पाप वर्णन किये थे। समझ में आया? और उसके बाद पाँच भेद भले कहे, वे सब हिंसा के भेद करके हिंसा कहा और ४३ में द्रव्य और भावप्राण के हिंसा की व्याख्या करके यह व्याख्या की; और अब ४४ में साधारण हिंसा और अहिंसा का वास्तविक स्वरूप क्या है, उसकी व्याख्या करते हैं।

गाथा - ४४

आगे हिंसा और अहिंसा का निश्चय से लक्षण वर्णन करते हैं-

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।४४।।

रागादि उत्पत्ति नहीं है, वास्तविक यह अहिंसा।
उनकी हि उत्पत्ति कही, हिंसा जिनागम सारता।।४४।।

अन्वयार्थ : (खलु) निश्चय से (रागादीनां) रागादि भावों का (अप्रादुर्भावः) प्रगट न होना (इति) यही (अहिंसा) अहिंसा (भवति) है और (तेषामेव) उन रागादि भावों का (उत्पत्तिः) उत्पन्न होना ही (हिंसा) हिंसा (भवति) है, (इति) ऐसा (जिनागमस्य) जैन सिद्धान्त का (संक्षेपः) सार है।

टीका : 'खलु रागादीनां अप्रादुर्भावः इति अहिंसा भवति' – निश्चय से रागादि भावों की उत्पत्ति न होना ही अहिंसा है।

भावार्थ : अपने शुद्धोपयोगरूप प्राणों का घात रागादि भावों से होता है, इसलिए रागादि भावों का अभाव होना ही अहिंसा है। आदि शब्द से द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक, जुगुप्सा, प्रमादादि समस्त विभावभाव जानना चाहिए। इनके लक्षण कहते हैं। अपने को कोई (पदार्थ) इष्ट जानकर प्रीतिरूप परिणाम का होना

राग है, अपने को अनिष्ट जानकर अप्रीतिरूप परिणाम का होना द्वेष है, परद्रव्य में ममत्वरूप परिणाम होना मोह है, मैथुनरूप परिणाम काम है, इसने अनुचित किया ऐसा जानकर पर को दु:खदायक परिणाम क्रोध है, दूसरे से अपने को बड़ा मानना मान है, मन–वचन–काय में एकता का अभाव माया है, परद्रव्य के साथ सम्बन्ध करने की इच्छारूप परिणाम लोभ है, भली–बुरी चेष्टा देखकर विकसितरूप परिणाम हास्य है, अपने को दु:खदायक जानकर डररूप परिणाम भय है, अपने इष्ट का अभाव होने पर आर्त्तरूप परिणाम शोक है, ग्लानिरूप परिणाम जुगुप्सा है, कल्याणकारी कार्य में अनादर करना प्रमाद है इत्यादि समस्त विभावभाव हिंसा की पर्याय हैं। इनका न होना ही अहिंसा है। 'तेषामेव उत्पत्ति: हिंसा' – उन रागादिभावों का उत्पन्न होना ही हिंसा है, 'इति जिनागमस्य संक्षेप:' – ऐसा जैन सिद्धान्त का रहस्य है।

भावार्थ : जैन सिद्धान्त का विस्तार तो बहुत है परन्तु सर्व का रहस्य संक्षेप में इतना ही है कि धर्म का लक्षण अहिंसा–रागादिभावों का अभाव होना वही अहिंसा। इसलिए जैसे बन सके वैसे तथा जितना बन सके उतना (–स्वसन्मुखता द्वारा) रागादि भावों का नाश करना चाहिए। वही अन्य ग्रन्थों में कहा है – रागादीणामणुप्पा अहिंसा गत्तति देसिदं समये। ते सिंचे दुप्पत्ती हिंसेति जिणेहि णिद्दिट्ठं।

प्रश्न : हिंसा का लक्षण पर जीव के प्राणों को पीड़ा पहुँचाना क्यों नहीं कहा?

उत्तर : इस लक्षण में अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनों दोष लगते हैं।।४४।।

गाथा ४४ पर प्रवचन

अप्रादुर्भाव: खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेप:।।४४।।

जिनागम—सर्वज्ञ भगवान परमात्मा के शास्त्र का यह सार है। वीतरागदेव परमेश्वर के शास्त्र जितने कहे – चार अनुयोग, उनके शास्त्र का यह सार है कि **निश्चय से रागादि भावों की उत्पत्ति न होना ही अहिंसा है।** देखो, यह अहिंसा परमोधर्म, इसका नाम कहलाता है। पर को न मारे, वह अहिंसा, परमार्थ अहिंसा नहीं है। वह तो शुभभाव है और

पर न मरे, तब पर को नहीं मारा - ऐसा कहने में आता है। वह तो उसके कारण नहीं मरता और उसके कारण बचता है। कोई तेरे भाव से बचे और मरे - ऐसा है नहीं। मारने का भाव हो और उसका आयुष्य हो तो वह नहीं मरता। न मारने के भाव हो और उसे आयुष्य न हो तो मर जाता है। उसके आधीन मरना-जीना (होता है), कोई तेरे आधीन नहीं है। परन्तु कहते हैं कि जो कोई तूने मारने के भाव किये, उस भाव का स्वामी तू है, मालिक है। उसे हिंसा कहते हैं।

वास्तव में राग-द्वेष आदि की सब व्याख्या करेंगे। रागादि शब्द है सही न? राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य - इन सब रागादिभावों का प्रगट न होना, इस विकार का प्रगट न होना और अविकारी दशा का प्रगट होना, उसे भगवान अहिंसा कहते हैं। प्रवीणभाई!

मुमुक्षु : कब?

पूज्य गुरुदेवश्री : त्रिकाल। त्रिकाल भगवान इसे अहिंसा कहते हैं। परमेश्वर वीतरागदेव अनन्त तीर्थंकर हो गये, वर्तमान में भगवान बीस तीर्थंकर महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं और लाखों केवली परमेश्वर वर्तमान में मनुष्यक्षेत्र में अभी विराजते हैं। अनन्त तीर्थंकर होंगे, सब तीर्थंकर, सब केवली, विकार की अनुत्पत्ति को अहिंसा कहते हैं। समझ में आया? आहा..हा..!

श्रीमद् ने नहीं कहा? श्रीमद् में आता है न? 'तू क्यों भयंकर भावमरण प्रवाह में चकचूर है?' आता है?

बहु पुण्य-पुंज प्रसंग से शुभ देह मानव का मिला।
तो भी अरे! भव चक्र का, फेरा न एक कभी टला॥
सुख प्राप्ति हेतु प्रयत्न करते, सुक्ख जाता दूर है।
तू क्यों भयंकर भाव-मरण, प्रवाह में चकचूर है॥

देखो! सोलह वर्ष की उम्र में ऐसा कहते हैं। समझ में आया? वहाँ उम्र कहाँ थी? वह तो देह की उम्र थी, आत्मा को कहाँ उम्र है? आहा..हा..! **सुख प्राप्ति हेतु प्रयत्न करते, सुक्ख जाता दूर है।** हे प्रभु! तू बाह्य में सुख मानने जाये, वहाँ तेरे आत्मा का आनन्द लुट

जाता है। लो! **तू क्यों भयंकर भाव-मरण, प्रवाह में चकचूर है।** क्षण-क्षण में उस विकार के भाव करके हर्ष मानना, उल्लास करना, उत्साह करना, वह अपने शान्त प्राणों का घात होता है और भावमरण होता है। आहा..! अभी सोलह वर्ष में तो कहते हैं मोक्षमाला बनायी तब। समझ में आया? यहाँ ६०-६०, ७० वर्ष के उम्रवालों को भी अभी यह बात नहीं जँचती। ए.. धीरुभाई! उसने महाव्रत धारण किये। धूल में भी महाव्रत नहीं, सुन न! अभी भान नहीं होता, महाव्रत कहाँ से आया? वस्त्र बदले और नग्न हुए तो हो गये साधु?

वस्तु अन्दर कौन है? भगवान चिदानन्द प्रभु सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ ने कहा है, वैसा आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु है, उसके स्वभाव की अन्तरश्रद्धा-ज्ञान और शान्ति के जीवन बिना महाव्रत-फहाव्रत कैसा? समझ में आया? हैरान हो जाता, मर जाता, हों! वहाँ गया होता तो। दिगम्बर साधु होनेवाला था। एकदम दिगम्बर, हों! एकदम ब्रह्मचारी व्यक्ति, एकदम छोटी उम्र में। वहाँ वे कहें- छोड़ो कपड़े।

मुमुक्षु : ज्ञान तो अच्छा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अच्छा ज्ञान। भान तो कुछ नहीं। क्यों? दीपचन्दजी! श्रद्धा का ठिकाना नहीं, ज्ञान का ठिकाना नहीं। ले लो व्रत! घोड़ागाड़ी सामने और घोड़ा पीछे। दीपचन्दजी! समझ में आया? वह गाड़ी होती है न गाड़ी? गाड़ी मुँह के सामने और घोड़ा पीछे। सम्यग्दर्शन-ज्ञान कुछ नहीं, अपने पहले व्रत ले लो। हो जायेगा, अवतार चला जाायेगा। आहा..हा..!

मुमुक्षु : एक अवयव तो पक्का है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक अवयव कैसा? अवयव नहीं, वह खोटा भाग है। सड़ा हुआ नाश करने के लिये है वह। उसे अवयव कैसे कहना? आहा..हा..!

वास्तव में। **खलु** शब्द पड़ा है न? '**खलु**' '**किल**' — ये सब निश्चय के अर्थ में बताते हैं। रागादि क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य विकारी भाव का प्रगट न होना, उसे भगवान अहिंसा कहते हैं। और **उन रागादि भावों का उत्पन्न होना..** देखो! राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, विषय-वासना, इन सब भावों का उत्पन्न होना, उसे हिंसा (कहते हैं)। बहुत संक्षिप्त सिद्धान्त। यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय का

सिद्धान्त, लो! अमृतचन्द्राचार्य। पुण्य-पाप के विकल्प उठते हैं, वह हिंसा है और विकार का अनुत्पन्न होना और स्वभाव की अन्दर निर्मल अरागी, वीतरागदशा उत्पन्न होना, उसे भगवान अहिंसाधर्म कहते हैं। आहा..हा..! दुनिया के साथ कोई मेल खाये (ऐसा) नहीं होता है। शोर मचाते हैं या नहीं?

देखो! गाँधीजी ने अहिंसा कही। भाई! वह अहिंसा नहीं, वह तो सब बाहर की बातें हैं, सुन न! समझ में आया? भगवान महावीर ने अहिंसा कही, वह गाँधीजी ने कही थी। लोग ऐसा लगाते हैं। कुछ भान नहीं होता। वह ऐसा है ही नहीं। भगवान की अहिंसा पूरी दुनिया से अलग प्रकार की है। ऐई..! मलूपचन्दभाई! बात तो जैसी हो, वैसी आवे। बहुत लगा देते हैं। आहा..हा..! जैन की अहिंसा को गाँधीजी ने अनुसरण किया। उनकी अहिंसा के कारण यह स्वराज मिला।

मुमुक्षु : राणपुर में बोले थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन बोला था? बोला होगा।

मुमुक्षु : सन्त बाल।

पूज्य गुरुदेवश्री : सन्त बाल। उसे भान कब था कुछ? वस्त्र रखकर मुँहपत्ती (रखे) जैन की श्रद्धा कब थी? जैन अर्थात् वस्तु की श्रद्धा। जैन सम्प्रदाय नहीं है। जैन अर्थात् दोष को जीतनेवाला। निर्दोष भगवान आत्मा अनादि अनन्त है, उसकी दशा में दोष है, उसे जीते, वह जैन है। जैन कोई वाड़ा नहीं है, वह तो वस्तु का स्वरूप है। जैन क्या? जैन अर्थात्.. आहा..हा..! शशीभाई!

कहते हैं, गजब व्याख्या? **ऐसा जैन सिद्धान्त का सार है।** है? ऐसा जैन सिद्धान्त का संक्षेप अर्थात् संक्षिप्त में मक्खन-सार यह है। भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर केवलज्ञानी ने इन्द्रों के समक्ष में, चक्रवर्ती के समक्ष में कही हुई यह बात, भगवान के पूरे शासन का यह सार है। राग-द्वेष की उत्पत्ति, वह हिंसा और राग-द्वेष की अनुत्पत्ति और आत्मा की शान्ति और श्रद्धा-ज्ञान निर्मलता की उत्पत्ति (होना), वह अहिंसा है। कहो, प्रवीणभाई! ऐसी व्याख्या भी कभी सुनी नहीं होगी बाहर में। जय राम.. राम.. राम.. राम.. करो। ऐ.. हिम्मतभाई! पूर्व का था न? पूर्व का। अब बहुत अरमान होता है। मेरा काल-

समय गया। अरे रे! यह भी कहते हैं, मेरा बहुत काल बिगाड़ दिया, बहुत चला गया। ऐई! दीपचन्दजी! खोटे में बहुत काल गया। आहा..! अब जब से समझे तब से सबेरा। अनादि काल का सबको ऐसा काल गया है न! तीर्थंकर जैसे भी जहाँ पहले भटकते थे न? उन तीर्थंकर भगवान का जीव था, वह जब तक समझे नहीं थे, वे तीर्थंकर के समवसरण में जाते, कुछ माना नहीं था। वे जब वापस स्वयं समझे, तब फिर तीर्थंकर हुए। ऐसा है भाई!

मुमुक्षु : समझने के बाद काल बिगाड़े उसका क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : समझने के बाद काल बिगाड़ता ही नहीं। यथार्थ समझवाला काल नहीं बिगाड़ता। कहो, पुरुषार्थ की कमी के कारण रागादि सर्वथा छोड़ न सके, परन्तु उसके भान में है न? दर्शनशुद्धि (हो गयी है)। तो **दंसण भट्ठा ण सिज्झंति, चरित्त भट्ठा सिज्झंति** दर्शन-यथार्थ दृष्टि जिसे है, (उसे) रागादि भले होंगे, और हो तथा छोड़ न सके तो भी सम्यग्दृष्टि तो सिद्ध होगा.. होगा.. और होगा ही। समझ में में आया? सम्यग्दृष्टि है न! परन्तु चारित्र भ्रष्ट है दर्शन से भ्रष्ट है और राग की मन्दता का आचरण करनेवाला है, वह तो भ्रष्ट में भ्रष्ट है। वह तो कभी उसकी मुक्ति होगी नहीं। आहा..हा..! सिद्धान्त है या नहीं? आहा..हा..!

जिनागमस्य संक्षेपः लो! परमात्मा वीतरागदेव का यह सार है कि सूक्ष्म भी राग की उत्पत्ति होना, वह हिंसा है और उस सूक्ष्म भी राग की उत्पत्ति न होना और स्वभाव के आश्रय से जैसा समरसी स्वरूप है। समरसी अर्थात् चारित्र स्वरूप अर्थात् वीतरागस्वरूप आत्मा, ऐसी ही जिसकी दशा में ऐसी ही समरसदशा, शान्ति, उपशमरस, अहिंसा - रागरहित दशा की उत्पत्ति होना, उसे भगवान वास्तव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के निश्चय परिणाम को भगवान अहिंसा कहते हैं। लो! ऐई! आत्मा के शुद्धस्वभाव की श्रद्धा ज्ञान और रमणता, वह निर्मलदशा है। निश्चयमोक्षमार्ग की दशा को भगवान अहिंसा कहते हैं। आहा..हा..!

मुमुक्षु : व्यवहारमोक्षमार्ग की हिंसा कर डाली।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार हिंसा ही है। यहाँ उसे योग होता है, इसलिए कहते हैं। ले, परन्तु रागादि उत्पन्न न होना, तब उत्पन्न क्या होता है वहाँ? राग उत्पन्न नहीं

होता, तब उत्पन्न हुआ क्या ? ऐसी अस्ति लाना चाहिए या नहीं वहाँ ? आहा..हा..! कषाय उत्पन्न न हो, तब उसमें उत्पन्न क्या हुआ ? कषाय का अनुत्पन्न, वह अहिंसा। तब उत्पन्न क्या हुआ ? कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मलदशा उत्पन्न हुई, उसे भगवान अहिंसा कहते हैं। आहा..हा..! कहो, समझ में आया ?

शुद्ध प्रभु आत्मा परमानन्द की मूर्ति का अन्तर में ज्ञान करके, ज्ञेय करके पकड़कर प्रतीति करना, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है, उसे भगवान अहिंसा कहते हैं। उस आत्मा का ज्ञान, ज्ञान का ज्ञान, ज्ञान का ज्ञान, स्वभाव का ज्ञान, आत्मा का ज्ञान, उसे भगवान अहिंसा कहते हैं और उस आत्मा में रागरहित स्थिरता करना, शान्ति करना, शान्ति प्रगट करना, उसे भगवान अहिंसा कहते हैं। कहो, जगुभाई! ऐसी व्याख्या। क्या होगा तुम्हारा वहाँ कुण्डला में सब ?.. जाना पड़ता है, इसे जाना पड़ता है न सर्वत्र ? सामने सेठिया लोग। चलो, पड़ो इसमें थोड़े से। बड़े-बड़े कार्यवाहक आवे तो जगुभाई को बुलावे नहीं ? इसकी इज्जत बड़ी है। बुलाओ जगुभाई को। जागवेशभाई आवे। कैसे ? भाई! अमुक भाई, बलवन्तभाई, कैसे ? मर गये वे बलवन्तभाई न ? धन्धा में ऐसे परिचित होंगे। बुलाओ जगजीवनभाई को। गाँव में न हो तो चक्कर खिलाओ एक। हम रेल में निकलते हैं, मिलने आना। परन्तु व्यर्थ का... आता है या नहीं ? यह जाये वापस मिलने वहाँ। हम वहाँ निकलते हैं, गाँव में नहीं आना, वहाँ मिलने आना। चलो, भाई!

वे ऐसा कहते हैं कि ऐसी अहिंसा होती है। दूसरे का काम करना, बचाना, दूसरे को ऐसा देना-मदद देना, आहार-पानी देना, भूखे को अनाज पहुँचाना, नंगे को वस्त्र देना, दु:खी के आँसू पोंछना, इसका नाम अहिंसा कहलाता है। लो, ऐसा कोई कहता है। यह कपड़े-वपड़े दे कौन ? परन्तु उसका भाव होता है, शुभभाव होता है परन्तु वह शुभभाव स्वयं राग है। समझ में आया ? अरे.. अरे..! भारी कठिन बात, भाई! दुनिया से तो पूरी उल्टी बात है। वीतरागमार्ग और संसारमार्ग दो विपरीत ही होते हैं। संसारमार्ग उल्टा, उससे भगवान का मार्ग तो उल्टा। उस उल्टे से उल्टा अर्थात् सुल्टा। आहा..हा..! अरे रे! वाड़ा में जन्मे, उन्हें खबर नहीं होती। परमेश्वर का सार सिद्धान्त क्या है ? आत्मा.. परमेश्वर सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ तीर्थंकर ने इस आत्मा को वास्तव में पुण्य-पाप के विकाररहित देखा है। फिर क्या हुआ ? यह पुण्यभाव हिंसा है। धीरुभाई!

भगवान आत्मा, भगवान ने इस आत्मा को कैसा देखा है ? परमेश्वर ने, केवलज्ञानी

ने तीन काल देखे, उसमें इस आत्मा को कैसा देखा? कि शरीर, वाणी, कर्म है, वह अजीवरूप से देखा। अन्दर पुण्य-पाप के भाव होते हैं, उन्हें भगवान ने आस्रवरूप से देखा और आत्मा को, आस्रव और अजीव से रहित देखा - ऐसे आत्मा को उस प्रकार से देखकर स्थिर हो, उसका नाम भगवान अहिंसा कहते हैं। आहा..हा..! शशीभाई! यह तो समझ में आये ऐसा है न? यह तो सादी भाषा है। आहा..हा..!

निश्चय से रागादि भावों की उत्पत्ति न होना इतने मात्र से.. इतने मात्र से ऐसा क्यों कहते हैं? कि दूसरा भले नहीं कुछ कि दूसरे को स्थान दिया या दूसरे की दया पालन की या दूसरे का यह किया - यह सब कुछ उसमें मिलता नहीं। आहा..हा..! **इतने मात्र से अहिंसा होती है..** आहा..हा..! टीका करनेवाले भी (कैसे!) उत्पत्ति न होना, वह अहिंसा होती है परन्तु इतने मात्र से अर्थात् वापस दूसरा उसमें-अहिंसा में दूसरा कुछ डालने जाये, पर की दया पालने का भाव, दूसरे को देने का भाव, दूसरे के दान का भाव दूसरे को सुखी करने का भाव, दूसरे की सेवा करने का भाव, ऐसा कुछ मिले तो अहिंसा कहलाये, वह नहीं। आहा..हा..!

मुमुक्षु : दूसरा मिले तो क्या...

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरा मिले तो राग हो, ऐसा कहते हैं। इतने मात्र को अहिंसा भगवान ने-परमेश्वर ने कही है। आहा..हा..! हीरालालजी! समझ में आया? आहा..हा..! इतने मात्र से, इसका अर्थ ही हुआ, इसकी अहिंसा की, अर्थात् राग की अनुत्पत्ति, वह अहिंसा अर्थात् उसमें दूसरा कोई विकल्प का भार ऐसे मिलता नहीं। अकेला आत्मा शुद्धचिदानन्द प्रभु, उसके अवलम्बन से जितनी निर्मल सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की वीतरागदशा उत्पन्न हो, बस! उतने मात्र से उसे अहिंसा कहने में आता है। वह कहीं प्रवृत्ति करे और दूसरे में बोले और दूसरे को समझावे और लाखों लोगों को ऐसा कहे तो अहिंसा उसे कहा जाता है, ऐसा है नहीं - ऐसा कहते हैं।

बहुत लोगों को समझाना आवे, लाखों-करोड़ों को तो, उसमें उनकी अहिंसा विशेष कहलावे... अकेला करे अहिंसा उसमें क्या? वह यहाँ कहते हैं। अकेला स्वयं अपने स्वभाव में राग की अनुत्पत्ति करके स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति की उत्पत्ति (करे), इतने मात्र को अहिंसा कहने में आता है। आहा..हा..! दास! बड़े लोग हों तो बहुतों

को मदद करे, बहुतों के काम करे, समझे न? लाखों को पक्ष में खड़े रहें, पक्ष में खड़े रहकर सहारा दें, मदद करें, तो कुछ उसे अहिंसा (कहा जाये), वह अहिंसा कुछ अधिक कहलाये उसे। कनुभाई!

बस! भगवान आत्मा, सच्चिदानन्द प्रभु शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का भण्डार भगवान, बस! उसकी अन्तर में स्वभाव के आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति (होना), जिसमें किसी विकल्प की प्रवृत्ति मात्र का अभाव है। बाहर की प्रवृत्ति तो नहीं, वाणी, शरीर का नहीं परन्तु विकल्पमात्र की प्रवृत्ति का अभाव-इतने मात्र से उसे अहिंसा कहने में आता है। आहा..हा..! भाई! बहुत शास्त्र लिखना आया, बहुत शास्त्र कहना आया, सभा में पाँच -पाँच, दस-बीस-बीस, पचास हजार, लाख और ओहो.. करोड़पति ऐसे खम्मा.. खम्मा करे। तब इसकी अहिंसा बहुत दिस कहलाये। नहीं, नहीं भाई! अहिंसा मात्र उसे कहते हैं कि जिसमें वाणी की प्रवृत्ति नहीं, विकल्प की प्रवृत्ति नहीं। दूसरे समझे, न समझे, उसके आधार से अहिंसा नहीं है। धीरुभाई! बात ठीक आ गयी। रविवार को सब आये हैं न?

जिनागमस्य संक्षेपः सार। जिनागम का यह मक्खन है, अर्थात् यही वास्तविक बात है। इतने मात्र से अहिंसा कहने में आ गयी। टीकाकार टोडरमलजी हैं। भगवान आत्मा अपना जो समरसी चैतन्य त्रिकाली स्वभाव है, उसमें लपेटकर / एकाग्र होकर राग की उत्पत्ति नहीं की अर्थात् स्वभाव की शान्ति और श्रद्धा, ज्ञान की उत्पत्ति की, ऐसा जो निश्चय यथार्थ मोक्ष के मार्ग की निर्मल पर्याय, उतने मात्र से अहिंसा कहने में आता है। उसमें कोई दूसरा मिलता नहीं। आहा..हा..! व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प भी मिलता नहीं। व्यवहाररत्नत्रय से दूसरे को प्रभावना हो और दूसरे को समझावे, स्थिर करे - ऐसा कुछ मिलता नहीं, ऐसा कहते हैं। कहो, हिम्मतभाई! गजब बात, भाई! आहा..हा..! वाह! प्रभु वाह!! यह वीतराग तो ऐसा मार्ग है। कोई प्रवृत्ति का अधिक विकल्प है और प्रवृत्ति की भाषा को ऐसा बहुत योग है, इसलिए अहिंसा उसमें पुष्ट होती है और अहिंसा की वृद्धि होती है - ऐसा है नहीं। भगवान आत्मा अपना समरसी ज्ञायक शुद्धचैतन्यमूर्ति की दृष्टि, ज्ञान और लीनता-जिसमें विकार की उत्पत्ति नहीं, ऐसी दशा को भगवान, इतने मात्र को ही अहिंसा कहते हैं। बस, उसमें दूसरा कुछ मिलता नहीं। यह अहिंसा परमोधर्मः है। लो!

विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आज श्रुतपंचमी है। धरसेनाचार्य यहाँ गिरनार में महादिगम्बर मुनि, भावलिंगी सन्त थे। उन्होंने कण्ठस्थ शास्त्र था, उसका विच्छेद न हो, इसलिए दो मुनियों को बुलाकर समझाया। उस शास्त्र का बोध दिया। उन मुनियों ने आज ही पूरा करके आज अंकलेश्वर में श्रुतपंचमी का महोत्सव किया। अंकलेश्वर, जेठ शुक्ल ५। शास्त्र पूर्ण हुए। भगवान की वाणी में से जो वाणी आयी थी, उसके अनुसन्धानरूप से षट्खण्डागम थे। तब तो श्वेताम्बर पंथ निकला नहीं था। उस वाणी की रचना का पूर्णत: समापनपना आज हुआ। आज फिर उसकी महोत्सवदशा हुई, महोत्सव शुक्ल पंचमी का दिन है। उसे यह श्रुतपंचमी कहने में आता है। पुष्पदन्त, भूतबलि महा (मुनिराज थे)। धवल में तो जिन्हें राग-द्वेष और मोह का अभाव है, ऐसा कहा है। धवल में। केवली नहीं थे, परन्तु बहुत अल्प राग था, उसे नहीं गिनकर अत्यन्त राग-द्वेष-मोहरहित थे - ऐसा धवल में कहा है। पुष्पदन्त और भूतबलि नग्न मुनि-दिगम्बर मुनि थे। मुनि होते हैं, वे अन्त: और बाह्य दिगम्बर नग्न ही होते हैं।

उस परम्परा से जो आये हुए शास्त्र हैं, उनकी रचना का आज समापन होकर महोत्सव (किया), वह दिन आज गिनने में आया है। श्वेताम्बर में यह बात है नहीं। नहीं? इन्हें वहाँ रहना पड़े उसमें। इन्हें - नटुभाई को।

यह सनातन मार्ग वीतराग की मुख्य में भगवान महावीर की मुख्य वाणी में जो निकली थी, उसी वाणी के बारह अंग के अनुसन्धानरूप षट्खण्डागम में है। मतलब उसमें व्यवहारनय की प्रधानता से बहुत कथन है। इससे कहीं वस्तु तो वस्तु है, वह यह श्रुतपंचमी का दिन गिनने में आता है। श्वेताम्बर में ज्ञानपंचमी कहते हैं, वह फिर कार्तिक शुक्ल पंचमी। वह तो दूसरे प्रकार से। वह तो चातुर्मास में वह होता है, पुस्तक साफ करने के लिये। यह तो वस्तुस्थिति है। श्रुत की आराधना हुई, लेखन पूर्ण हुआ, इसलिए उसका महोत्सव किया। वह दिन गिनने में आता है।

अपने पुरुषार्थसिद्धि-उपाय चलता है। उन सब सिद्धान्तों में ऐसा कहा, यहाँ अब यह आता है। **निश्चय से रागादि भावों की उत्पत्ति न होना इतने मात्र से अहिंसा होती है।** यहाँ तक आया था। पूरे जैन आगम वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा के मुख में से, केवलज्ञान के पश्चात् जो वाणी निकली, उसमें से जो सनातन आगम रचे गये, उसके सर्व आगम का सार वीतरागमार्ग है न? रागादि भाव की उत्पत्ति, हों! रागादि भाव की उत्पत्ति न होना। - इतने मात्र से अहिंसा होती है। पर की दया पालना या उसका कोई सम्बन्ध उसमें नहीं होता।

भावार्थ : अपने शुद्धोपयोगरूप प्राणों का घात रागादि भावों से होता है,.. भगवान आत्मा शुद्धस्वभावी ज्ञान और आनन्द जिसका स्वभाव है, उसकी परिणति अर्थात् वर्तमान जो दशा, शुद्ध-रागरहित शुद्धोपयोग की परिणति होना, वह अहिंसा है और उसके प्राण का घात होना, रागादिभावों से होता है, वह हिंसा है। कहो, समझ में आया इसमें? परप्राणी को मत मारो-मत मारो, ऐई! देवानुप्रिया! ये पर को मत मारो-मत मारो, वह तो व्यवहार की व्याख्या है। समझ में आया? तेरा शुद्ध चैतन्यस्वभाव, उसे तू जीवित रख। आहा..हा..! दृष्टि में और स्थिरता में ऐसे शुद्धस्वभाव के अवलम्बन से जो दृष्टि और स्थिरता शुद्ध परिणतिरूप प्रगटे, वह पूरे जैनशासन के साररूप अहिंसा परमो धर्म है। कहो, समझ में आया?

निश्चयमोक्षमार्ग कहो, अहिंसा धर्म कहो। समझ में आया? अपने शुद्धोपयोग प्राण का - ऐसी भाषा है न? अपने ज्ञान-आनन्द की शुद्ध परिणति, ऐसे प्राणरूप जो भाव-निर्मलदशा, राग-द्वेष आदि भाव से उसकी उत्पत्ति न होना, उसे हिंसा कहने में आता है। कहो, **इसलिए रागादि भावों का अभाव होना ही अहिंसा है।** ओहो..हो..! शुभ और अशुभ राग की उत्पत्ति न होना और शुद्धोपयोग परिणति की उत्पत्ति होना, वही अहिंसा है। इसका नाम परमात्मा वीतरागदेव में अहिंसा कहने में आता है। ऐसे अहिंसाभाव से जीव जीवे और जीव जगत को जिलाने को अहिंसा कहते हैं कि इस प्रकार जीवो, यह वीतराग का मार्ग है। कहो, समझ में आया?

आदि शब्द से द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक,

जुगुप्सा, प्रमादादि समस्त विभावभाव जानना चाहिए। जितने विभावभाव, विकारभाव (हैं उन) सबको हिंसा कहने में आता है। उस भाव को हिंसा कहते हैं। आहा..हा..! परप्राणी मरे या न मरे, उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, यह कहेंगे। **इनके लक्षण कहते हैं।**

अपने को कोई (पदार्थ) इष्ट जानकर प्रीतिरूप परिणाम... अपने को कुछ इष्ट जानकर। इष्ट, इष्ट - प्रिय जानकर। **प्रीतिरूप परिणाम का होना राग है,...** वह हिंसा है। आहा..हा..! लो! इष्ट तो पाँच परमेष्ठी हैं। कहो, उन्हें इष्ट करना, वह हिंसा होगी? वह हिंसा है। लो! इनकार करते हैं वे। सोगनचन्दजी! पंच परमेष्ठी के प्रति भी इष्ट-प्रेम करना वह राग है, वह भी हिंसा है। समझ में आया? राग है न? क्या कहा? **अपने को कोई (पदार्थ) इष्ट जानकर प्रीतिरूप परिणाम का होना राग है,..** आहा..हा..! देव-गुरु-शास्त्र का प्रेम, वह भी राग, वह भी हिंसा है। सूक्ष्म है। सोगनचन्दजी! ये वहाँ फिर थोड़ा जाकर चार, छह महीने खो आवें। इनकार करे कि नहीं। देखो! इसमें लिखा है? क्या लिखा है?

अपने को कोई (पदार्थ) इष्ट जानकर प्रीतिरूप परिणाम... आहा..हा..! स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, पैसा कमाने का प्रीतिभाव, वह तो राग, वह तो हिंसा है ही; वह तो हिंसा है ही, परन्तु देव-गुरु-शास्त्र के प्रति प्रेम, विकल्प है, वह शुभराग भी स्वरूप की ही हिंसा है। ऐसा मार्ग है वीतराग का। आहा..हा..! लोगों को तो ऐसा सुना जाये नहीं।

मुमुक्षु : आज तो शास्त्र का दिवस है।

पूज्य गुरुदेवश्री : शास्त्र का दिवस है, इसलिए शास्त्र का रहस्य हो, वह आवे न आज! पाठ यह है न, देखो! **जिनागमस्य संक्षेपः** जिनागम का संक्षेप अर्थात् रहस्य, संक्षिप्त सार यह है। दीपचन्दजी! क्या हाँ-हाँ करते हो? देव-गुरु-शास्त्र का प्रेम करना वह राग? प्रशस्त राग कहते हैं या नहीं? पंचास्तिकाय में नहीं आता? पंचास्तिकाय में प्रशस्त राग आता है। राग का वह विषय है, राग का विषय है। अभी पूछते थे। ये ऐसा कि राग का निमित्त कहलाये? मैंने कहा, इन सिद्धभगवान को राग-द्वेष कहा है, लो! नैगमनय से जयधवल में सिद्धभगवान रागी और द्वेषी। क्यों? कि वह निमित्त है इसलिये। आहा..हा..! ...दोषपाहुड़, दोष अर्थात् द्वेष... द्वेष-दोष पाहुड़ में सब द्रव्यों को राग-द्वेष कहा है। सिद्ध

को भी राग-द्वेष कहा है। सिद्ध को राग-द्वेष होते हैं - ऐसा नहीं परन्तु जिसे सिद्ध का विचार करने पर, ...ऐसा कहा जाता है ? ऐसा द्वेष होता है उसमें निमित्त हुए इसलिए उन्हें राग-द्वेष का कारण है, इसलिए राग-द्वेष कहा। आहा..हा..! गजब बात है! वीतराग मार्ग वह कोई (अलौकिक है)। आहा..हा..! यह परमाणु भी राग-द्वेष और सिद्ध भी राग-द्वेष, नैगमनय का कथन है न ?

मुमुक्षु : धर्मास्तिकाय भी राग-द्वेष ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब।

मुमुक्षु : अस्ति-नास्ति....

पूज्य गुरुदेवश्री : अस्ति-नास्ति क्या ? है क्या ? उसके निमित्त से राग-द्वेष होते हैं तो उसे भी राग-द्वेष का निमित्त कहकर, राग-द्वेष की योग्यता जो करता है, ऐसा निमित्त होने की उनमें योग्यता है ऐसा कहना है। उसने यह प्रश्न किया था। ज्ञानी को राग-द्वेष का निमित्त अर्थात् योग्यता कहना ? योग्यता कहना ? ऐसा पूछा था। अभी अमृतलाल पहले इनकार करते थे। आता है न पंचास्तिकाय में ? कहा, हाँ! ऐसा कि प्रशस्त राग का निमित्त है, वह प्रशस्त राग का भी निमित्त है, लो! उसकी योग्यता, उसमें योग्यता वह भी यहाँ करे, इसलिए उसकी योग्यता उस प्रकार आरोप में आवे, उसकी योग्यता कहने में आती है। ओहो..हो..! गजब बात है न!

कहते हैं कि भगवान को याद करके जिसे प्रेम होता है, भगवान को याद करके.. ऐसे सिद्ध किस काम के ? एक व्यक्ति कहता था। एक व्यक्ति कहता था कि यह सिद्ध होते हैं, वे किसी का भला करते हैं ? नहीं। कहा, कुछ नहीं करते। वे बड़े सिद्ध कहलायें, किसी का करें नहीं ? कहा, बड़े उनका नाम और किसी का कुछ करे नहीं और अपना भूले नहीं। आहा..हा..! अपने स्वभाव में भूल नहीं होती, किसी का कुछ करते नहीं। वीतरागमार्ग में इसका नाम बड़ा कहा जाता है। यह तो लोग किसी का कर दे और उसका ऐसा कर दे, अधिक कर दे, कोई पैसा खर्च करे, पाठशालाएँ बनाये, मन्दिर बनाये, अमुक करे, धूम-धाम करे, ऐसी बड़ी यात्रा दस-दस, बीस-बीस लाख खर्च करके निकाले, तो वह वीतरागमार्ग है, ऐसा यहाँ इनकार करते हैं। मोहनभाई! ओहो..हो..!

सिद्ध को, राग-द्वेष है, ऐसा कहा। किस अपेक्षा से ? नैगमनय से निमित्त होते हैं न! आहा..हा..! सिद्ध राग-द्वेष का निमित्त। परन्तु योग्यता इसे राग-द्वेष की योग्यता इसमें ? सुन न, यहाँ हुआ, इसलिए वहाँ उन्हें आरोप किया। नैगमनय से आरोप करके यह बात है। कहो, प्रवीणभाई! ऐसा मार्ग है, भाई! आहा..हा..!

कहते हैं **अपने को कोई (पदार्थ) इष्ट जानकर प्रीतिरूप परिणाम का होना राग है,...** उस राग को हिंसा कहते हैं। आहा..हा..! वीतराग का मार्ग लोगों ने सुना नहीं। मोहनभाई! **अपने को अनिष्ट जानकर अप्रीतिरूप परिणाम का होना द्वेष है,..** वे सिद्धभगवान अनिष्ट लगें, ऐसे सिद्ध ? किसी का करें नहीं ? कहा, ऐसे सिद्ध हैं। हमें ऐसे सिद्ध नहीं चाहिए। परन्तु कहाँ है कहा व्यर्थ का किसका... टी. जी. शाह थे न ? वे तो गुजर गये। वढ़वाणवाले। मुम्बई। वे वहाँ एक बार हीराभाई के मकान में आये थे। सिद्ध कुछ नहीं करते, कहा। तो बड़े किसके ? तुम कर देते हो किसी का ? राग करते हो, करे किसी का ? हम कर देते हैं, ऐसा अभिमान बहुत (था)। समाज का करते हैं, जाति का करते हैं, कुटुम्ब का करते हैं, गाँव का करते हैं, देश का करते हैं। सुधारने की शुरुआत घर से करना। कर देता होगा घर का स्त्री-पुत्र का सुधार। ऐ.. नटुभाई! वकील होगा, वह करता होगा या नहीं होशियारी होकर ? राग-द्वेष बढ़ाता है। आहा..हा..! कहो, ऐई चिमनभाई! तुम तो होशियार कहलाते हो, सब कर देते होंगे, तब होशियारी तुम्हें देते होंगे या नहीं लोग ? सोनगढ़ का, मुम्बई का। अरे रे..! ऐसा गजब मार्ग भाई!

किसी के प्रति **अनिष्ट जानकर...** अपने को ठीक न लगा वहाँ, **अप्रीतिरूप परिणाम...** सिद्ध भी ठीक नहीं लगे, लो! अरिहन्त भी ठीक नहीं लगे, अरिहन्त की वाणी ठीक नहीं लगी तो इसे द्वेष होता है। आहा..! यह देखो न! वाणी से कुछ लाभ नहीं होता, तब तुम बड़े किसके ? तुम से कुछ लाभ होता है हमको ? कि नहीं। यह अप्रीति (हो जाती है)। पोपटभाई! ऐसा स्वरूप है, भाई! दुनिया के साथ कहीं मिलान खाये, ऐसा नहीं है। आहा..हा..! ज्ञान सरोवर विकल्प से मलिन हो, उसे हिंसास कहते हैं। आहा..हा..! आया था न कहीं, नहीं इसमें ?

परद्रव्य में ममत्वरूप परिणाम होना मोह है,... लो! ममत्व अर्थात् ये मेरे हैं।

ये मेरे.. ये मेरे.. ये मेरे.. उसे मोह कहते हैं। वह हिंसा है। आत्मा को परद्रव्य 'मेरा' कभी नहीं हो सकता। सिद्धभगवान भी आत्मा के नहीं हैं, पंच परमेष्ठी भी आत्मा के नहीं हैं। आहा..हा..! अर्धांगिनी / स्त्री तो होगी या नहीं इसकी? अर्धांगिनी कहते हैं न? अर्धांगिनी। मरता होगा, तब आधा-आधा मरता होगा? गजब बात भाई! मोह, वह भी मोह। पागल -पागल बना देता है।

श्रीमद् ने कहा है न, जिसके बिना समयमात्र नहीं चले, उसके बिना अनन्त काल व्यतीत किया। है न? अरे..! तेरे बिना मुझे नहीं होगा, अरे! ३०-३०, ३५-४० वर्ष की उम्र और वह चली। लड़के छह, कोई नयी देगा नहीं। पैसे मेरे पास नहीं, नौकरी डेढ़ सौ-दो सौ की मुश्किल से। यह महँगाई, हाय.. हाय..! तेरे बिना मुझे नहीं चलेगा, हों! चिल्लाता है। उसके बिना अनन्त काल चलाया है। बराबर होगा मलूपचन्दभाई? जिसके बिना समयमात्र नहीं चले..

अरे! आज ही विचार आया। वहाँ थोर का एक बड़ा टुकड़ा पड़ा था। थोर-थोर इतना बड़ा अलग। सामने सूख गया और सूखते-सूखते कहा आहा..हा..! जीव के ढेर के ढेर पड़े हैं। ऊपर के रजकणों का दल तो महा है। उसमें माँ, बाप, भाई सब पूर्व भव के पड़े होंगे, लो! यह सूखता है। कोई सामने देखने आता है। कहो, मोहनभाई! थोर-थोर। यह डंठल टूटा हुआ इतना बड़ा ऐसे पड़ा था। इस ओर तो सूखने लगा था। सूखते-सूखते ऐसे अभी बहुत हरा है। जीव के थर के थर जमे हुए हैं। उसके ऊपर के दिखते हैं शरीर के रजकणों के थर के थर जम गये हैं। इसी प्रकार भगवान आत्मा भी थर का थर जम गये गुणों का पूरा पिण्ड है। आहा..हा..! अरो! यह कौन स्वीकार करे? कहा। खेत में पड़ा था। जहाँ दिशा जाते हैं वहाँ। यह कौन स्वीकार करे? इतना सब ज्ञानपर्याय स्वीकार करती है तो इतने सब यह, इतने सब ऐसे-ऐसे ज्ञान की पर्याय का समूह और ऐसे-ऐसे गुण का समूह पिण्ड पूरा चैतन्य है, उसे स्वीकार कौन करे और इसे कौन स्वीकार करे? आहा..हा..!

कहो, पूर्व के अनन्त-अनन्त भव में से कितने माँ-बाप, पुत्र-पुत्रियाँ (उसमें पड़े होंगे)। अरे! बेटा! तेरे बिना नहीं रह सकता, हों! अफीम के बिना मैं नहीं रह सकता। लो! आता है न? व्यसन होता है या नहीं? अफीम के बिना नहीं रह सकता। एक की पुत्री नौ

वर्ष की मर गयी। इकलौती पुत्री। अब? आहा..हा..! अरे रे! इस लड़की के बिना चलेगा? अफीम के बिना नहीं चलता। अफीम का बहुत बन्धान था। अफीम की डिब्बी फेंक दी। यह एक की एक पुत्री राग की पूरी अर्पणता वहाँ। स्त्री, पुत्र, कोई नहीं हो, एक ही पुत्री। जितना राग करना था, वह एक ही था। उसमें मर गयी। मरकर यह सब आये, तब अफीम का बन्धान। कहा भाई! अफीम लो, अफीम लो। अरे! जिसके बिना अब चलेगा, ऐसे अफीम के बिना अब नहीं चलेगा? उसके बिना चलेगा। समझते हो न? उसके बिना चलेगा नहीं। इतने महीने हुए, अभी भाषा नहीं समझते? उसके बिना चलेगा न—ऐसा कहते हैं। आहा..हा..!

अरे! जिसके बिना एक समय नहीं चले, उसके बिना प्रभु! तूने अनन्त काल बिताया है। किसे तू मेरा कहेगा और किससे तू द्वेष करेगा। समझ में आया? एक सिर में ठीक से नहीं चले न, (तो बोले), अरे! नींद नहीं आती। उस सिर के बिना चला है। चला है या नहीं? सिर गया। गिर गया, जीव निकल गया। नींद आती नहीं। बराबर चलता नहीं, चैन नहीं। सिर में गर्मी चढ़ गयी है न बहुत। चैन पड़ती नहीं, चैन। इसलिए सिर ठीक (किये) बिना मेरे चलेगा नहीं। गया। सिर के बिना चलाया। उस सिर के बिना तूने दूसरा भव किया, इसीप्रकार इसके बिना चलाया। आहा..हा..! मोह-ये मेरे नहीं और मेरे मानना, यह भाव ही हिंसा है। यह ऐसी व्याख्या वीतरागमार्ग के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं हो सकती। आहा..हा..!

मैथुनरूप परिणाम काम है,... विषय की वासना, ऐसे भाव को काम कहते हैं। वह हिंसा है। **इसने अनुचित किया ऐसा जानकर पर को दुःखदायक परिणाम क्रोध है,..** उसने अयोग्य किया, ठीक नहीं किया - ऐसी अरुचि (करे)। पर को दुःखदायक परिणाम। दुःखदायक उसे हो, न हो, निमित्त है परन्तु क्रोध किया। दुःखदायक के परिणाम को क्रोध कहते हैं। शब्द तो ऐसा है, **पर को दुःखदायक परिणाम क्रोध है,...** अर्थात् मानो पर को दुःख दे। मुँह बताऊँगा नहीं, जीऊँगा तब तक मुँह दिखाऊँगा नहीं। उसके पास गया। आहा..हा..!

कृष्ण ने पाण्डवों को कहा, तुम पूरी जिन्दगी मुँह बताना नहीं, चले जाओ, चले जाओ, मेरे देश से बाहर। आहा..! नगरी सुलगी, माँ-बाप मरे, कोई नहीं था। कोशम्बी वन

में बलदेव और कृष्ण अकेले चले, आहा..हा..! भाई! कहाँ जायेंगे? भाई! यह पानी डाला और तेल हुआ। द्वारिका सुलगी, उसमें पानी डाला और तेल हुआ। भाई! वह बल कहाँ गया अपना? देव जंगल में सहाय करने आते, वे कहाँ गये? राजा को कहते कि भाई! कुछ लाना हमारे लिये। पानी की जगह मौसम्बी लावे, अनार लावे। वे सब कहाँ गये? भाई! अब कहाँ जायेंगे? कृष्ण पूछते हैं बलदेव को, भाई! अब कहाँ जायेंगे? भाई! पाण्डवों के पास जायेंगे, पाण्डव सज्जन हैं, हमने नकार किया, परन्तु वे नकार नहीं करेंगे, हों! अपने को रखेंगे। आहा..हा..! तीन खण्ड के धनी बलदेव, वासुदेव! करोड़ों लोग जिनकी जिह्वा से ऐसे हाँ करे तो हाकल न उठे। आहा..हा..! भाई! हम कहाँ जायेंगे? अरे! भाई! आहा..हा..!

मुमुक्षु : इतना सब पुण्य समाप्त हो गया?

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य समाप्त हुआ, पुण्य फल गया। कौन मेरे और कौन तेरे? भाई! यह रजकण, रजकण कहीं से आया और कहीं जायेगा? अरे! यह शरीर ठीक रहता नहीं, यह ठीक (रहता नहीं), इतनी-इतनी दवायें की, यह व्यवस्थित ही नहीं रहता— ऐसा करके द्वेष करता है, लो! ऐ.. मोहनभाई! कितना बनाये रख सकते हैं ठीक से, व्यवस्थित। गरम चाहिए तो गरम, ठण्डा चाहिए तो ठण्डा। समझे न? कड़वा चाहिए तो कड़वा, फीका चाहिए तो फीका, पानी चाहिए तो पानी, मौसम्बी चाहिए तो मौसम्बी। आहा..हा..! कड़क रोटी न खायी जाये तो हलुवा, परन्तु ठीक रहता नहीं। आहा..हा..! कहते हैं कि ऐसे क्रोध परिणाम, वह हिंसा है। अरुचि हुई न अरुचि? किसकी अरुचि? भाई! आहा..!

दूसरे से अपने को बड़ा मानना मान है,.. अपने को अधिक मानना, मैं अधिक हूँ, उससे मैं बड़ा हूँ, मान। समझ में आया? धर्मी जीव से बड़ा होना चाहता है, धर्म होवे नहीं। वह तो मिथ्यात्व का मान, बड़ी हिंसा। आहा..हा..! समझ में आया? **अपने को बड़ा मानना मान है, मन-वचन-काय में एकता का अभाव माया है,..** मन से कुछ, वाणी से कुछ, काया से कुछ - ऐसा कहते हैं। मन में कुछ हो, बोले कुछ, काया में (दूसरा कुछ हो)। वह सब माया / कुटिलता है। आहा..हा..! समझ में आया? मन-

वचन और काया में एकता का अभाव। एकता अर्थात् ऐसा। मन में कुछ विकल्प हो, वाणी से कुछ कहे, देह से कुछ बनावे - ऐसे भाव माया, कपट, हिंसा है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : विभाव परिणाम, वह हिंसा है, यह तो विभाव की व्याख्या करते हैं। संक्षिप्त में विभाव परिणाम, वह हिंसा है। मिथ्यात्व से लेकर चाहे जैसा विकल्प मन्द-तीव्र (हो, वह) सब हिंसा है। ओहो..हो..! **परद्रव्य के साथ सम्बन्ध करने की इच्छारूप परिणाम लोभ है,...** लो! प्राप्त करने की, सम्बन्ध करने की, रखने की इच्छारूप परिणाम को लोभ कहते हैं। वह हिंसा है।

मुमुक्षु : पैसा सम्हालकर रखने का भाव।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा सम्हालकर रखने का भाव, यह कमाने का भाव हिंसा, यह रखकर छोड़ने का भाव हिंसा। यह खर्च करने का भाव-विकल्प, वह भी हिंसा।

मुमुक्षु : खर्च करने में तो छोड़ना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह हुआ न? उसे खर्च करूँगा तो ऐसा होगा, मुझे पुण्य होगा ऐसा सम्बन्ध / प्रेम करता है न? मुझे कुछ लाभ होगा। सम्बन्ध छोड़ता नहीं, सम्बन्ध रखता है।

भली-बुरी चेष्टा देखकर विकसितरूप परिणाम हास्य है,.. कोई अनुकूल कहे, खराब ऐसी चेष्टा मनुष्यों की या तिर्यंचों की, स्त्री पुरुषों की विकसित चेष्टा देखकर हास्य होना, विस्मयता लगना, वह भी राग। ...यह द्वेष, हास्य वह हिंसा। समझ में आया? **अपने को दुःखदायक जानकर डररूप परिणाम भय है,..** अपने को दुःखदाता जानकर, अरे! यह सर्प, अरे, यह बिच्छु। ऐसा डर (लगे), उसे भय कहते हैं। भय, वह हिंसा है।

मुमुक्षु : किस जीव को मारा?

पूज्य गुरुदेवश्री : अपना कहा, और उसकी तो व्याख्या करते हैं। शुद्धोपयोग प्राण का घात, अपना उपोद्घात बाँधकर तो बात की है। अपने शुद्धोपयोग परिणतिरूपी प्राण, ऐसा जो जीव का जीवन, उसे घात करने का नाम हिंसा है।

अपने इष्ट का अभाव होने पर आर्त्तरूप परिणाम शोक है,.. प्रिय का वियोग, इष्ट का अभाव अर्थात् प्रिय का वियोग हो। शरीर प्रिय होता है, शरीर का एक अंग टूट जाये, एक ऐसे हो। स्त्री, पुरुष, लड़की, लड़का, मकान, प्रिय भैंस, घोड़ा, घोड़ी, पाड़ा, पाड़ियाँ जो कुछ भी इसे प्रिय लगे न प्रिय? अपने को इष्टरूप का अभाव, **अपने इष्ट का अभाव होने पर आर्त्तरूप परिणाम...** अन्दर ऐसा मुझे यह चैन पड़ता नहीं - ऐसा कहे। चैन पड़ता नहीं। शोक कहते हैं, वह हिंसा है।

ग्लानिरूप परिणाम जुगुप्सा है,.. अन्दर से ग्लानि होना। प्रतिकूल देखकर सड़ा, दुर्गन्ध, शरीर सड़े, गधा सड़े, बिल्ली सड़े, चूहा मर गया हो। बिल्ली, चूहा घर में गड्ढे में, अलमारी में दुर्गन्ध मारे उसमें जुगुप्सा (हो), वह भी हिंसा। **कल्याणकारी कार्य में अनादर करना प्रमाद है..** अन्तिम शब्द। कल्याणकारी कार्य में अनादर को प्रमाद कहते हैं, वह हिंसा है। **इत्यादि समस्त विभावभाव हिंसा की पर्याय हैं।** लो! इत्यादि समस्त विभावभाव हिंसा की दशायें हैं। **इनका न होना ही अहिंसा है।** आत्मा में वे शुभ-अशुभ विकल्प न हों और शुद्धता अन्तर परिणमे, अन्तर वस्तु के अवलम्बन से शुद्धता, निर्मलता, आरागी परिणति हो, उसे अहिंसा कहा जाता है। वह अहिंसा परमो धर्म है। परमधर्म कहना और उस परजीव को न मारे, ऐसी अहिंसा परमधर्म हो गया? न मारे, वह मार नहीं सकता और वह कहाँ है? मार सके, ऐसा कहाँ है और न मार सके, ऐसा कहाँ है? वह तो उसके कारण बचता है और उसके कारण जाता है।

'तेषामेव उत्पत्तिः हिंसा'-उन रागादिभावों का उत्पन्न होना ही हिंसा है,.. राग आदि शब्द है न? ऊपर सब स्पष्टीकरण कर दिया है। वह राग आदि ठेठ तक लिया है। प्रमादरूप। उत्पन्न होना, वह हिंसा है। **'इति जिनागमस्य संक्षेपः'-ऐसा जैन सिद्धान्त का रहस्य है।** वीतराग के शास्त्र का वीतरागमार्ग का यह मर्म और रहस्य है। कहो, समझ में आया इसमें?

भावार्थ : जैन सिद्धान्त का विस्तार तो बहुत है परन्तु सर्व का रहस्य संक्षेप में इतना ही है कि धर्म का लक्षण अहिंसा... उसमें कहा न कि सर्व शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता है। पंचास्तिकाय (गाथा १७२)। वह वीतरागता कहो या अहिंसा कहो। दूसरी

भाषा से बात है। समझ में आया ? सर्व शास्त्रों का सार वीतरागता है। रागादि की उपेक्षा, स्वभाव की अपेक्षा करके वीतरागता प्रगट करना, वही सब सम्पूर्ण चार अनुयोगों का सार है। उसे–वीतरागता को यहाँ अहिंसा कही है। कहो, समझ में आया ?

जैन सिद्धान्त का विस्तार तो बहुत है.. लोग अहिंसा कहीं ले जाते हैं ? एकेन्द्रिय, मत मारो.. मत मारो.. मत मारो.. जीव को, यह जिनवाणी का सार–क्या कुछ कहते होंगे ? भाई ! भूल गये। उत्तम प्राणी आदरे उन्हें है, निर्वाण।

मत मारो मत मारो जीव को, यह जिनवाणी जान।
उत्तम प्राणी आदरे, उसको है निर्वाण॥

कहो, यह यहाँ कहते है, मत मारो, मत मारो – तेरे शुद्धोपयोग को मत घात – इसका नाम अहिंसा है।

मुमुक्षु : शुद्धोपयोग शब्द आता है कहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं; वहाँ ऐसा नहीं आता। वहाँ कहाँ आता है ? वहाँ स्थानकवासी में मूल पाठ में भावकर्म ऐसा आता था। वह तो फिर यह देवचन्दजी ने डाला है। भावकर्म ऐसा कुछ आता नहीं। कर्म, बस ! हमारे मूलचन्दजी थे न, बड़े बेरिस्टर कहते।

मुमुक्षु : भावकर्म तो आता है परन्तु शुद्धोपयोग कहीं आता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। शुद्धोपयोग नहीं आता। शुद्ध शब्द है, उपयोग (नहीं)। एक बार मगन मोदी ने आकर पूछा था कि भावकर्म, द्रव्यकर्म ? कि अपने में भावकर्म, द्रव्यकर्म नहीं होता। भावकर्म, द्रव्यकर्म क्या ? जैन के बेरिस्टर थे।

मुमुक्षु : जितने कायदा बतलावे, उतने में नहीं आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपने द्रव्यकर्म, भावकर्म नहीं होता। भावकर्म, वह वेदान्त में होगा, जाओ। विभाव वेदान्त में, अनुभव वेदान्त में, यहाँ नहीं, अपने कुछ नहीं, भाई ! ऐसा कहते थे।

मुमुक्षु : अपने तो दया पालना।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपने तो गौतमस्वामी ने कही है ऐसी अपने को श्रद्धा है।

गौतमस्वामी को श्रद्धा थी, वैसी अपने को है। अब यह व्रत और चारित्र पालो, बस! यह अपना कर्तव्य है। बस, एक ही बात सबको कहते थे। ओहो..हो..!

मुमुक्षु : श्रद्धा से पहले चारित्र होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : श्रद्धा के बाद चारित्र - ऐसा कहे। श्रद्धा तो अपने को सबको गौतम जैसी है। फेरफार कुछ मानना नहीं, फेरफार करना नहीं, अभी उपदेश में सब फेरफार चलता है।

परन्तु सर्व का रहस्य संक्षेप में इतना ही है कि धर्म का लक्षण अहिंसा- रागादिभावों का अभाव होना, वही अहिंसा। इसलिए जैसे बन सके वैसे तथा जितना बन सके उतना... जैसे बने वैसे, जितना बने उतना, **रागादि भावों का नाश करना...** मिथ्यात्व और रागादि का अभाव करना। कहो, मिथ्यात्व वह महाहिंसा है। विपरीत मान्यता, वह महाहिंसा है। सम्यग्दर्शन, वह अहिंसा है। समझ में आया? उस हिंसा, अहिंसा की खबर नहीं होती। बाहर के प्राणी को मारे, न मारे, यह.. पूरे दिन..

वही अन्य ग्रन्थों में कहा है - रागादीणामणुप्पा... अर्थात् रागादि की अनुत्पत्ति **अहिंसा गत्तति** अहिंसा होती है, ऐसा **देसि** वह द है और इस ओर चाहिए देसि। दंसमये दिखाया है सिद्धान्त में। समय अर्थात् सिद्धान्त। समय सिद्धान्त में रागादि की अनुत्पत्ति को अहिंसा कहा गया है। **ते सिंच 'सिंच'** इस ओर लेना। **ते सिंचे दुप्पत्ती** रागादि की उत्पत्ति, **हिंसेति जिणेहि णिद्दिट्ठं।** वीतराग भगवान ने ऐसा कहा है। छपानेवाले भी ऐसे के ऐसे छपा डालते हैं कि फुरसत नहीं मिलती। क्या शब्द किस प्रकार है (वह नहीं देखते)। **देसिदंसमये** ऐसा कर दिया। दंस मये क्या होगा यह? **देसिदं** दिखाया है, अहिंसा स्वरूप, अहिंसा का मूल स्वरूप समय में अर्थात् सिद्धान्त में (बताया है कि) रागादि की अनुत्पत्ति **ते सिंचे दुप्पत्ती** राग भय आदि की उत्पत्ति **हिंसेति जिणेहि णिद्दिट्ठं** भगवान ने उसे हिंसा कही है। आहा..हा..! वे चिल्लाते हैं, परजीव की दया का भाव तो जीव का स्वभाव है, दया का भाव तो जीव का स्वभाव है। उसे कोई दया के भाव को राग कहे, हिंसा कहे, वह महा शास्त्र से विरुद्ध है-ऐसा कहते हैं, लो! यहाँ तो कहते हैं कि परजीव पर लक्ष्य जाकर यह न मरे - ऐसी वृत्ति उत्पन्न हो, वह राग है और राग है, वह

हिंसा है। आहा..हा..! कैलाशचन्दजी के बीच इसकी बड़ी चर्चा चली थी। भाई! वीतराग का मार्ग, दुनिया के साथ मिलान जैसा नहीं है। दुनिया के साथ मिलाकर और मिलाने जैसा नहीं है, ऐसी बात है। परद्रव्य का कर नहीं सकता परन्तु फिर परद्रव्य की दया पालना, यह बात रहती कहाँ है? समझ में आया? पर को मार नहीं सकता तो फिर पर को मारता है, वह हिंसा –ऐसा है कहाँ? इसमें राग और द्वेष हो, वह हिंसा है।

प्रश्न : हिंसा का लक्षण पर जीव के प्राणों को पीड़ा पहुँचाना क्यों नहीं कहा? हिंसा का लक्षण, परजीव के प्राणों को पीड़ित करना – ऐसा नहीं कहना। अपने शुद्ध प्राण का घात करना – ऐसा कहा। परजीव के प्राणों को पीड़ित करने का नाम हिंसा है – ऐसा क्यों नहीं कहा? कि अतिव्याप्ति दोष आता है, उसमें अतिव्याप्ति दोष आता है क्योंकि परप्राणी पीड़ित होता है तो भी अन्दर यहाँ राग–द्वेष नहीं होता तो इसे हिंसा नहीं होती। इसलिए परप्राणी के साथ अतिव्याप्ति सम्बन्ध है।

उत्तर : इस लक्षण में अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनों दोष लगते हैं। देखो! कैसा सरस वर्णन किया है! जैसे ज्ञान, वह आत्मा का लक्षण। परन्तु केवलज्ञान (लक्षण कहे तो) अव्याप्ति हो जाता है। (क्योंकि) सबमें नहीं आता और आत्मा का लक्षण अरूपी कहो (तो) अतिव्याप्ति हो जाता है। अरूपीपना दूसरे में भी व्याप्त है। यह क्या कहा? यह तो जैनसिद्धान्त प्रवेशिका में पहले सिखाया जाता है। ऐई! धीरुभाई! आत्मा को ज्ञानलक्षण कहना, वह बराबर है परन्तु आत्मा को केवलज्ञान लक्षण कहना वह? हरिभाई को कहने दो। बोलो, तुम क्या सीखते हो तब अभी तक? क्यों बराबर नहीं है?

मुमुक्षु : क्योंकि अभी तो नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी नहीं होता परन्तु दूसरे में होता है न।

मुमुक्षु : इसको नहीं होता, इस हिसाब से अव्याप्ति...

पूज्य गुरुदेवश्री : सबको वह ज्ञान लागू पड़ता नहीं, इसलिए अव्याप्ति, अव्याप्ति। सबमें वह व्याप्त नहीं है, सबको लागू नहीं पड़ा, इसलिए अव्याप्ति। अपने अतिव्याप्ति है परन्तु उसे अरूपी कहना, जीव का लक्षण अरूपी (कहने पर वह) अतिव्याप्ति है क्योंकि उसके अतिरिक्त दूसरों में भी होता है।

इसी प्रकार यहाँ परजीव को मारना वह दोष (हिंसा) ऐसा नहीं, अतिव्याप्ति दोष लगता है क्योंकि जहाँ रागादिभाव नहीं है, प्रमादभाव नहीं है और परजीव मरते हैं तो भी दोष नहीं लगता। इसलिए अतिव्याप्ति हो जाता है। यदि परजीव के प्राण को पीड़ित करने को हिंसा कहें तो अतिव्याप्ति आ जाता है। अपने प्राण को घात करे, वह हिंसा यह बराबर है। समझ में आया? क्या कहा? स्वयं अपने शुद्धस्वभाव में राग-द्वेष को उत्पन्न करे, वह हिंसा है। यह बराबर अतिव्याप्ति-अव्याप्ति-असम्भव लक्षणरहित हिंसा का यथार्थ लक्षण है। यदि परजीव को प्राण पीड़ा करना - ऐसा यदि कहा जाये तो अतिव्याप्ति हो जाती है, यह कहते हैं, देखो!

गाथा - ४५

वहाँ प्रथम ही अतिव्याप्ति दोष बताते हैं-

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव।।४५।।

रागादि भावों के बिना, युक्ताचरणमय मुनि के।
अत्यल्प भी हिंसा नहीं है, प्राणपीड़न मात्र से।।४५।।

अन्वयार्थ : (अपि) और (युक्ताचरणस्य) योग्य आचरण वाले (सतः) सन्त पुरुष के (रागाद्यावेशमन्तरेण) रागादिभावों के बिना (प्राणव्यपरोपणात्) केवल प्राण पीड़न से (हिंसा) हिंसा (जातु एव) कभी भी (न हि) नहीं (भवति) होती।

टीका : 'अपि युक्ताचरणस्य सतः रागाद्यावेशमन्तरेण प्राणव्यपरोपणात् एव जातु हिंसा न हि भवति' - निश्चय से जिनका आचरण योग्य प्रयत्न पूर्वक है, ऐसे सन्त पुरुषों को, रागादि भावों के प्रवेश बिना, केवल पर जीव के प्राण पीड़न करने मात्र से ही कदाचित् हिंसा नहीं होती।

भावार्थ : महापुरुष ध्यान में लीन हैं अथवा गमनादि में सावधानी से यत्नपूर्वक

प्रवर्तन कर रहे हैं और कदाचित् इनके शरीर के सम्बन्ध से किसी जीव के प्राणों को पीड़ा पहुँच गई तो भी इनके हिंसा का दोष नहीं है। कारण कि इसके परिणाम में कषाय नहीं था, इसलिए पर जीव के प्राण को पीड़ा होने पर भी हिंसा नहीं कहलाती। अत: अतिव्याप्ति दोष लगता है।।४५।।

गाथा ४५ पर प्रवचन

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव।।४५।।

कहो, ज्ञान में अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, और असम्भव लगाया – इसी प्रकार यह हिंसा में लगाया। **और.. अपि** अर्थात् और। **योग्य आचरणवाले..** मुनि हैं, वे आत्मा के भानसहित तीन कषाय के अभाव का अन्तर आचरण है और ऐसे उन्हें योग्य ऐसे विकल्प का व्यवहार आचरण है। **सन्त पुरुष के रागादिभावों के बिना...** मुनि को पर को मारने का राग होता नहीं, तथापि **केवल प्राण पीड़न से हिंसा कभी भी नहीं होती।** परन्तु उनके शरीर से ऐसे चलते हों और नीम का फूल शरीर पर आया, गिरा। बराबर ध्यान है, नीचे फूल नहीं है। समझ में आया? बराबर यत्न से जाते हैं, उसमें हवा आयी और ऊपर से गिरे, यहाँ जरा। मर गया, लो! परन्तु उसे मारने का भाव नहीं था, इसलिए उसे हिंसा नहीं लगती। पर के प्राण की पीड़ा हो तो हिंसा, तो इसमें अतिव्याप्ति हो जाती है, ऐसा मेल नहीं खाता। आहा..हा..! समझ में आया इसमें?

रागादिभावों के बिना केवल प्राण पीड़न से.. दूसरे के प्राण घात हुए, इसलिए हिंसा कभी भी नहीं होती, ऐसा कहते हैं। अपने प्राण घात हो तो हिंसा, यह लक्षण योग्य है। अपने प्राण घात न हो, शुद्ध उत्पत्ति, वह अहिंसा यह लक्षण उचित है, परन्तु दूसरे के प्राण न घात हो, वह अहिंसा, यह अतिव्याप्ति हो जाता है। समझ में आया? यह मिलान नहीं खाता। वाह! कहाँ डाला, देखो! हिंसा में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति डाला।

'केवल' शब्द पड़ा है न '**प्राणव्यपरोपणात्**' दूसरे को मारने का भाव नहीं है।

चलने में उपयोग है, उसमें कोई उड़ता हुआ प्राणी पैर के नीचे आकर (पड़ा), पैर ऐसा ऊँचा हुआ और रखते हैं वहाँ बीच में आ गया। मारने का भाव नहीं है। प्रमाद नहीं, उस प्रकार का प्रमाद, हों! चलने का भाव विकल्प है, वह प्रमाद है, यह अभी नहीं लेना है। समझ में आया? **केवल प्राण पीड़न से हिंसा कभी भी नहीं होती।** भाषा देखो!

'जातु एव' 'जातु' शब्द में यह जहाँ-तहाँ यह शब्द बहुत रखा है, हों! **'जातु'** अर्थात् क्या? कभी, बिल्कुल नहीं। कालवाचक बहुत जगह आता है शब्द **जातु.. जातु.. जातु..** किसी काल में, किसी प्रसंग में। **'जातु'** शब्द बहुत आता है। **केवल प्राण पीड़न से हिंसा...** किसी भी काल में **कभी भी नहीं होती।** समझ में आया? दूसरी बहुत जगह आता है, बहुत जगह, यह शब्द आता है।

टीका : निश्चय से जिनका आचरण योग्य प्रयत्न पूर्वक है,.. लो! वास्तव में मुनि आत्मध्यानी, ज्ञानी, तीन कषाय का अभाव है और योग्य उपयोगपूर्वक ईर्यासमिति से चलते हैं। **निश्चय से योग्य प्रयत्न पूर्वक है,..** एक बात। **जिनका आचरण योग्य प्रयत्न पूर्वक है, ऐसे सन्त पुरुषों को, रागादि भावों के प्रवेश बिना,...** उन्हें जरा भी राग नहीं, द्वेष नहीं। रागादिभावों के उत्पत्ति बिना, प्रवेश बिना, हुए बिना। **केवल पर जीव के प्राण पीड़न करने मात्र से ही कदाचित् हिंसा नहीं होती।** समझ में आया? शरीर को छू जाये। कहीं ध्यान में बैठे हों, लो न! उसमें हरितकाय उड़कर, पत्ते उड़-उड़कर टूटने लगे और वे टकराने लगे, टकराने लगे। यहाँ टकराये तो मरे, उसमें से मरे। हरितकाय के पत्ते होते हैं, यह पीपल और नीम के ढेर टूटने लगे और टूट-टूटकर डालियाँ सिर पर गिरी। उस डाल का सिर उसको ऐसा लगा, इसे लगा वह नहीं परन्तु उसे बहुत लगा। वहाँ बहुत जीव मर गये, परन्तु इसे कुछ पाप नहीं है। समझ में आया?

भावार्थ : महापुरुष ध्यान में लीन हैं... दो बात लेते हैं। एक बात तो ध्यान में लीन हैं-ऐसी मुख्य बात लेते हैं। **अथवा गमनादि में सावधानी से यत्नपूर्वक प्रवर्तन कर रहे हैं...** दो बातें ली हैं। क्योंकि पाठ तो **'युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि'** ऐसा है न? युक्त आचरण। अब युक्त आचरण के फिर दो प्रकार करेंगे। युक्त आचरण ध्यान में भी है और प्रयत्नपूर्वक ध्यान से बराबर चलता है। ऐसे निश्चय और व्यवहार दो

बातें इसमें से निकाली हैं। महापुरुष धर्मात्मा सन्त जंगल में ध्यान में पड़े हैं। उसमें कोई वर्षा आयी, लो न! पानी, वह एकेन्द्रिय जीव हैं, वे सब टकराकर मरे, वायु का घात हो, वनस्पति का घात हो, अरे! त्रस भी मर जाए। ऐसे बारीक सूक्ष्म त्रस हों, ऐसे आवे और शरीर की गर्मी लग जाए, स्वयं ध्यान में हैं, मर जाए। उसका पाप उन्हें नहीं।

कहो, प्रवचनसार में कहा है या नहीं? यत्नपूर्वक चले तो भी आलोचना करना। तब वे कहते हैं, देखो! जड़ से भी ऐसा होता है। अरे! क्या कहते हैं? भाई! वह तो मात्र प्रमाद में आया है, तब चलता है न? परन्तु चलने में दु:ख न देना-ऐसा प्रयत्न है। इतना ख्याल रखकर देखकर जाना। भाव बिना परन्तु उसका पाप लगता है। ठीक! प्रवचनसार में है। यहाँ तो इनकार करते हैं, लो! भाव नहीं है, उसे पाप नहीं लगता। ध्यान में बैठा है। **गमनादि में सावधानी से..** बराबर गमन अर्थात् चलना अथवा बैठना अथवा खाने-पीने में **यत्नपूर्वक प्रवर्तन कर रहे हैं और कदाचित् इनके शरीर के सम्बन्ध से किसी जीव के प्राणों को पीड़ा पहुँच गई...** उसके शरीर के सम्बन्ध से, पृथ्वी के कोई जीव मर जाए, पानी के मर जाए, अग्नि के, वनस्पति के और त्रस मक्खी आदि के। **तो भी इनके हिंसा का दोष नहीं है।** उनका शरीर है अधिकरण, इतना तो दोष है या नहीं? शरीर ही इनका नहीं और फिर कहाँ (दोष की बात है)?

मुमुक्षु : थोड़ा तो दोष लगता होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी दोष नहीं लगता, देखो! क्या लिखा है? क्या लिखा है? देखो! **'न हि भवति जातु हिंसा'** अमृतचन्द्राचार्य, देखो! ४५ वें श्लोक में, ४५ श्लोक **'युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि'** रागादि भावरूप होने पर भी **'न हि भवति जातु हिंसा'** उसे बिलकुल हिंसा नहीं लगती। कहो, समझ में आया? आचार्य स्वयं पंच महाव्रतधारी हैं, दिगम्बर मुनि-सन्त हैं, नग्न हैं, भावलिंगी सन्त हैं। वे कहते हैं। युक्त आचरणवाले को उसके शरीर से कोई भी एकेन्द्रिय आदि जीव मरे तो उसकी हिंसा इसे नहीं लगती। इसलिए परप्राणी की पीड़ा, वह हिंसा—यह हिंसा का लक्षण उचित नहीं है।

मुमुक्षु : आरम्भी हिंसा..

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ आरम्भ है? आरम्भ करने कहाँ बैठे हैं?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं; बिलकुल नहीं। गृहस्थी हो, वह आरम्भी है। मुनि को आरम्भी होता नहीं। गृहस्थी व्यापार-व्यापार करने जाते त्रस मर जाते हैं, उसे आरम्भी कहते है। एकेन्द्रिय हिंसा का पाप लगता ही है। उसमें त्रस मर जाएँ, वह आरम्भी। उसे मारने का भाव नहीं है; इसलिए उसे आरम्भ हिंसा कही। उसे पाप तो लगता है, परन्तु आरम्भ हिंसा में आरम्भ करने के बीच त्रस मरने पर भी उसके व्रत को दोष नहीं लगता। ऐसी उसकी मर्यादा है। आहा..हा..!

व्यवहार की स्थिति भी उसकी कैसी होती है? यहाँ तो मुनि गमनागमन करे, वहाँ तक लिया है। देखो! गमन आदि। सोवे, जरा बैठे हो, ऐसे ठीक से बिछौना ऐसे करके ऐसे करवट करने जाए, उसमें कोई जीव आया। ध्यान रखा, बराबर ध्यान है, फिर कहीं था और एकदम आ जाए लो! कीट आवे, कीट। ऐसे उड़ते जन्तु बहुत आते हैं। पैर ऐसे रखना, ऐसे उठाना और ऐसे देखकर रखे, वहाँ नीचे वह (जीव) आकर पड़ जाए, ऐसे बीच में आ जाए। ओहो..हो..! भाव के बिना पाप नहीं लगता। समझ में आया?

सरकार में यह नियम है न कि तेरा इरादा क्या था?-ऐसा पूछते हैं न? तेरा मार डालने का इरादा था या बचाने का था? भाई! मार डालने का नहीं था, मैं तो मेरे बचाव के लिये करता था।

मुझे तलवार मारता था, मैंने मोटी लकड़ी मेरे बचाव के लिये की थी। उसके पेट में घुस गयी और उसे मरना होगा? मेरा मारने का भाव नहीं था। मार डालने का (दण्ड) दें उसे? मार डाले तो फाँसी दे? (नहीं)। हो गया तब। मैंने मेरे बचाव के लिये (किया)। वह तलवार मारने गया तो मैंने लकड़ी आड़ी रखी। यहाँ नहीं आवे। इसमें उसके पेट में लग गयी और मर गया। मारने का भाव नहीं था - इरादा नहीं था तो उसे फाँसी नहीं देते। कनुभाई! ये जज रहे। यहाँ तो प्रमाण होता है न! मेरा इरादा दूसरे को मारने का नहीं था। उसका आयुष्य पूरा हुआ, ऐसा योग बन गया, मुझे कुछ है नहीं। आहा..!

यहाँ तो जिस जीव को ऐसा नहीं, उसे नहीं—ऐसा कहकर पूरा सिद्धान्त सिद्ध किया है। मारने के राग-द्वेष के भाव नहीं और शरीर के सम्बन्ध से दूसरे के प्राण घात

हो जाये, इससे कहीं पाप नहीं लगता। मारने का भाव हो और कहे कि मुझे कोई भाव नहीं था, ऐसा नहीं, वह तो मायावी हुआ। वह तो फिर मायावी हुआ। मुझे कुछ मारने का भाव नहीं था, वह तो अपने आप मर गया, मुझे भाव नहीं था। एक तो भाव हो और नहीं था कहना, वह ही महामिथ्यात्व को सेवन करता है, असत्य को सेवन करता है। समझ में आया?

यह तो ऐसा है, भाई! यह पोपाबाई का राज नहीं। पोप का राज नहीं, यह तो भगवान का राज है। आहा..हा..! वहाँ कहे हमारे कुछ भाव नहीं था, लो! मेरे भाव बिना यह सब हो गया। बहुत अच्छी बात है। एक तो प्रमाद का, राग का, करने का... व्यापार का भाव था। ऐसा करूँ, और फिर कहे कि मेरा भाव नहीं था। भगवान कहते हैं कि देखो, भाव के बिना हिंसा हो जाये, हिंसा न लगे। हमारे भाव नहीं था, मर जायेगा। भाव था और भाव नहीं–ऐसा कहता है कि वह तो बड़ा खून कर दिया। तूने आत्मा का बड़ा खून कर दिया, झूठ, असत्य का। खून किया सत्य का, खून करके तूने असत्य का सेवन किया।

महापुरुष ध्यान में लीन हैं अथवा गमनादि में सावधानी से यत्नपूर्वक प्रवर्तन कर रहे हैं और कदाचित् इनके शरीर के सम्बन्ध से किसी जीव के प्राणों को पीड़ा पहुँच गई तो भी इनके हिंसा का दोष नहीं है। कारण कि इसके परिणाम में कषाय नहीं था... परिणाम में कषाय नहीं था। **इसलिए परजीव के प्राण को पीड़ा होने पर भी हिंसा नहीं कहलाती। अतः अतिव्याप्ति दोष लगता है।** परप्राणी को पीड़ा करे, वह हिंसा—ऐसा यदि लागू करने जाये तो यहाँ लागू नहीं पड़ता; इसलिए अतिव्याप्ति दोष लगता है। वह हिंसा का उचित लक्षण नहीं है। अब अतिव्याप्ति के बाद अव्याप्ति दोष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मोक्ष का मार्ग। अभी हिंसा की व्याख्या चलती है। वास्तविक हिंसा और अहिंसा किसे कहना, उसके पश्चात् यह व्याख्या चलती है। आत्मा में राग का उत्पन्न होना, वह हिंसा है, यह सिद्धान्त बाँधकर बाद में सब यह बात करते हैं। आत्मा में पुण्य और पाप का कोई भी विकल्प / राग उठे, उसे हिंसा कहते हैं। चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का राग उत्पन्न हो, वह राग भी हिंसा है।

राग की अनुत्पत्ति, वह अहिंसा है। आत्मा में श्रद्धा, शान्ति आदि वह आत्मा का स्वभाव है। कायमी, असली (स्वभाव है)। ऐसे स्वभाव की शक्ति में से वर्तमान पर्याय में ऐसे स्वभाव का रागरहित उत्पन्न होना। चैतन्यस्वभाव ज्ञानगुण है, वह उसका बेहद अपार स्वभाव है। ऐसे स्वभाव की अन्तर्दृष्टि करके ज्ञान का, दर्शन का, आनन्द का वर्तमान परिणमन / अवस्था होना, उसे भगवान अहिंसा कहते हैं। समझ में आया? दुनिया से अलग प्रकार है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य प्रभु के अन्तर में शुद्धता के जो ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति आदि उसका शाश्वत् स्वभाव है, ऐसे स्वभाव पर दृष्टि जाने से जो स्वभाव का परिणमन शुद्ध निर्मल, रागरहित निर्मलदशा हो, उसे भगवान अहिंसा कहते हैं। भगवानभाई! यह अहिंसा इसने कभी अनन्त काल में नहीं की। रागादिभाव को हिंसा कहते हैं। पश्चात् उसके दो अव्याप्ति और अतिव्याप्ति का दोष वर्णन किया। पहले अतिव्याप्ति (कहा) भाई नहीं आये? हिम्मतभाई! अभी विद्यालय में?

(गाथा) ४५ में ऐसा कहा कि जिसे अन्तर में परजीव को मारने का रागभाव नहीं है और अपने शुद्धस्वरूप की दृष्टि-ज्ञान में प्रमादरहित जिसका गमन है, उसमें परजीव मरे तो भी उसके रागभाव में, राग का अभाव है, इसलिए उसे हिंसा नहीं होती; इसलिए अव्याप्ति दोष आया। परजीव की हिंसा से दोष लगे तो वह रागरहित जो गमन है, शुद्धपरिणमन दृष्टि सहित, प्रमादरहित जिसका गमन है, उसमें से कोई प्राणी शरीर से मर

जाये, परन्तु उसे पाप नहीं लगता, हिंसा नहीं होती। समझ में आया? इसलिए उसे हिंसा पर में हुई और फिर भी हिंसा हुई नहीं। अव्याप्ति दोष का त्याग कहा। उसमें अव्याप्ति लागू पड़ा, क्योंकि यहाँ हिंसा का भाव नहीं है और वहाँ हिंसा हुई, तो हिंसा नहीं लगती। समझ में आया?

राग और द्वेष की दशा न होने पर, शुद्ध वीतरागदशासहित प्रमाद का अमुक कोई विकल्प हो, तथापि उसे मारने का भाव नहीं है। यत्नाचार से प्रवर्तता है, उसमें कोई हिंसा हुई तो हिंसा का यहाँ दोष नहीं, इसलिए वह हिंसा है, उसे हिंसा कहना – ऐसा हिंसा का स्वरूप नहीं है। अतिव्याप्ति हुई। अब आगे अव्याप्ति दोष बताते हैं।

यहाँ तो सिद्धान्त इतना कि आत्मा शुद्ध आनन्दस्वरूप की अन्तर्दृष्टि होकर स्वरूप में लीनता जितनी हो उतनी अहिंसा। जितना राग और पुण्य, दया, दान, भक्ति, व्रतादि का विकल्प उठे, उतनी हिंसा। यह व्याख्या है, यह सर्वव्यापक (का) अर्थ है। सर्वत्र यह आयेगा। समझ में आया? अब अव्याप्ति दोष। ४६ वीं गाथा

गाथा – ४६

आगे अव्याप्ति दोष बताते हैं–

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा।।४६।।

नित अयत्नाचारी दशा, रागादि भावाधीनता।
से वर्तते के मरे या, नहिं मरे ध्रुव हिंसा सदा।।४६।।

अन्वयार्थ : (रागादीनां) रागादिभावों के (वशप्रवृत्तायाम्) वश में प्रवर्तती हुई (व्युत्थानावस्थायां) अयत्नाचाररूप प्रमाद अवस्था में (जीवः) जीव (म्रियतां) मरो (वा) अथवा (मा 'म्रियतां') मत मरो (हिंसा) हिंसा तो (ध्रुवं) निश्चय से (अग्रे) आगे ही (धावति) दौड़ती है।

टीका : 'रागादीनां वशप्रवृत्तायां व्युत्थानावस्थायां जीवः म्रियतां वा मा म्रियतां हिंसा अग्रे ध्रुवं धावति' – रागादि प्रमादभावों के वशीभूत होकर उठने-बैठने आदिरूप क्रिया में जीव मरे अथवा न मरे किन्तु हिंसा तो निश्चय से आगे दौड़ती है।

भावार्थ : जो प्रमादी जीव कषाय के वश होकर गमनादि क्रिया में यत्नरूप प्रवर्तन नहीं करते अथवा उठते-बैठते क्रोधादि भावरूप परिणमन करते हैं तो वहाँ जीव कदाचित् मरे या न मरे परन्तु इसे तो कषायभाव से अवश्य हिंसा का दोष लगता है। अर्थात् पर जीव के प्राण को पीड़ा न होते हुए भी प्रमाद के सद्भाव से हिंसा कही जाती है। इसलिए उस लक्षण में अव्याप्ति दोष लगता है।।४६।।

गाथा ३८ पर प्रवचन

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा।।४६।।

अन्वयार्थ : रागादिभावों के वश में प्रवर्तती हुई.. जिसके अन्दर राग और द्वेष पर्याय में वर्तमान में वर्तते हैं। इसलिए **अयत्नाचाररूप प्रमाद..** इसलिए अयत्नाचाररूप प्रमाद अवस्था वर्तती है, उस जीव को। **जीव मरो अथवा मत मरो..** सामने जीव मरो अथवा न मरो, यहाँ अयत्नाचार और प्रमाद भाव है, वही हिंसा है। यह (जीव) न मरे तो भी हिंसा है—ऐसा कहते हैं परन्तु मरे तो हिंसा है, ऐसी अव्याप्ति हुई। उसके साथ सम्बन्ध नहीं हुआ। क्या कहा, समझ में आया? इस जीव के गमन में रागभाव है तो हिंसा कदाचित् न हो, पर प्राणी न मरे, तथापि यहाँ रागभाव है, वह हिंसा है। प्राणी मरे या न मरे, उसके साथ हिंसा का सम्बन्ध नहीं है। समझ में आया? **जीव मरो अथवा मत मरो हिंसा तो निश्चय से आगे ही दौड़ती है।** अर्थात् राग होना, वही हिंसा है। परजीव मरे या न मरे, उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

'रागादीनां वशप्रवृत्तायां व्युत्थानावस्थायां जीवः म्रियतां वा मा म्रियतां हिंसा अग्रे ध्रुवं धावति'... राग-द्वेष, ऐसे प्रमादभाव के वश, **प्रमादभावों के वशीभूत**

होकर उठने-बैठने आदिरूप क्रिया में.. उठने, बैठने, चलने इस **क्रिया में जीव मरे अथवा न मरे किन्तु हिंसा तो निश्चय से आगे दौड़ती है।** अर्थात् हिंसा तो उसे होती ही है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : सबकी। ज्ञानी को जितना राग है, उतनी हिंसा है। समकिती को भी जितना राग होता है, उतनी हिंसा है। मिथ्यादृष्टि को तो परजीव की दया पाल सकता हूँ, मार सकता हूँ - ऐसा जो मिथ्यात्वभाव है, वह तो बड़ी हिंसा, महाहिंसा है। पोपटभाई! बड़ी हिंसा। क्योंकि उसे मिथ्यात्वभाव ही बड़ी हिंसा है। समझ में आया? और ज्ञानी को मिथ्याभाव न हो परन्तु जितना रागभाव हो, उतनी तो उसे भी हिंसा है। यहाँ तो मुनि को रखा है न, देखो न! अयत्नाचार से प्रवर्तते नहीं, भलीभाँति यत्नाचार से प्रवर्तते हैं, उसमें जीव मरे तो भी उसका कोई दोष उन्हें नहीं है। समझ में आया?

दो बातें ली हैं न! देखो न! रागादिभावों के वश प्रवर्तने से अथवा अयत्नाचाररूप प्रमाद अवस्था, भाई! दो शब्द लिये हैं। दो लिये हैं। मूलकारण है न! एक स्वयं ही मिथ्यादृष्टि है मिथ्यात्वभाव, वह मिथ्या अर्थात् परजीव को मार सकता हूँ, बचा सकता हूँ, दया पाल सकता हूँ, सुखी-दुःखी कर सकता हूँ—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वही बड़ी हिंसा है। पोपटभाई! वीतरागमार्ग की हिंसा अलग है। जगत में सुनी नहीं है। वीतराग के वाड़ा में जन्मे, उन्होंने भी सुनी नहीं है। वाड़ा की बात है न?

दो बातें ली हैं - **'रागादीनां वशप्रवृत्तायां'** और **'व्युत्थानावस्थायां'** जो अकेला राग के वश प्रवर्तता है, पुण्य-पाप के विकल्प के आधीन हो गया है, ऐसे मिथ्यादृष्टि के शरीर आदि से हिंसा न हो, तो भी वह हिंसावन्त ही है। सम्यग्दृष्टि राग के आधीन हुआ नहीं, परन्तु राग जरा होता है। अस्थिरता, अयत्नाचार है। जितना अयत्नाचार का राग है, उतनी उसे भी हिंसा है। समझ में आया? परजीव मरे, न मरे, उसके साथ कोई सम्बन्ध है नहीं। क्योंकि वह तो उनका आयुष्य पूरा हो तो मरे और न हो तो न मरे। आगे बहुत भंग लेंगे। मारने का भाव हो और उसका आयुष्य हो तो न मरे। इससे पाप नहीं लगेगा? कि मुझे मारने का भाव नहीं और वह उस समय मर जाये, लो... जाये मारने का भाव नहीं, इससे उसे पाप

लगता है, ऐसा कुछ नहीं। वह मर गया, इसलिए पाप लगा यहाँ? समझ में आया?

भावार्थ : जो प्रमादी जीव कषाय के वश होकर गमनादि क्रिया में यत्नरूप प्रवर्तन नहीं करते.. प्रमाद जीव क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय के वश (होकर प्रवर्ते).. व्याख्या ऐसी है कि लोग मानें क्रोध, मान अर्थात् ऐसा नहीं। अन्दर में स्वभाव चैतन्य ज्ञान -आनन्दस्वरूप है, उसे भूलकर जितना विकल्प और राग करे, उसका नाम मिथ्यात्वसहित के राग का भाव कहने में आता है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा, वह तो शुद्धस्वभाव है। जिसमें जानने का बेहद स्वभाव है। राग करने का स्वभाव उसका है ही नहीं। राग करना या राग का अभाव करना, ऐसा आत्मा के स्वभाव में नहीं है। ऐसा आत्मा वीतरागस्वभावस्वरूप ही है। वीतरागस्वभावस्वरूप आत्मा को भूलकर जो कुछ राग और द्वेष, शुभ-अशुभभाव उत्पन्न होते हैं, वह मिथ्यात्वसहित की हिंसा कहने में आती है। कठिन बात है, भाई! जगत को तत्त्व (सुनने को मिला नहीं)।

मुमुक्षु : परम सत्य बात!

पूज्य गुरुदेवश्री : परम सत्य वीतरागमार्ग ऐसा है। वीतराग अर्थात् निर्दोष तत्त्व ऐसा है। चाहे तो दया पालने का भाव, व्रत पालने का भाव, वह सब भाव है, वह हिंसा है, यहाँ तो यह कहते हैं। ऐ.. भगवानभाई!

मुमुक्षु : ऐसा सुना जाये ऐसा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं सुना जाये ऐसा? प्रौषध, प्रतिक्रमण तो बहुत किये। आहा..हा..! आत्मा अर्थात्? राग, विकल्प—दया, दान के विकल्प के भावरहित आत्मा। आत्मा अर्थात्? बेहद ज्ञानस्वभाव का पिण्ड। जिसकी एक समय की अवस्था अनन्त को जाने, ऐसी जिसकी एक समय की पर्याय की ताकत! ऐसी उसकी गुण / शक्ति जो एक पर्याय जिसमें से प्रगट हो, ऐसी गुणशक्ति। बेहद स्वभाव, अनन्त स्वभाव, अपरिमित स्वभाव ज्ञानगुण, ऐसे ज्ञानगुण के स्वभाव को अन्तर में, प्रतीति में श्रद्धा में लेकर यह आत्मा है, ऐसा अनुभव करे, उसे सम्यग्दर्शनरूपी अहिंसा प्रगट होती है। समझ में आया?

ऐसा बेहद ज्ञान-जानने का स्वभाव, बेहद श्रद्धा का स्वभाव, त्रिकाली, हों! बेहद आनन्द स्वभाव.. स्वभाव.. स्वभाव.. स्वभाव जिसका सत्व है, सत् का सत्व है, बेहद

अपरिमित स्वभाव है, ऐसे अपरिमित स्वभाव को भूलकर मैं पर को अच्छा कर दूँ, पर का भला कर दूँ - ऐसा जो विकल्प है, (वह) मिथ्यादृष्टि है। वह महाहिंसा है। वह मिथ्यात्वभाव जहाँ नहीं और कदाचित् वह अयत्नाचारादि का रागभाव, प्रमादभाव है, उतनी उसे हिंसा है। उतनी उसे परिमित-बहुत अल्प हिंसा है। समझ में आया?

मुमुक्षु : उसके ऊपर ही आधार...

पूज्य गुरुदेवश्री : सब किसके ऊपर आधार होगा? आगे पूरा सारांश कहेंगे। कषाय वह ही पूरा... ऐसी कहीं भाषा है। कषाय, ऐसा अन्त में कहेंगे कहीं। ऐसा है।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : कषाय-कषाय। ५७ है न, हिंसा कहाँ आया? **'अनुभावेन'** ५४ देखो **'फलति हिंसानुभावेन'** बस! यहाँ मूल ५४ गाथा। **'फलति हिंसानुभावेन'** यहाँ तो **'अनुभावेन'** इतना शब्द लेना। **'फलति हिंसानुभावेन'** - इस पर पूरी बात है। **कषायभाव अनुसार फल होता है। यही पद अगले सूत्रों में भी 'देहली दीपक न्याय' की तरह सर्वत्र जान लेना।** कषाय यह **'अनुभावेन'** इस पर पूरा सिद्धान्त है। कषाय, फिर मिथ्यात्वरूपी कषाय और राग-द्वेषरूपी कषाय। इस कषाय के भाव अनुसार फल होता है। बाहर जीव मरे, कम मरे, न मरे, अधिक मरे, उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। कहो, समझ में आया? परद्रव्य के साथ इसे क्या सम्बन्ध है? परद्रव्य का कर कहाँ सकता है? परद्रव्य का इससे कुछ होता नहीं। इसमें—पर में कुछ इसके कारण फेरफार होता नहीं अर्थात् उसके कारण कुछ इसमें हिंसा होती है, ऐसा है नहीं।

मुमुक्षु : पर का नहीं कर सकता...

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके लक्ष्य से। देखो न! इसमें ४७ में आयेगा, देखो! **तू उसका घात तो नहीं कर सकता, कारण कि उसका घात तो उसके कर्माधीन है,..** ४७ गाथा के भावार्थ में है। किसी प्राणी का कोई घात नहीं कर सकता। कौन करे? उसकी पर्याय को कौन करे? दूसरे के आयुष्य का जीवन जहाँ होता है, उसे मार कौन सकता है? और आयुष्य न हो तो बचा कौन सकता है? उसकी पर्याय उससे होती है। कहो, प्रवीणभाई! बराबर होगा यह? किसी को बचा नहीं सकता? ३०-३५ वर्ष की स्त्री मर जाये तो बचा नहीं सकता तो दूसरे को क्या बचा सके।

मुमुक्षु : मक्खी पानी में गिरे उसे बचाया जा सकता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी कौन बचा सकता है? इसे विकल्प आवे परन्तु वह क्रिया तो जड़ की होनी हो तो होती है। वीतरागमार्ग समझना, वह कठिन बात है, बापू!

जो प्रमादी जीव कषाय के वश होकर.. भावार्थ में। **गमनादि क्रिया में यत्नरूप प्रवर्तन नहीं करते..** एक बात। **अथवा उठते-बैठते क्रोधादि भावरूप परिणमन करते हैं तो वहाँ जीव कदाचित् मरे या न मरे परन्तु इसे तो कषायभाव से अवश्य हिंसा का दोष लगता है।** एक ही सिद्धान्त पूरा लेंगे। जितना वह क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, लोभ, जितने प्रमाण में करे, उतने प्रमाण में उसे हिंसा लगती है। पर के कारण कोई सम्बन्ध नहीं है। समझ में आया? **अर्थात् पर जीव के प्राण को पीड़ा न होते हुए भी..** जरा भी परजीव न मरा, नहीं मरा, **प्रमाद के सद्भाव से हिंसा कही जाती है।** हिंसा में कितना बहुत वर्णन किया। **इसलिए उस लक्षण में अव्याप्ति दोष लगता है।** कहो, दूसरा नहीं मरा, तथापि यहाँ राग-भाव और प्रमादभाव था। हिंसा नहीं लगी, इसलिए पर के मरने से हिंसा में अव्याप्तिपना आया, हिंसा उसमें व्याप्त नहीं। अब ४७।

गाथा - ४७

प्रश्न : हिंसा का अर्थ तो घात करना है, पर जीव के प्राण का घात किये बिना हिंसा कैसे कही जा सकती है?

उसका उत्तर आगे कहते हैं-

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु।।४७।।

क्योंकि कषायी जीव पहले, आत्मघात करे स्वयं।
पश्चात् प्राणीघात हो नहिं, हो सदा ही अनिश्चित।।४७।।

अन्वयार्थ : (यस्मात्) कारण कि (आत्मा) जीव (सकषायः सन्) कषायभाव युक्त होने से (प्रथमं) प्रथम (आत्मना) अपने से ही (आत्मानं) अपने को (हन्ति) घात करता है (तु) और (पश्चात्) पीछे से भले ही (प्राण्यन्तराणां) दूसरे जीवों की (हिंसा) हिंसा (जायेत) हो (वा) अथवा (न) न हो।

टीका : 'यस्मात् सकषायः सन् आत्मा प्रथमं आत्मना आत्मानं हन्ति तु पश्चात् प्राण्यन्तराणां हिंसा जायेत वा न जायेत' – कारण कि कषायभावयुक्त हुआ आत्मा पहले अपने द्वारा ही अपना घात करता है, पश्चात् अन्य प्राणी-जीवों का घात हो अथवा न हो।

भावार्थ : हिंसा तो घात को ही कहते हैं, परन्तु घात दो प्रकार का है। एक आत्मघात, दूसरा पराघात। जब इस आत्मा ने कषाय भावों से परिणमन करके अपना बुरा किया तब आत्मघात तो पहले ही हो गया, तत्पश्चात् अन्य जीव का आयुष्य पूरा हो गया हो अथवा पाप का उदय हो तो उसका भी घात हो जाये। तू उसका घात तो नहीं कर सकता, कारण कि उसका घात तो उसके कर्माधीन है, इसके तो अपने भावों का दोष है। इस प्रकार प्रमादसहित योग में आत्मघात की अपेक्षा तो हिंसा हो ही गई।।४७।।

गाथा ४७ पर प्रवचन

प्रश्न : हिंसा का अर्थ तो घात करना है,.. शिष्य पूछता है **हिंसा का अर्थ तो घात करना है, पर जीव के प्राण का घात किये बिना हिंसा कैसे कही जा सकती है?** परजीव के प्राण का घात किये बिना हिंसा नाम किस प्रकार प्राप्त करे? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। हिंसा अर्थात् तो घात करना है। परजीव के प्राण का घात किये बिना हिंसा किस प्रकार कही जाये? ऐसा कहते हैं।

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु।।४७।।

कारण कि जीव कषायभाव युक्त होने से.. मिथ्यात्व भी एक कषाय है। विपरीत मान्यता, वह मिथ्यात्व एक महाकषाय है और राग-द्वेष भी कषाय है। **कषायभाव**

युक्त होने से प्रथम अपने से ही अपने को घात करता है.. अपने चैतन्य शुद्ध आनन्द प्राण, उसे मिथ्याश्रद्धा—मैं पर को बचा दूँ, मार दूँ, घात कर दूँ, ऐसा कर दूँ, नुकसान कर दूँ—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव कि दूसरे को बचा दूँ, दूसरे की सहायता कर दूँ, दूसरे को सुखी कर दूँ, पर की व्यवस्था भलीभाँति करके उसे सुविधा में रख दूँ, यह सब मिथ्यात्वभाव महाकषाय हिंसा है। आहा..हा..! समझ में आया? वह पहले अपने द्वारा ही अपना घात करता है। अपने शुद्ध उपयोग-चैतन्य ज्ञानानन्दस्वभाव के प्राण जो त्रिकाली, उसकी वर्तमान दशा में शुद्धता, शुद्धता की अवस्था प्रगट होना चाहिए, उसके बदले राग और मिथ्यात्वभाव के कारण उस शुद्ध परिणति के प्राण को उत्पन्न नहीं होने देता। उसका घात किया, स्वयं ने स्वयं का घात किया। ओहो..हो..!

मुमुक्षु : स्वयं ने ही स्वयं का घात किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे का कर ही कौन सकता है? वह तो यहाँ प्रश्न है, इसलिए तो यह बात ली है। आहा..हा..! भाई! तेरा स्वरूप शुद्ध चैतन्य महासागर है न! स्वभाव है न! स्वभाव। ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि स्वभाव,... स्वभाव, ऐसा स्वरूप तेरा है। उसका आदर न करके राग का और पर का आदर करके पर में रुका हुआ, ऐसा जो कषायभाव, वही अपने प्राण की हिंसा करता है।

मुमुक्षु : मिथ्यादृष्टि के प्राण..

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दोनों लेना। यहाँ तो यह मुख्य (बात है)।

पीछे से भले ही दूसरे जीवों की हिंसा हो अथवा न हो। अपने प्राण तो घात हुए। हाथ में अग्नि ली, वह अग्नि दूसरे को डाले और दुःख हो या न हो, परन्तु स्वयं तो जला। इसी प्रकार जितने प्रमाण में मिथ्या-विपरीत श्रद्धा उत्पन्न की और राग-द्वेष उत्पन्न किये, वह अपने चैतन्य के धर्म प्राण, शुद्ध प्राण, स्वभाव प्राण उत्पन्न नहीं हुए, उसका वह राग-द्वेष, मिथ्याश्रद्धा ने घात किया; इसलिए स्वयं ने स्वयं का घात किया। ओहो! ऐसा मार्ग है, भाई! यह कहीं बाहर से मिले ऐसी चीज़ नहीं है।

भगवान आत्मा, सर्वज्ञ भगवान केवलज्ञानी परमेश्वर ने देखा, तीर्थंकर ने आत्मा देखा, वह आत्मा तो आनन्द और ज्ञानस्वभाव, श्रद्धास्वभाव, शान्तस्वभाव, चारित्र, आनन्दस्वभाव, स्वच्छस्वभाव, प्रभुत्वस्वभाव, ऐसे अनन्त बेहद ज्ञानगुण स्वभाव का

स्वरूप वह आत्मा है। वह किसे करे और किसे छोड़े और किसे रखे ? उपदेश किसे दे ? ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया ? अपने प्राण घात किये। इस उपदेश द्वारा मैं दूसरे को सुखी करूँ, ऐसा जो भाव, वह चैतन्य के भावप्राण को घात करता है। अरे.. अरे.. ! बहुत कठिन बात !

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य का दल, पिण्ड प्रभु में उसे ऐसा माने कि मैं वाणी द्वारा दूसरे का समाधान कर दूँ या वाणी द्वारा दूसरे को नुकसान पहुँचा दूँ। पैसे द्वारा तो दूसरे को लाभ कर दे या नहीं ? तब क्या कल कहते थे ? उसने दिये तीन लाख। आत्मा के अतिरिक्त दूसरे अनन्त आत्माओं और अनन्त दूसरे रजकणों की किसी भी अवस्था को मैं करता हूँ—ऐसा जो मिथ्याभाव, वही अपने आत्मा को पहले घात करता है। फिर दूसरे की पर्याय सुखरूप हो या दुःखरूप हो, वह इसके आधीन नहीं है।

यह लड़के-वड़के को भी यह माता-पिता हैं, वे बराबर पढ़ावे-गुनावे, बड़े उड़ते पक्षी जैसा करे, फिर छोड़े तो ठीक परन्तु कुछ पढ़े नहीं और ऐसा का ऐसा छोड़ दे तो ? भाई ! कौन किसे पढ़ाये ? और कौन किसे सिखावे ? आहा..हा.. ! भगवान आत्मा, परद्रव्य से अत्यन्त त्रिकाल उदासीन है—ऐसा न मानकर मैं पर का कुछ कर दूँ अथवा पर के कारण मुझमें कुछ होता है—ऐसा जो कषायभाव, उससे स्वयं अपने चैतन्य के आनन्द प्राण का घात करके दुःख की उत्पत्ति करता है। आहा..हा.. ! यह दुःख की उत्पत्ति करता है, वही हिंसा है। आत्मा का घात हुआ। यह फिर कैसी बात ?

प्रथम अपने से ही अपने को घात करता है.. पहले, एक शब्द। **आत्मना** अपने द्वारा। **आत्मानं** ऐसा। **आत्मना आत्मानं** अपने द्वारा ही अपने को। बहुत सूक्ष्म भाई ! लोगों को बेचारों को मिला नहीं और कहीं न कहीं फँसकर मानकर बैठे। एकेन्द्रिया, दोइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिया, चौइन्द्रिया,... ऐई ! भगवान भाई ! पंचेन्द्रिया.. कहीं फँसे। भावकाय काणेणं माणेणं जाणेणं अप्पाणं

मुमुक्षु : जाणेणं अर्थात ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जाणे अर्थात् ऐसे बैठकर एकाग्र होना।

मुमुक्षु : अपना ध्यान करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ कहाँ ध्यान का भान है ? ऐसा कि इस शरीर-वरीर को ऐसा रखना, मैं ऐसा करूँ, यह सब क्रियायें मुझसे होती हैं, इस शरीर को भी मैंने ऐसा रखा है और मैं अब निवृत्ति (लेकर) बाहर से प्रवृत्ति छोड़ दी है। मैं यह बाहर के काम करता था और मैंने अभी छोड़े हैं, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वही अपने को घात करता है। समझ में आया ?

यह तो अलग माप है। यह तो वीतराग के घर का माप, दुनिया से एकदम अलग प्रकार है। फिर भले दूसरे जीवों से हिंसा हो या न हो ? प्राणान्तराण। अन्य प्राणी की, ऐसी-ऐसी भाषा वह है, दूसरे जीवों से, से डाला है। ऐसा कैसे ? ऐसा नहीं चाहिए। दूसरे जीवों की हिंसा हो या न हो, ऐसा चाहिए। प्राण अन्तराणं है न ? अन्य प्राणियों की, ऐसा। यह छापने में जरा भूल हो गयी।

इसका अर्थ - **कारण कि कषायभावयुक्त..** मिथ्यात्वभाव और रागद्वेषभाव सहित **हुआ आत्मा..** अपने आनन्द और ज्ञानस्वरूपवाला आत्मा, वह कषायसहित हुआ, **कषायभावयुक्त हुआ आत्मा..** मिथ्यात्व अभिप्राय सहित हुआ और राग-द्वेष सहित हुआ आत्मा। समझ में आया ? **पहले अपने द्वारा ही अपना घात करता है,..** पहले अपने से ही-ऐसा है। आहा..हा..! अपने को घात करता है। अपने ज्ञान-दर्शन प्राण शुद्ध चैतन्य उत्पन्न होना चाहिए, इसके बदले उन्हें उत्पन्न न होकर दुःख उत्पन्न करता है, वह अपने ही प्राण को घात करता है। समझ में आया ? त्रिकाली प्राण का घात नहीं होता। यह वर्तमान में शुद्धता उत्पन्न नहीं करता, उसे घात करता है - ऐसा कहने में आता है। त्रिकाल ज्ञान, दर्शन, आनन्दस्वरूप-वह वस्तु तो त्रिकाल है। उसमें तो कुछ घात करना या उत्पन्न होना, उसमें है ही नहीं। वह चिदानन्दस्वभाव ध्रुव ज्ञायक आनन्दस्वरूप का अन्तर आश्रय लेकर, पर का आश्रय छोड़कर, सम्यग्दर्शन आदि प्रगट करे तो उसे अहिंसा कहते हैं। वह अहिंसा उत्पन्न न करके राग और मिथ्या अभिप्राय द्वारा वह पर्याय उत्पन्न नहीं हुई तो उस पर्याय को घात किया।

वीतराग का पन्थ सूक्ष्म है भाई! केवलज्ञानी त्रिलोकनाथ परमेश्वर तीर्थंकरदेव, जिन्होंने ऐसे तीन काल-तीन लोक एक समय में देखे और वह अस्ति था, ऐसा देखा। उनकी वाणी में ऐसा आया कि भाई! तेरे स्वभाव को भूलकर, जितना मिथ्यात्वभाव और

राग–द्वेष भाव करे, उसमें तेरी शान्तदशा उत्पन्न नहीं हुई, अशान्तदशा उत्पन्न हुई, उतना तूने तुझे घात किया, तूने तुझे घात किया; दूसरे का तो घात कर नहीं सकता। समझ में आया?

परजीव को लाओ, भाई! हम बचावें परजीव को। यहाँ तो कहते हैं, बचा सकता नहीं, हों! वे तेरापंथी कहते हैं, ऐसा नहीं है। तेरापंथी कहते हैं कि पर को बचाने से वह हिंसा होती है और उसे वहाँ हिंसा (कहते हैं) ऐसी हिंसा है ही नहीं। यहाँ तो पर को बचा सकूँ – ऐसा मिथ्यात्वभाव, क्योंकि बचा सकने की शक्ति आत्मा में नहीं है। उसकी पर्याय उससे होती है, तथापि मैं उसे बचाऊँ तो वह फिर बचेगा तो पाप करेगा, यह बात ही झूठी है। तो यहाँ तो पाप लगता है – ऐसा है ही नहीं। यहाँ तो मैं पर को बचा सकता हूँ, यह शक्यता नहीं और बचा सकता हूँ – ऐसी मान्यता है, वह मान्यता वह विपरीत हिंसा है। आहा..हा..!

गजब भाई! कहो, पोपटभाई! कहीं मेल खाये ऐसा नहीं है। दुनिया से दूर हो जाये ऐसा है। सिद्ध भी अमिलनसार (दूर) होकर ऊपर बैठ गये। देखो! केवलज्ञानरूप परिणमन है, दुनिया का चाहे जो हो। दुष्काल पड़े और यह हो, भाई! नीचे तो उतरो जरा दया पालने। अपनी दया पाली, राग की उत्पत्ति नहीं हुई और वीतरागता पूर्ण हो गयी, हो गयी यह दया। आहा..हा..! कहो, पोपटभाई! सबको आयुष्य–वायुष्य देकर बचा सकते हैं या नहीं? ठप्पा मारे तो उसका रोग मिट जाये। भाई! यह बड़े पुरुष का हाथ पड़े, वहाँ आयुष्य बढ़ जाये और रोग मिट जाये। मूढ़ है, कहते हैं। ऐसी गप्प कहाँ से लाया? कहते हैं। अरे! मिथ्यात्व आत्मा के प्राण को घात करता है।

मुमुक्षु : बड़े पुरुष का हाथ फिरे तो लोग अच्छे हो जायें।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं होते। वह तो उसकी निरोगता होने की पर्याय हो तो होता है, इससे होता होगा किसी से?

मुमुक्षु : देव, देवला से नहीं होता?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी देव–देवला से नहीं होता और किसी से नहीं होता। साक्षात् भगवान को माने तो भी नहीं होता। माने क्या? वह तो विकल्प है। भगवान तो पर है। भगवान क्या यहाँ कर दे? कहो, क्या है? बहुत आते हैं – महाराज! सिर पर हाथ रखो,

हाथ रखो। भाई! हाथ किसका और सिर किसका? कल लड़के आये थे। हाथ रखो। मैंने कहा, हाथ किसे कहना इसे? हाथ जड़ और शरीर जड़। कितने ही तो फिर हाथ पकड़कर जबरदस्ती रखे।

मुमुक्षु : मन्दसोरवाले।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हाँ, बस। उनने जबरदस्ती रखा था। हाथ पकड़कर ऐसे रखे। अरे भगवान! बापू! हाथ में क्या है? भाई!

भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर आत्मा का सर्वज्ञस्वभाव वर्णन करते हैं। वह सर्वज्ञस्वभाव इसका शाश्वत स्वरूप है। वह राग में अटककर मुझे लाभ होगा, ऐसा मानता है, वही मिथ्यात्वभाव, वही बड़ी हिंसा है। समझ में आया?

स्वभाव क्या? स्वभाव। यह वस्तु, इसका स्वभाव ज्ञान। ज्ञान अर्थात् सर्वज्ञस्वभाव। सर्वज्ञ अर्थात् ज्ञान में पूर्ण जानने की ताकत। उस ज्ञान ने तीन काल-तीन लोक से अनन्त गुना होता तो जानने की ताकत-ऐसा स्वभाव है। उसे उस प्रकार न मानकर, मैं पर का करूँ या पर से मुझमें हो, वह सर्वज्ञस्वभाव या मेरी पर्याय प्रगट होना पर के कारण होता है, किसी पर की कृपा से हो जाता है, यह मिथ्यात्वभाव है। कहो, पोपटभाई!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अब अभी क्या काम है? इसका कुछ ध्यान नहीं। जो बात चलती है, उसमें इसका लक्ष्य ही नहीं। ऐसी बात चलती है कि तुमने कभी नहीं सुनी, (ऐसी) चलती है। उसमें ऐसी वह बात तुम्हारी। इसका लक्ष्य ही नहीं, मस्तिष्क काम नहीं करता। यहाँ क्या काम है अभी? अभी यह कषायभाव है, उस प्रकार की हिंसा। फिर प्रश्न क्या? आरम्भी हो या अमुक हो या अमुक हो। परन्तु कर कौन सकता है? यह अभी प्रश्न कहाँ है? समझ में आया?

संकल्प करे कि मैं पर को मारूँ, वह भी हिंसा और आरम्भ अर्थात् कुछ कर नहीं सकता पर का आरम्भ, परन्तु राग होता है और प्रवृत्ति हो, उसमें जीव मरे, उसे आरम्भी कहते हैं, परन्तु पाप उसका नहीं, यहाँ राग का पाप है। समझ में आया? युद्ध में उद्योग करके पर मरते हैं, व्यापारादि में मरते हैं, उसका पाप यहाँ नहीं। उसे जितना वह प्रमादभाव

है, रागभाव का उसे पाप है। यह बात, बाहर की बात कौन जाने, कहाँ एकदम गिर जाते हैं।

मुमुक्षु : कुछ मेहनत करता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो सीखा है अनन्त काल से। उसकी बात ही कहाँ है? आरम्भ से करे, उद्योग से करे, संकल्प से करे, ये सब बातें ही खोटी है। करता कौन है? उसके भाव में वह मानता है और होता है। जितना भाव संकल्प का और पर को मारने का और आरम्भ प्रवृत्ति का भाव यहाँ प्रमाद है, उतनी हिंसा है। यहाँ एक ही बात है। पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, यह आगे कहेंगे। हिंसा का स्थान है एक निमित्त, परन्तु उससे बन्ध नहीं होता। उससे हिंसा नहीं होती। ठीक है।

क्या कहते हैं **कषायभावयुक्त हुआ आत्मा..** एक ही बात है। किसी भी प्रकार में राग और विकल्प सहित हुआ। वह समकिती हो और मुनि हो। पंच महाव्रत के परिणाम का विकल्प आया, वह हिंसा है। यहाँ एक ही बात है। समझ में आया? और दुनिया को कठोर लगता है। हाय.. हाय..! अन्यमती अपने को ऐसा मानेंगे। अब सुन न! अन्यमती को भान कब था? यहाँ तो वीतराग मार्ग सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा, देखा वह मार्ग। अन्य के साथ मिलान करे या तुलना करे और दूसरे प्रसन्न हो तो ठीक कहलाये.. प्रसन्न धूल भी नहीं होते। वाड़ावाले (सम्प्रदायवाले) प्रसन्न हो, ऐसा नहीं तो दूसरे के साथ क्या करना यह? मोहनभाई! वाड़ा में पड़े हुओं को जँचे ऐसा नहीं, यह क्या? यह किस प्रकार की बात? हाय..हाय..! यह! हो गया, यह तो आत्मा अक्रिय हो गया। आत्मा तो कुछ कर सकता नहीं परन्तु तीन काल में कुछ नहीं कर सकता। एक पलक को फेरना, वह तीन काल में आत्मा नहीं कर सकता। अंगुली हिलाने की क्रिया आत्मा तीन काल में नहीं कर सकता। उसमें करता हूँ, ऐसी मान्यता का भाव कर सकता है।

मुमुक्षु : पैसा तो कमा सकता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं कमा सकता। कौन? ऐ.. मलूपचन्दभाई! कहते हैं, पैसा कमा सकता है या नहीं? यह अभी कमाता है न तुम्हारा लड़का! सात लाख अठहत्तर हजार आठ दिन में। दिल्ली, ऐ..! पालखी, पालखी, कोई तो कहता है पालखी, भाई! हों! ऐसा कहा। कोई कहता था, दिल्ली में पालखी निकाली थी। उसका नाम पालखी होगा? कोई लड़का सबेरे कहता था। ये कहता था, लो! बनिया, यह कहता वहाँ

दिल्ली में पालखी निकाली थी, यह कहता था, निकाली थी। आहा..हा..! यह तो कहते हैं कि तेरी पालखी उठी, इस आत्मा को भूलकर, जितना रागद्वेष हुआ, उतनी पालखी उठी। मुर्दा होकर गया, जा! आहा..हा..!

अपने से ही अपने को घात करता है और पीछे से भले ही दूसरे जीवों की हिंसा हो अथवा न हो। उसके साथ आत्मा को हिंसा में सम्बन्ध नहीं है। **हिंसा तो घात को ही कहते हैं, परन्तु घात दो प्रकार का है। एक आत्मघात, दूसरा परघात। जब इस आत्मा ने कषाय भावों से परिणमन करके अपना बुरा किया, तब आत्मघात तो पहले ही हो गया,..** दूसरे का बुरा होना-नहीं होना, कहीं इसके अधिकार की बात नहीं है। जब यह आत्मा पुण्य और पाप, शुभ और अशुभ, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के भाव, ये सब कषायभाव हैं, इन कषायभाव से परिणमा, हुआ और अपना बुरा किया। इस कषायभाव से ही अपना बुरा होता है। आहा..हा..! हम दूसरों का भला कर दें, यह भाव अपनी हिंसा करनेवाला है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

तत्पश्चात् अन्य जीव का आयुष्य पूरा हो गया हो अथवा पाप का उदय हो तो उसका भी घात हो जाये। वह तो उसके कारण होता है, वह तेरे कारण नहीं। यह निमित्त से कहने में व्यवहार आता है। दूसरे का आयुष्य पूरा हुआ हो, देखो! यह सब बात टोडरमलजी ने लिखी है। उन सबको अमान्य होगा। अरे! ऐसा कोई न्याय? क्या हो? दुनिया अंधी, बेचारों को खबर नहीं होती। वाड़ा में जन्मे हुए उल्टी करवट अनादि के पड़े हैं और गुरु भी ऐसे मिले। परमात्मा वीतराग का मार्ग कहीं रह गया। कहीं.. कहीं रह गया और हम वीतराग के भगत हैं और श्रावक हैं। कौन इनकार करे? सावज है, सावज है। सावद्य को नहीं पाप - आता है न? सावद्य। सावद्य और सावज। आहा..हा..!

कहते हैं, अपने को भाव हुए, राग के, द्वेष के, क्रोध के, मान के, लोभ के, प्रीति के, प्रेम के, उभारने के, मारने के—ये भाव हुए, वह कषाय स्वयं अपने को घात करती है। कहो, **तत्पश्चात् अन्य जीव का आयुष्य पूरा हो गया हो अथवा पाप का उदय हो तो उसका भी घात हो जाये।** (आयुष्य) पूरा हुआ और पाप का उदय हुआ अर्थात् असाता का उदय हुआ इत्यादि। दुःख होता है न? **तू उसका घात तो नहीं कर सकता,..** एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय के प्राणी का घात आत्मा नहीं कर सकता। लो! समझ में

आया ? परद्रव्य की पर्याय का व्यय आत्मा नहीं कर सकता, ऐसा कहते हैं तथा परद्रव्य की पर्याय का उत्पाद–उपजना–नयी अवस्था का काम कर दूँ, उसकी अवस्था, उसका उस अवस्था का कार्य आत्मा नहीं कर सकता। आहा..हा..! मरते हुए प्राण ऐसे नीचे हो जाये। श्वास भी नहीं ले सके, क्योंकि श्वास कहाँ स्वयं ले सकता है ? वह तो जड़ की क्रिया है। ऐसा कहते हैं, अब श्वास नहीं ले सकता। श्वास नहीं लिया जाता, तो पहले लेता था ? मान्यता थी। अब श्वास नहीं लिया जाता, भाई! अन्दर उलझन आयी। पहले श्वास लेता था। वह अपने आप चलता था और अब नहीं चलता, ऐसा कह। तेरे कारण तू लेता था और तू नहीं ले सकता, ऐसा कुछ है नहीं। आहा..हा..! समझ में आया ?

कारण कि उसका घात तो उसके कर्माधीन है,.. लो! दूसरे के प्राणघात होना अथवा असाता के उदय के कारण उसे दु:ख हुआ, वह सब उसके कर्म के कारण है। मैं उसे दु:खी कर दूँ, (यह) तेरी मान्यता ही मिथ्यात्व है। दूसरे को सुखी (कर दूँ), सबको सुलटे रास्ते लगा दूँ, यह तेरी मान्यता ही मिथ्यात्व है, कहते हैं। गजब बात, भाई! आहा..हा..!

मुमुक्षु : प्रत्येक मनुष्य सुखी होओ...

पूज्य गुरुदेवश्री : सबको सुखी करे, ऐसा पागल दुनिया कहती है। घर में एक कर्मी जगे तो सबको... कोई दूसरे का क्या कर सकता है ? धूल ? कुछ नहीं करता, व्यर्थ में.. ओहो..हो..! अनन्त परमाणु के मध्य में पड़ा, अपनी पर्याय को परिणमाता है, पर को कुछ कर नहीं सकता। शरीर का कर्ता नहीं, श्वास का कर्ता नहीं, वाणी का कर्ता नहीं, आवाज बन्द हो तब, भाई! जरा आवाज करो न, ऐसा कहे। कुछ बोला जाता है ? बोला जाता है ? अब बोला नहीं जाता। इसके आधीन है, इसका कर्म का जैसा योग हो, वह भी निमित्त से बात की है, हों! और फिर वे लोग क्या कहते हैं ? कि देखो! वहाँ कर्म आया या नहीं ? उसके आधीन दु:खी है या नहीं ? यहाँ तो इसके कारण वहाँ दु:खी नहीं, इतना सिद्ध करने के लिये कर्म के कारण दु:खी है, ऐसा सिद्ध करते हैं। इतनी बात। अरे! भगवान! क्या करे ? वक्रता की तो बात ही कोई अलग।

देखो! इसमें आया या नहीं ? **उसका घात तो उसके कर्माधीन है,..** लो! कर्म भी परद्रव्य है या नहीं ? उसके कारण मरा या नहीं ? परद्रव्य से मरा या नहीं ? नहीं। वह

तो अपनी आयुष्य की स्थिति अपनी योग्यता से वहाँ से देह छूट गया है। कर्म तो निमित्तमात्र है। आहा..हा..! कर्म के कारण दु:खी है, यह बात भी सत्य नहीं है। यहाँ तो दूसरा उसे दु:खी करने को समर्थ नहीं है, इतना सिद्ध करने के लिये उसके कर्म के कारण वह दु:खी है, ऐसा सिद्ध करते हैं। बाकी वह दु:खी होता है, वह अपने स्वभाव को भूलकर अज्ञान और राग-द्वेष के कारण दु:खी होता है, कर्म के कारण बिल्कुल नहीं। परद्रव्य से दु:खी-सुखी नहीं हो सकता। बातों-बातों में बहुत अन्तर। और मानते हों कि हम धर्म करते हैं, धीरे-धीरे धर्म होगा, जाओ। था ऐसा हुआ।

इसके तो अपने भावों का दोष है। लो! इसे तो जो दूसरों को मारने के, दु:खी करने के भाव किये, उसका इसे दोष है। वे तो दु:खी-सुखी होते हैं, वे तो उनके कारण से है। **इस प्रकार प्रमादसहित योग में.. 'प्राण्यन्तराणां'** है न। यह सिद्धान्त किया। **आत्मघात की अपेक्षा तो हिंसा हो ही गई।** लो! प्रमादसहित योग किया, प्रमाद किया, राग-द्वेष, मिथ्या अभिप्राय। यह सब प्रमाद है। इस आत्मघात की अपेक्षा से, आत्मघात की अपेक्षा से हिंसा नाम प्राप्त हुआ, ऐसा। पर के घात की अपेक्षा से हिंसा नाम प्राप्त हुआ - ऐसा नहीं। इसमें भी सब भेदज्ञान बताया। दूसरे प्रकार से हिंसा.. परन्तु कुछ कर नहीं सकता, पर से कुछ तुझमें नहीं होता। आहा..हा..! इस प्रकार उसमें भी दो भिन्न बताये। वह चीज़ उससे और तेरी चीज़ तुझसे। इसलिए उसमें भी पर से भिन्न ज्ञान बताया, भेदज्ञान।

गाथा - ४८

अब परघात की अपेक्षा भी हिंसा का सद्भाव बताते हैं-

हिंसाया अविरमणं हिंसा परिणमनपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम्।।४८।।

हिंसा से अविरत के हि परिणत, नित्य हिंसा भी हुई।
इससे प्रमादी योग में है प्राणव्यपरोपण सभी।।४८।।

अन्वयार्थ : (हिंसाया:) हिंसा से (अविरमणं) विरक्त न होने से (हिंसा) हिंसा होती है और (हिंसापरिणमनं) हिंसारूप परिणमन करने से (अपि) भी (हिंसा) हिंसा (भवति) होती है (तस्मात्) इसलिए (प्रमत्तयोगे) प्रमाद के योग में (नित्यं) निरन्तर (प्राणव्यपरोपणं) प्राणघात का सद्भाव है।

टीका : 'हिंसाया अविरमणं हिंसा परिणमनं अपि भवति हिंसा' - हिंसा के त्यागभाव का अभाव हिंसा है और हिंसारूप परिणमन करने से भी हिंसा होती है।

भावार्थ : परजीव के घातरूप हिंसा दो प्रकार की है। एक अविरमणरूप और एक परिणमनरूप।

(१) अविरमणरूप हिंसा : जिस काल जीव परजीव के घात में तो प्रवर्तन न कर रहा हो अपितु किसी अन्य कार्य में प्रवृत्त रहा हो परन्तु हिंसा का त्याग न किया हो। उसका उदाहरण :- जैसे किसी के हरितकाय का त्याग नहीं है और वह किसी समय हरितकाय का भक्षण भी नहीं करता है, वैसे ही किसी के हिंसा का त्याग तो नहीं है और वह किसी समय हिंसा में प्रवर्तन भी नहीं करता परन्तु अन्तरंग में हिंसा करने के अस्तित्वभाव का नाश नहीं किया, इसको अविरमणरूप हिंसा कहते हैं।

(२) परिणमनरूप हिंसा : जिस समय जीव परजीव के घात में मन से, वचन से अथवा काय से प्रवर्तन करे उसे परिणमनरूप हिंसा कहते हैं। यह दो भेद हिंसा के कहे। इन दोनों भेदों में प्रमाद सहित योग का अस्तित्व है। 'तस्मात् प्रमत्तयोगे नित्यं प्राणव्यपरोपणं' - इसलिए प्रमाद सहित योग में सदाकाल परजीव की अपेक्षा भी प्राणघात का सद्भाव आया। इसका अभाव तो तभी हो सकता है जब यह जीव पर-हिंसा का त्याग करके प्रमादरूप न परिणमे। जब तक प्रमाद पाया जाता है तब तक हिंसा का अभाव तो किसी भी प्रकार नहीं हो सकता।।४८।।

गाथा ४८ पर प्रवचन

अब परघात की अपेक्षा भी हिंसा का सद्भाव बताते हैं-

हिंसाया अविरमणं हिंसा परिणमनपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम्।।४८।।

दो प्रकार लिये हैं **हिंसा से विरक्त न होने से..** वह भी एक हिंसा। **'अविरमणं'** अन्दर में त्याग न होना। अविरतभाव। **विरक्त न होने से हिंसा होती है और हिंसारूप परिणमन करने से..** वर्तमान वापस। एक तो हिंसा के अन्दर जो भाव मिथ्यात्व, राग का, उसका त्याग नहीं होना और एक वापस वर्तमान हिंसारूप परिणमना। वह (भाव) तो निरन्तर है। उससे **भी हिंसा होती है इसलिए प्रमाद के योग में निरन्तर प्राणघात का सद्भाव है।** प्रमाद के योग में निरन्तर प्राणघात की अस्ति ज्ञात होती है।

'हिंसाया अविरमणं हिंसा परिणमनं अपि भवति हिंसा' - हिंसा के त्यागभाव का अभाव हिंसा है.. हिंसा के त्यागभाव का अभाव। समझे न? अन्दर मिथ्यात्व और रागभाव (के त्याग) का अभाव है न? अर्थात् मिथ्यात्व का भाव है, वही हिंसा है। **और हिंसारूप परिणमन करने से भी हिंसा होती है।** वापस नया परिणमन वर्तमान, वह परिणमन तो है, परन्तु निरन्तर है। हिंसारूप परिणमने से भी हिंसा होती है। राग-द्वेषरूप से परिणमना, वर्तमान होना, वह भी हिंसा।

भावार्थ : परजीव के घातरूप हिंसा दो प्रकार की है। परजीव के घातरूप जो हिंसा है, वह दो प्रकार की है। यहाँ बात यह सिद्ध करनी है, हों! **एक अविरमणरूप और एक परिणमनरूप।** एक पर से निवृत्तनेरूप, निवृत्त नहीं हुआ इसरूप और एक परजीव को मारने के परिणाम, परिणमन वर्तमानरूप-इतनी अपेक्षा आयी न।

(१) अविरमणरूप हिंसा : जिस काल जीव परजीव के घात में तो प्रवर्तन न कर रहा हो.. है? **किसी अन्य कार्य में प्रवृत्त रहा हो..** लो! **परन्तु हिंसा का त्याग न किया हो।** अन्दर में हिंसाभाव का त्याग नहीं किया। पर को मारने में भाव का त्याग नहीं किया - ऐसा लो। **उसका उदाहरण :- जैसे किसी के हरितकाय का त्याग नहीं है और वह किसी समय हरितकाय का भक्षण भी नहीं करता है,..** कहीं हर समय हरितकाय खाता होगा? लड्डू खाता हो, तब हरितकाय कहाँ खाता है? हरितकाय का त्याग नहीं और किसी हरितकाय का भक्षण भी नहीं करता, ऐसा अभी लेना है। समझ में आया? लड्डू खाता हो, लो! रोटी खाता हो, अरे! वस्त्र पहनता हो, वहाँ कहाँ हरितकाय का घात करता है?

वैसे ही किसी के हिंसा का त्याग तो नहीं है और वह किसी समय हिंसा में प्रवर्तन भी नहीं करता.. दूसरे में प्रवर्तता है। **परन्तु अन्तरंग में हिंसा करने के अस्तित्व -भाव का नाश नहीं किया,..** लो! अन्तरंग में हिंसा करने का, होने का भाव है, उसका नाश नहीं किया। लो! **इसको अविरमणरूप हिंसा कहते हैं।** अविरतीरूप की हिंसा कहा जाता है, - मूल तो ऐसा कहना है। मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय सदा पड़े हैं, उनका त्याग नहीं, इसलिए उनका तो पाप इसे सदा लगा ही करता है। आहा..हा..! समझ में आया?

(२) परिणमनरूप हिंसा : जिस समय जीव परजीव के घात में मन से, वचन से अथवा काय से प्रवर्तन करे उसे परिणमनरूप हिंसा कहते हैं। वर्तमान परिणाम, हों! **यह दो भेद हिंसा के कहे। इन दोनों भेदों में प्रमादसहित योग का अस्तित्व है।** प्रमादसहित दोनों भाव में प्रमादसहित का (योग है)। **'तस्मात् प्रमत्तयोगे नित्यं प्राणव्यपरोपणं' -इसलिए प्रमादसहित योग में सदाकाल परजीव की अपेक्षा भी प्राणघात का सद्भाव आया।** निमित्त की अपेक्षा आयी न? **इसका अभाव तो तभी हो सकता है, जब यह जीव पर-हिंसा का त्याग करके..** पर को मारने के भाव का त्याग करके, ऐसा। **प्रमादरूप न परिणमे। जब तक प्रमाद पाया जाता है तब तक हिंसा का अभाव तो किसी भी प्रकार नहीं हो सकता।** अब दूसरी बात है। **जो प्रमादरूप अपने परिणामों से ही हिंसा उत्पन्न होती है तो बाह्य परिग्रहादि का त्याग किसलिए...** बाह्य वस्तु का छोड़ने में निमित्त किसलिए छोड़ते हैं? यह व्याख्या करेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - ४९

प्रश्न : जो प्रमादरूप अपने परिणामों से ही हिंसा उत्पन्न होती है तो बाह्य परिग्रहादि का त्याग किसलिए कराया जाता है? उसका उत्तर आगे कहते हैं-

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या।।४९।।

अत्यल्प भी हिंसा नहिं, परवस्तु के कारण कभी।
पर भाव शुद्धि हेतु हिंसा, आयतन छोड़ो सभी।।४९।।

अन्वयार्थ : (खलु) निश्चय से (पुंसः) आत्मा के (परवस्तुनिबन्धना) परवस्तु के कारण से जो उत्पन्न हो ऐसी (सूक्ष्महिंसा अपि) सूक्ष्म हिंसा भी (न भवति) नहीं होती (तदपि) तो भी (परिणामविशुद्धये) परिणामों की निर्मलता के लिये (हिंसायतननिवृत्तिः) हिंसा के स्थानरूप परिग्रहादि का त्याग (कार्या) करना उचित है।

टीका : 'खलु पुंसः परवस्तुनिबन्धना सूक्ष्मापि हिंसा न भवति' – निश्चय से आत्मा के परवस्तु के कारण से उत्पन्न हो, ऐसी रंचमात्र भी हिंसा नहीं होती।

भावार्थ : परिणामों की अशुद्धता के बिना परवस्तु के निमित्त से अंशमात्र भी हिंसा का दोष नहीं लगता। यद्यपि निश्चय से तो ऐसे ही है, 'तदपि परिणामविशुद्धये हिंसायतननिवृत्तिः कार्या' – तथापि परिणामों की निर्मलता के लिए हिंसा के स्थानरूप परिग्रहादि का त्याग अवश्य करना चाहिए।

भावार्थ : जो परिणाम होता है, वह किसी वस्तु का अवलम्बन पाकर के ही होता है। जो सुभट की माता के सुभट पुत्र विद्यमान हो, तब तो ऐसे परिणाम होते हैं कि 'मैं सुभट को मारूँ,' परन्तु जो बाँझ है और जिसके पुत्र ही नहीं है तो ऐसे परिणाम कैसे उत्पन्न हो सकते हैं कि मैं बन्ध्या के पुत्र को मारूँ। इसलिए यदि बाह्य परिग्रहादि का निमित्त हो, तब तो उनका अवलम्बन पाकर कषायरूप परिणाम होते हैं परन्तु यदि परिग्रहादि का त्याग कर दिया हो, तब निमित्त बिना, अवलम्बन बिना किस तरह

परिणाम उत्पन्न हों? अतः अपने परिणामों की शुद्धता के लिये बाह्यकारणरूप परिग्रहादि का त्याग भी करना चाहिए।।४९।।

प्रवचन नं. ३६ गाथा-४९ बुधवार, ज्येष्ठ शुक्ल ७, दिनांक १४.०६.१९६७

'पुरुषार्थसिद्धि-उपाय' गाथा ४९। प्रश्न है। **प्रश्न : जो प्रमादरूप अपने परिणामों से ही हिंसा उत्पन्न होती है..** आपने तो ऐसा सिद्ध किया कि जो राग-द्वेष के परिणाम (होते हैं), वह ही हिंसा है। बाहर जीव मरो, न मरो, उसके साथ हिंसा का कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा में राग और द्वेष, पुण्य और पाप के भाव हों, वह हिंसा है। कहो, इसमें परवस्तु का कुछ रहा नहीं। परजीव मरे, न मरे-उसका कुछ रहा नहीं। **तो बाह्य परिग्रहादि का त्याग किसलिए कराया जाता है?** वहाँ फिर वापस यह कहाँ आया? बाह्य परिग्रह से अर्थात् बाह्य पदार्थ से कोई हिंसा-अहिंसा है नहीं। तुम तो (ऐसा कहते हो कि) परिणाम, आत्मा के स्वरूप को भूलकर या अस्थिरता हो, राग-द्वेष, आदि पुण्य-पाप के भाव (हों), वह हिंसा है; उसमें पर का कुछ आया नहीं **तो बाह्य परिग्रहादि का त्याग किसलिए कराया जाता है?** समझ में आया? बाह्य परिग्रह से तो हिंसा नहीं, बाह्य वस्तु से हिंसा नहीं, बाह्य वस्तु से पाप नहीं, बाह्य वस्तु से बन्ध नहीं—ऐसा आपने तो पहले सिद्ध किया, तो यह बाह्य वस्तु का त्याग किसलिए कराया जाता है? - ऐसा शिष्य का प्रश्न है। **उसका उत्तर आगे कहते हैं-**

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या।।४९।।

निश्चय से आत्मा के.. 'पुंसः' अर्थात् आत्मा-पुरुष। **आत्मा के.. 'परवस्तु-निबन्धना' परवस्तु के कारण से जो उत्पन्न हो, ऐसी सूक्ष्म हिंसा भी नहीं होती..** परवस्तु के कारण आत्मा में कुछ हिंसा नहीं होती। परजीव मरे या नहीं मरे; बचे या नहीं बचे, उसके साथ आत्मा में हिंसा के परिणाम को सम्बन्ध है नहीं। **तो भी..** ऐसा वस्तुस्वरूप से होने पर भी **'परिणामविशुद्धये' परिणामों की निर्मलता के लिये..**

'हिंसायतननिवृत्तिः' वह हिंसा का निमित्त स्थान है। परिग्रहादि राग-द्वेष के होने में निमित्त है, आलम्बन है, वह हिंसा का स्थान है। इसलिए **(हिंसा के स्थानरूप) परिग्रहादि का त्याग (कार्या) करना उचित है।** जिसके लक्ष्य में ममता हो, उस वस्तु को छोड़ना; इस प्रकार ममता छुड़ाने के लिए उस वस्तु को छोड़ना - ऐसा कहने में आया है; क्योंकि परिणाम आलम्बन के बिना उत्पन्न नहीं होते।

मुमुक्षु : छोड़ना या नहीं छोड़ना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : छोड़ने-छोड़ने का प्रश्न कहाँ है ? उसका लक्ष्य छोड़ना, ऐसा। इस छोड़ने का अर्थ यह है। परवस्तु, परिणाम में निमित्त है। परवस्तु, बन्ध में कारण नहीं; परवस्तु, हिंसा में कारण नहीं, परन्तु परवस्तु हिंसा में निमित्त आलम्बन है; इस कारण उस वस्तु को छोड़ना, अर्थात् उसका लक्ष्य छोड़ना; यह परवस्तु को छोड़ा-ऐसा कहा जाता है। कहो, समझ में आया इसमें ? **'हिंसायतननिवृत्तिः'** ऐसा कहा है न ? उस स्थान से विमुख होना - ऐसा करना, वह उचित है। जिसके निमित्त से हिंसा नहीं होती, जिसके अवलम्बन से बन्ध भी नहीं होता, परन्तु जिसके अवलम्बन से परिणाम होता है, उस परिणाम का निमित्त गिनकर उसे छोड़ना, अर्थात् उसका आश्रय छोड़ना। अवलम्बन है न ?

टीका : निश्चय से आत्मा के परवस्तु के कारण से उत्पन्न हो, ऐसी रंचमात्र भी हिंसा नहीं होती।

भावार्थ : परिणामों की अशुद्धता के बिना परवस्तु के निमित्त से अंशमात्र भी हिंसा का दोष नहीं लगता। अन्दर बहुत सब आयेगा। कहो, समझ में आया ? **निश्चय से आत्मा के परवस्तु के कारण से उत्पन्न हो, ऐसी रंचमात्र भी हिंसा नहीं होती।** जीव मरे, न मरे, परिग्रह हो, न हो, उसके साथ हिंसा या पाप नहीं लगता, ऐसा कहते हैं। **तथापि परिणामों की निर्मलता के लिए...** समझ में आया ? आगे लेंगे अभी। निमित्त बिना और अवलम्बन बिना किस प्रकार परिणाम उत्पन्न हों ? यह सिद्ध करते हैं। यह तो बन्ध अधिकार में है न ? परवस्तु स्वयं बन्ध का कारण नहीं है, परन्तु बन्ध के कारण में वह अवलम्बन निमित्तरूप से है। इसीलिए उसका लक्ष्य छुड़ाने को उसे छोड़ना, ऐसा कहने में आया है। समझ में आया इसमें ? हिंसा की व्याख्या में यह सब बात इसे समझना पड़ेगी।

परिणामों की निर्मलता के लिए 'हिंसायतननिवृत्तिः कार्या' हिंसा के स्थानरूप परिग्रहादि... स्त्री, कुटुम्ब, परिवार आदि **का त्याग अवश्य करना चाहिए।** कहो, समझ में आया? अवश्य करना चाहिए का अर्थ?

मुमुक्षु : परिग्रह आदि का त्याग करना, वह बराबर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : त्याग करने का अर्थ क्या? कि वह परिणाम में अवलम्बन निमित्त है, इसलिए वह वस्तु न हो तो परिणाम किसके आश्रय से हों? ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। परिणाम होते हैं निमित्त के अवलम्बन से, परन्तु बन्ध का कारण निमित्त और अवलम्बन नहीं; बन्ध का कारण तो अपने परिणाम हिंसा, राग-द्वेष के हैं। उनमें वह जरा निमित्त है, स्थान है; इसलिए उसका लक्ष्य छुड़ाने के लिये उसे छोड़ना, परिणाम में निमित्त है, इसलिए निमित्त को छोड़ना, वह परिणाम की निर्मलता - शुद्धता के लिये, ऐसा कहने में आया है। फिर इसमें से बहुत से डालते हैं। रतनचन्दजी! देखो न, देखो! निमित्त हो तो परिणाम होते हैं, निमित्त छोड़े तो परिणाम निर्मल होते हैं।

मुमुक्षु : लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परन्तु यह सब बातें हैं और खबर है न! यह तो आत्मस्वभाव को भूलकर और मिथ्यात्व तथा राग-द्वेष करे, वही हिंसा है। ऐसा जब सिद्ध किया, तब उस निमित्तपने की अवलम्बन की कोई चीज़ तो रहती नहीं। इस बात को स्पष्ट करने के लिये कहा कि देखो! बन्ध तो अपने परिणाम से है। वस्तु (जीव) कोई मरे न मरे, वह कहीं बन्ध का कारण नहीं है। वह वस्तु बन्ध का कारण नहीं है। जीव मर गया, वह बन्ध का कारण नहीं है। जो मारने के भाव थे, वह बन्ध का कारण है, तथापि उस परिणाम में वह निमित्त है, अवलम्बन है, इसीलिए छोड़ना, ऐसा कहने में आता है, ऐसा है भाई! पाठ में तो ऐसा लिया, देखो!

परिणामों की विशुद्धि, यह पाठ है, परिणामों की निर्मलता के लिये। है न? मूल पाठ है न? **'तदपि'** ऐसा है अवश्य न? **'तदपि हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये कार्या'** ठीक। यह होता है। तद्कार्य अर्थात् क्या? समझ में आया? करना उचित है। ऐसा कहा न? करना उचित है, लिखा है। **परिणामों की अशुद्धता के बिना..** आत्मा में

मिथ्यात्व और राग-द्वेष के मलिन परिणाम बिना **परवस्तु के निमित्त से अंशमात्र भी हिंसा का दोष नहीं लगता।** सिद्धान्त तो यह। समझ में आया?

मुमुक्षु : अशुद्धता भी...

पूज्य गुरुदेवश्री : अशुद्धता हो, तब सामने निमित्त अवलम्बन है, इतनी बात है। निमित्त न हो तो भी अशुद्धता तो अपने में होती है। एकेन्द्रिय को कहाँ है? है कुछ? मिथ्यात्व की अशुद्धता बड़ी पड़ी है, परन्तु यहाँ तो बाह्य स्थान एक चीज़ अशुद्ध परिणाम में निमित्तरूप, अवलम्बनरूप है। वह अवलम्बन है, उसे छुड़ाते हैं कि जिससे इसके परिणाम उसके आश्रय बिना अशुद्ध हों नहीं, ऐसा। समझ में आया?

परिणामों की अशुद्धता के बिना परवस्तु के निमित्त से अंशमात्र भी.. देखो! निमित्त से, उसके कारण **अंशमात्र भी हिंसा का दोष नहीं लगता।** यह तो पहले सिद्ध किया। **निश्चय से तो ऐसे ही है,..** वास्तव में तो आत्मा अपने परिणाम में मोह और राग-द्वेष करे, यह एक ही हिंसा है और यही बन्ध का कारण है; दूसरा कोई बन्ध का कारण यह और निमित्त भी बन्ध का कारण है, ऐसा नहीं। यह निमित्त बन्ध का कारण है, ऐसा नहीं। परन्तु परिणाम का आश्रय निमित्त है। समझ में आया? दृष्टान्त देंगे, यही देंगे। बन्ध अधिकार का। सुभट का लिया है। टोडरमलजी यह दृष्टान्त देंगे।

'हिंसायतननिवृत्तिः कार्या' तथापि परिणामों की निर्मलता के लिए हिंसा के स्थानरूप परिग्रहादि.. स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, लक्ष्मी का त्याग अवश्य करना। उनका लक्ष्य छोड़ना, उनका त्याग करना। अर्थात् उनका लक्ष्य छूटे तो त्याग हुआ कहलाये। उनका अवलम्बन रहा नहीं। स्वयं के आश्रय से परिणाम निर्मल हों, पर के आश्रय से जो मलिन होते थे, उसका आश्रय छोड़ा, वह स्वयं के आश्रय से निर्मल होते हैं। बात तो ऐसी है। परिणामों की निर्मलता के लिये उनका त्याग करना, ऐसा शब्द है। व्यवहार के कथन ऐसे होते हैं। कथन की शैली क्या करे? व्यवहार है न? वस्तु निमित्त है या नहीं? वस्तु निमित्त नहीं? अवलम्बन एक चीज़ नहीं? चीज़ है या नहीं? वह चीज़ बन्ध का कारण नहीं, परन्तु वह चीज़ अशुद्ध परिणाम का निमित्त है। बन्ध के कारण दो नहीं, (कि) परिणाम भी बन्ध के कारण, वह भी (परवस्तु भी) बन्ध का कारण, ऐसा नहीं परन्तु

परिणाम में उसका अवलम्बन है, इसलिए उस चीज़ को छोड़ने को यहाँ कहा जाता है। यह तो अभी बन्ध अधिकार में आयेगा। यही शैली ली है। आहा..हा..!

मुमुक्षु : अवलम्बन छोड़ने के लिये स्पष्टीकरण किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही हुआ न! अवलम्बन बिना किस प्रकार हो? इसलिए छोड़ना। ऐसा ही होता है। चरणानुयोग है न। **हिंसा के स्थानरूप परिग्रहादि का त्याग अवश्य करना चाहिए।**

भावार्थ – देखो! **जो परिणाम होता है, वह किसी वस्तु का अवलम्बन पाकर के ही होता है।** ऐसा स्पष्टीकरण किया।

मुमुक्षु : जीत हुई?

पूज्य गुरुदेवश्री : जीत कहाँ हुई? परिणाम होते हैं, ऐसा कहा, वह वस्तु का अवलम्बन पाकर होते हैं। उसमें निमित्त के समक्ष लक्ष्य जाये, तब परिणाम होते हैं। यहाँ अशुद्धता की बात है या नहीं? यहाँ अभी अशुद्धता की बात है न? शुद्धता के परिणाम तो स्वयं के आश्रय से होते हैं। जो परिणाम होते हैं, वे किसी भी वस्तु का अवलम्बन लक्ष्य में आवे, यह.. यह, तब उसे परिणाम होते हैं।

जो सुभट की माता के सुभट पुत्र विद्यमान हो.. दृष्टान्त यही बन्ध अधिकार का दिया। सुभट, वीर.. वीर..। वीर जननी को वीर पुत्र विद्यमान हो, **तब तो ऐसे परिणाम होते हैं कि** मैं वीर को मारता हूँ। **'मैं सुभट को मारूँ,'**... कहो समझ में आया? वीर जननी आता है न? जननी जनतो.. क्या आता है? 'भक्तजन या दाता, या सूर नहीं तो रहना बाँझ, मत गँवाना नूर', शरीर का तेज गँवाना नहीं। या तो भक्त पैदा करे, या पुरुषार्थी-मोक्षार्थी पैदा करे, भक्त या दाता। ऐसी बाहर की बात लेते हैं। वह वास्तविक दाता तो आत्मा के स्वरूप को दे, वह दाता। समझ में आया? कहते हैं, सुभट अर्थात् वीर की माता को वीर पुत्र विद्यमान हो, सुभट विद्यमान हो, तब तो ऐसे परिणाम होते हैं कि मैं इस सुभट को मारूँ। विद्यमान हो, उसे मारे या न हो उसे मारे?

परन्तु जो बाँझ है.. जिसे पुत्र ही नहीं, तो ऐसे परिणाम किस प्रकार होंगे कि मैं बाँझ के पुत्र को मारूँ। कहो, ऐसा है कहीं? कि इस बाँझ के पुत्र को मारता हूँ। बाँझ के

पुत्र होता ही नहीं तो बाँझ के पुत्र को मारूँ, ऐसा भाव कभी नहीं हो सकता। कहो, समझ में आया इसमें? **और जिसके पुत्र ही नहीं है तो ऐसे परिणाम कैसे उत्पन्न हो सकते हैं कि मैं बन्ध्या के पुत्र को मारूँ। इसलिए यदि बाह्य परिग्रहादि का निमित्त हो, तब तो उनका अवलम्बन पाकर कषायरूप परिणाम होते हैं..** भाषा ऐसी की है न इनने? बाह्य परिग्रहादि का निमित्त हो तो उसका अवलम्बन पाकर कषायरूप परिणाम होते हैं। निमित्त का लक्ष्य करे तो निमित्त को पाकर परिणाम हुए, ऐसा कहने में आता है। निमित्त ने कराये नहीं हैं। इसमें बड़ी गड़बड़ है। जिसे डालो उतना निकाले वह। देखो! इसमें (ऐसा लिखा है)। हिम्मतभाई को अभी पाठशाला जाना, नहीं? कम किया था पाठशाला में यह व्याख्यान बन्द रहे। शुरुआत है इसलिए? परन्तु यह व्याख्यान कब (सुनने को मिले)? सुना नहीं था।

मुमुक्षु : सबेरे में....

पूज्य गुरुदेवश्री : सबेरे का और कल और आज का दो बड़े व्याख्यान गये। समझ में आया?

यदि बाह्य परिग्रह के निमित्त हो तो लक्ष्मी, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, ये सब पाप परिणाम में निमित्त हैं, आयतन हैं। कहो, दुकान का धन्धा, दुकान की गद्दी, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, पैसा, इज्जत, ये सब पाप के आयतन-स्थान हैं। उनके अवलम्बन से पाप परिणाम होते हैं; इसलिए उन्हें छोड़ना - ऐसा कहने में आया है। छोड़ना यह या परिणाम का लक्ष्य छोड़ना वह छोड़ना? उसका लक्ष्य छोड़ा, वह पर को छोड़ा - ऐसा कहने में आता है। वे तो जहाँ हैं वहाँ हैं। कहाँ घुस गये हैं यहाँ? वे कराते कब हैं? समझ में आया?

अशुद्ध परिणाम स्व के आश्रय से नहीं होते, वे पर के आश्रय से होते हैं। वह लक्ष्य छुड़ाने को पर को छोड़ना - ऐसा कहने में आता है। बात तो ऐसी है। इस लिखे का अर्थ समझना चाहिए न इसका? पर को छोड़ना अर्थात् क्या? लो, यह स्त्री छोड़ो। क्या कहीं घुस गयी थी, उसे छोड़े। क्या छोड़े। क्या करना उचित है, लक्ष्य छोड़ना उचित है अर्थात् उसे छोड़ना उचित है - ऐसा कहा। लक्ष्य छोड़ना उचित है, इसलिए उसे छोड़ना उचित है - ऐसा कहा। व्यवहारनय के कथन ही ऐसे होते हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नरम क्या पड़े ? तो स्त्री, पुत्र छोड़े। बहुत अनन्त बार छोड़े। छोड़े क्या ? छूटे ही पड़े हैं। उनके लक्ष्य से, अवलम्बन से, निमित्त से पाप परिणाम होते हैं, उस परिणाम का अवलम्बन वे हैं, इसलिए उन्हें छोड़ना, ऐसा कहने में आया है। परिणाम कोई भी निमित्त के अवलम्बन बिना नहीं होते। सुभट की माता का पुत्र था तो उसे मारूँ - ऐसा कहने में आया। बाँझ को पुत्र नहीं होता तो बाँझ के पुत्र को मारता हूँ-ऐसा परिणाम होता है ? इसी प्रकार जिस पदार्थ की अस्ति ही नहीं है, उसके कारण परिणाम हों - ऐसा नहीं हो सकता। परिणाम का निमित्त है। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, लक्ष्मी, धन्धा, व्यापार, ये सब पाप के स्थान हैं। ये पाप के स्थान हैं। समझ में आया ?

इसलिए यदि बाह्य परिग्रहादि का निमित्त हो, तब तो उनका अवलम्बन पाकर.. पहले अवलम्बन से ही उठाया है। किसी वस्तु का अवलम्बन पाकर होते हैं। निमित्त पाकर होते हैं, निमित्त पाकर होते हैं, फिर इसमें विपरीतता घुस जाती है या नहीं ? करो चर्चा। निमित्त पाकर होते हैं या नहीं ? करो चर्चा। अरे भाई ! यह तो कहते हैं कि अशुद्ध परिणाम पाप के हैं, उनका लक्ष्य कोई परवस्तु है, उसके बिना परिणाम किस प्रकार निमित्त के अवलम्बन बिना होंगे ? अपने आश्रय से कहीं पाप के मलिन परिणाम होते हैं ? इसलिए उन्हें लक्ष्य छोड़ने के लिये पर को छोड़ना - ऐसा कहने में आया है।

यदि परिग्रहादि का त्याग कर दिया हो, तब निमित्त बिना, अवलम्बन बिना.. अर्थात् संयोग बिना और उसका लक्ष्य / अवलम्बन नहीं। **किस तरह परिणाम उत्पन्न हों ?** पाप के परिणाम कैसे उत्पन्न हो ? तो निमित्त बिना भी उत्पन्न होते हैं, ऐसा लिखा है न टोडरमलजी में ? यह तो सब बहुत स्पष्टीकरण किया है। निमित्त के बिना उत्पन्न होते हैं। अकेला-अकेला अन्दर से खड़ा करता है, खड़ा करता है। लो ! कोई निमित्त भी नहीं और खड़ा करता है। ऐसा और ऐसा और ऐसा। समझ में आया ? पुत्र न हो तो पुत्र का विचार करता है, ऐसा हो.. ऐसा हो.. ऐसा हो.. अमुक को माने, अमुक का आशीर्वाद लें तो पुत्र हो। लो ! पुत्र नहीं तो भी विचार करता है। उठाव को उठाना हो, उसे क्या ? वह तो चाहे जिसे निमित्त बनावे। निमित्त बिना भी परिणाम होते हैं। यह टोडरमलजी में आता है।

मुमुक्षु : तब उसे निमित्त कहा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तब कहा जाता है। परिणाम हों तो उसे निमित्त कहा जाता है। और परिणाम न करे तो फिर हो गया। अवलम्बन कहाँ गया इसका? तब कहा जाता है।

निमित्त बिना, अवलम्बन बिना किस तरह परिणाम उत्पन्न हों? अतः अपने परिणामों की शुद्धता के लिये.. भाषा देखो! अर्थात् वास्तव में तो अशुद्धता न होने के लिये बात है। पाठ में ऐसा लिया अवश्य है न? **परिणाम विशुद्धये**-पर के लक्ष्य को छोड़ना और परिणाम की विशुद्धि के लिये **बाह्यकारणरूप..** देखो! बाह्यकारण और निमित्त। बाह्यकारण और निमित्तकारण **परिग्रहादि का त्याग भी करना चाहिए।** परिणाम का त्याग करना चाहिए परन्तु परिणाम का निमित्त है, उसका भी त्याग करना चाहिए। **उसका भी..** ऐसा है न? चरणानुयोग के कथन की पद्धति जो होती है, उस प्रकार उसका कथन आता है। अर्थात् यह व्यवहारनय के कथनों की शैली है। समझ में आया?

बन्ध अधिकार.. अधःकर्म अधिकार समयसार में भी चरणानुयोग के अधिकार में वहाँ बात ली है। वैसे तो राग के त्याग का कर्ता आत्मा जहाँ नहीं, (वहाँ), फिर पर के त्याग का कर्ता कहाँ से आया? क्या कहा? राग के त्याग का परमार्थ से आत्मा कर्ता नहीं है। उसे नाममात्र राग के त्याग का कर्तापने का नाम लागू पड़ता है। नाममात्र। वस्तु ज्ञायक चिदानन्दस्वभाव है, उसका जहाँ अन्दर स्थिरता होती है, वहाँ राग उत्पन्न नहीं होता, इतना देखकर आत्मा ने राग के त्याग का कर्ता हुआ - ऐसा कहने में आया? वास्तव में है नहीं। लो!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु यह है। द्रव्यानुयोग अर्थात् वास्तविक द्रव्यस्वभाव की स्थिति का वर्णन ऐसा है। राग, विकल्प का त्याग करना, वह उचित है, वह इसमें नहीं। समझ में आया? क्योंकि जहाँ विकल्प इसके स्वरूप में ही नहीं, फिर त्याग करना किसे? वह ज्ञानस्वरूप है—ऐसे जहाँ अन्दर स्थिर हुआ, तो ज्ञान का परिणमन हुआ अर्थात् विकल्प का अभाव होने के काल में हुआ, वह नाममात्र कहने में आया। परमार्थ से राग के त्याग का कर्ता आत्मा है ही नहीं। स्वभाव की शुद्ध परिणति का कर्ता व्यवहार से कहा जाता है। आहा..हा..! समझ में आया?

वहाँ ऐसा कहा कि राग के त्याग के कर्तापने का परमार्थ से आत्मा को कुछ... नहीं। यहाँ कहते हैं कि परिग्रहादि का त्याग करना उचित है। कार्य है, ऐसा कहा न? वह किस अपेक्षा से है, यह समझना चाहिए न! पर के साथ क्या सम्बन्ध है? पर छूटे अर्थात् आगे (दूर) चला जाये? वह छोड़े अर्थात् दूर चला जाये? धक्का मारकर निकाले? पर चीज़ को धक्का मारकर निकालते होंगे? और परचीज़ को नजदीक लाया जा सकता होगा? उसके कारण वह जावे, और उसके कारण आवे। आत्मा का अधिकार नहीं कि परचीज़ को ऐसा जरा धकेले। (कि) यह नहीं चाहिए, यह नहीं चाहिए। पर का ग्रहण और त्याग आत्मा में तीन काल में नहीं।

मुमुक्षु : त्याग का किया है तो ग्रहण तो होना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। परन्तु यहाँ तो वह निमित्तरूप से राग होता है, आत्मा में निमित्तरूप से होता है, ऐसा फिर यहाँ तो कहा। उपादान में अन्दर में है नहीं। व्यवहार में, व्यवहार में निमित्तरूप से होता है, उसका निमित्त जो बाहर है, उसका अवलम्बन छोड़ने की बात की है। ऐसी बात है, भाई! शास्त्र तो कहते हैं कि नय के ज्ञान बिना.. आगे कहेंगे। गहन नय का विषय है, वह गुरु शरणं... गुरु शरणं.. देखो! इसमें है। हिंसा की बात। देखो! ५८ (गाथा)।

इति विविधभंगगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम्।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः।।५८।।

५८ गाथा है। वास्तविक नय के ज्ञान बिना किसी शास्त्र का अर्थ इसे बराबर सूझेगा नहीं। कुछ का कुछ कर देगा, कहीं का कहीं बिठा देगा। इसलिए इसे नय का ज्ञान (होना चाहिए)। व्यवहारनय का कथन क्या हो, निश्चय का क्या हो, असद्भूत का क्या हो, उसको बराबर इसे जानना चाहिए। यह गड़बड़ इसके कारण उठी है न! बाकी तो किसी को कुछ सम्बन्ध (नहीं है)। एक रजकण भी उसके कारण से, इसके कार्यकाल में कार्य में उसमें है। उसका हटना, ऐसा कार्य भी उसके काल में, उसके कारण से होता है। समझ में आया? अब, यह आम छोड़ना, छोड़े क्या? उसके लक्ष्य से मुझे यह परिणाम अशुद्ध होते हैं। उसका अर्थ क्या?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन दे? धूल दे। यह अनन्त रजकण का पिण्ड, उसकी समय-समय में होनेवाली पर्यायरूपी कार्य, उस कार्य का कर्ता तो वह है। दूसरा फिर कार्य का कर्ता कहाँ से लाया उसमें? लो, मैं आम छोड़ता हूँ, हों! मुझे उसके अवलम्बन से राग बहुत होता है। उसे छोड़ दिया, ऐसे छोड़ा, वह छोड़ना कहलाता है? कहो, समझ में आया? ऐसा आता है लो, कि जो कुछ इसे प्रिय में प्रिय हो राग जो होता हो, वह पहले छोड़ना। भगवती आराधना में आता है न? जिस चीज़ के प्रति बहुत प्रेम हो, उसे पहले छोड़ना। आम को देखकर गलगलिया होता है तो आम पहले छोड़ना। कहो, समझ में आया? जामु, क्या कहलाता है वह? गुलाबजामुन। ऐसे पोचा रुई जैसा, मक्खन जैसा, उसे देखकर एकदम मूर्च्छा आती है तो उसे पहले छोड़। अर्थात्? वह छोड़ तो ऐसी डाल देना? पड़ी है जहाँ पड़ी वहाँ। उसका प्रेम छोड़ - ऐसा कहने के लिये, उसे छोड़, ऐसा कहने में आया है। बात तो यह है। आहा..हा..!

वस्तु की जो मर्यादा है, उसे रखकर तत्त्व होता है या नहीं? या फिर किसी की पर्याय कोई करे, यह बात जब आवे, तब यह कहे सत्य बात है - ऐसा है इसमें? इस पर का करना, त्याग करना, पर का त्याग करना यह कार्य तेरा है। यह कथन तो निमित्त के हुए। तेरा राग न हो, तब वह निमित्त छूटा है - ऐसा कहने में आता है। वाद-विवाद से पार पड़ें ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : निमित्त होवे तो उसका अवलम्बन पावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परन्तु वह चीज़ होवे तो अवलम्बन करे, नहीं चीज़, उसका अवलम्बन क्या करे? सुभट का पुत्र है, उसकी माता का परन्तु बाँझ के पुत्र का अवलम्बन लो। समझ में आया? नारकी के जीव को अभी मार डालूँ। कहो, आता है कभी? उसके लक्ष्य में ही नहीं वह वस्तु अभी। वहाँ हो और यह... रहे। सातवें नरक के नारकी को मार डालूँ, अभी मार डालूँ। परन्तु कहाँ है? तेरा अवलम्बन सामने वस्तु में लक्ष्य ही नहीं। है ऐसे पदार्थ के अवलम्बन से परिणाम होते हैं, ऐसा कहने में आता है। परिणाम करता है, तब वह निमित्त है; इसलिए ऐसा कहने में आया। कहो, समझ में आया?

ओहो! एक तत्त्व निराला, परतत्त्व के साथ कुछ निमित्त-निमित्त सम्बन्ध बिना कोई सम्बन्ध नहीं। निमित्त-निमित्त सम्बन्ध का अर्थ स्वतन्त्र कार्य वहाँ हो, तब इसे निमित्त कहा जाता है। यहाँ स्वतन्त्र कार्य हो, तब निमित्त (कहा जाता है), उसका अर्थ क्या हुआ? निमित्त-निमित्त सम्बन्ध का अर्थ क्या? कि पृथक्-पृथक् कार्य करने का सम्बन्ध बताया है। आहा..!

मुमुक्षु : लक्ष्य में आना चाहिए। नहीं तो इसमें तो निमित्त छाती पर चढ़ जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : छाती पर चढ़ जाये। परन्तु यह तो भाई! किस अपेक्षा से कथन है, ऐसा जानना चाहिए न? **'हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या'** ऐसा होने पर भी, यह निश्चय पहले सिद्ध किया। **'सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः'** यह यथार्थ वस्तु सिद्ध की। अब उपचार सिद्ध करते हैं। ऐसे छोड़ना अथवा यह नहीं होता, परन्तु यहाँ तो उसे परिणाम के अवलम्बन में वह निमित्त है, इसलिए उसे छोड़ - ऐसा कहने में आता है।

'परिणामविशुद्धये' पर के लक्ष्य बिना परिणाम अशुद्ध नहीं होते, इसलिए पर का लक्ष्य छोड़ने को, पर को छोड़। निमित्त की उपस्थिति होगी तो उसके लक्ष्य से तुझे विकार होगा। निमित्त विकार कराता है - ऐसा है नहीं। तथा निमित्त बन्ध का कारण है - ऐसा भी नहीं है। परिणाम में निमित्त अवलम्बनरूप से कहने में आता है। कहो, समझ में आया इसमें?

परिग्रहादि का त्याग कर दिया हो, तब निमित्त बिना, अवलम्बन बिना किस तरह परिणाम उत्पन्न हों? अतः अपने परिणामों की शुद्धता के लिये बाह्यकारणरूप परिग्रहादि का त्याग भी करना चाहिए। ऐसा कहा जाता है न? व्यवहार में भाषा क्या आवे? समझ में आया? यहाँ कहते हैं कि राग का त्याग परमार्थ से आत्मा को नहीं है। यहाँ कहते हैं कि बाह्य पदार्थ का त्याग परिणाम की निर्मलता के लिये करना। दोनों का मिलान करना पड़ेगा या नहीं? समझ में आया? या जैनशासन में सर्वत्र जहाँ-तहाँ चाहे जो लिखा जाता होगा? ऐसा होगा? जिस प्रकार से जहाँ प्रकार है, उसे उस प्रकार से समझना चाहिए। यह व्यवहारनय का कथन है। परिणाम में अशुद्धता उत्पन्न होती है। वास्तव में तो अशुद्धता को पर का कारण कहना, वह व्यवहार है, लो! निश्चय से अपने ही कर्ता-कर्म

के कारण स्वयं अशुद्धता उत्पन्न होती है। वस्तु तो वह है। कहो, समझ में आया? परन्तु उसमें निमित्त का अवलम्बन है, इतना व्यवहार सिद्ध किया, व्यवहार सिद्ध किया। निश्चय में तो पर के कारण विकार होता है, यह बात है ही नहीं। यह तो पहले कहा।

न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः। बिल्कुल नहीं होती। पर के कारण जरा भी हिंसा अर्थात् जरा भी राग नहीं होता, ऐसा कहना है। न हिंसा अर्थात् राग— पर के कारण राग जरा भी नहीं होता, बिल्कुल नहीं होता परन्तु राग होता हो, उसे वह (पर) अवलम्बन देखकर कहा कि भाई! उसे छोड़। लक्ष्य छुड़ाने के लिये उसे छोड़ - ऐसा कहा है। समझ में आया? अहो! नयचक्र कठिन है। अब ५० वीं गाथा।

गाथा - ५०

आगे एक पक्षवाले का निषेध करते हैं-

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः।।५०।।

नहिं जान निश्चय उसे ही, है मूढ निश्चय से करे।
स्वीकार वह करणालसी, बहिःकरण चरण सभी नशे।।५०।।

अन्वयार्थ : (यः) जो जीव (निश्चयं) यथार्थ निश्चय स्वरूप को (अबुध्यमानः) न जानकर (तमेव) उसे ही (निश्चयतः) निश्चय श्रद्धा से (संश्रयते) अंगीकार करता है (स) वह (बालः) मूर्ख (बहिः करणालसः) बाह्य क्रिया में आलसी है और (करणचरणं) बाह्यक्रियारूप आचरण का (नाशयति) नाश करता है।

टीका : 'यः निश्चयं अबुध्यमानः निश्चयतः तमेव संश्रयते सः बालः करणचरणं नाशयति' - जो जीव यथार्थ निश्चय के स्वरूप को तो जानते नहीं और बिना जाने मात्र निश्चय के श्रद्धान से अन्तरंग को ही हिंसा जानकर अंगीकार करते हैं, वे अज्ञानी दया के आचरण को नष्ट करते हैं।

भावार्थ : जो कोई केवल निश्चय का श्रद्धानी होकर यह कहता है कि यदि मैं

परिग्रहादि रखूँ अथवा भ्रष्टाचाररूप प्रवर्तन करूँ तो इससे क्या हुआ? मेरे परिणाम ठीक होना चाहिए। ऐसा कहकर जो स्वच्छन्द प्रवर्तन करता है, उस जीव ने दया के आचरण का नाश किया, वह बाह्य में तो निर्दय हुआ ही तथा अन्तरंग निमित्त पाकर परिणाम अशुद्ध होते ही होते हैं, इसलिए अन्तरंग की अपेक्षा भी निर्दय हुआ। कैसा है वह जीव? बाह्य द्रव्यरूप अन्य जीव की दया में आलसी है, प्रमादी है। अथवा इसी सूत्र का अन्य प्रकार से भी अर्थ करते हैं। 'यः निश्चयं अबुध्यमानः तमेव निश्चयतः संश्रयते सः बालः करुणा आचरणं नाशयति' – जो जीव निश्चय के स्वरूप को न जानकर, व्यवहाररूप बाह्य परिग्रहादि के त्याग को ही निश्चय से मोक्षमार्ग जानकर अंगीकार करता है, वह जीव शुद्धोपयोगरूप आत्मा की दया का नाश करता है।

भावार्थ : जो जीव निश्चयनय के स्वरूप को तो जानता नहीं और केवल व्यवहारमात्र बाह्य परिग्रहादि का त्याग करता है, उपवासादिक को अंगीकार करता है, इस प्रमाण बाह्य वस्तु में हेय–उपादेयबुद्धि से प्रवर्तन करता है, वह जीव अपने स्वरूप–अनुभवरूप शुद्धोपयोगमय अहिंसा धर्म का नाश करता है। कैसा है वह जीव? 'बहिः करुणालसः' उद्यम से उसने अशुभोपयोग का तो त्याग किया है, परन्तु बाह्य परजीव की दयारूप धर्म के साधन में ही आलसी होकर बैठ रहा, और शुद्धोपयोग भूमिका में चढ़ने का उद्यम नहीं करता। इस प्रकार एकान्तपक्षवाले का निषेध किया। आगे द्रव्यहिंसा और भावहिंसा की अपेक्षा से भिन्न–भिन्न प्रकार के भंग बताते हैं।

गाथा ५० पर प्रवचन

आगे एक पक्षवाले का निषेध करते हैं– इस निश्चय को जानते नहीं और निश्चय के नाम से पर की दया के भाव भी दरकार बिना भ्रष्टाचार होता है, उसे छुड़ाते हैं। अथवा निश्चय का ज्ञान नहीं, उसके भावप्राण घात होते हैं। अन्दर दो अर्थ करेंगे, अर्थ दो करेंगे। ५० (गाथा)। शुद्ध उपयोग का आदर नहीं करता, उसे आत्मा की दया नहीं रहती – ऐसा कहेंगे। शुद्ध उपयोग का उद्यम नहीं करता, उसे आत्मा की दया,.. राग करे तो आत्मा की दया नहीं रहती। राग करना, वह आत्मा की हिंसा है। शुद्ध उपयोग करना, वह

आत्मा की दया है - ऐसा कहते हैं। शब्द भी जरा फेर है। **बहिः करणालसो** है न? वहाँ और **करुणा आचरणं नाशयति** ऐसा कहेंगे। ऐसा भी एक शब्द बदलकर अर्थ में कहेंगे।

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः।।५०।।

ऐसा कहते हैं। जरा शब्द बदलकर भी **करणालसो** है न **करणालसो**? तो करणाबसा - ऐसा भी एक (अर्थ है) यही शब्द वहाँ पंचास्तिकाय में है। थोड़ा-थोड़ा शब्द फेर है, हों! यह गाथा। थोड़ा फेर है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु फिर शब्द ऐसा भाव यह है। वहाँ भी **निश्चयमबुध्यमानो** है न? परन्तु दोनों में थोड़ा अन्तर है.. वस्तु का स्वरूप ऐसा है।

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः।।५०।।

यह तो जिसे वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा यथार्थ ज्ञान करना हो, (उसके लिये बात है)। जैसा है, वैसा ज्ञान करे, तब ज्ञान कहलाये या नहीं? होवे कुछ और जाने ज्ञान (कुछ) तो ज्ञान, अज्ञान हुआ। इसी प्रकार अपने परिणाम में पाप के (भाव) होते हैं, (वे) अपने से स्वतन्त्र होते हैं परन्तु जब उनका निमित्त कहना हो, तब अवलम्बन दूसरा है, उसका ज्ञान कराने को, उसका ज्ञान कराने को और उसे लक्ष्य छुड़ाने को, बाहर के अवलम्बन बिना विकार नहीं होता - ऐसा कहने में आता है। समझ में आया?

एक पक्षवाले का निषेध करके, अकेले निश्चय को मानता है और परदया को जानता नहीं अथवा परदया के ही परिणाम को करता है और शुद्ध उपयोग को जानता नहीं। दो अर्थ करेंगे। **निश्चयं अबुध्यमानः** के दो अर्थ। एक पक्ष के दो अर्थ। निश्चय सत्स्वरूप है, उसे जानता नहीं और परदया को पालता नहीं। आता नहीं। और एक अकेले दया-करुणा के शुभभाव को ही करता है परन्तु शुद्धभाव को नहीं करता। वह अपनी दया

का नाश करता है। जो अकेला निश्चय जानकर परदया की दरकार नहीं करता, वह परदया का नाश करता है। ऐसे दो अर्थ करते हैं। कान्तिभाई! यह तो ऐसा है। सूक्ष्म है, भाई! आहा..हा..!

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः।।५०।।

जो जीव यथार्थ निश्चय स्वरूप को न जानकर... निश्चय का अर्थ ही किया है कि यथार्थ निश्चय। आत्मा का यथार्थ शुद्ध आनन्दस्वरूप, ऐसे निश्चयस्वरूप को जाने बिना, **उसे ही निश्चय श्रद्धा से अंगीकार करता है..** मिथ्या प्रकार से निश्चय से अंगीकार करके, ऐसा। **वह मूर्ख बाह्य क्रिया में आलसी है..** बाहर दया पालने के भाव को नहीं करता। शुभभाव की दरकार नहीं करता। **और बाह्यक्रियारूप आचरण का नाश करता है।** अर्थात् शुभभाव के परिणाम का नाश करता है, ऐसा। निश्चयस्वरूप को जानता हो, तब तो उसके परिणाम में उसकी योग्यता प्रमाण शुभभाव होते हैं परन्तु निश्चय को जानता नहीं, ज्ञायकस्वरूप को जानता नहीं, अन्तर अनुभव-वेदन हुआ नहीं और हमें निश्चय है, हमारे अब पर का क्या काम? ऐसा करके शुभभाव का भी नाश करता है। समझ में आया?

दो अर्थ हैं। **जो जीव यथार्थ निश्चय के स्वरूप को तो जानते नहीं और बिना जाने मात्र निश्चय के श्रद्धान से..** मिथ्या निश्चय श्रद्धा से, सच्चा नहीं। सच्चा हो तब तो उसे उसके प्रमाण में शुभभाव उसे हो, वहाँ व्यवहार हो। **निश्चय श्रद्धा से अंगीकार करता है, वह मूर्ख बाह्य क्रिया में आलसी है और बाह्यक्रियारूप आचरण का नाश करता है।**

'यः निश्चयं अबुध्यमानः निश्चयतः तमेव संश्रयते सः बालः करणचरणं नाशयति' - जो जीव यथार्थ निश्चय के स्वरूप को तो.. आत्मा ज्ञायकस्वरूप, शुद्ध आनन्द ज्ञातादृष्टा वह उसका स्वरूप है। आत्मा ज्ञातादृष्टा, जानने-देखनेवाला शुद्ध आनन्द, वह उसका स्वरूप है। उसे जानना, वह यथार्थ और सम्यक् तथा यथार्थ दृष्टि कहने में आता है। ऐसा तो जानता नहीं। **यथार्थ निश्चय के स्वरूप को तो जानते नहीं**

और बिना जाने मात्र निश्चय के श्रद्धान से.. जाने बिना, अनुभव किये बिना, वेदन किये बिना, अकेले निश्चय की श्रद्धा कि हमारे तो शुद्ध है, हमारे कोई शुभ की आवश्यकता नहीं है, शुभभाव की हमारे आवश्यकता नहीं है, हम तो...

अन्तरंग को ही हिंसा जानकर अंगीकार करते हैं,.. निश्चय श्रद्धान से अन्तरंग को हिंसा जानकर अंगीकार करता है। समझे? अन्दर के परिणाम को हिंसा अंगीकार... वह अज्ञानी दया के आचरण का नाश करता है, बाह्य की दया के आचरण का नाश करता है। अन्तरंग परिणाम को ही हिंसा जानकर अंगीकार करता है। निश्चय समझा नहीं, अनुभव किया नहीं। अन्तरंग को ही हिंसा, ऐसा कि अन्तरंग में परिणाम हो वह हिंसा; बाहर मरे या न मरे, उसका हमें कुछ नहीं है, ऐसा। वह अज्ञानी दया के आचरण का नाश करता है। शुद्धभाव का भान नहीं, शुद्ध आनन्द के भानवाला तो पर के परिणाम, पर की दया आदि के शुभ हों, उस समय वह जानता है। इसे तो भान नहीं। अन्तरंग के परिणाम जो हिंसा है, ऐसा मानकर बाहर के मारने आदि के भाव को हिंसा नहीं मानता। अर्थात् दया के परिणाम नहीं करता, दया का नाश करता है, लो! यह सब परिणाम की बात है, हों!

जो कोई केवल निश्चय का श्रद्धानी होकर यह कहता है कि यदि मैं परिग्रहादि रखूँ अथवा भ्रष्टाचाररूप प्रवर्तन करूँ तो इससे क्या हुआ? एक साधु आया था न? बस! निश्चय में फिर चाहे जो वह माँस खाये, शराब पीये, चाहे जो हो, निश्चय का भान हुआ, उसे क्या दिक्कत है? कहो, परन्तु जिसे निश्चय का भान होता है, उसे ऐसे शराब और माँस खाने के भाव नहीं हो सकते। परद्रव्य तो कुछ नुकसान नहीं करता। परद्रव्य चाहे वह माँस और शराब भी खाने (-पीने) का भाव किसका है? तेरा। शराब पीवे, परस्त्री के लम्पटरूप भाव करे, फिर कहे वह तो सब शरीर की क्रिया से, शरीर का होता है। परन्तु यह भाव किसका है? तेरा। समझ में आया?

मुमुक्षु : निश्चय का नाम डालता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : निश्चय है ही नहीं - ऐसा कहा। यह तो पहले कहा न! निश्चय ज्ञानानन्द का आश्रय और ज्ञान का अनुभव-वेदन तो है ही नहीं। होवे तो ऐसा बाहर के शुभपरिणाम का, दया का, किसी भाव का नाश करे, ऐसा नहीं हो सकता। उसकी भूमिका

प्रमाण में वैसा शुभभाव होता है। वह जानता है कि यह दया के परिणाम पुण्यबन्ध का कारण है, परन्तु अभी दया बिना नहीं हो सकता। नहीं जानता आनन्दस्वरूप को और नहीं जानता पर के दया के भाव के शुभभाव को; इसलिए सभी प्रकार से बाहर आचरण में आलसी होकर, प्रमादी होकर पड़ा है - ऐसा कहते हैं।

हमने परिग्रह रखा, रखा। परन्तु परिग्रह रखने का भाव किसका है ? तुम तो कहते थे कि पैसे से पाप नहीं; परजीव मरे, उसका पाप नहीं; पर के कारण बन्ध नहीं, इसलिए हमने परवस्तु रखी। परन्तु परवस्तु रखने का भाव किसने किया ? आहा..हा..! हमने परिग्रह रखा। कौन रखे ? वह लक्ष्मी तो पर, जड़, मिट्टी, धूल है। लक्ष्मी को रखे कौन ? वह भी मिट्टी-धूल है। उसे आत्मा रखे ? आत्मा भिन्न तत्त्व है, वह भिन्न तत्त्व है। वह तो मिट्टी है। समझ में आया ? आहा..हा..! अज्ञानी ऐसा कहता है हमने तो रखी। परन्तु रखी यह भाव, परवस्तु को रखना तेरा अधिकार कहाँ है ? आत्मा रख सकता है ? शरीर को सम्हालकर रख सकता है या नहीं ? धूल में भी नहीं रखता। मर जाये तो भी, सुन न अब। वह तो धूल, मिट्टी है। वह तो जगत के परमाणु जड़ तत्त्व हैं।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहते हैं कि रखने के लिये मेहनत करे, इससे कहीं रहे ? वह तो मिट्टी, धूल है, अजीव तत्त्व है। शरीर तो अजीव मिट्टी है। उसकी दशा का होना और जाना तो उसके कारण से है। आत्मा के कारण से है नहीं। कहो, प्रवीणभाई! ऐसी विपरीतता लगी है न! तू कहाँ और वे कहाँ ? वह तो देह, जड़, मिट्टी-धूल है, पुद्गल है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ है ? वे उसके घर में हैं, उसके घर में हैं, आत्मा में घुस गये हैं ? आत्मा, आत्मा में और शरीर, शरीर में। दोनों में एक चीज़ में एक दूसरे का अभाव है। हमने शरीर को रखा तो रहा, परिग्रह को भी रखे कौन ? धूल ? तू रख सकता है ? मूढ़ है। प्रवीणभाई! अरे! गजब बात, भाई! सबेरे से सम्हाल कर-करके बेचारा चौबीस घण्टे करे, लो! उठे तब से चाय, पानी, वस्त्र, मुलायम, मखमल के कपड़े, सिर पर पंखा घूमता होता है न भटकने का ? कितनी सम्हाल रखे! धूल भी नहीं रहता। वह तो उसे रहना होगा, वैसे

रहेगा, तुझसे नहीं रहता। तेरा भाव तुझमें और उसकी दशा उसमें। पोपटभाई! परन्तु अज्ञानी कहता है कि हमने रखा, रखा, परन्तु क्या रखा? अज्ञान का भाव रख। भ्रष्टाचाररूप प्रवर्तता है, भ्रष्टाचाररूप प्रवर्तता है। स्त्री आदि का सेवन करता है, पर की वस्तु के सेवन की पर्याय तू कर सकता है? और भ्रष्टाचार करे, वह तो भाव तूने किया, भाव किया। पर की क्रिया वह तू नहीं कर सकता।

भ्रष्टाचाररूप प्रवर्तन करूँ तो इससे क्या हुआ? मेरे परिणाम ठीक होना चाहिए। परिणाम अच्छे चाहिए न? परन्तु भ्रष्टाचार की क्रिया होती हो और परिणाम अच्छे हैं-ऐसा कौन कहे उसे? खोटे-बुरे अशुभ परिणाम हैं। समझ में आया? परिग्रह रखने का भाव, लो! परिग्रह रखो। पाँच लाख, दो लाख, पच्चीस लाख, पच्चीस हजार। यह भाव तो पाप है। पाप को रखा। परिग्रह को रख सकता है तू? कैसे होगा? मोहनभाई!

मुमुक्षु : अपने में उल्टा-सीधा कर।

पूज्य गुरुदेवश्री : उल्टा-सीधा तेरे भाव में कर। पैसा धूल है, वह तो आवे और जावे, उसके कारण से। क्या तुझसे आते जाते हैं? यह होशियार हो, इससे आते-जाते होंगे या नहीं? कहाँ गये? मोहनभाई! आहा..हा..! वह अज्ञानी ऐसा कहता है कि भ्रष्टाचार सेवन करते हैं तो सेवन करते हैं, परिग्रह रखते हैं तो रखते हैं, उसमें हमारे क्या? परन्तु तू पर को रखे, यह भाव तेरा है। परवस्तु को रखकर भ्रष्टाचार की क्रिया, वह कहीं तेरे अधिकार की बात नहीं है। स्वच्छन्दी होता है। समझ में आया?

ऐसा कहकर जो स्वच्छन्द प्रवर्तन करता है.. देखो न! ऐसा कहा है न? ऐसा बोलकर परिग्रह रखा, रखा। पर से तो पाप नहीं, भ्रष्टाचार सेवन किया। पर के भ्रष्टाचार से आत्मा को पाप नहीं, परन्तु तेरा भाव तू कहता है भ्रष्टाचार करूँ, परिग्रह रखूँ, यह भाव तो तेरा पाप है। समझ में आया? ऐसे स्वच्छन्दी परिणाम आये। **उस जीव ने दया के आचरण का नाश किया,..** पर को नहीं मारने का और परिग्रह आदि नहीं रखने का जो भाव, उसका नाश किया। **वह बाह्य में तो निर्दय हुआ ही...** देखो! अब कहते हैं। बाह्य में तो निर्दय हुआ। परजीव को मारने के भाव किये। उनसे क्या होगा? ऐसा करके भाव किये, तो निर्दय हुआ। **तथा अन्तरंग निमित्त पाकर परिणाम अशुद्ध होते ही होते हैं..**

लो! परिग्रह का और भ्रष्टाचार का निमित्त है न? भ्रष्टाचार शरीर की क्रिया से निमित्त पाकर परिणाम अशुद्ध होते ही हैं। देखो! निमित्त पाकर अशुद्ध होते हैं-ऐसी भाषा आयी। तब सब भटके हैं न!

मुमुक्षु : करे तब निमित्त कहलाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : तब कहलाये, निमित्त पाया कब कहलाये? निमित्त हुआ कब कहलाये? नैमित्तिक परिणाम विकार के-भ्रष्टाचार के किये, तब शरीर को निमित्त कहने में आता है। परिग्रह रखने का भाव किया, तब परिग्रह को निमित्त कहने में आया। धूल कहाँ इसे कहती है कि तू पाप कर। ऐसा कहती हैं? पैसा ऐसा कहते हैं कि तू हमारे लिये मर अब यहाँ? हैरान होता है बेचारा पूरे दिन। पैसा, धूल-धूल वह कहती है तुझे (कि) तू हमारे लिये पाप कर? हमें रखने की ममता कर - ऐसा कहते हैं वे? परिग्रह रखने का भाव है, वह तेरा पाप है। परिग्रह के कारण पाप है - ऐसा नहीं, परिग्रह के कारण बन्धन है - ऐसा नहीं। पाप है, उसमें वह निमित्त है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह इसे समझ में आवे, तब शरण कहने में आता है। 'जिन प्रवचन दुर्गम्यता थाके अति मतिमान, अवलम्बन श्री सद्गुरु सुगम और सुखखान।' नयचक्र की बात ऐसी है। जिसकी जिस-जिस भूमिका से जिस शैली का कथन है, उसे वैसा समझना चाहिए।

बाह्य में तो निर्दय हुआ ही तथा अन्तरंग निमित्त पाकर परिणाम अशुद्ध होते ही होते हैं, इसलिए अन्तरंग की अपेक्षा भी निर्दय हुआ। दोनों रहा, लो! अन्तरंग में परिग्रह रखने के और भ्रष्टाचार करने के भाव / अशुद्ध परिणाम हुए, इसलिए निर्दय हुआ। बाहर में दया के और उसे रखने के भाव नहीं किये, इसलिए बाहर में निर्दय हो गया। **कैसा है वह जीव? बाह्य द्रव्यरूप अन्य जीव की दया में आलसी है,...** बाह्य द्रव्यरूप दया हुई न, बाहर की, बाहर की? **प्रमादी है। अथवा इसी सूत्र का अन्य प्रकार से भी अर्थ करते हैं।** एक बात व्यवहार से की है। निश्चय के वीतरागभाव के अनुभव बिना, भ्रष्टाचार में पाप नहीं और परिग्रह रखने में पाप नहीं- ऐसा माननेवाले अपने परिणाम को

भी निर्दय करते हैं और दूसरे जीव को नहीं मारने के भाव की भी दया उन्हें नहीं रहती। अब अपनी दया नहीं रहती, यह कहते हैं।

जो जीव निश्चयनय के स्वरूप को न जानकर.. भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द की मूर्ति प्रभु आत्मा है। आत्मा चैतन्य सूर्य आत्मा, भगवान आत्मा चैतन्य के प्रकाश का नूर, आनन्द का पूर अन्दर आत्मा है। ऐसे आत्मा को न जानकर, ऐसे आत्मा के वास्तविक त्रिकाली आनन्द और ज्ञानस्वरूप को न जानकर, **व्यवहाररूप बाह्य परिग्रहादि के त्याग को ही निश्चय से मोक्षमार्ग जानकर...** देखो! बाह्य परिग्रह का त्याग हुआ या दया हुई, स्त्री, राग, परिवार को छोड़ा, उसे **निश्चय से मोक्षमार्ग जानकर अंगीकार करता है, वह जीव शुद्धोपयोगरूप आत्मा की दया का नाश करता है।** दोनों बातें ली हैं।

आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप शुद्ध चैतन्य है, वस्तु स्वयं भगवान केवलज्ञानी परमात्मा ने, वस्तु तीर्थंकरदेव ने ऐसी देखी है कि आत्मा, वह शुद्ध ज्ञान की मूर्ति है। ऐसा जिसने जाना नहीं, अनुभव नहीं किया, अनुभव नहीं करना और बाह्य क्रिया शुभ दया, दान, व्रत, परिणाम में आत्मा को रोका है, वह आत्मा के शुद्ध परिणाम की दया उसे है नहीं, अपनी दया नहीं। अन्य में पर की दया, इसमें स्व की दया। उसमें तो पर और अपनी दोनों दया नहीं - ऐसा कहा है। समझ में आया इसमें? जरा सूक्ष्म बात है। ध्यान रखे तो पकड़ में आये ऐसा है, भाई! यह तो। एकदम नयचक्र से बात की है, नय से।

परमेश्वर तीर्थंकरदेव केवलज्ञानी परमात्मा, जिन्होंने एक समय में तीन काल-तीन लोक जाने हैं—ऐसे भगवान, ऐसा यहाँ कहते हैं, वही मुनि कहते हैं। भाई! तेरे आनन्द और शुद्धस्वरूप को जाने बिना, हम निश्चय को जानते हैं, मानते हैं; इसलिए अन्तरंग परिणाम में हमें कुछ पाप नहीं लगता, इसलिए वहाँ भ्रष्टाचार से वर्तते हैं, परिग्रह रखते हैं, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब रखते हैं, धन्धा-पानी करते हैं, उसमें हमारे क्या है? वह तो परवस्तु है। ऐसा कहनेवाले परवस्तु की ओर के परिणाम की दया का भी ठिकाना नहीं रखते और अन्दर अशुद्ध की क्रिया के समय उन्हें अशुद्धपरिणाम हुए बिना नहीं रहते और अन्दर आत्मा की दया भी नहीं रहती।

दूसरे प्रकार से, आत्मा शुद्ध चैतन्य अनाकुल आनन्द की मूर्ति, ऐसा भगवान आत्मा, उसका जिसे ज्ञान-श्रद्धा और आचरण नहीं, वह जीव अकेले दया, दान, व्रत, भक्ति, बाह्य परिग्रह के त्याग, स्त्री-पुत्र का त्याग, ऐसा जो शुभभाव, उस शुभभाव को सच्चा स्वरूप मानकर, निश्चय स्वरूप को नहीं जानते, वे अपने शुद्ध परिणामरूपी दया नहीं करते। शुद्ध परिणाम की वह दया नहीं करते। वह फिर कैसी दया होगी ? क्या कहा ? समझ में आया ?

भगवान आत्मा ज्ञान चैतन्यमूर्ति प्रभु, ऐसे आत्मा का शुद्ध व्यापार, शुद्ध आचरण। आत्मा के शुद्धस्वभाव और श्रद्धा, ज्ञान और आचरण, ऐसा शुद्ध व्यापार, उसे न करके अकेले शुभ की क्रिया—परिग्रह का त्याग, स्त्री-पुत्र का त्याग, हिंसा का त्याग, बाहर के आचरणरूप त्याग करके शुभपरिणाम में रुकते हैं। वह शुभपरिणाम का करनेवाला जीव अपने शुद्ध परिणाम की दया नहीं पाल सकता। पोपटभाई ! गजब बात, भाई ! क्या होगा ? ऐसा स्वरूप ? वीतराग का ऐसा स्वरूप होगा ? जैन परमेश्वर ऐसा कहते होंगे ? अरे ! इसे खबर नहीं होती। परमेश्वर वीतराग त्रिलोकनाथ परमात्मा, जिन्हें एक समय में तीन काल का ज्ञान है, उन्हें क्या दया, उन्हें क्या शुद्धोपयोग, उन्होंने क्या अहिंसा कही है ? यह खबर ही नहीं। अनादि से आँख बन्द करके, अन्धी दौड़ से चला जा रहा है।

देखो ! इस गाथा में दोनों बात सरस की है। प्रवीणभाई ! निश्चय के शुद्धस्वरूप का परिणमन और भान तो नहीं और अकेला परवस्तु से मुझे कुछ पाप नहीं लगता, पर के कारण मुझे भ्रष्टाचार देह की क्रिया होती है, परिग्रह रखूँ, स्त्री-कुटुम्ब का परिचय करूँ, स्त्री का सेवन करूँ - उसमें मुझे क्या ? क्योंकि वह तो परवस्तु है, ऐसा मानकर बुरे परिणाम करके पर की दया के परिणाम नहीं रखता। ऐसे परिणाम करता है, उसे अपनी भी दया नहीं है। निर्दय हो गया है। उसकी अपेक्षा यह बात दूसरी ली है वापस। स्त्री, कुटुम्ब छोड़ा, पाप छोड़ा, यह छोड़ना.. यह छोड़ना.. यह छोड़ना.. ऐसा करके शुभभाव ग्रहण किया, कषाय की मन्दता शुभउपयोग। है ?

निश्चयनय के स्वरूप को तो जानता नहीं और केवल व्यवहारमात्र बाह्य परिग्रहादि का त्याग करता है,.. अर्थात् शुभभाव वास्तव में। उसे **ही निश्चय से**

मोक्षमार्ग.. मानता है। हमने स्त्री, पुत्र छोड़े, परिवार छोड़ा, दुकान छोड़ी, वह मोक्षमार्ग है। क्या छोड़ा? वह तो पर है। वह छोड़ने के भाव में कदाचित् तुझे शुभभाव हो तो राग की मन्दता है, वह पुण्य है, मोक्षमार्ग नहीं। समझ में आया? **बाह्य परिग्रहादि का त्याग करता है, उसे ही निश्चय से मोक्षमार्ग जानकर..** हम स्त्री का सेवन नहीं करते, पैसा नहीं रखते। समझे न? सब हमारे त्याग है। परन्तु अन्दर में मिथ्यात्वभाव पड़ा है कि यह मैंने छोड़ा और यह मैंने ग्रहण किया - ऐसा मिथ्यात्वभाव है, उसका तो त्याग है नहीं। उसके त्याग बिना तेरा त्याग कैसा? पोपटभाई! आहा..हा..!

हम तो निश्चय से मोक्षमार्ग में हैं, बस! यह देखो! हमारे कहाँ स्त्री है, पुत्र है, हम अकेले नग्न हैं। लंगोटी भी नहीं रखते। परन्तु यह तो सब बाह्य त्याग की वृत्ति यदि हो तो उसका नाम शुभभाव है, धर्म नहीं। आत्मा चिदानन्द ज्ञानमूर्ति का अनुभव और श्रद्धा और शुद्ध उपयोग करना, वह धर्म है। इस शुभभाव में रुककर ऐसे शुद्धोपयोग के आत्मा के प्राण का घात करता है, वह अपनी दया नहीं पालता, इसलिए वह हिंसा करता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

वह श्रावक का नित्य कर्तव्य है

परदेश से अपने सगे-सम्बन्धियों का अथवा पति इत्यादि का पत्र आवे तो कितनी उत्कण्ठा से पढ़ता है? तो वीतरागी शास्त्रों में त्रिलोकनाथ तीर्थङ्कर का और सन्तों का सन्देश आया है कि हमने इस प्रकार आत्मा को साधा है और तुम भी इस प्रकार आत्मा को साधो। भगवान का ऐसा सन्देश, आत्मार्थी जीव कितनी उत्कण्ठा और कितनी प्रीति से पढ़ेगा? शास्त्र में भगवान ने क्या कहा है और सन्तों ने कैसा अनुभव किया है? यह समझने के लिये श्रावक प्रतिदिन प्रीतिपूर्वक शास्त्र-स्वाध्याय करता है। उसे ज्ञान का ऐसा रस होता है कि शास्त्र-स्वाध्याय में बोझ नहीं लगता, अपितु प्रीति लगती है। इस प्रकार शास्त्र-स्वाध्याय, वह श्रावक का नित्य कर्तव्य है।

(— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय (५० गाथा), उसका भावार्थ है। भावार्थ है न? **जो जीव निश्चयनय के स्वरूप को तो जानता नहीं..** शुद्ध ज्ञायक आनन्दस्वभाव है, उसका तो भान नहीं, **केवल व्यवहारमात्र बाह्य परिग्रहादि का त्याग करता है,..** व्यवहारमात्र स्त्री, कुटुम्ब, परिवार आदि बाह्य वस्त्र-पात्र आदि का त्याग करे। **उपवासादिक को अंगीकार करता है,..** ग्रहण-त्याग की व्याख्या। बाह्य परिग्रह आदि का त्याग करे और उपवास, ऊनोदर, विनय आदि को अंगीकार करे। **इस प्रमाण बाह्य वस्तु में हेय-उपादेय बुद्धि से प्रवर्तन करता है,..** देखो! ग्रहण-त्याग। व्यवहार से परवस्तु का त्याग, उपवास, विनय, भक्ति आदि भाव को अंगीकार करे। इस प्रकार बाह्य वस्तु में आत्मा के अतिरिक्त दूसरी चीज़ का त्याग और उपवास आदि-शुभ आदि का ग्रहण।

वह जीव अपने स्वरूप-अनुभवरूप शुद्धोपयोगमय अहिंसा धर्म का नाश करता है। सूक्ष्म बात है, भाई! भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, उसका जो शुद्ध उपयोग, उसकी श्रद्धा-ज्ञान और आचरणरूप शुद्ध व्यापार की उत्पत्ति नहीं करके, अकेले ग्रहण-त्याग की बुद्धि में रुककर पड़ा है, जो अपना शुद्धस्वभाव, उसका जो शुद्ध उपयोग, उसका घात करता है। समझ में आया? **शुद्धोपयोगमय अहिंसा धर्म का नाश करता है।** यह अहिंसा धर्म। गजब व्याख्या, भाई! भगवान ज्ञान और आनन्दस्वरूप का शाश्वत्, शुद्ध, ध्रुव, असली स्वभाव, उसके आश्रय से हुआ शुद्ध उपयोग, वह प्रगट नहीं करके, बाह्य त्याग में हेयबुद्धि के भाव में, शुभ में वर्तता है, वह अपने शुद्धोपयोगमय अनुभवस्वरूप अहिंसाधर्म को उत्पन्न नहीं करता, उसे वह नाश करता है - ऐसा कहने में आता है। भोगीभाई! गजब बात, भाई! ओहो..हो..!

वस्तु का चैतन्यस्वभाव शुद्ध त्रिकाली पवित्र है, उस पवित्रता का पवित्र शुद्ध आचरण, पवित्रता का पवित्र शुद्ध आचरण, उसे अकेले शुभ-उपयोग में रुककर पवित्र

आचरणरूपी अहिंसा धर्म की उत्पत्ति नहीं करता; इसलिए उसका नाश करता है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया इसमें ? रविभाई ! ऐसा धर्म, ऐसा कहाँ से होगा ऐसा ? तब क्या हमें शुभ में प्रवर्तन नहीं करना ? भाई ! शुभभाव होता है, वह विकल्प है। वह वास्तव में स्वरूप की हिंसा है। वीतरागमार्ग अनन्त पुरुषार्थ सम्पन्न वस्तु है। जिसने अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप के आचरणरूप शुद्धभाव उत्पन्न नहीं करके, मात्र हेयबुद्धि-त्यागबुद्धि, हेय-उपादेय, हेयबुद्धि-यह छोड़नेयोग्य है और यह ग्रहण करनेयोग्य है, यह छोड़नेयोग्य। स्त्री, कुटुम्ब छोड़नेयोग्य; उपवास, राग, विनय आदरनेयोग्य, देव-गुरु-शास्त्र आदरनेयोग्य; स्त्री-परिवार छोड़नेयोग्य। समझ में आया ? ऐसे शुभभाव में वर्तनेवाला एकान्त से वर्तनेवाला है न ?

शुद्धस्वरूप चैतन्य अपने स्वरूप अनुभवरूप.. आहा..हा..! कि जो अपने स्वरूप अनुभवरूप-शुद्धस्वभाव के अनुभव, निर्मलपर्याय के वेदनरूप शुद्ध उपयोगमय, शुद्ध आचरणमय, अहिंसा धर्म का नाश करता है। समझ में आया ? कितने ही समय तो कितनों को ऐसा हो जाता है कि यह, वह कैसा परन्तु यह स्वभाव ! मानो कि यह पहुँचा नहीं जा सकता, अशक्य उसकी बात करते हैं। कितनों को ऐसा भी होता है। समझ में आया ? कितने ही ऐसा कहते हैं ऐसा धर्म अशक्य है। किया जा सके यह तो दया, दान, व्रत आदि के भाव ही किये जा सकते हैं, बस ! अनन्त काल की आदत है न ?

अन्तरस्वभाव, जिसमें अनन्त-अनन्त परमात्मा पड़े हैं, ऐसी शुद्ध शक्ति पड़ी है, उसे यहाँ आत्मा कहा जाता है। उस आत्मा का शुद्ध व्यापार, उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान, उसमें टिकना-ऐसा शुद्धोपयोगमय अपने अनुभवरूप अहिंसा धर्म, उसे यह हेय-उपादेयरूप बाह्य पदार्थ के ग्रहण-त्याग बुद्धि में रुककर ऐसे शुद्धोपयोग के आचरणरूप अहिंसा का नाश करता है। पोपटभाई ! आहा..हा..! अरे ! जगत को, कहाँ है ? कहाँ है यह, कहाँ है यह और कहाँ वर्तता है यह ? इसकी इसे खबर नहीं।

पहले तो एकान्त पक्ष का यह निषेध किया। अकेला बाह्य त्याग, ग्रहण-त्याग.. ग्रहण-त्याग.. ग्रहण-त्याग.. हिंसा का त्याग, दया का आदर; असत्य का त्याग, सत्य का आदर; अब्रह्म का त्याग, ब्रह्मचर्य का आदर; परिग्रह का त्याग, उपवास आदि का आदर,

देव-गुरु-शास्त्र का आदर; स्त्री, कुटुम्ब, परिवार का त्याग - ऐसे विकल्प में रुककर निर्विकल्प शुद्ध आचरणस्वरूप आत्मा का जो व्यापार है, उसका यह नाश करता है। आहा..हा..! उसे अहिंसाधर्म का नाश करता है - ऐसा कहने में आता है। यह एकान्त पक्ष का इस अपेक्षा से निषेध है। अब दूसरा।

कैसा है वह जीव? उद्यम से उसने अशुभोपयोग का तो त्याग किया है,.. वापस इसी-इसी की विशेष स्पष्टता करते हैं। **परन्तु बाह्य परजीव की दयारूप धर्म के साधन में ही आलसी होकर बैठ रहा,..** बाह्य परजीव की दयारूप शुभधर्म के ही साधन में आलसी होकर अर्थात् यही आलसी, ऐसा कहते हैं। **शुद्धोपयोग भूमिका में चढ़ने का उद्यम नहीं करता।** समझ में आया? दो अर्थ तो पहले अर्थ में ही आ गये हैं। पहले में दो आ गये हैं। यहाँ निश्चय का नाम धारण कर, पर की दया के भाव को भी छोड़ देता है, एकान्त ऐसा पहले अर्थ में कहा। अपने निश्चयस्वभाव की खबर बिना, हमारे तो अन्दर में परिणाम हों, वह हिंसा, बाहर में मरे, न मरे उसका हमारे कुछ (नहीं), ऐसा करके अन्दर के निश्चय के भान बिना, अकेले बाह्य जीव की दया के परिणाम को भी नहीं करता, वह एकान्त निश्चयाभासी है और अकेला बाह्य दया, आदि के परिणाम में रुका है, निश्चय शुद्धोपयोग का नाश करता है, वह व्यवहाराभासी है। समझ में आया?

यहाँ तो **बाह्य परजीव की दयारूप धर्म के साधन में..** प्रवर्ते। वह **शुद्धोपयोग भूमिका में चढ़ने का उद्यम नहीं करता।** वह बाह्य जीव की दया के विकल्प से रहित, अन्तर्मुख का पुरुषार्थ नहीं करता। वस्तु जो पूरी चीज़ है, महान चमत्कार ऐसा जिसका स्वभाव है, ऐसा चैतन्य द्रव्य-वस्तुस्वभाव के अन्तर्मुख का तो पुरुषार्थ नहीं करता। समझ में आया? फिर ऐसी उकताहट लगती है कि छोड़ो न, इसमें कुछ सूझता नहीं है। ऐसा नहीं, भाई! अन्दर का स्वभाव शुद्ध चैतन्यवस्तु है, उस ओर का प्रयत्न / पुरुषार्थ कर, तो पुरुषार्थ से प्राप्त हुए बिना नहीं रहेगा, परन्तु उस पुरुषार्थ की गति में अकेला दया, दान, त्याग, परत्याग ग्रहण.. त्याग-ग्रहण.. त्याग-ग्रहण... ऐसे शुभभाव में रुके, बाह्य साधन में रुके, स्वरूप के साधन का नाश करता है, वही अहिंसा धर्म को मानता नहीं। ओहो..हो..! दुनिया के साथ तो मेल करना कठिन पड़े ऐसा है। समझ में आया?

इस प्रकार एकान्तपक्षवाले का निषेध किया। एकान्तपक्ष अर्थात् ? अर्थ में दो लिये थे। निश्चय अनुभव की दृष्टि, अनुभव का भान नहीं और बाहर में दया के परिणाम को उत्पन्न नहीं करता। दया का ठिकाना नहीं करता, भ्रष्टाचार वर्तो तो वर्तो, परिग्रह हो तो हो, मुझे क्या ? ऐसा करके वह निश्चयाभासी, मिथ्यादृष्टि अपने आत्मा की हिंसा करता है। एक बाह्य दया पालने के भाव, सत्य बोलने के भाव, ब्रह्मचर्य के भाव, अपरिग्रह का शुभविकल्प / भाव, समिति, गुप्ति, व्यवहार आचरण का भाव ग्रहण करे और खोटे आचरण का त्याग करे। ऐसे शुभविकल्प में रुककर शुद्धोपयोगरूपी आत्मा के अहिंसा धर्म का नाश करता है। कहो, समझ में आया इसमें ? दो बोल हुए ? क्या हुए ?

मुमुक्षु : निश्चयाभासी होकर...

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें से क्या समझना ?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके निमित्त से होता है, परन्तु मानता है कि हमारे भ्रष्टाचार वर्ते तो वर्ते, चाहे जैसे वर्ते। ऐसा माननेवाले निश्चयाभासी, भ्रष्टाचार में प्रवर्तते, अपने शुभ उपयोग का भी उसे ठिकाना नहीं। समझ में आया ? और एकान्त शुद्ध-उपयोग के भान बिना मात्र दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के शुभभाव में हेय-उपादेयबुद्धि के परद्रव्य के त्याग-ग्रहण में ही जिनका विकल्प रुका हुआ है, वह बाह्य साधन में ही पड़ा है, परन्तु अन्तर साधन स्वभाव वस्तु सत्.. सत्.. सत्.. चैतन्यपिण्ड प्रभु के अन्तर्मुख का पुरुषार्थ नहीं करता, वह अन्तर के शुद्धोपयोगरूपी अहिंसा का नाश करता है। कहो, समझ में आया इसमें ? **आगे द्रव्यहिंसा और भावहिंसा की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न प्रकार के भंग बताते हैं।** अब तो द्रव्यहिंसा और भावहिंसा के भंग-प्रकार बताते हैं। विचित्र प्रकार इसमें वर्णन करेंगे।

गाथा - ५१

उसके आठ सूत्र कहते हैं –

अविधायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफलभाजनं न स्यात्।।५१।।

नित एक हिंसा कर भी हिंसा, फल नहीं है भोगता।
पर अन्य हिंसा नहीं कर भी, हिंस फल को भोगता।।५१।।

अन्वयार्थ : (हि) निश्चय से (एकः) एक जीव (हिंसा) हिंसा (अविधाय अपि) न करते हुए भी (हिंसाफलभाजनं) हिंसा के फल को भोगने का पात्र (भवति) बनता है और (अपरः) दूसरा (हिंसा कृत्वा अपि) हिंसा करके भी (हिंसाफलभाजनं) हिंसा के फल को भोगने का पात्र (न स्यात्) नहीं होता।

टीका : 'हि एकः हिंसा अविधाय अपि हिंसाफलभाजनं भवति' – निश्चय से कोई एक जीव हिंसा न करने पर भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र बनता है।

भावार्थ : किसी जीव ने बाह्य हिंसा तो नहीं की है परन्तु प्रमादभावरूप से परिणमन किया है, इस कारण वह जीव उदयकाल में हिंसा के फल को भोगता है। 'अपरः हिंसा कृत्वा अपि हिंसाफलभाजनं न स्यात्' – दूसरा कोई जीव हिंसा करके भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र नहीं होता।

भावार्थ : किसी जीव ने शरीर सम्बन्ध से बाह्य हिंसा तो उत्पन्न की है परन्तु प्रमादभावरूप परिणमन नहीं किया। अतः वह जीव हिंसा के फल का भोक्ता नहीं होता।।५१।।

गाथा ५१ पर प्रवचन

उसके आठ सूत्र कहते हैं –

अविधायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफलभाजनं न स्यात्।।५१।।

ओहो..हो..! इसका **अन्वयार्थ : निश्चय से एक जीव हिंसा न करते हुए भी..** भाषा देखो! **'अविधायापि हिंसा' न करते हुए भी 'हिंसाफलभाजनं' हिंसा के फल को भोगने का पात्र बनता है और दूसरा हिंसा करके भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र नहीं होता।** कषाय की प्रधानता से बात करते हैं। समझ में आया?

'हि एकः हिंसा अविधाय अपि हिंसाफलभाजनं भवति' यह अमृतचन्द्राचार्य, पंच महाव्रतधारि के शब्द। **निश्चय से कोई एक जीव हिंसा न करने पर भी,...** निश्चय से। **हिंसा के फल को भोगने का पात्र बनता है।**

किसी जीव ने.. अब स्पष्टीकरण करते हैं। **बाह्य हिंसा तो नहीं की..** बाह्य एकेन्द्रिय आदि को मारता नहीं **परन्तु प्रमादभावरूप से परिणमन किया है।** अन्दर कषायभावरूप से प्रमाद, प्रमाद परिणाम से हिंसा है न, उसकी यह व्याख्या है। प्रमादभावरूप से परिणमित हुआ है, कषायभावरूप से हुआ है, **इस कारण वह जीव उदयकाल में हिंसा के फल को भोगता है।** बाह्य हिंसा करता नहीं, हिंसा की क्रिया बाहर होती नहीं परन्तु अन्दर प्रमाद के परिणाम जो मिथ्यात्व, अज्ञान, राग-द्वेष चाहिए, उस परिणाम से उसे बन्धन होता है; इसलिए वह उदयकाल में हिंसा का फल भोगेगा। हिंसा नहीं करता और उदयकाल में हिंसा का फल भोगेगा। यह कैसी विचित्रता? विचित्रता अन्दर के परिणाम पर है - ऐसा कहते हैं।

बाहर हिंसा नहीं हुई, नहीं हुई, उस काल में क्रिया उस प्रकार की अवस्था नहीं होने की थी, वह बाह्य हिंसा नहीं हुई परन्तु अन्दर प्रमाद, राग-द्वेष के, मिथ्या आदि के परिणाम में जुड़ने से उसे हिंसा हुई। उसका बन्ध होगा, उसके उदय फल में उदय के फल को भोगेगा। हिंसा के फल को भोगेगा। हिंसा की नहीं, तथापि हिंसा के फल को भोगेगा। बाह्य हिंसा नहीं की परन्तु अन्दर हिंसा की, ऐसा। यहाँ द्रव्य-भाव की बात है न, देखो न! ऊपर से। द्रव्य-भावहिंसा के सब भंग लेंगे। बाह्य हिंसा नहीं की, परन्तु अन्दर में हिंसा—राग-द्वेष प्रमाद में परिणमा, उसे फल काल में हिंसा का फल आयेगा। कहो, बराबर है? आहा..हा..!

'अपरः हिंसा कृत्वा अपि हिंसाफलभाजनं न स्यात्' - दूसरा कोई जीव **हिंसा करके भी..** बाह्य, बाह्य की हिंसा होने पर भी **हिंसा के फल को भोगने का पात्र नहीं होता।** अन्दर कषाय परिणाम की तीव्रता नहीं है। हिंसा बाहर में होती है। समझ में आया? परन्तु अन्दर में परिणाम में हिंसा का भाव, कषायभाव नहीं है; इसलिए हिंसा के फल को नहीं पायेगा। आहा..हा..! समझ में आया?

मुमुक्षु : अधिक उलझन होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उलझन का हल करते जाते हैं। बाह्य हिंसा नहीं हुई और अन्दर परिणाम राग-द्वेष के हैं तो हिंसा का फल पायेगा। बाहर हिंसा हुई, अन्दर कषाय की तीव्रता नहीं तो हिंसा के फल को नहीं पायेगा। सीधी बात है। कहो, भाव पर बात है। आगे कहेंगे। समझ में आया? **कषायणुभावेन, हिंसाणुभावेन** हिंसा का अणुभाव-कषाय के.. यह ५४ गाथा में आता है।

उसके परिणाम में मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद कैसा वर्तता है, उस पर हिंसा है - ऐसा सिद्ध करना चाहते हैं। बाहर में हिंसा नहीं हुई, परन्तु अन्दर में मिथ्यात्व परिणाम को सेवन करता है। मैंने हिंसा नहीं की, हों! बहुत जीव को मैंने नहीं मारा, हों! नहीं तो मैं दूसरे को मार डालता। मैंने बहुतों को नहीं मारा। समझ में आया? ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, बाहर में हिंसा नहीं परन्तु मिथ्यात्वभाव से आत्मा में हिंसा हुई तो हिंसा के फल को भोगेगा। बाहर में वह हिंसा नहीं कर सका। समझ में आया? भाव हुआ। कषाय से बाह्य हिंसा हुई, क्रिया से कदाचित् हिंसा हुई, परन्तु अन्दर मैं दूसरे को मार सकता हूँ या मैंने मारा है, यह भाव अभिप्राय में नहीं। समझ में आया? तथा तीव्र आसक्ति नहीं, तो बाह्य हिंसा होने पर भी हिंसा का फल उसे नहीं है। वजुभाई!

यह सब भंग वर्णन करके क्या करना होगा? उसके अभिप्राय में भूल और कषाय की भूल दो मिटाने के लिये बताते हैं। समझ में आया? परजीव को नहीं मारता हो, परन्तु अन्दर में मैंने नहीं मारा, इसलिए बचा। समझ में आया? मैंने ऐसा नहीं किया न, इसलिए ऐसा हुआ। यह बाहर नहीं हुआ परन्तु अभिप्राय में मिथ्या है, इसलिए उसे हिंसा हुई है। समझ में आया? और एक में हिंसा बाह्य हुई, अभिप्राय मैं कर सकूँ या न कर सकूँ, मैं तो

ज्ञानस्वरूप हूँ। थोड़ा राग था तो बाहर में हिंसा बहुत हुई, तथापि उसका फल उसे नहीं है। समझ में आया?

मुमुक्षु : बाहर की नजर नहीं करना बस!

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर की नजर कहाँ थी बाहर में? नजर तो अन्दर में रही।

किसी जीव ने शरीर सम्बन्ध से बाह्य हिंसा तो उत्पन्न की है.. लो! शरीर सम्बन्ध में जीव मरा, चींटी मर गयी, मकोड़ा मर गया। शरीर सम्बन्धी। **परन्तु प्रमादभावरूप परिणमन नहीं किया।** लो, हिलते हुए ध्यान रखा था, उपयोग बराबर था। शरीर से कोई जीव मर गया। **अतः वह जीव हिंसा के फल का भोक्ता नहीं होता।** ओहो..हो..! ऐसा मार्ग! वीतराग का मार्ग अनेकान्तस्वरूप परिणमित तत्त्व। कहते हैं कि अन्दर में उसके परिणाम में हिंसा का भाव, मिथ्यात्व आदि का नहीं। बाहर में, शरीर में कुछ हो गयी। चलते हुए चींटी मर गयी.. समझ में आया? तथापि उसका फल उसे नहीं है। एक ने हिंसा नहीं की और फल है तो उसका फल मिथ्यात्व का आता है और एक की हिंसा हुई, मिथ्यात्व आदि नहीं, उसे फल नहीं आता। देखो! यह गहन न्यायचक्र।

गाथा - ५२

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके।।५२।।

है अल्प हिंसा भी किसी को, फल बहुत दे उदय में।
पर महा हिंसा भी किसी को, अल्पफल दे उदय में।।५२।।

अन्वयार्थ : (एकस्य) एक जीव को तो (अल्पा) थोड़ी (हिंसा) हिंसा (काले) उदय काल में (अनल्पम्) बहुत (फलं) फल को (ददाति) देती है और (अन्यस्य) दूसरे जीव को (महाहिंसा) महान हिंसा भी (परिपाके) उदय काल में (स्वल्पफला) अत्यन्त थोड़ा फल देनेवाली (भवति) होती है।

टीका : 'एकस्य अल्पा हिंसा काले अनल्पं फलं ददाति' – किसी एक जीव को थोड़ी सी हिंसा उदयकाल में बहुत फल देती है।

भावार्थ : किसी जीव ने बाह्य हिंसा तो थोड़ी ही की परन्तु प्रमादी होकर कषायरूप बहुत परिणमन किया, इसलिये उदयकाल में हिंसा का फल बहुत पाता है। 'अन्यस्य महाहिंसा परिपाके स्वल्पफला भवति' – अन्य किसी जीव की बड़ी हिंसा उदयकाल में थोड़े ही फल को देनेवाली होती है।

भावार्थ : किसी जीव ने कारणवश बाह्य हिंसा तो बहुत की परन्तु उस क्रिया में उदासीन रहा, कषाय थोड़ी की, इसलिए उदयकाल में हिंसा का फल भी थोड़ा ही प्राप्त करता है।।५२।।

गाथा ५२ पर प्रवचन

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके।।५२।।

भाषा देखो! पाठ, हों! यह पाठ ऐसा बोलता है। **एक जीव को तो थोड़ी हिंसा उदय काल में बहुत फल को देती है..** वर्तमान में बाहर थोड़ी हिंसा हो, अन्दर में मिथ्यात्व आदि के तीव्र परिणाम हैं, उसका फल भविष्य में बहुत फल देगी। **'अनल्पम्'** बहुत बाह्य में हिंसा थोड़ी हुई, अन्दर में मिथ्यात्व और कषाय के परिणाम की तीव्रता है, वह हिंसा उदय काल में बहुत फल देगी। आहा..हा..! समझ में आया?

और दूसरे जीव को महान हिंसा भी.. बहुत हिंसा हुई। बड़े युद्ध होते हैं परन्तु **उदय काल में अत्यन्त थोड़ा फल देनेवाली होती है।** बाहर में देखो तो ऐसे बड़ी हिंसा दिखे, अभ्यन्तर में मिथ्यात्व आदि के परिणाम नहीं और प्रमाद भी तीव्र नहीं, तीव्र राग नहीं, बहुत राग मन्द हो। इसलिए महा हिंसा बाहर में होने पर भी, उसका फल अल्प हिंसा का आयेगा। आहा..हा..! कहो, समझ में आया इसमें? भगवानभाई! देखो! इसमें फिर बाहर का तो कुछ रहता नहीं। कहते हैं कि ऐसे बाहर में शरीर सम्बन्धी हिंसा बहुत हुई। देखो! ऐसे लड़ाई में राजकुमार हो, सम्यग्दृष्टि है। अनन्तानुबन्धी का अभाव है, मिथ्यात्व का अभाव है, तीन कषाय की बहुत मन्दता का भाव रहा है। ऐसे देखो तो हाथियों का

संहार.. लाखों का। बाह्य में हिंसा बहुत लगती है परन्तु उसका फल अल्प हिंसा-थोड़ा है। समझ में आया?

मुमुक्षु : इसका अर्थ अन्याय तो नहीं होता न?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसे? पूछा न! कहते हैं कि परिणाम पर बन्ध है या बाहर की क्रिया पर बन्ध है? ऐसा कहते हैं। बाहर की क्रिया तो उस समय में उन परमाणु की पर्याय का होना हो वह हो। इससे कहीं उसे बाह्य में हिंसा बहुत हुई, इसलिए उसे पाप अधिक लगता है - ऐसा है ही नहीं। प्रवीणभाई! बहुत कठोर न्याय हैं ये। समझ में आया? आहा..हा..! पहले में तो आ गया, बाह्य में दया का भाव है। ऐसे परजीव को न मारूँ, इसको ऐसा करूँ, ऐसा करूँ - ऐसा भाव है परन्तु अन्दर मिथ्यात्वभाव है। वह उसका स्वामी होता है और स्वामी होता है, मैंने यह किया, मैंने ऐसा किया, मैंने ऐसा किया, मैंने इसे आहार दिलाया, मैंने इसे दान दिलाया। कहो, समझ में आया? होते हैं न ऐसे लोग, पाँच मण चावल पकाते हों तो एक मनुष्य दयालु आवे। भाई! इसमें आधे मण अधिक पकाओ, गरीबों को दिया जायेगा। वह मानता है कि मैंने बहुतों की दया पालन की। अन्दर उसे बड़ा पाप लगा। मैंने यह सब किया, मैंने ऐसा किया तो ऐसा हुआ - ऐसे मिथ्या अभिप्राय के कारण महापाप लगता है। कहो, समझ में आया इसमें? आहा..हा..! पोपटभाई! अरे! यह कैसी जैन की...! वह कहे, भाई! देखो! पाँच मण तो हमें पकाना है न? तो गरीबों का एक मण तो इकट्ठा डालो। यह दया के लिये मैंने जीभ प्रयोग की थी। ऐसे देखो तो दया के भाव दिखें, अन्दर में मिथ्यात्व परिणाम तीव्र है। क्योंकि उसे (ऐसा है कि) मैंने ऐसा किया तो ऐसा हुआ और मैंने ऐसा किया तो दूसरे को मिला और मैंने ऐसा किया तो ऐसा हुआ—ऐसी जो मिथ्या श्रद्धा, उसका उसे महान पाप लगता है। जिसके फलरूप से महान पाप का उदय आयेगा। समझ में आया?

यह तो पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है। अमृतचन्द्राचार्य, गहन वन में-न्याय चक्र में ले जाते हैं। **'एकस्य अल्पा हिंसा काले अनल्पं फलं ददाति' - किसी एक जीव को थोड़ी सी हिंसा उदयकाल में बहुत फल देती है।**

किसी जीव ने बाह्य हिंसा तो थोड़ी ही की.. समझ में आया? अन्दर में

कषाय बहुत है। **परन्तु प्रमादी होकर कषायरूप बहुत परिणमन किया इसलिये उदयकाल में हिंसा का फल बहुत पाता है।** समझ में आया? **'अन्यस्य महाहिंसा परिपाके स्वल्पफला भवति'** यह पंच महाव्रतधारी मुनि ऐसा कहें! द्रव्यहिंसा की दरकार छोड़ देते हैं? वस्तु का स्वरूप ऐसा है, ऐसा कहते हैं ये। **अन्य किसी जीव की बड़ी हिंसा..** बाहर में बहुत हिंसा (होती है) **उदयकाल में थोड़े ही फल को देनेवाली होती है।** उदयकाल में उसे फल थोड़ा है क्योंकि अन्दर के मिथ्यात्व और कषाय के परिणाम बहुत नहीं हैं। कषाय के हों तो थोड़े हों, मिथ्यात्व तो है ही नहीं। वह बहुत हिंसा में उसे थोड़ा फल मिलेगा। **बड़ी हिंसा उदयकाल में थोड़े ही फल को देनेवाली होती है।** लो! ओहो..हो..! गहन बात। समझ में आया?

भावार्थ : किसी जीव ने कारणवश बाह्य हिंसा तो बहुत की.. बाहर की हुई। की ना हो, भाषा-व्यवहार से कहते हैं, हों! हिंसा कर सकता है, यह फिर वापस इसमें से ले तो उल्टा चौपट कर देगा। ऐई! भाषा तो ऐसी है, देखो! **किसी जीव ने कारणवश बाह्य हिंसा तो बहुत की..** देखो! बाह्य हिंसा तो बहुत की। कर सकता है न? परन्तु बाह्य हिंसा उसकी उपस्थिति में बहुत दिखती है, उसके शरीर से, आस-पास के आचरण से। समझे न? हुकम करे कि ऐसा करो.. ऐसा करो.. जाओ। **परन्तु उस क्रिया में उदासीन रहा,..** अन्दर में उदास, अरे! यह मेरे न हो। यह क्या? अन्दर बहुत उदास है। भले थोड़ा राग है परन्तु अन्दर में बहुत उदास है।

कषाय थोड़ी की, इसलिए उदयकाल में हिंसा का फल भी थोड़ा ही प्राप्त करता है। कहो, बराबर है यह? अरे! ऐसी विचित्र बात। भाई! यह देखो! यहाँ पुरुषार्थसिद्धि-उपाय व्याख्यान में यह पहली बार पढ़ा जाता है। कभी पढ़ा नहीं था। तीन दिन से तुम्हारे यहाँ... आधी नौकरी की तो भी। कहो, समझ में आया इसमें? गजब भंग! भाई! ऐसे मुनि महाव्रतधारी, जिन्होंने समयसार की टीकाएँ कीं, अध्यात्म की, वे यह दर्शन-ज्ञान की व्याख्या कर गये हैं; पश्चात् दर्शन, ज्ञानी जीव को त्याग-चारित्र जो बताते हैं, उसकी अन्दर की इस व्याख्या में यह बताते हैं। समझ में आया? सम्यग्दर्शन-ज्ञान की व्याख्या तो कह गये हैं। उसके बाद का उसका त्याग, आचरण किस प्रकार का होता है, देश

आचरण और सर्वविरती। देशविरती और सर्वविरती कैसी होती है, उसका स्पष्टीकरण करने में यह सब बात ली है। समझ में आया?

श्रावक हो, पंचम गुणस्थान में हो, बाहर अरबोंपति बड़े जहाज का धन्धा (हो) अरबोंपति हो, लो! बाहर में देखो तो हिंसा इतनी लगे, अन्दर में कषाय बहुत अल्प है; इसलिए हिंसा थोड़ी है और एक साधारण प्राणी है, बाह्य में हिंसा थोड़ी दिखती है, व्यापार साधारण, थोड़ी हिंसा (दिखायी दे), अन्दर में मिथ्यात्व के परिणाम हैं, मैंने यह किया - ऐसे अभिप्राय का कषाय बहुत है, (उसे) बहुत पाप लगता है।

मुमुक्षु : उसमें करना क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहो, क्या करना उसमें कनुभाई! इसका टोटल क्या करना, यह कहते हैं। इसलिए कहते हैं कि अन्दर में मिथ्यात्व के और कषाय के परिणाम नहीं करना। सम्यग्दर्शन और शान्ति के, चारित्र के परिणाम करना - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? सम्यग्दर्शन के पश्चात् भी किसी को बाह्य आचरण में बहुत हिंसा होती है और अन्तर के परिणाम में कषाय बहुत मन्द है। समझ में आया? तो उसे थोड़ा फल देगी हिंसा। किसी को बाहर में हिंसा थोड़ी है, अन्दर में कषाय बहुत है तो उसे बहुत फल, बहुत फल देगी। अन्दर के भाव मिथ्यात्व और कषाय पर पूरा जोर है। बाहर के आचरण में यह अधिक स्त्रियाँ रखता है.. देखो! उसमें 'लालनजी' कहते थे न? कहे, लो यह हमारे 'एडवर्ड' आजीवन एक रानी रखे, तुम्हारा चक्रवर्ती ऐसा कि ९६ हजार रानी रखे। व्यभिचारी है, ऐसा कहते थे। 'लालन' पण्डित नहीं थे? अरे! सुनो लालन! पढ़-पढ़कर शून्य किये सब। खिचड़ी की, खिचड़ी। किसी के शरीर के रजकण अधिक हों, बड़ा बारह मण का शरीर हो, आठ मण का हो तो शरीर के रजकण अनुसार उसे पाप लगता होगा?

मुमुक्षु : उसमें कोई मरता कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : तो यह क्या? यह भी रजकण, वह बाहर की चीज़ है, वह तो उसके कारण से उसके संयोग से आयी है। अधिक स्त्रियाँ, इसलिए अधिक पाप; एक स्त्री, इसलिए थोड़ा पाप - ऐसा तुझे कहा किसने? ऐसा लाये कहाँ से? खिचड़ी की है, कहा। खिचड़ी वह दाने की नहीं, दाना और कंकर इकट्ठा। यहाँ बैठते, यहाँ बैठते। ९५ वें वर्ष में गुजर गये न? (संवत्) २००९ के साल में गुजर गये।

किसी जीव ने कारणवश बाह्य हिंसा तो बहुत की.. सम्यग्दृष्टि जीव होता है, जिसे आत्मा का, अनुभव का भान होता है, वह कदाचित् बाहर के कारण से युद्ध आदि में भी जुड़ जाये तो बाहर में बहुत हिंसा दिखती है। **परन्तु उस क्रिया में उदासीन रहा,..** है। सम्यग्दृष्टि जीव (को) आत्मा का अनुभव होता है, उस सम्यग्दृष्टि को आत्मा के आनन्द का स्वाद आया होता है; इसलिए गृहस्थाश्रम में रहा होने पर भी, कोई राजकुमार आदि हो और युद्ध करना पड़े तो बाह्य में देखो तो हिंसा बहुत दिखती है। अनेक हाथी, घोड़ा आदि के संहार दिखायी दें परन्तु उस क्रिया में उदासीन है। अन्तर में उसका अभिप्राय मारने आदि का नहीं है। थोड़ा किया, **कषाय थोड़ी की,..** राग मन्द है। **इसलिए उदयकाल में हिंसा का फल भी थोड़ा ही प्राप्त करता है।** बाह्य देखो तो हिंसा बहुत है, अन्तर अभिप्राय और कषाय बहुत मन्द है, अभिप्राय सुलटा है और कषाय मन्द है; इसलिए उसे फल बहुत हिंसा होने पर भी परिणाम में अल्प हिंसा का फल उसे आयेगा। समझ में आया?

एक को मन्द हिंसा-बाहर में थोड़ी हिंसा हो। मन, वाणी, देह की क्रियायें, जड़ की पर्याय में थोड़ी हिंसा दिखायी दे परन्तु अन्दर में उसके अभिप्राय में कषाय और मिथ्यात्व की तीव्रता है; इसलिए उस अल्प हिंसावाले को भी अन्दर में तीव्र मिथ्यात्व और कषाय के जोर की हिंसा के कारण, उसके फल में तीव्र हिंसा का फल पायेगा। समझ में आया? यहाँ '**प्रमत्त योगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा**'—इस पर पूरी व्याख्या चलती है। प्रमादयोग अन्दर मिथ्यात्व का और राग-द्वेष के परिणाम, उनमें जुड़ने से जो हिंसा होती है, वही हिंसा है। बाहर की थोड़ी-बहुत हिंसा के प्रमाण में उसे बन्ध का कारण नहीं है, उसे बन्ध का कारण नहीं; बन्ध का कारण तो उसके जो अभिप्राय और राग-द्वेष के परिणाम, वह बन्ध का कारण है। समझ में आया? ५२ वीं गाथा हुई। अब ५३ वीं गाथा।

गाथा - ५३

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले।।५३।।

युगपत् मिले हिंसा उदय में, विविधतामय ही रही।
वह किसी को दे तीव्र फल, दे किसी को अत्यल्प ही।।५३।।

अन्वयार्थ : (सहकारिणो: अपि हिंसा) एक साथ मिलकर की हुई हिंसा भी (अत्र) इस (फलकाले) उदयकाल में (वैचित्र्यम्) विचित्रता को (व्रजति) प्राप्त होती है और (एकस्य) किसी एक को (सा एव) वही हिंसा (तीव्रं) तीव्र (फलं) फल (दिशति) दिखलाती है और (अन्यस्य) किसी दूसरे को (सा एव) वही (हिंसा) हिंसा (मन्दम्) तुच्छ फल देती है।

टीका : 'सहकारिणो: अपि हिंसा अत्र फलकाले वैचित्र्यं व्रजति' - दो पुरुषों के द्वारा एक साथ मिलकर की गई हिंसा फल के समय विचित्ररूप-अनेक प्रकारता को प्राप्त होती है, वही कहते हैं। 'एकस्य सैव तीव्रं फलं दिशति' - एक पुरुष को तो वही हिंसा तीव्र फल को देती है, 'अन्यस्य सा एव मन्दं फलं दिशति' - दूसरे जीव को वही हिंसा मन्दफल देती है।

भावार्थ : दो पुरुषों ने बाह्य हिंसा तो एक साथ की परन्तु उस कार्य में जिसने तीव्र कषाय से हिंसा की, उसके आसक्तता अधिक होने से उदयकाल में तीव्र फल होता है; जिसके मन्दकषाय से आसक्तता विशेष नहीं हुई, उसे उदयकाल में मन्दफल प्राप्त होता है।।५३।।

गाथा ५३ पर प्रवचन

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले।।५३।।

एक साथ मिलकर की हुई हिंसा.. हजारों, लाखों लोग एक साथ बैठे हों और हिंसा एक साथ हुई हो, तथापि **इस उदयकाल में विचित्रता को प्राप्त होती है..** उनके प्रत्येक के परिणाम में अन्तर होता है। आगे दृष्टान्त देंगे, हों! **और किसी एक को वही हिंसा तीव्र फल दिखलाती है और किसी दूसरे को वही हिंसा तुच्छ फल देती है।** सब इकट्ठे होकर खड़े होते हैं। समझ में आया?

दो पुरुषों के द्वारा एक साथ मिलकर की गई हिंसा, फल के समय विचित्ररूप-अनेक प्रकारता को प्राप्त होती है,.. दो पुरुष एक साथ चाहें और ऐसे हिंसा एक साथ होती है, तथापि परिणाम में प्रत्येक को अन्तर होता है। प्रत्येक के एक ही समान परिणाम नहीं होते। **दो पुरुषों के द्वारा एक साथ मिलकर की गई हिंसा, फल के समय..** उसके फल के काल में **विचित्ररूप-अनेक प्रकारता को प्राप्त होती है,..** जैसे उसके परिणाम, परिणाम पर उसे फल है। बाहर की क्रिया का कितना माप हिंसादि (हो), उसका माप नहीं। कहो, समझ में आया इसमें? **वही कहते हैं। एक पुरुष को तो वही हिंसा तीव्र फल को देती है,..** हों दोनों ने एक साथ की हुई। एक को तीव्र फल देती है, **दूसरे जीव को वही हिंसा मन्दफल देती है।** कहो, समझ में आया इसमें? ऐसा वीतरागमार्ग अन्तर के परिणाम पर आधार रखता है। बाहर के आचरण पर आधार नहीं रखता। समझ में आया?

दो पुरुषों ने बाह्य हिंसा तो एक साथ की परन्तु उस कार्य में जिसने तीव्र कषाय से हिंसा की.. अन्दर कषाय का जोर बहुत था। **उसके आसक्तता अधिक होने से..** उसकी आसक्ति बहुत होने से **उदयकाल में तीव्र फल होता है..** उसका पाप का फल आयेगा, तब तीव्र आयेगा। **जिसके मन्दकषाय से आसक्तता विशेष नहीं हुई..** थोड़ा होता हो न उसमें? **उसे उदयकाल में मन्दफल प्राप्त होता है।** उसके अन्तर के विकारी परिणाम पर हिंसा-अहिंसा की व्याख्या है। कहो, समझ में आया? बहुत भंग लिये।

एक तो यह लिया न पहले से? कि निश्चय का भान नहीं—शुद्ध चिदानन्द निर्विकल्प आनन्द का भान नहीं और बाह्य आचरण में दया के परिणाम को करता नहीं। भ्रष्टाचार से वर्ते तो वर्तें, हमारे क्या? ऐसे माननेवाले भी मिथ्यादृष्टि, निश्चयाभासी हैं। एक यह बोल लिया।

दूसरा बोल ऐसा लिया कि जो कोई अकेले बाह्य ग्रहण-त्याग के व्यापार में रुका हुआ शुभभावी जीव है। उपवास करना, आहार छोड़ना, देव-गुरु-शास्त्र का आदर करना, कुदेव का (आदर) छोड़ना, ऐसे बाह्य पदार्थ के ग्रहण-त्याग के उपयोगरूपी शुभभाव में वर्तता है, वह आत्मा के शुद्ध चिदानन्दस्वरूप जो व्यापार, वह राग शुभ उपयोग से भिन्न, शुद्ध चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति का जो शुद्ध उपयोगरूप आचरण, उसकी हिंसा करते हैं। यह हिंसा-अहिंसा की सब व्याख्या है। आहा..हा..! समझ में आया? अन्तर के शुद्ध उपयोग आचरण (नहीं), जो अकेला शुभराग दया, दान, व्रत, भक्ति के विकल्प में रुका हुआ है और वह साधन मानकर पड़ा है, उसे उस शुभरागरहित मेरा चैतन्य शुद्ध आनन्दस्वरूप है, उसके श्रद्धा-ज्ञान को प्रगट नहीं करता, शुद्ध आचरण को प्रगट नहीं करता, वह अपने शुद्ध उपयोगरूपी अहिंसा धर्म का, उस शुभभाव में अटका हुआ, अपने अहिंसा धर्म का नाश करता है। गजब, भाई! यह... ऐई! दीपचन्दजी! इसमें है या नहीं? पढ़ा था या नहीं कभी यह? समझ में आया? ऐसे दो भंग पहले लिये थे।

फिर एक (जीव) हिंसा न करने पर भी हिंसा के फल को भोगता है। बाह्य हिंसा करता नहीं, परन्तु अन्दर में हिंसा के मिथ्यात्व के और राग-द्वेष के परिणाम हैं, समझ में आया? उस हिंसा के फल को भोगता है। क्योंकि मिथ्या परिणाम, मिथ्या श्रद्धा और राग-द्वेष के परिणाम हैं, वही वास्तविक हिंसा है। बाहर में हिंसा न करता हो। लो! समझ में आया?

दूसरा हिंसा करके भी हिंसा का फल भोगने का पात्र नहीं होता। बाहर में हिंसा युद्ध आदि में होती है। अन्दर में सम्यग्दृष्टि ज्ञान उदास, उदास.. अन्तर में ध्यान-आनन्द के अपने आनन्द के स्वाद के समक्ष उसे कहीं आनन्द नहीं आता। वह जरा अशुभराग-द्वेष हुआ, परन्तु उसमें उसे प्रीति / प्रेम नहीं है। इसलिए बाह्य में हिंसा बहुत होने पर भी, अन्तर में उसके परिणाम बहुत सम्यग्दर्शन-ज्ञान से रूखे हैं; इसलिए वह फल भोगने का पात्र नहीं होता। गजब बात, भाई! समझ में आया?

एक थोड़ी हिंसा करता है और बहुत फल को पाता है। कहो, एक थोड़ी हिंसा करता है, बाहर में थोड़ी हिंसा होती है, अन्दर में तीव्र मिथ्यात्व और राग-द्वेष हों, (वह)

बहुत फल को पाता है। एक महाहिंसा करे, वह अल्प फल को पाता है। बाहर में महाहिंसा हो, अन्दर में राग-द्वेष मन्द हों, वह अल्प फल को पाता है।

दो व्यक्ति साथ में पाप करनेवाले (हों)। यह ५३ वाँ... समझ में आया? दो व्यक्ति, चार व्यक्ति एकत्रित होकर बाहर में हिंसा हुई है परन्तु उनके परिणाम में जैसे परिणाम तीव्र आसक्त या मन्द हों, उनके प्रमाण में उन्हें फल विचित्र प्रकार से मिलता है। लो! एक पुरुष को वह हिंसा तीव्र (फल) दे, दूसरे को वह मन्द दे। ऐसी वीतरागमार्ग में अन्तर के मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेष के परिणाम पर हिंसा-अहिंसा की व्याख्या है। समझ में आया? ५३वीं गाथा हुई। अब ५४ वीं गाथा।

गाथा - ५४

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृता अपि।
आरभ्य कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन।।५४।।

करने से पहले ही फले, करते फले पश्चात् भी।
आरम्भ कृत बिन फले हिंसा, अनुभवानुसार ही।।५४।।

अन्वयार्थ : (हिंसा) कोई हिंसा (प्राक् एव) पहले ही (फलति) फल देती है कोई (क्रियमाणा) करते करते (फलति) फल देती है, कोई (कृता अपि) कर लेने के बाद (फलति) फल देती है (च) और कोई (कर्तुम् आरभ्य) हिंसा करने का आरम्भ करके (अकृता अपि) न किये जाने पर भी (फलति) फल देती है। इसी कारण (हिंसा) हिंसा (अनुभावेन) कषायभाव अनुसार ही (फलति) फल देती है।

टीका : 'च हिंसा प्राक् एव फलति' - कोई हिंसा पहले फल देती है।

भावार्थ : किसी जीव ने हिंसा का विचार किया था परन्तु वह तो नहीं बन सकी किन्तु उस विचार से जो कर्म बाँधा था, उसका फल उदय में आया। तत्पश्चात् हिंसा का जो विचार किया था, वह कार्य भी बाह्य में बन गया, इस तरह हिंसा पहले ही फल देती है। 'क्रियमाणा फलति' - तथा कोई हिंसा करते समय ही फल देती है।

भावार्थ : किसी ने हिंसा का विचार किया और उससे जो कर्मबन्ध किया, वह कर्म जिस समय उदय में आया, उसी समय विचारानुसार बाह्य हिंसा बन गई। इस तरह हिंसा करते हुए ही उसका फल प्राप्त होता है। 'कृता अपि च फलति' – तथा कोई हिंसा करने के बाद फल देती है।

भावार्थ : किसी ने हिंसा का विचार किया और विचार अनुसार बाह्य हिंसा भी कर ली परन्तु उसका फल बाद में उदय में आया, इस भाँति कर लेने के बाद में हिंसा फलित हुई। 'हिंसा कर्तुम् आरभ्य अपि फलति' – किसी ने हिंसा करने की शुरुआत की परन्तु बाद में नहीं की तो भी वह फलित होगी।

भावार्थ : कोई जीव हिंसा का विचार करके हिंसा करने में उद्यमी हुआ, किन्तु बाद में कारणवश हिंसा नहीं की। ऐसी हिंसा भी फल देती है। इस प्रकार फल होने का कारण कहते हैं।

'अनुभावेन' – कषायभाव अनुसार फल होता है। यही पद अगले सूत्रों में भी 'देहली दीपक न्याय' की तरह सर्वत्र जान लेना।

गाथा ५४ पर प्रवचन

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृता अपि।
आरभ्य कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन।।५४।।

कोई हिंसा पहले ही फल देती है.. यह श्लोक जरा सूक्ष्म है। कोई हिंसा पहले ही फल देती है, कोई करते करते फल देती है, कोई कर लेने के बाद फल देती है और कोई हिंसा करने का आरम्भ करके न किये जाने पर भी फल देती है। इसी कारण हिंसा कषायभाव अनुसार ही फल देती है। अन्तिम सारांश यहाँ (लिया)। 'हिंसानुभावेन' जितना इसे आत्मा को भूलकर मिथ्यात्वभाव करता है और आत्मा को भूलकर अस्थिरता के भाव जितना करता है। भूलकर अर्थात्? भान भले हो, परन्तु अस्थिरता जितना राग-द्वेष करता है, उतनी हिंसा है। समझ में आया? बाहर की अपेक्षा से हिंसा-अहिंसा का कोई प्रयोजन वीतरागमार्ग में नहीं है। कहो, समझ में आया इसमें? देखो!

'च हिंसा प्राक् एव फलति' - कोई हिंसा पहले फल देती है। इसकी व्याख्या।

किसी जीव ने हिंसा का विचार किया था... एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय को मारने की हिंसा की थी। **परन्तु वह तो नहीं बन सकी किन्तु उस विचार से जो कर्म बाँधा था, उसका फल उदय में आया।** बाहर में मारने की क्रिया नहीं हुई, किसी जीव को दु:ख देने की, इसे मारूँ, इसे करूँ, विचार आया परन्तु मार नहीं सका परन्तु उसके परिणाम से जो कर्म बाँधा, उसका फल उदय में आये बिना नहीं रहेगा। बाहर में किसी को मारा नहीं। अन्दर के परिणाम में उसे मारूँ ऐसा अशुभभाव किया। हिंसा हुई नहीं। वह मरा नहीं, इसलिए हिंसा हुई नहीं। **तत्पश्चात् हिंसा का जो विचार किया था वह कार्य भी बाह्य में बन गया,..** लो! **हिंसा का जो विचार किया था वह कार्य भी बाह्य में बन गया, इस तरह हिंसा पहले ही फल देती है।** हिंसा होने के पहले फल देती है, ऐसा कहते हैं। हिंसा का जो विचार किया था, वह कार्य बाह्य में बाद में बना। इस प्रकार हिंसा पहले फल देती है। गहन नयचक्र है।

मुमुक्षु : ऐसे भाव किये।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव (किये) परन्तु बाहर में फला नहीं परन्तु भाव किये, उसके परिणाम का फल इसे आये बिना नहीं रहेगा। यह हिंसा के पहले फल आया। फिर बाद में हिंसा हुई और बाद में वापस मारने का भाव हुआ और उसको मारा परन्तु वह भाव हुआ था, उसका फल इसे आया।

'क्रियमाणा फलति'-तथा कोई हिंसा करते समय ही फल देती है। किसी ने हिंसा का विचार किया और उससे जो कर्मबन्ध किया। राग-द्वेष के परिणाम किये। **उससे जो कर्मबन्ध किया। वह कर्म जिस समय उदय में आया, उसी समय विचारानुसार बाह्य हिंसा बन गई।** उदय में आया उस काल में। वह पहले और बाद में यह। यह साथ में। वह जिस समय उदय में फल आया, पहले हिंसा के, झूठ के परिणाम किये थे। मूल हिंसा शब्द से मिथ्यात्व और राग-द्वेष और अहिंसा शब्द से सम्यग्दर्शन और अविकारी परिणाम, उसका नाम अहिंसा। वीतराग के मार्ग की यह अहिंसा। परजीव को मारना, न मारने की अपेक्षा नहीं है। समझ में आया? कहो, यह अहिंसा होगी यहाँ?

भगवान की अहिंसा से स्वतन्त्र राज मिला। कहते हैं न? भगवान की अहिंसा से कुछ नहीं मिलता। उनकी अहिंसा से, आत्मा की अहिंसा से इसे आनन्द मिलता है। भगवान महावीर ने कहीं हुई अहिंसा से तो इसे आनन्द मिलता है, बाह्य की चीज़ नहीं मिलती। कान्तिभाई! यह सब भाषण-भाषण क्या कहे? बहुत रखते हैं न? भगवान की अहिंसा, वह गाँधीजी ने ली और गाँधीजी की अहिंसा के कारण स्वराज मिला। ऐई! मार गोला आड़ा-टेड़ा, कौन पूछनेवाला है? सामने कोई पूछे नहीं और कुछ खबर नहीं होती। भगवान महावीर की अहिंसा यह नहीं। महावीर की अहिंसा यह (कि) भगवान अखण्डानन्द प्रभु अनन्त गुण का धाम है, उसका अन्तर में मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेष का नाश करके, सम्यक्श्रद्धा और शान्ति अन्तर के स्वरूप में निर्दोष अविकारी परिणाम प्रगट हों, उसे महावीर की अहिंसा कहने में आता है। समझ में आया? दीपचन्दजी! हिन्दी है, हिन्दी? तुम्हारे पास कौन सी है? हिन्दी है न! अच्छा।

किसी ने हिंसा का विचार किया और उससे जो कर्मबन्ध किया। भाव से, देखा? **वह कर्म जिस समय उदय में आया उसी समय विचारानुसार बाह्य हिंसा बन गई। इस तरह हिंसा करते हुए ही उसका फल प्राप्त होता है।** जगत में भाव और बाह्य की क्रिया में ऐसा मेल नहीं कि बाह्य भाव हुआ और बाह्य हिंसा हो ही, ऐसा कहते हैं, मूल तो ऐसा कहते हैं। समझ में आया? और बाह्य हिंसा के प्रमाण में उसे बन्ध नहीं होता। बन्ध उसके परिणाम मिथ्यात्व और राग-द्वेष के प्रमाण में उसे संसार बढ़ता है।

'कृता अपि च फलति' - तथा कोई हिंसा करने के बाद फल देती है। किसी ने हिंसा का विचार किया और विचार अनुसार बाह्य हिंसा भी कर ली.. भाषा तो यहाँ व्यवहार से है न। **परन्तु उसका फल बाद में उदय में आया इस भाँति कर लेने के बाद में हिंसा फलित हुई।** तीसरा बोल लिया। कोई हिंसा पहले फलती है, कोई हिंसा बाद में फलती है, कोई हिंसा के समय वर्तमान में तुरन्त फलती है-ऐसा कहते हैं। विचित्र बात है। पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त मुनि वनवासी थे। जंगल में अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते थे। ऐसे आनन्द में एक विकल्प आया, यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय बन गया, रजकण की पर्याय से, आत्मा इसे बना नहीं सकता।

पुस्तक को आत्मा बना नहीं सकता, यह तो जड़ है, जड़ की परमाणु की पर्याय है। समझ में आया?

'हिंसा कर्तुम् आरभ्य अपि फलति' चौथा बोल **किसी ने हिंसा करने की शुरुआत की परन्तु बाद में नहीं की..** थोड़ी शुरुआत की परन्तु अब काम आ गया और रुक गया। **तो भी वह फलित होगी।** भाव हुआ न? भाव। भले बाहर हिंसा नहीं हुई। थोड़ी शुरुआत की, थोड़ा हुआ और बहुत नहीं हुई। भाव में बहुत है, फल देती है। **कोई जीव हिंसा का विचार करके हिंसा करने में उद्यमी हुआ, किन्तु बाद में कारणवश हिंसा नहीं की।** कोई प्रसंग आया, हिंसा नहीं हुई, **ऐसी हिंसा भी फल देती है। इस प्रकार फल होने का कारण कहते हैं।** अब इन सबका सारांश कहते हैं। इतने सब भंग कहे न? कि **'अनुभावेन', 'अनुभावेन'** एक शब्द है।

'अनुभावेन' – कषायभाव अनुसार फल होता है। लो! मिथ्यात्व भाव भी कषाय है। समझ में आया? पर की दया मैं पाल सकता हूँ, यह भाव भी मिथ्यात्व है। पर की हिंसा कर सकता हूँ, पर को मार सकता हूँ, यह भाव मिथ्यात्व है। मैं पर को सुख-दुःख दे सकता हूँ, यह भाव भी मिथ्यात्व है। पर से मुझे सुख-दुःख होता है, यह भाव भी मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व के प्रमाण में इसे बन्धन का कारण होता है – ऐसा कहते हैं। बाह्य के कारणों का कुछ है नहीं और अन्दर में कषाय। मिथ्यात्व उपरान्त फिर राग-द्वेष की जितनी आसक्ति होती है, उसके प्रमाण में इसे बन्धन, फल होता है। ज्ञानी को, समकिती को भी जितना राग-भाग बाकी है, उतनी उसे भी हिंसा है और उतना बन्ध है। समझ में आया? दीपचन्दजी! बहुत सूक्ष्म है।

मुनि, आत्मज्ञानी, आत्मदर्शी, आत्मध्यानी होते हैं और आत्मा के स्वरूप की रमणता तीन कषाय के अभाव की मुनि को हुई होती है। उन्हें पंच महाव्रत के अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प उठें, वह हिंसा है – ऐसा कहते हैं। शुभ की जितनी वृत्ति उठती है, वह भी हिंसा है। आत्मा के शुद्ध स्वभाव को घातकर उत्पन्न होती है। आहा..हा..! गजब की बात! कहाँ वीतराग की अहिंसा और कहाँ दुनिया ने मानी!

मुमुक्षु : अहिंसा दूर चली गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूर चली गयी। उसका स्वरूप बहुत गम्भीर पड़ा - ऐसा कहते हैं। भाई! यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ, जिन्हें एक समय में तीन काल-तीन लोक ज्ञात हुए हैं। जिनकी ज्ञानदशा में एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में, एक समय में अपने अनन्त गुण, द्रव्य और पर्याय और अनन्त तीन काल के द्रव्य, गुण और पर्याय, जिन्हें एक समय में भगवान को ज्ञात हुए हैं, उन भगवान की वाणी में ऐसा आया है। समझ में आया? परमेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा अनन्त हो गये, उन्होंने ऐसा कहा है। वर्तमान में परमात्मा विराजते हैं, महाविदेहक्षेत्र में त्रिलोकनाथ तीर्थंकर सीमन्धर प्रभु आदि विराजते हैं, लाखों केवली विराजते हैं। सबका यह कथन अनादि का एक है। जितना तेरे स्वभाव को भूलकर पर का करूँ-छोड़ूँ—ऐसा मिथ्यात्व भाव है, वह सब मिथ्यात्व का पाप है। उसे छोड़कर जितनी आसक्ति रागादि की शुभ दया-दान के, व्रत के परिणाम होते हैं, वह भी शुभराग है और वह भी परमार्थ से तो हिंसा है। ऐसा वीतराग सर्वज्ञ का कहा हुआ अहिंसा मार्ग है। दुनिया कहती है, उस प्रकार का अहिंसा मार्ग नहीं है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कौन है वीतराग का भक्त?

भगवान के कारण मुझे शुभराग हुआ; इस प्रकार जहाँ तक पर के कारण से राग होने की बुद्धि है, वहाँ तक वीतरागपना अंशमात्र भी नहीं होता तथा उस शुभराग से धर्म माननेवाले को भी किञ्चित्मात्र भी वीतरागता नहीं होती। सर्व प्रथम श्रद्धा में भी वीतरागता हुए बिना, राग का अभाव कैसे होगा? आत्मा स्वयं ही पराश्रयभाव से राग करता है और स्वाश्रयभाव से राग का अभाव करके वीतरागता भी स्वयं करता है। इस प्रकार पहचानें तो स्वाश्रयतापूर्वक वीतरागता प्रगट करे। इसका नाम है वीतराग का भक्त।

(- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है। अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त-मुनि वनवासी (थे)। उन्होंने जगत के हित के लिये यह एक पुरुषार्थसिद्धि बनाया है। पुरुषार्थसिद्धि का नाम उसका हेतु क्या? पुरुष अर्थात् आत्मा। वह चैतन्यस्वरूप आत्मा है। पुरुषार्थ-चैतन्यस्वरूप आत्मा का अर्थ, अर्थात् प्रयोजन, उसकी सिद्धि का उपाय। आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है। उसका प्रयोजन मुक्ति है। निर्मल शुद्ध आनन्द की प्राप्ति, उसका उपाय - उसका इसमें वर्णन है। इसमें सूक्ष्म वर्णन है। भंग चलते हैं, ये तो बहुत सूक्ष्म भंग चलते हैं। पहले तो यह उपाय कहा, पहले दर्शन, ज्ञान का वर्णन कर गये हैं, फिर यह बात है।

पहले आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप पूर्ण आनन्द के सन्मुख होकर जिसने प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट किया है। समझ में आया? उसे धर्म की शुरुआत होती है। उसके पश्चात् यह सब बातें हैं। सम्यग्दर्शन आत्मा.. चौदहवीं गाथा में आ गया था, कर्म के निमित्त से होनेवाले आत्मा में पुण्य-पाप, शुभ-अशुभराग और कर्म तथा उसका फल, उनसे रहित आत्मा है। चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा—शरीर, कर्म, उनके संग से होनेवाले दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के विकल्प, ये शुभाशुभभाव - ऐसे भाव से, कर्म से, शरीर से रहित आत्मा चैतन्यस्वरूप है। ऐसे चैतन्यस्वरूप की अन्तर में राग के अवलम्बन बिना.. पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है न? ऐसा चैतन्य भगवान आत्मा, जिसमें अनादि-अनन्त शक्ति के गुण पड़े हैं, ऐसे स्वभाववन्त का रागरहित, पुण्य-पाप के विकल्प की वृत्तिरहित, ऐसा जो आत्मा, उसका अन्तर अनुभव करके प्रतीति करने का नाम प्रथम सम्यग्दर्शन कहने में आता है। कहो, समझ में आया इसमें? यह बात पहले कह गये हैं।

फिर सम्यग्ज्ञान का आराधन। सम्यग्दर्शन होने के बाद... सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है। साथ में उत्पन्न होने पर भी, दर्शन के बाद (सम्यग्ज्ञान की आराधना कही गयी है)। पहले यह दर्शन, यह प्रगट किये बिना किसी को कुछ धर्म-बर्म कदाचित्

तीन काल में नहीं होता। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन बिना यह दया पाले, व्रत करे, तप करे, अपवास करे—सब एकरहित शून्य है। उसमें आत्मा को कुछ / जरा भी लाभ नहीं है। इसलिए पहली व्याख्या सम्यग्दर्शन की की है; पश्चात् ज्ञान की आराधना की बात की। आत्मा में ज्ञान जो निर्मल है, वह दर्शन के साथ प्रगट हुआ है, उसकी विशेष आराधना करना। सम्यग्ज्ञान का स्वाध्याय बहुत विनय, बहुमान से उसका पठन, समझ आदि करना। इसके पश्चात् श्रावक का, मुनिपने का त्याग (व्रत) होता है—ऐसी व्याख्या चलती है। भगवानभाई! ऐसा होने के बाद।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने के बाद, देशविरति को श्रावक कहते हैं; सर्वविरति को मुनि कहते हैं। ऐसे जो अभी चलते हैं देशविरति और सर्वविरति, वे नहीं; वह सब खोटा है। समझ में आया ? चिमनभाई! आत्मा के अनुभव और सम्यग्दर्शन में निर्विकल्प प्रतीति और स्वाद की पहली दृष्टि हुई; उसके पश्चात् ज्ञान का आराधन अन्तर में हो, पश्चात् उसके देश से (एकदेश) पाप का-विकार का त्याग होकर स्वरूप में स्थिरता हो। पंचम गुणस्थान में आत्मा की शान्ति जो जानी है, दर्शन-ज्ञान में अनुभवी है; उस शान्ति की वृद्धि स्वरूप स्थिरता का अंश होकर जो सच्चा श्रावकपद प्रगट होता है, उसे बारह व्रत के विकल्परूपी देशचारित्र कैसा होता है ? उसका वर्णन किया है। समझ में आया ?

सर्वविरति-उसके पश्चात् पूर्ण राग की अत्यन्त निवृत्ति होकर आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के स्वसंवेदन में उग्ररूप से अतीन्द्रिय आनन्द का जिन्हें वेदन है, उन्हें सर्वविरति मुनि कहने में आता है। उन्हें पंच महाव्रत आदि के जो शुभ विकल्प होते हैं, उसे व्यवहारचारित्र कहा जाता है। व्यवहार अर्थात् पुण्य का कारण। बाबूभाई! गजब सूक्ष्म यह!

उसमें इस वीतरागमार्ग में भाव में कैसे-कैसे भंग पड़ते हैं ? कषाय की मन्दता हो या अभाव हो, तथापि बाह्य में देह से हिंसा आदि हो जाये तो इसका पाप उसे नहीं है, यह बात सिद्ध करते हैं। कदाचित् बाहर में हिंसा न हो, परन्तु जिसे अन्दर में अभी राग और द्वेष की आसक्ति के परिणाम हैं; उसे बाहर में हिंसा न होने पर भी राग के परिणाम से ही हिंसा है। बाबूभाई! बहुत सूक्ष्म! यहाँ तो वहाँ तक ले गये हैं कि मैं यह विषय-कषाय, आहार-पानी को छोड़ूँ, और मैं कुछ त्याग को ग्रहण करूँ—ऐसा शुभराग, शुभराग-वह भी हिंसा है। पोपटभाई!

आत्मा के... यह तो अनन्त काल की खोट कैसे पूरी पड़े, उसकी बात है। अनादि से अनन्त काल में किया है, वह तो सब अज्ञान में था। अब उसे भान होकर आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वभाव, वह द्रव्य अर्थात् वस्तु; क्षेत्र अर्थात् उसके असंख्य प्रदेश की चौड़ाई; काल अर्थात् त्रिकाल रहनेवाला; और भाव अर्थात् त्रिकाली भावशक्ति। ऐसा जो आत्मा का अन्तर, पुण्य-पाप के शुभरागरहित चीज़ दया, दान, व्रत, भक्ति के और उपवास के जो विकल्प उठते हैं, वह तो राग हैं, उनसे रहित ऐसे आत्मा का अन्तर अनुभव करके आत्मा के आनन्द के वेदन की दशा में प्रतीति और स्थिरता आंशिक होती है, उसे श्रावक पद कहने में आता है। विशेष स्थिरता हो, उसे मुनि कहते हैं। उसके शुद्ध उपयोगरूपी आचरण को शुभभाव हिंसा करनेवाला है, यह बात आ गयी है। वजुभाई! आहा..हा..! जगत को तो कठिन लगता है।

यहाँ तो वीतरागमार्ग है। दया, दान, व्रत, तप का विकल्प राग की मन्दता का जो शुभभाव आता है न? वह भी हिंसा है। शुद्ध चैतन्यस्वभाव में-ज्ञानमूर्ति में उस वृत्ति का उत्थान हो (कि) यह करूँ, यह छोड़ूँ, वह शुद्धोपयोगरूपी आचरण की हिंसा करता है। कहो, मोहनभाई! वह अपनी दया नहीं करता। आहा..हा..! हिंसा करता है। गजब बात है यह।....भाई!

सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव परमात्मा, जिन्होंने एक सैकेण्ड के असंख्य भाग में तीन काल-तीन लोक जाने हैं। उस जानने में इस दया के और हिंसा के भाव को इस प्रकार जाना है। आत्मा में अविकारी उसका त्रिकाली स्वरूप है। ऐसी ही श्रद्धा, ज्ञान और रमणता अविकारी दशा शुद्ध आचरणरूप शुद्ध उपयोगरूप हो, उसे भगवान ने अहिंसा परमो धर्म कहा है। उस अहिंसा को परमो धर्म कहा है।

मुमुक्षु : व्यवहार को नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार दया के भाव को हिंसा कहा है, क्योंकि राग की वृत्ति उठती है। इसे न मारूँ, इसे दुःख न दूँ, यह विकल्प है, विकल्प है, राग है, कषाय है। बाबूभाई! यह कथन पहले-पहले सुना होगा। यह पुरुषार्थसिद्धि सुना नहीं न? अभी बहुत महीने से अन्यत्र भटकते थे। बहुत समय से आये नहीं।

मुमुक्षु : बीमार थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : बीमार थे? कहते थे, बातें करते थे। ऐसे-ऐसे पैर करते थे। अनादि का मिथ्यात्व से बीमार है, वह वास्तविक बीमार है। यह तो सब समझने जैसा है।

कहते हैं, आहा..हा..! पर जीव को न मारूँ, बचाऊँ - ऐसा जो विकल्प उत्पन्न होता है, वह राग है, शुभ है, पुण्य है परन्तु स्वरूप की तो हिंसा होती है। पोपटभाई! गजब बात, भाई! अहिंसा तो भगवान उसे कहते हैं कि ऐसे आत्मा शुद्ध निर्विकल्प वीतरागमूर्ति आत्मा है। अभी, हों! उसका वीतरागी अर्थात् निर्दोष स्वभाव। और वीतराग शब्द से ऐसा (समझे) कि यह वीतराग तो होगा तब। यह तो निर्दोष स्वभाव की मूर्ति का नाम वीतराग है - ऐसा आत्मा। उसे इस दया, दान, व्रत, विकल्प है, वह तो पर है; वह कहीं आत्मा का स्वरूप नहीं। ऐसे आत्मा में, वीतराग स्वरूपी निर्दोष आत्मा में, अन्तर में अनुभव होकर स्थिरता होना, उसे शुद्धोपयोग शुद्ध आचरण, उसे अहिंसाधर्म भगवान कहते हैं।

मुमुक्षु : भगवान ने दूसरा सरल मार्ग नहीं निकाला?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सरल मार्ग कहा न? घर से प्रगट होता है, किसी की आवश्यकता नहीं पड़ती, यह सरल है न? जिसमें शरीर की अनुकूलता की आवश्यकता नहीं, जिसमें लक्ष्मी की आवश्यकता नहीं, जिसमें इन्द्रियाँ अनुकूल हों या ठीक हों, उसकी आवश्यकता नहीं। अरे! जिसमें मन की आवश्यकता नहीं। अरे! उसमें विकल्प का राग उठे, विकल्प की भी आवश्यकता नहीं, ऐसा सरल है। भगवान आत्मा सर्वज्ञ -स्वरूपी ही आत्मा है। उसकी अन्तर में निर्विकल्पदृष्टि, ज्ञान और रमणता (होना), जिसमें पर की बिल्कुल अपेक्षा नहीं। ऐसा ही सहज, सरल, सत्स्वरूप मार्ग है। समझ में आया? उसे भगवान अहिंसा कहना चाहते हैं। फिर यह हिंसा के और अहिंसा के भंग सब बहुत लेंगे। ५४ गाथा आ गयी है। ५५ वीं गाथा।

गाथा - ५५

इसीलिए मध्य में कहा -

एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग् भवत्येकः।।५५।।

नित एक हिंसा करे फल, भोगें अनेकों बहुत ही।
मिल करें हिंसा को तथापि, भोगता फल एक ही।।५५।।

अन्वयार्थ : (एकः) एक पुरुष (हिंसां) हिंसा (करोति) करता है परन्तु (फलभागिनः) फल भोगनेवाले (बहवः) बहुत (भवन्ति) होते हैं। इसी तरह (हिंसा) हिंसा (बहवः) अनेक पुरुष (विदधति) करते हैं परन्तु (हिंसाफलभुक्) हिंसा का फल भोगनेवाला (एकः) एक पुरुष (भवति) होता है।

टीका : 'हिंसा एकः करोति फलभागिनः बहवः भवन्ति' - कहीं हिंसा तो एक पुरुष करता है और फल भोक्ता अनेक होते हैं। उसका उदाहरण - चोर को (फांसी की शिक्षा में) मारता तो एक चाण्डाल ही है परन्तु सर्व दर्शक रौद्र परिणाम करके पाप के भोक्ता होते हैं। 'हिंसां बहवः विदधति एकः हिंसाफलभुक् भवति' - कहीं हिंसा तो बहुत पुरुष करते हैं परन्तु हिंसा का फल भोक्ता एक ही पुरुष होता है। उसका उदाहरण - संग्राम में हिंसा तो बहुत पुरुष करते हैं परन्तु राजा स्वामित्वबुद्धि से उस हिंसा का प्रेरक होता है। अतः वही सर्व हिंसा के फल का भोक्ता होता है।।५५।।

गाथा ५५ पर प्रवचन

इसीलिए मध्य में कहा - मध्य में अर्थात् पहले थोड़ा सा आ गया है, उसका सिद्धान्त उतारते हैं। ५५ है न? यह पहले आ गया है न, थोड़ी हिंसा करे और बहुत फल पावे। एक करे और बहुतों को फल मिले। इन सबका थोड़ा विस्तार किया।

एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग् भवत्येकः।।५५।।

एक पुरुष हिंसा करता है परन्तु फल भोगनेवाले बहुत होते हैं। हिंसा करे एक और भोगे बहुत। एक पापी का दस-बीस लोगों का कुल हो। घर में एक ही पाप करे। किसी का खून करे तो सबको दण्ड दे। डालो सबको, सब पापी हैं। समझ में आया? एक चाण्डाल एक को मारे, फाँसी में देखनेवाले बहुत, बहुत अनुमोदन करे। पापी उसके योग्य ही है। ऐसे भाव बहुत करें, मारता है एक, फल आता है बहुत सबको। भाव पर आधार है। मारनेवाले का भाव तो है ऐसे, परन्तु वे देखनेवाले बहुत तीव्र, रौद्रध्यान से परिणाम करते हैं। आहा..! यह तो महापापी है, बहुतों का खून पिया है, इसे तो मार डालना ही चाहिए। एक हिंसा करे, फल भोगनेवाले बहुत। बहुत लोग प्रशंसा करते हैं, उसे हिंसा का बहुत फल आनेवाला है, भाव पर (आधार) है। भले क्रिया बाहर करता नहीं। समझ में आया?

बहुत लोग करते हैं परन्तु हिंसा का फल भोगनेवाला एक पुरुष होता है। पूरी सेना करती है। सेना को विचार नहीं होता कि इसे मार डालना। समझ में आया? परन्तु राजा हुकम करता है कि मारो इसे। बहुत करते हैं न? फल उस अकेले को बहुत मिलता है। अन्य को थोड़ा सा है। यहाँ तो बहुतों की अपेक्षा से बात है। समझ में आया? दृष्टान्त आता है न? टोडरमलजी, टोडरमलजी।

टोडरमलजी महापण्डित विद्वान थे। राज से हुकम हुआ हाथी के पैर से कुचल दो, मारो। किसी ने उनकी जेब में अन्यमतियों ने अन्यमती की प्रतिमा डाल दी थी। उन्हें पता नहीं कि डाली है। अन्य कहे साहेब! यह तो अपने भगवान की प्रतिमा का अनादर, असातना करता है। इनकी जेब में देखो उसमें है। उन्हें पता नहीं। पता पड़ा कि चलो। यदि उन्हें कहूँगा तो इन लोगों को (मारेंगे)। बोले नहीं। हुकम किया हाथी को कि पैर दे। आहा..हा..! अन्दर गाँव में जैन कितने होंगे! और उसे-हाथी को भी ऐसा हुआ कि अरे! इन्हें कैसे मारा जाये? पैर कैसे दिया जाये? राजा ने तो हुकम किया।

टोडरमलजी कहते हैं, हे गजराज! जब राजा को न्याय नहीं सूझता तो तू क्यों हिचकता है? देखनेवाले तो कितने ही होंगे। कितने ही ऐसे होंगे कि पापी को ठीक हुआ यह। कितनों को ऐसा लगता होगा कि अरेरर! यह अपना चले नहीं। यह राजा क्रूर हो

गया। ऐसा होगा या नहीं कितनों के बीच ? देखो ! हाथी पैर नहीं रखता था। ऐसे स्वयं नीचे पड़े, बड़ा हाथी.. अरे ! गजराज ! पैर रख। राजा को न्याय सूझता नहीं, तू क्यों हिचकता है ? देखो ! राजा की अपेक्षा उसके भाव में तो जरा सा अन्तर है या नहीं ? उसको क्रूर पाप है, इसको थोड़ा मन्द है अर्थात् परिणाम के राग और द्वेष और मिथ्याश्रद्धा पर पाप का प्रमाण है। बाहर की क्रिया प्रवृत्ति पर कहीं पाप, पुण्य और धर्म का प्रमाण बाहर के आचरण पर नहीं है। कहो, हिम्मतभाई ! भाव पर है। यह अपने आ गया है। देखो न ! ५४ में **'हिंसानुभावेन' कषायभाव अनुसार ही फल देती है।** ५४ में अन्तिम बोल था। जैसी मिथ्याश्रद्धा या मिथ्या राग–द्वेष–भाव.. बस ! उसके प्रमाण में उसे बन्धन है। बाहर की क्रिया के साथ— जीव मरो, न मरो, बाह्य का त्याग बहुत दिखे परन्तु अन्दर में मिथ्यात्व का त्याग नहीं तो महान पाप है। बाहर का त्याग नहीं, सम्यग्दृष्टि को, भरत चक्रवर्ती जैसों को छह खण्ड का राज्य है, छियानवें हजार स्त्रियाँ हैं। बाहर का त्याग नहीं परन्तु अन्दर में मिथ्यात्व का त्याग और अनन्तानुबन्धी का त्याग है। आत्मा की अनुभव दशा के आनन्द का स्वाद लेते हैं, अत: अन्तर में बहुत ही अल्प पाप है, बाहर में देखो तो छियानवें हजार स्त्रियाँ हैं। समझ में आया ?

एक नग्न मुनि हों, बाह्य से सर्व हजारों रानियाँ छोड़ी हैं। किसी प्राणी को–जीव को मरना, एकेन्द्रिय को मारने का भाव नहीं परन्तु दृष्टि मिथ्यात्व है। यह शरीर की क्रिया मैं करता हूँ और दया के भाव वह मुझे धर्म है – ऐसी जो मिथ्यादृष्टि है, उसे बाहर में त्याग होने पर भी अन्तर में बिल्कुल राग का त्याग नहीं है। समझ में आया ?

एक ओर भरत। आता है न ? भाई ! नहीं ? घर में वैरागी, भरतजी घर में वैरागी। छियानवें हजार स्त्री, छियानवें करोड़ सैनिक, घर में वैरागी। आहा.. ! वह तो पूर्व के पुण्य का योग है। उससे क्या ? उससे अन्तर में कहाँ आदर है ? अरे ! हम तो आत्मा आनन्द हैं। हमारा स्वरूप तो आनन्दधाम है। अरे ! अन्तर्मुख में जितनी हमारी कचास है, उतना हमें विकार होता है। अन्तर्मुख में जितनी हमारी लीनता जाती है, उतनी हमें शान्ति और आनन्द और धर्म होता है। हिम्मतभाई !

ऐसा माननेवाला, छियानवें हजार स्त्रियों के भोग में पड़े होने पर भी अल्प पाप है। अल्प पाप ! और बाह्य से त्यागी हो, व्रतधारी कहलाये, पंच महाव्रत आदि (पालता हो)

परन्तु वह पंच महाव्रत के परिणाम राग और पुण्य के हैं, धर्म नहीं। धर्म तो उस विकल्प से पार आत्मा निर्विकल्प आनन्द है, उसकी अनुभव की दृष्टि में स्थिर होने का नाम वास्तव में सम्यग्दर्शन और सच्चे व्रत कहने में आते हैं। वह जिसे नहीं, बाह्य में त्याग दिखता है, व्रत दिखते हैं, तप दिखता है, अन्दर में पापी दृष्टि / मिथ्यात्व है, तो अन्दर में बहुत पाप का सेवन करनेवाला है। वीतरागमार्ग में अन्तर के भाव पर आधार है। कहो, समझ में आया? यह यहाँ आचार्य महाराज सिद्ध करना चाहते हैं। देखो!

टीका : कहीं हिंसा तो एक पुरुष करता है और फल भोक्ता अनेक होते हैं। अर्थात् ऐसा तो समझे न? पूर्व का उसको हो। जैसे चाण्डाल के दस मनुष्य हों और एक को मारे तो सबको (सजा होती है) गुनाह किया था। किसके घर के थे? किसने कराया? इन सबने। पकड़ो सबको। समझ में आया? **उसका उदाहरण - चोर को (फांसी की शिक्षा में) मारता तो एक चाण्डाल ही है परन्तु सर्व दर्शक रौद्र परिणाम करके पाप के भोक्ता होते हैं। कहीं हिंसा तो बहुत पुरुष करते हैं परन्तु राजा स्वामित्व-बुद्धि से उस हिंसा का प्रेरक होता है। अतः वही सर्व हिंसा के फल का भोक्ता होता है।** राजा हुकम करता है। सज्जन जैसे कोई लौकिक ऐसे हों। उसे मारो ऐसा कहे। टोडरमलजी का दृष्टान्त कहा। समझ में आया? उसको तो बहुत भाव न हो परन्तु उसे इतना भाव तो अवश्य, वह गिनती यहाँ नहीं थोड़ी परन्तु यहाँ उसका भाव तीव्र जो उसे है, ऐसा भाव इसे नहीं। इसलिए इसे बहुत पाप प्रेरक को बहुत लगता है। हिंसा के फल का भोक्ता होता है।

गाथा - ५६-५७

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलं।।५६।।

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत्।।५७।।

यह किसी को हिंसा उदय में, एक हिंसामय फले।
पर किसी को हिंसा अहिंसा, का विपुल फल दे फले।।५६।।

हो अहिंसा भी पर उदय में, किसी को हिंसा फले।
पर अन्य को हिंसा निरन्तर, अहिंसा फल में फले।।५७।।

अन्वयार्थ : (कस्यापि) किसी पुरुष को तो (हिंसा) हिंसा (फलकाले) उदयकाल में (एकमेव) एक ही (हिंसाफलं) हिंसा का फल (दिशति) देती है और (अन्यस्य) दूसरे किसी पुरुष को (सैव) वही (हिंसा) हिंसा (विपुलं) बहुत (अहिंसा फलं) अहिंसा का फल (दिशति) देती है। (तु अपरस्य) और अन्य किसी को (अहिंसा) अहिंसा (परिणामे) उदयकाल में (हिंसाफलं) हिंसा का फल (ददाति) देती है (तु पुनः) तथा (इतरस्य) दूसरे किसी को (हिंसा) हिंसा (अहिंसाफलं) अहिंसा का फल (दिशति) देती है (अन्यत् न) अन्य नहीं।

टीका : 'तु अपरस्य अहिंसा परिणामे हिंसाफलं ददाति' - दूसरे किसी जीव को अहिंसा, उदय के परिणाम में, हिंसा का फल देती है।

भावार्थ : किसी जीव को अन्तरंग में तो किसी जीव का बुरा करने का परिणाम है परन्तु बाह्य में उसे विश्वास दिलाने के लिए भला करता है, अथवा बुरा करे तो भी उसके पुण्य के उदय से इसके निमित्त से उसका भला हो जाता है। वहाँ बाह्य में तो उसकी दया की परन्तु अन्तरंग में हिंसा के परिणाम होने से हिंसा के फल को पाता है। पुनः 'इतरस्य हिंसा अहिंसाफलं दिशति, अन्यत् न' - अन्य किसी जीव को हिंसा, अहिंसा के फल को देती है, अन्य फल नहीं।

भावार्थ : किसी के अन्तरंग में दयाभाव है और वह यत्नपूर्वक किसी दुःखी जीव को देखकर उसके दुःख निवारण में प्रयत्नवान है, फिर भी यदि उसे तत्काल कष्ट हो जाये अथवा यत्न करते हुए भी इसके निमित्त से उस दुःखी जीव का प्राणघात हो जाय, वहाँ यद्यपि बाह्य में तो उसकी हिंसा ही हुई परन्तु अन्तरंग परिणाम से वह अहिंसा के फल को प्राप्त करता है।।५६-५७।।

गाथा ५६-५७ पर प्रवचन

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलं।।५६।।

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत्।।५७।।

भाषा देखो! करे हिंसा और फल मिले अहिंसा का। यह वीतरागमार्ग। **किसी पुरुष को तो हिंसा उदयकाल में एक ही हिंसा का फल देती है..** स्पष्टीकरण करेंगे, हों! **और दूसरे किसी पुरुष को वही हिंसा बहुत अहिंसा का फल देती है।** बहुत अहिंसा का। आहा..! **और अन्य किसी को अहिंसा उदयकाल में हिंसा का फल देती है तथा दूसरे किसी को हिंसा अहिंसा का फल देती है अन्य नहीं।**

दूसरे किसी जीव को अहिंसा, उदय के परिणाम में, हिंसा का फल देती है।

किसी जीव को अन्तरंग में तो किसी जीव का बुरा करने का परिणाम है.. ऐसे होते हैं न कितने ही? दूसरे का बुरा करना है परन्तु ऐसे योग मैं रख दूँ और फिर बुरा करूँगा। उसमें बाह्य में तो उसका विश्वास उत्पन्न कराने के लिये भला करे, भला करावे। लो, तुम्हें मैं भागीदार करूँ, ऐसा करके हेतु तो उसका नुकसान कराने का होता है। देखो! तुम्हें इसमें भागीदार कराकर तुम्हें ऐसा करूँ, वैसा करूँ। उसके पुण्य का उदय हो तो उसमें पोसावे, परन्तु इसके परिणाम तो बुरा करने के थे। होता है या नहीं ऐसा? समझ में आया?

वह दृष्टान्त आता है न? भाई! आत्मानुशासन। एक मुनि थे, मुनि। ध्यान में धर्मात्मा आनन्दस्वरूप में रमनेवाले। लो, उसमें सिंह आया, सिंह। सिंह को मारने का भाव है। उसमें एक मनुष्य आया। मनुष्य आया, ऐसा लिखा है। किसी जगह सूकर आता है, बड़ा होता है न? सूकर, क्या कहलाता है? सूकर, सूकर। कठोर सूकर। उसके सूकर को ऐसे भाव हुए कि इन मुनि को बचाऊँ और सिंह के सामने सूकर देखता है। सिंह का भाव मुनि को मारने का है, सूकर का भाव सिंह को मारने का नहीं परन्तु मुनि को बचाने का है, परन्तु फिर यह हुआ न? सूकर मर जाता है सिंह की थाप से और सिंह मर जाता है सूकर के

उससे। सिंह मरकर नरक जाता है और सूकर मरकर स्वर्ग जाता है। समझ में आया इसमें? उसके भाव क्या हैं? कि मुनि को बचाने के भाव थे। कोई सूकर खड़ा हो या मनुष्य बाहर खड़ा हो। ऐसा देखे कि आहा..हा..! कोई मुनि हैं। अरे! यह इन्हें कैसे मारता है? सिंह को मारने गया, मारने पर सिंह मर गया और स्वयं सिंह के शिकंजे में पकड़कर रखा है, वह भी मर गया। मरे तो दोनों। एक के फल में स्वर्ग है और एक के फल में नरक है। हेतु है न? हेतु में अन्तर है न?

इसके मिथ्यात्व के और राग-द्वेष के परिणाम कैसे हैं, इस पर पूरा बन्ध और मोक्ष का मार्ग है। बाहर के क्रियाकाण्ड पर मोक्ष और बन्ध का मार्ग नहीं है - ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। यह बाहर की क्रिया बहुत घटा दी, इसलिए बहुत धर्मी है? कि नहीं; उसके साथ सम्बन्ध नहीं। अन्तरस्वरूप चैतन्यमूर्ति की अन्दर दृष्टि और आदर कितना हुआ है? और उसमें लीन कितना है और लीन कितना नहीं - इसके प्रमाण में उसे धर्म और अधर्म है। बाहर के आचरण के प्रमाण में धर्म-अधर्म का माप वीतरागमार्ग में नहीं है। समझ में आया?

किसी जीव को अन्तरंग में तो किसी जीव का बुरा करने का परिणाम है परन्तु बाह्य में उसे विश्वास दिलाने के लिए भला करता है, अथवा बुरा करे.. ऐसे तो उसका ऐसा करता हूँ, फिर उसका बुरा होगा। **तो भी उसके पुण्य के उदय से इसके निमित्त से उसका भला हो जाता है।** भागीदार हो, पैसावाला हो जाये, वह हो जाये, सब हो जाये। फिर इसके हाथ में रहे नहीं। परन्तु भाव तो इसका होता है कि उसमें डालकर -चक्कर में डालकर फिर मैं... ऐसा। होता है न? बाबूभाई! बनिये ऐसे बहुत होशियार होते हैं। यह तो एक दृष्टान्त है न! चक्कर में डालकर फिर उसे पहले मैं ऐसे अनुकूलता बता दूँ, देखो! तुम्हें मैं पैसा धीरे.. अमुक... फिर उसका अवसर आवे और मार डालेगा उसे। कहते हैं इसमें वह मरा नहीं और अनुकूलता हो गयी और उल्टा यह मर गया। मारना था किसी को और मार डाला किसी को, ऐसा होता है या नहीं? उसमें दृष्टान्त बहुत आते हैं।

एक राजा था और उसने स्वयं उसके शत्रु को मार डालने का हुकम किया कि जाओ, उस ओर सो रहा है उसे मारो। उसके बदले, उस सोने के ठिकाने उसका लड़का सोया हुआ था। बाहर स्टेशन में पलंग में सामने जो मेहमान है, उसे मार डालो। सहज ही

वह मनुष्य वहाँ से उठकर चला गया कमरे में और बाहर स्टेशन में तख्त खाली पड़ा था, वहाँ इसका लड़का सो गया। मारने गये तो यह होगा, उसे मार दिया। कर आये ? कि हाँ; मेरा पुत्र कहाँ गया ? कहीं दिखता नहीं। वहाँ गया था न ? स्टेशन गया था। उसे मैं मार आया, मुझे खबर नहीं। करने गया उसका बुरा, यहाँ इसके घर का बुरा हो गया। भाव में पाप के परिणाम में उसे अपने भाव के कारण नुकसान है, पर के कारण कुछ है नहीं। समझ में आया ?

वहाँ बाह्य में तो उसकी दया की परन्तु अन्तरंग में हिंसा के परिणाम होने से हिंसा के फल को पाता है। अन्य फल देती नहीं। किसी के अन्तरंग में दयाभाव है और वह यत्नपूर्वक प्रवर्तता है.. लो! **तथापि उसे तत्काल पीड़ा होती है..** यह काटते हैं न, देखो न! क्या मनुष्य का आपरेशन करे, उसमें वह मर जाये। वह क्या कहलाता है ? सारण। मर जाये। मारने का भाव नहीं है उसे कहीं। समझ में आया ? दया के भाव से वह यत्नपूर्वक प्रवर्तता है। दया, दान, वह शुभ विकल्प है, हों! अभी तो बाहर के प्रमाण में बात की। **तथापि उसे तत्काल पीड़ा होती है..** कहो, उसे तत्काल तो दुःख होता है। ऑपरेशन करे (इसलिए दुःख होता है)।

अथवा यत्न करने पर भी उसके ही निमित्त से उसके प्राणघात हुए। कहो, प्रेमचन्दभाई! तुम्हारे यहाँ राजा को हुआ था न ? राजा थे न ? क्या कहलाता है ?... बहुत वर्षा में वह तालाब सूख गया और बहुत मछलियाँ। पानी थोड़ा और मछलियाँ बहुत। माँगनेवाला गया कि साहब हमें दो न। वह कहे कि हम तो इसमें से मछलियों का खाद कर डालेंगे। राजा कहे खाद कर डालूँगा। वे बनिया... और बहुत.. अरे! ऐसा नहीं होता, ऐसा नहीं होता, हमें दो। हम इसे लेते हैं। वे बेचारे कुएँ में से पानी के बड़े-बड़े टीप भरकर इसमें डालें। लाखों मछलियाँ, हों! और जहाँ कुएँ में डाले, डालने के साथ ही मर गयी। पानी प्रतिकूल पड़ा परन्तु इनका भाव कहीं मारने का था ?... उन मछलियों का खाद कर डालो। अरे साहिब! उन बेचारों को मारकर.. ऐसा नहीं हो, ऐसा नहीं हो। तब ले जाओ तुम, नहीं हो तो। परन्तु यह दुर्गन्ध मारती हैं, मर जायेगी इसमें। लेकर उठा-उठाकर बेचारों ने कुएँ में डाला, जैसे कुएँ में डाला वैसे तुरन्त समाप्त। भाव तो इनका शुभ-दया का था। मर गयी तो भी इन्हें पाप नहीं लगता। लगता है ?

रास्ते में कोई चिड़िया का बच्चा हो, लो न। ऐसे कोई व्यक्ति निकला कि अरे! इस बच्चे को अभी कौआ खा जायेगा, इसलिए बच्चे को उठाकर एक गोखले में रखा। वह स्वयं निकल गया। वहाँ कौआ आया, वहाँ लेकर मार डाला। उल्टे नीचे नजर नहीं पड़ती। नीचे साधारण जमीन जैसा हो, वहाँ नजर नहीं पड़ती। गोखला-बोखला ऐसा था और उसमें नजर बराबर दिखाई दे कि यह चिड़िया का बच्चा है। वह रखकर जहाँ जाता है, वहाँ कौवे ने आकर मार डाला। उसके (रखनेवाले के) भाव में शुभभाव है, उसे कहीं हिंसा नहीं लगती। बराबर है। भगवानभाई!

वह मर जाये तो उसका पाप नहीं और बचे तो इसकी दया नहीं। मारने का भाव है, परन्तु मरता नहीं, लो! बच जाता है सामने। ऐसे बाण मारा तो भी बच गया, तथापि इसके भाव तो मारने के हैं तो पाप ही है इसे। इसे कहीं बाहर की क्रिया नहीं हुई, इसलिए पाप नहीं लगता, मरा नहीं, इसलिए पाप नहीं लगता, ऐसा नहीं है और वह मर जाये तो ही इसे पाप लगे, ऐसा नहीं है। इसके परिणाम में कैसे मिथ्यात्व, श्रद्धा और राग-द्वेष के परिणाम कैसे थे, उस पर इसे बन्धन और बन्धन का छूटना है। समझ में आया?

इसके ही निमित्त से उसके प्राणघात हुए.. लो! मर गयी न सब मछलियाँ? वहाँ बाहर में आपरेशन कराया, उसमें मर जाते हैं, देखो न! सारण बड़ी हो और डाक्टर कहे, देखो भाई! इसमें हम जोखिम नहीं लेंगे। पहले से लिख दो। प्राण चले जायें तो हमारे जोखिम नहीं है। तथापि बच जाये तो बच जाये। ऐसा करने गये वहाँ हो गया फूँ.. बाहर तो हिंसा हुई। हमारे यहाँ शिवा पटेल थे। उन्हें हुआ वह... उसमें धर्मचन्द डॉक्टर कहे- यह बहुत पीड़ा है न? जरा सा इंजेक्शन दूँ। वजुभाई! यह तो नजरों से देखा है न? केला खाया था, वह ओला (भुने चने) खाये और दाल, भात, शाक, इस स्वाध्याय मन्दिर के ब्राह्मण अच्छा पकानेवाले।

मुमुक्षु : उसमें कोई विशेष कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : लोग ऐसा कहते हैं अपने कहाँ कुछ लेने गये? महाराज दाल-वाल बहुत अच्छा करे, शाक-चावल अच्छा बनावे। लाखोंपति खावे न, ऐसा यहाँ बनाते हैं। ऐसा एक व्यक्ति कहता है। ये सब दाल-भात खाया था और यह तुरन्त ही श्वास उखड़ा। बस! दूसरा कुछ नहीं था, हों! यहाँ से श्वास हट गया। नाभि से श्वास हट गया

एकदम, एक दोरो हटा, श्वास नीचे नहीं जाता। खाकर आया हूँ। क्या है पटेल ? अन्तक्रिया। अन्तिम क्रिया मेरी। परन्तु क्या खाकर आये और बैठे हो न ? चाहे जो हो, यहाँ श्वास हट गया है। नीचे नहीं उतरता, उल्टी नहीं होती। लोचा हो गया पूरा। बस ! छत्तीस घण्टे बहुत पीड़ा थी, उसमें डॉक्टर को (लगा) इंजेक्शन लगाऊँ। ऐसा लगाया, वहाँ समाप्त हो गया।

मुमुक्षु : पीड़ा मिटा दी।

पूज्य गुरुदेवश्री : पीड़ा। उसका हेतु तो यह (कि) बहुत पीड़ित है न, इसलिए पीड़ा कुछ कम हो। छत्तीस घण्टे तक बहुत पीड़ा। ऐसे का ऐसा बहुत खाया ऐसा ही, ऐसे का ऐसा ही रह गया। कुछ नहीं, शरीर अत्यन्त निरोगी। बस ! बैठे-बैठे कुछ नहीं। आहार करके मैं घूमने निकला, आहार करके आया और पटेल कैसे है ? अन्तक्रिया। परन्तु क्या है अन्तक्रिया ? यह मेरी अन्तिम क्रिया। परन्तु क्या है ? कुछ नहीं न ? अन्दर में फेरफार हो गया है। मुझे खबर पड़ती है, अन्दर में फेरफार हो गया। लो ! श्वास वापस हटता नहीं। श्वास यहाँ से हट गया। नहीं कहते अपने ? यह नाभिस्थान छोड़ता है। नहीं ? नाभि से श्वास छूट जाये, ऐसा ख्याल आवे, नीचे रख सके नहीं। उसकी क्रिया कहाँ इसके बाप की थी ? श्वास की क्रिया तो जड़ की है। जाने आत्मा कि यह होता नहीं। आत्मा कर सकता है जड़ की क्रिया ? श्वास ले सकता है ? छोड़ सकता है ? बिल्कुल मिथ्याश्रद्धा है। उसमें वह अन्दर से ऐसा कहे, मुझे ऐसा हो गया। छत्तीस घण्टे तक देखा। अन्त तक मरने से पहले मैं गया, यहाँ बैठे थे। मैंने कहा, तुम बैठे हो, वस्त्र-वस्त्र.. कन्दोरा पहना था। यह कन्दोरा निकाल डालो। अब क्या है यह सब ? श्वास ले जाता है वह ? फिर मैं आहार करके गया वहाँ तो अन्तिम स्थिति, समाप्त हो गया। वह स्थिति पूरी होने की, हों ! उसके भाव क्या थे ? कोई मार डालने के थे ? उसे बहुत दुःख न हो। अब मर जाना तो निश्चित है, परन्तु यह पीड़ा.. पानी तो लिया जाये नहीं, आहार लिया जाये नहीं और ऐसा का ऐसा अध्धर का अध्धर श्वास। अन्तरंग में परिणाम तो उसे नहीं मारने के हैं। परिणाम का उसे फल है। कोई क्रिया हुई, मर गया, उसका फल इसे नहीं है। है ? प्रवीणभाई !

ओहो.. ! आचार्य कहते हैं, वीतराग का मार्ग अन्तरंग के परिणाम पर आधार रखता है। अन्तर के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अथवा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान

या राग-द्वेष के ऊपर बन्ध और मोक्ष का मार्ग है। ऐसा दुर्घट वीतराग का मार्ग सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं हो सकता। सर्वज्ञ परमेश्वर ने..

आज सबेरे ही रास्ते में थोड़ा कहा था न। वस्तु आत्मा, आत्मा तो सब करते हैं परन्तु वह द्रव्य, उसका क्षेत्र कितना? काल-त्रिकाल भले कहे, परन्तु यह क्षेत्र कितना? और उसकी शक्तियों की संख्या कितनी? यह वीतराग के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं हो सकता। आत्मा-आत्मा तो सब करते हैं। यह आत्मा ऐसा होता है। अच्छेदं और अभेदंति और अमुक-अमुक। वस्तु और त्रिकाल रहनेवाली, दो तो कहते हैं, भाई! समझ में आया? परन्तु उसका क्षेत्र और उसकी शक्तियों का माप जो है ऐसा अमाप, अनन्त गुण। एक समय में भाव अनन्त! क्योंकि वस्तु है, वह द्रव्य होता है, क्षेत्र होता है, काल होता है और भाव होता है। इसके बिना वस्तु हो नहीं सकती। अत: आत्मा भी एक पदार्थ है, अनन्त आत्माएँ ऐसे भिन्न-भिन्न हैं, ये रजकण भिन्न-भिन्न है पूरी चीज़। परन्तु प्रत्येक का द्रव्यपना, क्षेत्रपना, कालपना और भावपना। द्रव्यपना अर्थात् गुण-पर्याय का पिण्ड पूरा पदार्थ। अब वह द्रव्य साधारण यह तो लोग ऐसा कहते हैं कि भाई! आत्मा है, आत्मा है, यह परमाणु है। परन्तु उसका क्षेत्र कितना? चौड़ा कितना? यह सर्वज्ञ के अतिरिक्त एक परमाणु चौड़ा अनन्त गुणवाला एक ही प्रदेश जिसका, यह व्याख्या सर्वज्ञ के सिवाय अन्यत्र नहीं हो सकती। समझ में आया? और यह वापस त्रिकाल रहनेवाला तथापि... नित्य तो सब कहे परन्तु त्रिकाल भावस्वरूप रहे, वह भाव कितने? अनन्त गुण हैं, ज्ञान, दर्शन, आनन्द ऐसे अनन्त भाव हैं। वे अनन्त भाव, अनन्त सर्वज्ञ की दृष्टि बिना, उन अनन्त भाव का स्वरूप स्पष्ट ज्ञात नहीं होता, तो सर्वज्ञ ने जो आत्मा के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखे हैं, उस प्रकार जो कोई आत्मा को अन्तर से जाने, अनुभव करे, उसे सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान होता है। कहो, समझ में आया?

गाथा - ५८

इति विविधभंगगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम्।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः।।५८।।

यों दुर्गमी बहु भंगमय, घन में सुपथ भूले हुए।
को नय चलाने में चतुर, बस गुरु ही नित शरण हैं।।५८।।

अन्वयार्थ : (इति) इस प्रकार (सुदुस्तरे) अत्यन्त कठिनता से पार हो सकनेवाले (विविधभंगगहने) अनेक प्रकार के भंगों से युक्त गहन वन में (मार्गमूढदृष्टीनाम्) मार्ग भूले हुए पुरुष को (प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः) अनेक प्रकार के नयसमूह के ज्ञाता (गुरवः) श्रीगुरु ही (शरणं) शरण (भवन्ति) होते हैं।

टीका : 'इति सुदुस्तरे विविधभंगगहने मार्गमूढदृष्टीनां गुरवः शरणं भवन्ति' - इस प्रकार सुगमपने जिसका पार नहीं पाया जा सकता, ऐसे अनेक प्रकार के भंगरूपी गहन वन में सत्यश्रद्धानस्वरूपमार्ग में जिसकी दृष्टि भ्रमित हो गई है, उसके लिए श्रीगुरु ही शरण हैं। उनके द्वारा ही सत्यमार्ग का स्वरूप जाना जा सकता है। कैसे हैं गुरु? 'प्रबुद्धनयचक्र-सञ्चाराः' - जिन्होंने अनेक प्रकार के नयसमूह का प्रवर्तन जाना है और सर्व नयों को समझाने में समर्थ हैं।।५८।।

गाथा ५८ पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं **इति विविधभंगगहने** गुरुओं का आधार देते हैं। देखो न! कितने भंग लिये थे। एक हिंसा करे तो बहुतों को फल आवे; बहुत करें तो एक को फल आवे। समझे न? अल्प हिंसा करे और बहुत हिंसा का फल आवे। अल्प हिंसा करे और बहुत फल आवे। क्योंकि परिणाम में बहुत परिणाम कठोर हों और हिंसा थोड़ी की। कोई बहुत हिंसा करे और फल अल्प आवे; कोई हिंसा करे और फल अहिंसा का आवे; कोई अहिंसा करे और फल हिंसा का आवे। ये सब भंग आये या नहीं? बाबूभाई! आहा..हा..!

वीतराग परमेश्वर सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ तीर्थंकर, जिन्हें एक समय में तीन काल-तीन लोक का ज्ञान वीतराग-विज्ञान प्रगट हुआ। ऐसे परमेश्वर ने जो यह नयचक्र, नय की बात की—निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान.. समझ में आया? निमित्त अर्थात् व्यवहार, उपादान निश्चय, निश्चय-व्यवहार ऐसा। अन्दर के भाव बाहर की क्रिया, उसका जो वर्णन नयचक्र से किया, कहते हैं,

इति विविधभंगगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम्।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः।।५८।।

इस प्रकार अत्यन्त कठिनता से पार हो सकनेवाले.. अत्यन्त कठिनाई से पार पाया जा सके ऐसा। समझ में आया? श्रीमद् ने कहा है न?

जिन प्रवचन दुर्गम्यता थाके अति मति मान,
अवलम्बन श्री सद्गुरु सुगम और सुख खान।

कहो, सम्यग्दृष्टि भोग भोगते हुए निर्जरा हो और शुद्धि बढ़े। अज्ञानी भोग का त्यागी और आहार का त्यागी तथा क्षण-क्षण में मिथ्यात्व के अनन्त पाप बाँधे। यह तो क्या बात! समझ में आया? सम्यग्दृष्टि, ज्ञान के स्वरूप का जिसे भान है, चौथे गुणस्थान में, हों! अभी सच्चा श्रावक होने से पहले की (भूमिका है)। आत्मा राग से, मन से भिन्न चिदानन्दमूर्ति, शुद्ध आनन्द का जिसे अन्तरभान, अनुभव है, ऐसा सम्यग्दृष्टि, जिसे भोग का विकल्प अमुक आता है और छियानवें हजार स्त्रियों का संयोग दिखता है। कहते हैं कि निर्जरा की दृष्टि, इसकी दृष्टि स्वभाव के आनन्द में है। राग पर उसे उपसर्ग लगता है। भोग का विकल्प आया, उसे उपसर्ग देखता है। सर्प जैसे आता है और सर्प को भयंकर देखता है, वैसे सम्यग्दृष्टि को भोग की वृत्ति वह सर्प के समान, जहर जैसी दुःखदायक लगती है। समझ में आया?

मिथ्यादृष्टि को दया, दान और व्रत के, तप के, और राग की मन्दता के परिणाम (हों), उसे मेरा मानकर मिथ्यात्व सेवन करता है। आहा..हा..! कहाँ वह संसारी है, यह (सम्यग्दृष्टि) मोक्षमार्गी है। ऐसा भी कहा है न, भाई! नहीं, वह रत्नकरण्ड श्रावकाचार? 'गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो' आता न? गृहस्थाश्रम में भी सम्यग्दृष्टि जीव आत्मा के ज्ञान और

भानवाला मोक्षमार्गी है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में है। यहाँ नहीं। समझ में आया? और अनगार मुनि हो, वह संसारी है, मूढ़ है, आत्मा क्या उसका भान नहीं। यह देह की क्रिया मैं करता हूँ, आहार-पानी मैं छोड़ता हूँ, आहार-पानी मैंने त्याग किये। वह तो जड़ है, तू त्याग सकता है? वह तो परवस्तु है। मैंने पर की दया पालन की, देखो! यह मैंने जीव को बचाया, देखो! यह मक्खी पड़ी, उसे ऐसा किया। यह जड़ की क्रिया है, उसे अपनी मानता है।

मुमुक्षु : बहुतों को धर्म प्राप्त कराता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी धर्म प्राप्त नहीं कराता। पर को कौन प्राप्त कराये? भाषा ही आत्मा की नहीं। वह दूसरे को धर्म प्राप्त करावे - ऐसा मानना, वह मिथ्यादृष्टि है। मोहनभाई! बहुत कठिन काम।

कहते हैं कि, भाई! वीतराग का मार्ग अन्दर के द्रव्य / वस्तुस्वभाव का आदर या अनादर, इस पर बन्ध और मोक्ष है। फिर आगे जाकर अन्दर राग की मन्दता या अभावता कितनी है—इस पर बन्ध और मोक्ष का मार्ग है। बाहर की क्रिया की प्रवृत्ति और संयोग पर मार्ग नहीं। समझ में आया?

इति विविधभंगगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम्।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः।।५८।।

इस प्रकार अत्यन्त कठिनता से पार हो सकनेवाले अनेक प्रकार के भंगों से युक्त गहन वन में.. 'भंगगहने' शब्द है न? उसमें से निकाला है? **'विविधभंगगहने'** भगवान के.. ओहो..हो..! एक करे अहिंसा, लगे हिंसा। कोई दूसरे का बुरा करना चाहता है, परन्तु कुछ अच्छा साथ दे पहले और फिर करूँगा। एक करे हिंसा, लगे दया के भाव। पर मर जाये, परन्तु इसे मारने के भाव नहीं। करे हिंसा एक, अनेक को फल दे। अनेक करे, एक को फल दे। थोड़ी हिंसा करे, बहुत हिंसा का फल आवे। बाहर में हिंसा थोड़ी करता है, अन्दर राग-द्वेष बहुत हैं। और बाहर में बहुत हिंसा करे, अल्प हिंसा का फल आवे। अन्दर में राग मन्द है और आसक्ति कम है। कहो, समझ में आया इसमें? ऐ.. दीपचन्दजी! ऐसी बात है यह। यह समझे बिना सब एकदम... आहा..हा..!

अनेक प्रकार के.. नाना अर्थात् अनेक। **भंगों से युक्त गहन वन में मार्ग भूले**

हुए पुरुष को अनेक प्रकार के नयसमूह के ज्ञाता श्रीगुरु ही शरण होते हैं। लो! आया यह। गुरु शरण है। एक ओर कहते हैं भगवान आत्मा शरण है। परमात्मप्रकाश में कहते हैं—गुरु तू तेरा, देव और तू गुरु तेरा, और तू तीर्थ तेरा। बाहर के तीर्थ और यह तो सब व्यवहार शुभभाव में निमित्त है। वास्तविक गुरु तू, वास्तविक देव तू और वास्तविक तीर्थ चिदानन्दमूर्ति आनन्दकन्द में अन्दर जा और राग का मल टले, वह तीर्थ तू है। समझ में आया? गुरु भी तू, क्योंकि समझाने के काल में तू ही तुझे समझाता है। गुरु समझाते हैं परन्तु तुझे अन्दर वह बात न बैठे तो वहाँ तक कौन बैठावे तुझे? गुरु तू है, तू तुझे समझावे इसलिए तू गुरु।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए कहा न थोड़ा। उसके साथ बात (ली है)। यहाँ तो कहते हैं कि नय के भंगों के भेद समझना, वह सत्समागम बिना बहुत गूढ़ है, मुश्किल है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहा..हा..! एक ओर ऐसा कहे कि केवलज्ञान और आत्मा, ज्ञान और आत्मा दो भेद करे, वह व्यवहार है। ज्ञान वह आत्मा, केवलज्ञान आत्मा नहीं। कारण केवलज्ञान एक समय की पर्याय सद्भूत व्यवहार है। आहा..हा..! समझ में आया? एक समय की दशा है न, इसलिए व्यवहार है। निश्चय तो त्रिकाल ज्ञायकस्वरूप है, वह शरणभूत है। केवलज्ञान भी व्यवहार है। यह तो वीरजीभाई कहते कि केवलज्ञान जहाँ व्यवहार आया, वहाँ अचानक चमका। केवलज्ञान व्यवहार? यह क्या कहते हैं? तीन काल का ज्ञान हो, वह व्यवहार? हाँ; केवलज्ञान भी एक द्रव्य की एक समय की पर्याय है, एक समय का भेद है, वह त्रिकाल चीज़ नहीं है। केवलज्ञान, वह व्यवहार। ऐई! प्रवीणभाई! आहा..हा..! और तब वे कहते हैं कि जो केवलज्ञान व्यवहार, वह सत् है या नहीं? केवली पर को जाने, वह व्यवहार है, तो वास्तव में पर को नहीं जानते। अरे! सुन तो सही! यह तो पर को जानने का उपयोग नहीं। उपयोग अपने को जानने में है, उसमें पर को जानते हैं, ऐसा कहना वह व्यवहार है। जानते हैं अपने को, उसमें पर लोकालोक सब आ जाते हैं। अपनी ज्ञान की पर्याय में लोकालोक ज्ञात हो जाते हैं, ऐसा उनका स्वरूप है।

निर्मल चिदानन्द आत्मा, अपने आनन्द के सरोवर में प्रवेश करने से वह केवलज्ञान

होने पर उसमें लोकालोक अन्तर की पर्याय में ज्ञात हो जाता है। यह निश्चय से लोकालोक को जाननेवाला है। लोकालोकरूप अपनी पर्याय को अपनी ऐसा। निश्चय से लोकालोक को जाननेवाली जो अपनी पर्याय एक समय की है, उसका वह जाननेवाला है। व्यवहार सर्वज्ञ है, व्यवहार, इसलिए सर्वज्ञ ने देखा ऐसा होगा, यह बात कहाँ रही ? ऐसा कहते हैं। भगवान ने देखा वैसा ही होगा, सुन न! भगवान तो केवलज्ञानी हैं। तीन काल, तीन लोक को जानते हैं। जिस समय में जहाँ जिस द्रव्य की जो पर्याय होनेवाली है, वह भगवान पहले से केवलज्ञान से ही जानते हैं परन्तु जिसे केवलज्ञान है—ऐसा जिसको निर्णय होता है, उसे तो आत्मा-सन्मुख अनुभव बिना निर्णय नहीं हो सकता। समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं कि अहो! अनेक प्रकार के नय समूह को जाननेवाले गुरु शरण हैं। **'इति सुदुस्तरे विविधभंगगहने मार्गमूढदृष्टीनां गुरवः शरणं भवन्ति' – इस प्रकार सुगमपने जिसका पार नहीं पाया जा सकता..** सुगमरूप से जिसका पार नहीं पाया जा सकता। सहजता से नहीं पाया जा सकता। बहुत बार व्यवहार के भंग ऐसे आते हैं, तथापि वह व्यवहार राग है, केवलज्ञान की पर्याय व्यवहार है; राग, वह व्यवहार है; अशुभराग, वह व्यवहार है; निमित्त, वह व्यवहार है। कितने व्यवहार के भंग ? एक निश्चय भगवान आत्मा, रागरहित स्वरूप अभेद एकाकार, वह निश्चय है। एक ओर ऐसा कहते हैं कि राग की पर्याय अपने में होती है, वह निश्चय है। आहा..हा..! क्योंकि इसके उल्टे पुरुषार्थ से इसमें राग होता है, कर्म से नहीं होता। वहाँ आगे ऐसा कहे, अपेक्षा से जानना चाहिए न!

कहते हैं **सुगमपने जिसका पार नहीं पाया जा सकता ऐसे अनेक प्रकार के भंगरूपी गहन वन में..** अब कहते हैं, देखो! **सत्यश्रद्धान..** वह आया था न ? मार्ग मूढ़ दृष्टिनाम.. **सत्यश्रद्धानस्वरूपमार्ग में जिसकी दृष्टि भ्रमित हो गई है,..** उसका अर्थ यह हुआ। यह मार्ग मूढ़ दृष्टिनाम उसका अर्थ है। सत्य श्रद्धान स्वरूप मार्ग में जिसकी दृष्टि भ्रमित हो गई है। बाहर से त्याग (किया हो), उसे धर्मी मान ले। समझ में आया ? बाहर से त्याग न हो, उसे मिथ्यादृष्टि माने परन्तु सम्यग्दर्शन हुआ है। सम्यग्दर्शन हुआ तो निवृत्ति चाहिए न ? यह देखो! हम सब बाहर से स्त्री, पुत्र छोड़कर निवृत्ति लेकर बैठे हैं। शास्त्र में

ऐसा कहा, ज्ञान का फल विरति। आता है या नहीं ? तो ज्ञान उसका नाम कहलाता है कि बाहर का सब छोड़कर बैठे तो ज्ञान का फल विरति कहलाये। यह ऐसा नहीं है, सुन न!

जिसकी दृष्टि भ्रमित हुई है। भ्रमणा.. भ्रमणा.. शुभभाव करे, दया, दान, व्रत, भक्ति, तप का भाव शुभ हो, माने कि हम निर्जरा करते हैं। मिथ्यादृष्टि भ्रमणा में पड़े हैं। समझ में आया ? पर की दया पाले, वह धर्म है। पर का आशीर्वाद मिले, बहुत जीव को यह लो। समझ में आया ? आता है न तुलसी में ? क्या कुछ आता है न ? दया वह जीव की.. आता है न उसमें ? ...दूसरे के आशीर्वाद मिले। चमड़ी मर गयी हो, लोहे को अग्नि कर डाले। इसलिए.. दूसरे को हिंसा और इस प्रकार.. यहाँ तो अभिप्राय में—श्रद्धा में उसका सच्चा -खोटा स्वरूप क्या है, जिसकी खबर नहीं, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव, जिनकी दृष्टि भ्रमित हो गई है। दया, दान, व्रत, भक्ति, तपस्या, अपवास आदि करे, माने कि हम धर्म करते हैं। मूढ़ है, कहते हैं, मिथ्यादृष्टि है। धर्म की क्या चीज़ है, इसकी तुझे खबर नहीं।

जिसकी दृष्टि भ्रमित हो गई है, उसके लिए श्रीगुरु ही शरण हैं। ज्ञानी परम सन्त उसे कहते हैं कि भाई! सहजानन्द भगवान आत्मा की अन्तरशरण बिना, बापू! तुझे कोई धर्म नहीं होगा। बाहर के त्याग-ग्रहण के विकल्प से तू मान बैठा है, वह दृष्टि विपरीत है। तेरे गुण समाज को कुछ लाभ नहीं होता। समझ में आया ?

बाहर का त्याग न हो, तथापि सम्यग्दृष्टि को अन्तर में विकल्प उठता है, उसका भी अन्तर में त्याग है। आहा..हा..! समकिती को पंच महाव्रत के परिणाम उठें, समकिती को उन पंच महाव्रत के परिणाम त्याज्य हैं, यह नहीं, यह नहीं, यह जहर, राग है। अज्ञानी को मन्द राग उत्पन्न हो, वह मुझे आदरणीय है, (ऐसा मानता है); इसलिए पूरा संसार उसे मिथ्यात्व में पड़ा है। ज्ञानी को एक राग की तीव्रता भोग की कदाचित् आवे, त्याग है। आदर नहीं, आदर नहीं। कहाँ अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद और कहाँ राग की आकुलता का भाव, दो के बीच ज्ञानी को भेदज्ञान है; इससे ज्ञानी को वहाँ लाभ है, अज्ञानी को राग का त्याग तीव्र है और मन्द राग है उसमें मिथ्यात्व का लाभ है। कहो, समझ में आया इसमें ?

सत्यश्रद्धानस्वरूपमार्ग में जिसकी दृष्टि भ्रमित हो गई है, उसके लिए श्रीगुरु ही शरण हैं। उनके द्वारा ही सत्यमार्ग का स्वरूप जाना जा सकता है। लो! ज्ञानी

बिना सच्चा स्वरूप नहीं जाना जा सकता। अपनी कल्पना से शास्त्र पढ़े, माने, वह सब स्वच्छन्द पोषण करता है। 'कोटि' आता है न? मात्र मन का आमला

जिन कल्पना से कोटि शास्त्रो मात्र मनना आमलो
जिनवर कहे छे सूत्र तेने सर्व भवि सांभलो।

श्रीमद् में आता है। निज कल्पना से करोड़ों शास्त्र पढ़े। वस्तु के-गुरुगम के बिना अन्तर के भान और दृष्टि बिना, वे करोड़ों शास्त्र उसे अज्ञानरूप परिणम जाते हैं। समझ में आया? ओहो! अरे! चौरासी लाख के अवतार में मुश्किल से इसे मनुष्य देह मिला, उसमें भी थोड़े वर्ष पचास-साठ वर्ष, सत्तर कितने कहलायें? अनादि-अनन्त काल में थोड़ा काल, उसमें यदि यह वस्तु भगवान कहते हैं, वैसा सम्यग्दर्शन / अन्तर की दृष्टि नहीं प्राप्त हुई, उसे कुछ लाभ नहीं है। मरकर उसे यह अवतार होनेवाले हैं। पशु और नरक और निगोद में जानेवाला है। आहा..! कहीं सामने कोई देखनेवाला है नहीं। गौशाला यहाँ हो तो फिर पशु को दे भी सही। वहाँ गौशाला है कहीं? आहा..हा..! कहीं ढाई द्वीप के बाहर कहाँ जन्मा हो। आहा..हा..! यहाँ जन्मे तो भी क्या? इस अनार्य देश में मनुष्य कहाँ है? है कुछ लाभ? खून-ख्वारी करे, लोग मर जाये तो उसे कुछ नहीं। लोग मर जाये तो कुछ नहीं। लोग मर जाये तो कम होंगे, जाओ। खर्च कम होगा, अपने देश का भार उतरेगा। अनार्य भाव। आहा..हा..! बापू! ऐसे अवतार मिले, उसमें कहते हैं कि वीतराग ने कहा हुआ तत्त्व वास्तविकरूप से ज्ञानगम्य नहीं समझ ले तो अन्यत्र कहीं अन्त आनेवाला नहीं है।

कैसे हैं गुरु? जिन्होंने अनेक प्रकार के नयसमूह का प्रवर्तन जाना है.. लो! निश्चय-व्यवहार, भेद-अभेद आदि के प्रकार, निमित्त-उपादान आदि जैसे हैं, वैसे नय का ज्ञान (जिन्हें है)। निमित्त अर्थात् व्यवहार और उपादान अर्थात् निश्चय। **जिन्होंने अनेक प्रकार के नयसमूह का प्रवर्तन जाना है और सर्व नयों को समझाने में समर्थ हैं।** देखो! ऐसे भंग स्वयं कितने लिये! करे हिंसा और अहिंसा का फल। यह है वह व्यवहार, हों! व्यवहार की.. निश्चय हिंसा नहीं। ऐई! करे हिंसा और अहिंसा का फल। यह बाहर व्यवहार की बात है। वह दया का विकल्प है न, और उसमें वह मर जाता है तो उसे कहीं पाप नहीं लगता। विकल्प है, उसका पाप है, परन्तु वह जो मर गया, उसका पाप

इसे नहीं लगता। विकल्प में मारने का भाव है और वह बच गया सामने। समझ में आया? इसका कुछ बचाने का लाभ नहीं होता। मारने का भाव है, उस हिंसा का इसे लाभ होता है। सर्व नय समझाने को एक ज्ञानी समर्थ हैं, इसके अतिरिक्त कोई समझा नहीं सकता। अपनी कल्पना से समझे, निश्चय और व्यवहार और बहुत गड़बड़ चलती है न? यह व्रत और नियम को संवर-चारित्र मानते हैं। गजब है। ऐसा तो अभव्य अनन्त बार करता है। व्रत और नियम, तप नहीं किये ऐसे? अभव्य जीव अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक गया, तब अनन्त बार किया है। छह-छह महीने के, बारह-बारह महीने के अपवास अभव्य ने अनन्त बार किये हैं। यह तो दृष्टान्त है। उस अभव्य ने किये इतने तो फिर तू कौन? तुझे फिर कहाँ से लाभ हो जाता था उनसे? ऐसा कहते हैं। नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया। बारह-बारह महीने के उपवास किये। भव्य जीव स्वयं, शुक्ललेश्या, द्रव्यलिंगी दिगम्बर मुनि वनवासी रहा, हजारों रानियाँ त्यागीं, परन्तु अन्तर में उस राग की मन्दता का विकल्प है, वह धर्म है - ऐसा मानता है वह अन्दर में। उससे भिन्न मेरी चीज़ है, इसका उसे पता भी नहीं। ऐसे मार्ग में ज्ञानी शरण हैं, दूसरा कहीं शरण है नहीं। कहो समझ में आया? विशेष ५९ गाथा में लेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

उसे तो सदैव रात्रि-भोजन ही है।

श्रावक को रात्रि भोजन-त्याग का उपदेश है। **जिसमें सम्यक्त्व-सूर्य अस्त हो गया है और अज्ञानरूपी रात्रि छा गयी है, ऐसा जो मिथ्यात्वादि परभावों का भोजन, वही परमार्थ से रात्रि-भोजन है। ऐसे रात्रि-भोजन के महापाप के त्याग के अर्थ प्रथम तो श्रावक को सम्यग्दर्शन और अपने योग्य आचरणबुद्धि होना चाहिए। जिसकी आत्मा में सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य झलक रहा है, उसे परभावरूप रात्रि-भोजन का त्याग है और सम्यक्त्व-सूर्य जिसका अस्त हो गया है, उसकी आत्मा में सदैव रात्रि ही है, इसलिए उसे तो सदैव रात्रि-भोजन ही है।**

(—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

गाथा - ५९

अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम्।।५९।।

जिनवर कथित नय चक्र अति ही, तीक्ष्णधारी दुरासद।
धारण किए दुर्विदग्धों के, करे शीश झटिति पृथक्।।५९।।

अन्वयार्थ : (जिनवरस्य) जिनेन्द्र भगवान का (अत्यन्तनिशितधारं) अत्यन्त तीक्ष्ण धारवाला और (दुरासदं) दु:साध्य (नयचक्रं) नयचक्र (धार्यमाणं) धारण करने पर (दुर्विदग्धानां) मिथ्याज्ञानी पुरुषों के (मूर्धानं) मस्तक को (झटिति) तुरन्त ही (खण्डयति) खण्ड-खण्ड कर देता है।

भावार्थ : जैनमत का नयभेद समझना अत्यन्त कठिन है। जो कोई मूढ़ पुरुष बिना समझे नयचक्र में प्रवेश करता है, वह लाभ के बदले हानि उठाता है। इस प्रकार हिंसा का भंग कहा।।५९।।

प्रवचन नं. ३९ गाथा-५९ से ६० रविवार, ज्येष्ठ शुक्ल ११, दिनांक १८.०६.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय। द्रव्य और भाव। अब इसका निष्कर्ष कहते हैं।

अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम्।।५९।।

द्रव्य और भाव की हिंसा के बहुत प्रकार वर्णन किये। भाव से हिंसा करता हो और द्रव्य से हिंसा न भी हो। द्रव्य से हिंसा बहुत हो और भाव से हिंसा थोड़ी हो। द्रव्यहिंसा थोड़ी हो और भावहिंसा बहुत हो। द्रव्य से हिंसा हो और भाव से अहिंसा हो।-ऐसे बहुत

प्रकार वर्णन किये थे। मोहनभाई! सब याद रहते हैं कहीं? हाँ-ना क्या करना? बहुत प्रकार वर्णन किये थे।

वीतरागमार्ग में भाव प्रधानता से बात है। निमित्त से, व्यवहार के कथन आते अवश्य हैं, ऐसा व्यवहार का कथन आता है, परन्तु वास्तव में यह घात नहीं कर सकता। जब परप्राणी के प्राण घात हों, तब इसका भाव आदि, या शरीर निमित्त हो, इससे व्यवहार से कथन कहने में आता है। परमार्थ से तो आत्मा अपने शुद्ध... यहाँ यह दर्शन-ज्ञान के बाद की बात है। सम्यग्दर्शन, निश्चय से देखे तो आत्मा निर्विकल्प शुद्ध चैतन्यतत्त्व है, उसकी प्रतीति का भान अन्तर में होना, उसमें तो व्यवहार के विकल्प,... पर की हिंसा तो उसमें नहीं, परन्तु कोई रागादि हिंसा का भाव होना, वह भी उसमें नहीं। ऐसा भगवान का नयचक्र अर्थात् नय का समूह है। कहो, समझ में आया?

जिनेन्द्र भगवान का अत्यन्त तीक्ष्ण धारवाला.. तीक्ष्ण धार। चक्र लिया है न? चक्र। **और दुःसाध्य..** भगवान द्वारा कहे गये नय का समूह समझना बहुत दुसाध्य है। समझ में आया? बाहर के अनेक प्रकार का त्याग आदि न दिखे, आत्मा का अनुभव होकर अन्तर में मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का त्याग हुआ तो कहते हैं कि मोक्षमार्ग में है। बाह्य का हजारों रानियों का त्यागी हुआ और मास-महीने-महीने के, छह-छह महीने के उपवास करे, परन्तु अन्दर में आत्मा का क्या स्वरूप है, राग का कर्ता भी आत्मा नहीं। पर का तो कर्ता नहीं, आहार-पानी लेन-देने का तो कर्ता नहीं, परन्तु उसमें विकल्प उठे, उसका भी कर्ता नहीं; ऐसा जो स्वरूप, उसका जिसे अन्तर भान नहीं, उसे वह सब बाह्य त्याग मिथ्यात्व में जाता है। समझ में आया?

एक ओर भगवान ऐसा कहे कि तेरे प्राण स्वयं घात करे, उसे निश्चय हिंसा कहा जाता है; पर प्राणी का घात हो, उसे व्यवहार हिंसा कहा जाता है, परन्तु यह अपने प्राण मिथ्यात्व और राग-द्वेष भाव से शुद्ध चैतन्यस्वभाव के प्राण, स्व-सन्मुख के प्राण यह स्वयं घात करता है, यही हिंसा है। यह हिंसा है, यह यहाँ मुख्य कहा है। समझ में आया?

मुमुक्षु : बनिये बहुत हिंसा नहीं करते।

पूज्य गुरुदेवश्री : बनिये को भान (कहाँ है)? बनिया किसे कहना? ऐई! बल्लभदासभाई! क्या कहा?

मुमुक्षु : मोक्षमार्ग में तो छह काय की हिंसा न करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : छह काय की हिंसा की बात भी कहाँ है यहाँ? इसीलिए तो यह बात चलती है, कितने भंग चले हैं? छह काय की हिंसा तो परवस्तु हुई। उसे मारने का भाव हो, वह अशुभभाव है। समझ में आया? वह अशुभभाव, वह हिंसा है। पर मरे, उसकी हिंसा यहाँ नहीं लगती। कहो, कहा न? एक (जीव) बाह्य में छह काय का घात नहीं करता और अन्तर में चैतन्य आनन्द शुद्ध ज्ञायकस्वरूप भाव में यह जो राग और विकल्प उठता है, उसे अपना मानता है और उसमें मिथ्यादृष्टिरूप से, शुद्ध स्वभाव है, उसका अनादर करता है तो वह महा हिंसक है - ऐसा कहने में आता है। शशीभाई!

मुमुक्षु : श्रीगुरु की शरण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह शरण अर्थात् यह कि इसकी पात्रता में ऐसी ज्ञान की योग्यता चाहिए, तब गुरु इसे समझा सकें - ऐसा कहने में आता है। वस्तु ऐसी है। इसलिए यह यहाँ उतारा है। चरणानुयोग है न? यह अभी नहीं बोलते। अवसर आया है। इसमें कहते हैं। आहा..हा..!

यहाँ देखो तो भगवान आत्मा..! एकेन्द्रिय जीव बाहर में किसका घात करता है? घात करता है कुछ? एकेन्द्रिय जीव स्वयं। जिसे मन नहीं, जिसे वाणी नहीं और वह देह, उसमें निगोद के अनन्त जीव, एक शरीर में अनन्त, ऐसा एक जीव अन्दर मरता भी नहीं। ऐसा का ऐसा बहुत वर्षों से आलू में या काई में पड़ा हो, लो! समझ में आया? तथापि बाहर में बिल्कुल हिंसा नहीं; अन्दर में तीव्र हिंसा है, क्योंकि अपने आनन्द शुद्ध चैतन्य प्राण विपरीत मिथ्या-अभिप्राय में स्वयं महाकलंक खड़ा करता है। वह एकेन्द्रिय भी अपने भावप्राण का घात करता है। दूसरे का कुछ घात नहीं कर सकता, देखो! शरीर एक ही है। समझ में आया?

सम्यग्दृष्टि, (जिसे) आत्मा का भान है। मैं आत्मा चिदानन्दस्वरूप हूँ। एक दया, दान, व्रत का विकल्प उठे, वह मेरा कर्तव्य नहीं, वह तो राग है। पर का कर्तव्य मारना या बचाना, वह तो मेरे स्वरूप में है ही नहीं। किसे मैं बचाऊँ? किसे मारूँ? किसे समझाऊँ? और किससे मैं समझूँ? ऐसा चैतन्य ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा अपने स्वभाव की दृष्टि का

भान हुआ है। बाहर से देखो तो पंचम गुणस्थानवाला श्रावक हो, बड़ा जहाज का व्यापार-धन्धा करता हो, लो! अरबों रुपयों का धन्धा, जहाज का धन्धा, खेती का धन्धा। पाप अल्प लगे। चौथे गुणस्थानवाला सर्वार्थसिद्धि का देव, देखो तो कभी कुछ पकाने का नहीं होता, खाने का नहीं होता, पीने का नहीं होता, स्त्री नहीं होती, पुत्र नहीं होते।

मुमुक्षु : घरबार तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : घरबार भी नहीं होते। वहाँ घरबार कहाँ थे? विमान है और माने कि कदाचित् कि यह मेरा विमान है। ऐसा सर्वार्थसिद्धि का देव सम्यग्दृष्टि, कोई बाहर की हिंसा नहीं, तथापि तीन कषाय का भाव है। उस पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक को लाखों जहाज का धन्धा, बड़ा खेती का व्यापार हो, अनाज का बड़ा धन्धा हो, तथापि उसे अल्प पाप लगता है, क्योंकि उसे दो कषाय (चौकड़ी) का अभाव है, दो कषाय (चौकड़ी) नष्ट हुई है। उसे - सर्वार्थसिद्धि के देव को तीन कषाय का भाव है और एक कषाय (चौकड़ी) नष्ट हुई है। बाहर में हिंसा कुछ नहीं, परन्तु इस पाँचवें गुणस्थानवाले से उसे हिंसा अधिक है! यह तो कोई माप! समझ में आया? आहा..हा..! अन्दर कषाय और मिथ्यात्व का अभाव या मिथ्यात्व और कषाय का सद्भाव, इस पर पूरे जैनदर्शन की दौड़ है।

कहते हैं **जिनेन्द्र भगवान का अत्यन्त तीक्ष्ण धारवाला.. तीक्ष्ण और दु:साध्य नयचक्र..** नयचक्र अर्थात् समूह। नय का समूह अथवा नयचक्र। निश्चय से बात करे कुछ, व्यवहार से कुछ हो, पूरा चक्र घूमे। समझ में आया? निश्चय से बात करे तो कहे, सम्यग्दृष्टि को आस्रव और बन्ध नहीं है - एक ओर ऐसा कहे। एक ओर ऐसा कहे कि पंचम गुणस्थानवाला तो ठीक, परन्तु मुनि है छठे गुणस्थान में, उन्हें जितने पंच महाव्रत के विकल्प उठते हैं, वह जहर और पाप तथा दु:ख है। कहो, मोहनभाई! वीतरागमार्ग के नयों का स्वरूप, उसके ज्ञान का न्याय समझना बहुत सूक्ष्म है। ऊपर-ऊपर से कोई सिर मारकर बात करे, व्यवहार से ऐसा है, निश्चय से ऐसा है, अमुक ऐसा है। ऐसा नहीं चलता। नयचक्र दु:साध्य है।

धारण करने पर 'दुर्विदग्धानां' मिथ्याज्ञानी.. अर्थात् **'दुर्विदग्धानां'** समझा नहीं और समझा हूँ—ऐसा मानता है, उसकी बात ली है न यहाँ? व्यवहार-निश्चय, निमित्त

-उपादान क्या है, वह समझा न हो। किसे निश्चय कहना? किसे व्यवहार कहना? व्यवहार वह जानने योग्य है, निश्चय वह आदरणीय है, निमित्त वह हेय है, शुद्ध उपादान स्वयं उपादेय है - ऐसे निश्चय और व्यवहार के भेद नहीं जानता, ऐसा **'दुर्विदग्धानां' मिथ्याज्ञानी पुरुषों के 'मूर्धानं' मस्तक को..** मस्तक अर्थात् उसका धारण किया हुआ भाव।

मुमुक्षु : ऐसा अर्थ कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन जाने यह पण्डित है, पूछो न इसे। ऐई! सिर होगा? बाहर के सिर का काम है यहाँ? शशीभाई! अज्ञानी ने अपना माना हुआ जो भाव जो मुख्य है, वह उसका मस्तक है। समझ में आया? प्रवीणभाई! प्रवीणभाई पड़े हैं। उसमें उनका कोई आया है। भाई! यह तो एकदम ऐसी चीज़ है। आहा..हा..!

अनन्त काल से भटका। कहीं इसे सत्य का पन्थ हाथ नहीं आया। बाहर के इतने पहलू और शास्त्र में इन पहलुओं की व्यवहार की इतनी अधिक बातें आती हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति, तप और पूजा, यह सब राग है और इसका फल संसार है, (ऐसा) वापस आता है।

एक ओर कहते हैं कि जहाँ एक जरा भी राग है, राग थोड़ा भी है, वह आगम को नहीं जानता। यह किस अपेक्षा से बात है? थोड़ा भी राग अपने स्वभाव के साथ एकता करता है, वह जीव आगम को और तत्त्व के भाव को नहीं जानता। कहो समझ में आया?

एक ओर छठवें गुणस्थान में अट्ठाईस मूलगुण आते हैं, अदन्त धोवन, सच्चे मुनि हों, उन्हें अकेले जंगल में रहूँ - ऐसा विकल्प आवे। वह विकल्प उठे, वह भी जहर है, बन्ध का कारण है, वे सआस्रवी हैं। आहा..हा..! वह आस्रववाला साधु है। एक ओर कहे कि सम्यग्दृष्टि को आस्रव और बन्ध नहीं है। ऐ.. मोहनभाई! भगवान के नय के समूह का न्याय दु:साध्य है। अन्तर आत्मा के स्वरूप का साधन, जिसमें निश्चय लागू पड़े, वह बहुत मुश्किल है। उसे फिर व्यवहार हो, वह जानने योग्य है। व्यवहार के पहलू बहुत हों, जानता है कि ऐसा भाव है।

कहते हैं कि ऐसा नहीं मानता, ऐसे **'दुर्विदग्धानां' 'मूर्धानं'** ऐसा जो माना हुआ

उसका अभिप्राय, उसे **तुरन्त ही खण्ड-खण्ड कर देता है।** समझ में आया? एकान्ती अज्ञानी ने माने हुए अभिप्राय तोड़ डालता है। जिनका चक्र, वीतरागदेव का नय समूह, उसका खण्ड-खण्ड कर डालता है। कहो, शशीभाई! समझ में आया? भारी सूक्ष्म, भाई! आहा..हा..!

यह चौरासी में भटकता है, इसकी इसे उकताहट नहीं आयी। अरे! मैं कहाँ हूँ? और कहाँ रहा हूँ? मेरी चीज़ क्या है? उसका इसने ज्ञान नहीं किया। भगवान के ज्ञान के न्याय से ज्ञान नहीं किया, नय से नहीं किया। आहा..हा..! अपनी कल्पना से मान लिया कि मैं कुछ शास्त्र जानता हूँ, मैं कुछ व्रत पालन करता हूँ और तप करता हूँ, उसमें मुझे लाभ होगा - ऐसा अज्ञानी ने अनादि से मिथ्यादृष्टिरूप से माना है। उसे वस्तु क्या है, इसकी खबर नहीं है।

परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव केवलज्ञानी ने, भगवान आत्मा, पूर्णानन्द का नाथ प्रभु के सन्मुख देखकर जो कोई दृष्टि, ज्ञान और स्थिरता हो, बस! इतना ही मोक्ष का मार्ग है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है। समझ में आया? बाहर की क्रियाकाण्ड के लाख, करोड़ तेरे विकल्प हों, वे सब बन्ध के कारण हैं। आहा..! समझ में आया? एक ओर मुनियों को महाव्रत पाले तो वह चारित्र कहलाये, ऐसा कहे; दूसरी ओर कहे कि महाव्रत का भाव जहर है, राग है, आस्रव है, दुःखरूप है।

मुमुक्षु : संवर का साधन कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह साधन भी कहे। व्यवहारनय उसे साधन कहे, निश्चय साध्य कहे। जिसे दुःखरूप भाव है, उसे साधन कहे; सुखरूप दशा को साध्य कहे। यह साध्य का व्यवहार साधन कहे, साधन का साध्य निश्चय कहे, उसे समझना चाहिए न।

यह व्यवहार साधन कहते हैं, वह साधन नहीं है। उसे कहने में निमित्त का ज्ञान कराने की बात है। भगवान आत्मा अपने शुद्ध आनन्दस्वरूप को अन्तर के स्वभाव द्वारा साधन करता है, वही उसका वास्तविक साधन है। यह राग की मन्दता, व्रत, नियम, तप के विकल्प, वे बिल्कुल आत्मा को साधन-फाधन है नहीं। ऐसा नयचक्र अज्ञानियों के **'दुर्विदग्धानां' 'दुर्विदग्ध'** अर्थात् क्या? गुजराती। वह तो सीधी भाषा है। अर्धदग्ध ऐसा

था। थोड़ा आधा जला और आधा कच्चा, ऐसा मेरा कहना है। **'दुर्विदग्ध'** है न? गेहूँ होते हैं न? आधा जला हो और आधा अच्छा। वह न आटे में काम आवे, न राख में काम आवे। वह गेहूँ, गेहूँ। इसी प्रकार कोई जला हो, आधा-आधा जला हो। गेहूँ समझते हो? आधा जला हो, आधा अच्छा हो, वह आटे में काम नहीं आता, नहीं काम आता राख में। इसी प्रकार अर्धदग्ध। यहाँ तो अर्धदग्ध है। जानपने की बातें भी करता है, समझता नहीं कुछ।

मुमुक्षु : अधूरा ज्ञानी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अधूरा नहीं उल्टा। अधूरा नहीं। आहा..! अर्धदग्ध यहाँ **'दुर्विदग्ध'** कहा है न? जला है, जल गया है थोड़ा, थोड़ा। ऐसा मानता है कि मैं जानता हूँ, मुझे भान है, हों! नयचक्र नय का भान है। दूसरे सब सामने बातें ऐसी करें, हों! भाई! नयचक्र समझना कठिन है। व्यवहार साधन से होता है, व्यवहार पहले आता है और फिर निश्चय होता है, ये सब नयचक्र नयस्वरूप है।

यहाँ तो कहते हैं, **भावार्थ : जैनमत का नयभेद समझना अत्यन्त कठिन है।** वीतराग परमेश्वर केवलज्ञानी त्रिलोकनाथ परमात्मा ने जो कुछ निश्चय-व्यवहार के नय के प्रकार, भेद, उपादान-निमित्त के जो कुछ भेद कहे, वे समझना (अत्यन्त कठिन है)। उपादान अर्थात् निश्चय, निमित्त अर्थात् व्यवहार। जैनमत के नय के प्रकार, भेद अर्थात् प्रकार। **समझना अत्यन्त कठिन है।** दूसरे ऐसा भी कहें, हों! सामनेवाले ऐसा कहे। खोटा समझे। आहा..हा..! लाख बात की बात।

श्रीमद् ने नहीं कहा? कि सम्यक् एकान्त ऐसे निज हित की प्राप्ति के अतिरिक्त अनेकान्त का ज्ञान इसे नहीं होता। अकेला अनेकान्त-अनेकान्त करे परन्तु सम्यक् एकान्त आत्मा का शुद्ध स्वभाव, एक ही कड़ी, एक शब्द रखा है, है न, भोगीभाई की ओर से पुस्तक प्रकाशित हो गयी है। तुम्हें आयी है? नहीं आयी होगी। श्रीमद् में एक लाईन है न? उसका 'ववाणिया' में एक घण्टे व्याख्यान हुआ था। समझ में आया? उसमें है न कहीं, कितने पृष्ठ पर है? पृष्ठ में क्या पता पड़े? बड़ी पुस्तक। आता है या नहीं यह?

'अनेकान्तिक मार्ग भी..' कोई 'अनुपचन्द मलुपचन्द' भरुच में रहते, नहीं? तुम जानते होंगे। भाई की भरुच में दुकान है न? बाह्य क्रिया की बात पर ही पूरा पत्र है। यह क्रिया करना, व्रत करना, उपवास करना, यह करना और यह करना। पूरा दिन मथता था।

परन्तु वस्तु क्या है, उसके ज्ञान और श्रद्धान का भान नहीं, तब उसे कहा कि भाई! कि इसे एकान्त हो, ऐसा माने। हम धारते हैं और फिर सब क्रिया करते हैं, वह अनेकान्त। तो कहते हैं कि अनेकान्तिक मार्ग भी सम्यक् एकान्त ऐसे निज पद की प्राप्ति कराने के अतिरिक्त अन्य दूसरे किसी हेतु से उपकार नहीं है। ऐसा जानकर लिखा, वह मात्र अनुकम्पा बुद्धि, निराग्रह से, निष्कपटता से, निरदमता से हितार्थ लिखा है। ऐसा यदि तुम यथार्थ विचार करोगे तो दृष्टिगोचर होगा। यथार्थ विचार करोगे तो दृष्टिगोचर होगा, तो वचन का ग्रहण और प्रेरणा होने का हेतु होगा। वह बहुत क्रियाकाण्डी था। यह करूँ और यह करूँ पूरे दिन।

कहते हैं कि भाई! सम्यक् अनेकान्तिक मार्ग भी, सम्यक् एकान्त शुद्ध आनन्दस्वरूप अकेला, उस ओर में एकान्त सम्यक् आत्मा में ढले बिना, उसकी पर्याय का, राग का, निमित्त का, भेद का अनेकान्त ज्ञान यथार्थ नहीं होता। समझ में आया? क्या कहा? समझ में आया इसमें? पोपटभाई! वे कहते हैं कि उपादान और निमित्त दो हैं, निश्चय और व्यवहार दो हैं, शुद्ध और अशुद्ध दो हैं, द्रव्य और पर्याय दो हैं, अभेद और भेद दो हैं। कहते हैं, है सब, सुन न! परन्तु अभेद और अखण्ड आनन्द प्रभु का आश्रय सम्यक् एकान्तरूप से लिये बिना, उस पर्याय का, निमित्त का, भेद का, व्यवहार का अनेकान्तिक ज्ञान सच्चा नहीं होगा। समझ में आया? यह एक ही टुकड़े (वाक्य) में इतना रखा है। लो! एक घण्टे व्याख्यान हुआ था वहाँ। ३४७ पृष्ठ पर है।

यहाँ कहते हैं, **जैनमत का..** जैनमत अर्थात् सर्वज्ञ परमेश्वर का अभिप्राय। जैनमत, वह कोई सम्प्रदाय नहीं। भगवान केवलज्ञानी ने एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में तीन काल-तीन लोक देखे, उनके ज्ञान में जो आया, वह फिर वाणी में आया। उस **जैनमत का नयभेद समझना अत्यन्त कठिन है।** अकेला मुश्किल नहीं कहा। समझ में आया? पाठ में है न? **'अत्यन्तनिशितधारं' जो कोई मूढ़ पुरुष बिना समझे..** इस नय के निश्चय, व्यवहार, भेद-अभेद, सम्यक् एकान्त-अनेकान्त क्या है, उसे **बिना समझे नयचक्र में प्रवेश करता है, वह लाभ के बदले हानि उठाता है।** उसे तोड़ डाले - ऐसा कहा। खण्ड-खण्ड का अर्थ किया। उसे लाभ के बदले नुकसान प्राप्त करता है। अनेकान्त तत्त्व के तत्त्व भाव का खण्ड-खण्ड कर डालता है, इसकी उसे खबर नहीं, नुकसान होता है।

इस प्रकार हिंसा का भंग कहा। लो! समझ में आया? समुद्र में बड़े जहाज का

धन्धा हो, अरबों रुपये का व्यापार (करता हो)। ऐसे देखे तो पानी चले तो अन्दर मछलियाँ हों। उद्योग है न? आरम्भी हिंसा। श्रावक को आरम्भी हिंसा का त्याग नहीं। इसलिए उनका गुणस्थान.. परन्तु आरम्भी हिंसा का उसे पाप लगता है, हों! समझ में आया? सम्यग्दर्शन है, आत्मा का भान, अनुभव दृष्टि होने के बाद श्रावक को संकल्पी हिंसा का त्याग होता है। संकल्पी। इसे मार डालूँ - ऐसा नहीं होता, परन्तु व्यापार-उद्योग करता हो, उसमें जीव, चींटी-मकोड़ा मर जाये तो वह पाप है, परन्तु ऐसे पाप से उसके पंचम गुणस्थान की दशा जाती नहीं है। ऐसे आरम्भ करते, ऐसे उद्योग करते, धन्धा-व्यापार। आरम्भ करते अर्थात् यह चूल्हे पर पकाना। उसमें जीव मरते हैं न? तथापि पंचम गुणस्थानवाली श्राविका है, आत्मज्ञान है, दर्शन-भान है। आरम्भ में त्रस आदि मरते हैं परन्तु उसका गुणस्थान नहीं जाता। पाप नहीं लगता- ऐसा नहीं है। पाप तो लगता है।

इसी प्रकार विरोधी की (हिंसा)। राजकुमार हो, कोई राजा राज्य पर चढ़ आया। युद्ध में जाये, उसे सामनेवाले को मार डालने का भाव नहीं है, परन्तु अपने राज्य का अभी ममत्वभाव है, आसक्ति छूटी नहीं है; इसलिए उसके लिए जाता है, युद्ध करता है। पाप है परन्तु उसकी भूमिका जो चौथे गुणस्थान की दशा है, उसका नाश नहीं होता। समझ में आया? और एक प्राणी एकेन्द्रिय को भी नहीं मारता, परन्तु उसके अभिप्राय में उस एकेन्द्रिय जीव को मैं बचाता हूँ, मैंने बचाया, इसलिए बचा - ऐसा जो अभिप्राय है, वह मिथ्यादृष्टि का अभिप्राय है। बाह्य बिलकुल मारता नहीं परन्तु अन्दर आत्मा के अनन्त गुण के समाज को घात कर डालता है। कहो, समझ में आया इसमें? आहा..हा..!

कोई मूढ़ पुरुष बिना समझे नयचक्र में प्रवेश करता है,.. अर्थात् नय का समूह अथवा बदलता कथन। घड़ीक में निश्चय और घड़ीक में व्यवहार। कथन आता है न बदलता? चक्र घूमता है या नहीं चक्र? ऐसे कथन को समझे बिना कहते हैं कि अपने **लाभ के बदले हानि उठाता है। इस प्रकार हिंसा का भंग कहा।** लो! अब ६० गाथा। यह सम्यग्दर्शन और ज्ञान, भान हुआ है, बाद के त्याग की बात है। पहले अनुभव आत्मा का (हुआ है), दया, दान, व्रत, तप के जो राग हैं, उनसे भिन्न आत्मा का भान हुआ है। सम्यग्दर्शन अनुभव में आत्मा का साक्षात्कार सम्यग्दर्शन में, ज्ञान में हुआ है। उसे फिर श्रावक के व्रत के समय कैसा भाव होता है, उसकी बात चलती है। समझ में आया?

गाथा - ६०

अब हिंसा के त्याग का उपदेश करते हैं -

अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा।।६०।।

परमार्थ से हिंसा रु हिंसक, हिंस्य हिंसाफल सभी।
को जान संवर उद्यमी, निज यथाशक्ति तज सभी।।६०।।

अन्वयार्थ : (नित्यं) निरन्तर (अवगूहमानै:) संवर में उद्यमी पुरुषों को (तत्त्वेन) यथार्थ रीति से (हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि) हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा का फल (अवबुध्य) जानकर (निजशक्त्या) अपनी शक्ति प्रमाण (हिंसा) हिंसा (त्यज्यतां) छोड़नी चाहिए।

टीका : 'नित्यं अवगूहमानै: निजशक्त्या हिंसा त्यज्यताम्' - संवर में उद्यमी जीवों को सदैव अपनी शक्ति से हिंसा का त्याग करना चाहिए। जितनी हिंसा छूट सके उतनी छोड़ना चाहिए। किस प्रकार? 'तत्त्वेन हिंस्य हिंसक हिंसा हिंसाफलानि अवबुध्य' - यथार्थ रीति से 'हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा का फल'- इन चार भावों को जानकर हिंसा का त्याग करना उचित है। इन्हें जाने बिना त्याग होता नहीं है और यदि किया भी गया हो तो कार्यकारी नहीं है। उसमें-

१. हिंस्य - जिसकी हिंसा हो, उसे हिंस्य कहते हैं। अपने भावप्राण अथवा द्रव्यप्राण तथा परजीव के भावप्राण या द्रव्यप्राण, यह हिंस्य के भेद हैं। अथवा एकेन्द्रियादि जीवसमास के भेद जानना अथवा जहाँ जहाँ जीव के उत्पन्न होने के स्थान हैं, वह जानना चाहिए। उनका यथास्थान वर्णन होता ही है।

२. हिंसक - हिंसा करनेवाले जीव को हिंसक कहते हैं, वहाँ प्रमादभावरूप से परिणमन करनेवाले अथवा अयत्नाचार में प्रवर्तन करनेवाले जीव को हिंसक जानना।

३. हिंसा - हिंस्य को पीड़ा पहुँचाना अथवा उसका घात करना हिंसा है। उसका वर्णन ऊपर कर आये हैं।

४. हिंसाफल - हिंसा से जो कुछ फल प्राप्त हो, उसे हिंसाफल कहते हैं। इस लोक में तो हिंसक जीव निन्दा पाते हैं, राजा द्वारा दण्ड प्राप्त करते हैं और जिसकी यह हिंसा करना चाहता है, यदि उसका वश चले तो वही इसका घात कर डालता है। तथा परलोक में नरकादि गति पाता है, वहाँ नाना प्रकार के छेदन-भेदनादि शारीरिक, तथा अनेक प्रकार के मानसिक कष्ट भोगता है। नरक का वर्णन कोई कहाँ तक लिखे? सर्व दु:खों का ही समुदाय है। तिर्यंचादि का दु:ख प्रत्यक्ष ही प्रतिभासित होता है। यह सब हिंसा का फल है। इस प्रकार हिंस्य को जानकर स्वयं ही उसका घात न करे, हिंसक को जानकर स्वयं वैसा न बने, हिंसा को जानकर उसका त्याग करे और हिंसा का फल जानकर उससे भयभीत रहे। इसलिए यह चार भेद जानना चाहिए।।६०।।

गाथा ६० पर प्रवचन

अब हिंसा के त्याग का उपदेश करते हैं -

अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा।।६०।।

भाषा देखो! छोड़ हिंसा। एक ओर कहे कि राग का त्यागकर्ता आत्मा परमार्थ से है नहीं। बल्लभदासभाई! परमार्थ से आत्मा का स्वरूप दृष्टि में जो आया, वह आत्मा राग का त्यागकर्ता परमार्थ से वह है ही नहीं। त्यागकर्ता, हों! राग का त्यागकर्ता। यह एक कथन। यहाँ कहते हैं कि परहिंसा का त्याग कर। समझ में आया? स्वहिंसा और परहिंसा दोनों।

'नित्यं' अर्थात् **निरन्तर 'अवगूहमानै:' संवर में उद्यमी पुरुषों को..** ऐसा लिया है मूल तो। जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ है, वह स्वयं स्वभाव सन्मुख ढलना चाहता है, उस संवर में उद्यमी पुरुषों को, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **यथार्थ रीति से 'तत्त्वेन'** ऐसा। **'तत्त्वेन' यथार्थ रीति से हिंस्य,..** किसे कहना? उसे जानना चाहिए। स्पष्टीकरण करेंगे, हों! हिंस्य, घात होनेयोग्य। अपने भावप्राण, द्रव्यप्राण। पर के भावप्राण, द्रव्यप्राण, वे हिंस्य हैं - घात होनेयोग्य हैं। समझ में आया? इसे जानना चाहिए। जाने बिना किस

प्रकार, किसका त्याग करेगा और किसे ग्रहण करेगा ? **हिंस्य,..** है न पहला ? नीचे भेद कहेंगे, हों ! **हिंसक,..** हिंसा का करनेवाला। हिंस्य-घात होने योग्य। भावप्राण, द्रव्यप्राण अपने और पर के भाव-द्रव्य। द्रव्यप्राण, वह निमित्त से है और भावप्राण, वह वास्तव में है। पर के भावप्राण को भी घाते, यह निमित्त से बात ली है। समझ में आया ?

पर के द्रव्य और भावप्राण को घाते - ऐसा जो कहना, वह भी निमित्त की व्याख्या है और अपने द्रव्यप्राण को घाते, यह भी निमित्त की व्याख्या है। भावप्राण को घाते, वह यथार्थ घात सकता है और भावप्राण को बचा सकता है। द्रव्यप्राण को बचा सकता नहीं, पर के भावप्राण को बचा सकता नहीं, और पर के द्रव्यप्राण को भी बचा नहीं सकता। समझ में आया ? बात तो ऐसी है। अरे ! संसार में से यह जन्म-मरण के दु:ख.. भक्ति में आता है न ? अब प्रभु यह जन्म-मरण के दु:ख सहे नहीं जाते। कायर हो गया है। मेरा ऐसा स्वभाव। आहा..हा.. ! अरे ! मैंने मेरे सन्मुख कभी नहीं देखा। मैंने ऐसे परसन्मुख देखकर सिरपच्ची करके मर गया। प्रभु ! अब यह दु:ख सहे नहीं जाते। ऐसा अन्दर से तो, आहा.. ! भव करना पड़े, राग हो। आहा..हा.. ! वह जिसे दु:ख लगता है। समझ में आया ?

कहते हैं कि ऐसे प्राणी को ऐसे हिंस्य क्या है ? - उसे जानना चाहिए। हिंसक, हिंस-क—हिंसा का करनेवाला कौन है ? ऐसा जानना चाहिए। हिंसा किसे कहना ? **हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा का फल..** चार बोल अलग-अलग हैं। कितनों ने तो उनकी जिन्दगी में सुना भी नहीं होगा। **हिंसा और हिंसा का फल जानकर.. 'अवबुध्य'** है न ? **'निजशक्त्या'** इतनी व्याख्या। **अपनी शक्ति प्रमाण..** हठ करके नहीं तथा दूसरे की देखादेखी नहीं। यह इतना छोड़ता है, इसलिए मुझे इतना छोड़े बिना (चलेगा नहीं)। नहीं तो समाज में समानता नहीं रहेगी, महिमा नहीं रहेगी। समझ में आया ? यह सर्वत्र बड़ा कहलाता है और यह सब मेरे छोटे-छोटे इतना त्याग करके बैठते हैं और मैं इतना त्याग नहीं करूँ तो बड़ा नहीं कहलाऊँ। यह त्याग नहीं, यह तो देखादेखी की बात है। समझ में आया ?

यहाँ तो आत्मा के भानपूर्वक शुद्ध चैतन्य के आनन्द के साधन की दृष्टिपूर्वक, पुरुषार्थ में राग की कमी करना, वह भावप्राण की कमी तो फिर द्रव्यप्राण और पर की कमी हुई, ऐसा कहने में आता है। ऐसी हिंसा को जानकर छोड़। परन्तु जाने तब छोड़े या नहीं ?

हिंसा किसे कहना ? **हिंसा का फल जानकर अपनी शक्ति प्रमाण हिंसा छोड़नी चाहिए।** इतना शब्द है। अपनी शक्ति के पुरुषार्थ की, परिणाम की उस समय में जितनी सहज गति हो, उस अनुसार सम्यग्दर्शन और ज्ञानपूर्वक हिंसा के भाव को शक्ति प्रमाण, हठ बिना, देखादेखी बिना अन्दर से ऐसे भाव का त्याग करना। समझ में आया ?

टीका : 'नित्यं अवगूहमानैः निजशक्त्या हिंसा त्यज्यताम्' - संवर में उद्यमी जीवों को.. अर्थ ही ऐसा किया है, हों ! सबने, अवगुहमानै का। मक्खनलालजी ने ऐसा किया है, इस '**अवगूहमानैः**' का क्या अर्थ किया है। देखा था ? उन्होंने संवर में उद्यमी शब्द प्रयोग किया है। **संवर में उद्यमी जीवों को..** संवर अर्थात् ? यह हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग सेवन नहीं करना, यह संवर-ऐसा नहीं। समझ में आया ? आहा..हा..! यहाँ करते हैं न ? पाँच सेवा के.. प्रत्याख्यान करो। ऐ.. जयन्तीभाई ! किया है या नहीं कितनी बार ? ढोंग। पाँच आस्रव, परन्तु आस्रव किसे कहना तुझे भान नहीं, यह हाथ जोड़े और यह आस्रव छूट गये ? ऐ.. भगवानभाई ! आस्रव तो अन्दर में जहाँ दया, दान, व्रत, भक्ति के, तप के विकल्प उत्पन्न होते हैं कि यह तप करूँ, ऐसा राग है, वह आस्रव है, उसे अपने को लाभदायक माना वह मिथ्यात्व आस्रव है, महा आस्रव है। समझ में आया ? वह महा -आस्रव, अपरिमित आस्रव है।

कहते हैं कि **संवर में उद्यमी जीवों को सदैव अपनी शक्ति से..** अर्थात् मिथ्यात्व के त्यागसहित, राग के अभाव का परिणमन करना, इसका नाम संवर और हिंसा का त्याग है। आत्मा के शुद्ध समकित के दर्शन होकर, आत्मा का भान हुआ है कि इस आत्मा में दया, दान का एक विकल्प उठता है, वह मेरा स्वरूप नहीं, मैं कर्ता नहीं। देह की क्रिया का त्याग-ग्रहण मुझमें है नहीं। ऐसा ज्ञानस्वरूप चैतन्यसूर्य का जहाँ अन्तरभान, सम्यक्त्व में हुआ, उसे राग के अभाव-स्वभावरूप परिणमन का-संवर का उद्यम करना। समझ में आया ? संवर भी लोग कुछ मानते हैं। गये ? आज गये लगते हैं। जामनगर में बहुत संवर होता है। आठम और उसके... बेचारे लेकर बैठे, वहाँ संवर हो गया, धूल भी संवर नहीं, मिथ्यात्व है। सुन न अभी।

मुमुक्षु : जहाँ लिखाते हों, वहाँ सब होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लिखाते हों, वहाँ सब होता है। लिखाये वहाँ सेर-सेर शक्कर मिले। न लिखाये तो कम हो। ऐई! अपने सेठिया लिखते हैं न? उसे दे कुछ, ऐसा कहते हैं। न लिखे, उसे क्या दे? न लिखे, अंक भरकर क्या करना?

मुमुक्षु : कोराकोरा।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोरा। वह लिखे कि अपनी इज्जत की। पैसे दिये। क्या कहलाता है कुछ? आठम करे तो तपेली या ऐसा कुछ देते हैं न? प्रभावना करते हैं। यह सब आशा मिथ्यादृष्टि है। शुभभाव का भी ठिकाना नहीं। उसे संवर कहते ही नहीं। संवर तो आत्मा अखण्ड आनन्दमय की अन्तर्दृष्टि हुई है; अब अन्तर में स्वसंमुख का प्रयत्न करने पर राग घटे, उतना उसे संवर कहने में आता है। कहो, समझ में आया? दुनिया की व्याख्या अलग, वीतराग की व्याख्या अलग।

अपनी शक्ति से हिंसा का त्याग करना चाहिए। जितनी हिंसा छूट सके उतनी छोड़ना चाहिए। जितना स्वभावसन्मुख होकर, राग का उत्पाद न हो, उतनी हिंसा छोड़ना - ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! समझ में आया? जैसे बने वैसे.. आत्मा का स्वरूप तो अहिंसक ही है। शुद्ध चैतन्य ज्ञानमूर्ति वीतरागस्वरूप आत्मा है। ऐसा सम्यग्दर्शन में, सम्यग्ज्ञान में पहले भान अन्तर में होता है, तब वह अन्तर में आनन्द में, अतीन्द्रिय आनन्द में झुकने को जो प्रयत्न करे, उस अतीन्द्रिय आनन्द में जितना झुके, उतनी राग की उत्पत्ति नहीं होती, उसने उतने प्रमाण में हिंसा छोड़ी - ऐसा कहा जाता है। समझ में आया? प्रवीणभाई! दूसरे प्रकार की व्याख्या।

मुमुक्षु : प्रभु! यह तो भानवाले को ही हिंसक कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे को-अज्ञानी को हिंसक कहना? कहाँ से लाया? अज्ञानी अनन्त बार बाहर का तप करके मर गया, अनन्त बार बारह-बारह महीने के उपवास किये हैं। समझ में आया? पंच महाव्रत के विकल्प अनन्त बार (किये), जीव ने जैन दीक्षा अनन्त बार ली है, अनन्त बार। नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया है, नवें ग्रैवेयक! वह साधु कैसा? दिगम्बर। वस्त्रवाला साधु तो व्यवहार से भी साधु नहीं है। समझ में आया? वल्लभदासभाई! वस्त्रसहित साधु जो मानते हैं, वह तो व्यवहार से भी साधु नहीं, मिथ्यादृष्टि

अज्ञानी है। यह तो वस्त्र-त्याग करके दिगम्बर मुनि हुआ, ऐसे महा अट्ठाईस मूलगुण पालन किये। जंगल में बाघ और भेड़िया के बीच (रहा)। समझ में आया? परन्तु अन्तर में वह विकल्प उठता है कि मैंने यह छोड़ा, त्याग किया, उस राग को भी अपना स्वरूप मानता है। राग से रहित अन्दर आनन्दकन्द सच्चिदानन्द प्रभु, भगवान ने, केवली ने जो आत्मा देखा, उस आत्मा में दृष्टि नहीं करता। दृष्टि किये बिना मिथ्यादृष्टि के सब व्यर्थ गये। कहो, समझ में आया? बिल्कुल ठीक है? है? देखो! उसमें है, हों! है न?

अपनी शक्ति (प्रमाण) हिंसा का त्याग करना। भाषा देखो! उसमें फिर द्रव्यहिंसा छोड़ी, ऐसा भी कहने में आता है। दूसरे के भावप्राण को नहीं मारा। जितना यहाँ स्वभावसन्मुख होकर राग की उत्पत्ति नहीं हुई और आनन्द की, शान्ति की उत्पत्ति हुई, उसे भगवान हिंसा का त्याग कहते हैं। उस त्याग में द्रव्यप्राण अपने पहले राग था और घात होते थे, वह घात नहीं होता, पर को घातने में निमित्त नहीं होता; इसलिए पर को नहीं घातता - ऐसा कहने में आता है। आहा..हा..! समझ में आया?

निजशक्ति प्रमाण। उल्टा करके मर जाये, दिगम्बर साधु होकर मर जाये, वहाँ, शक्ति नहीं थी और इसे दिगम्बर साधु होना था। शक्ति चाहिए, सम्यग्दर्शन का भान पहले चाहिए और फिर शक्ति प्रमाण राग घटाना चाहिए। उसमें नहीं आता? तीर्थंकरगोत्र में नहीं आता? सोलह बोल आते हैं न? शक्ति, तप, त्याग आता है या नहीं? सोलह बोल में, हठ नहीं, सम्यग्दृष्टि को हठ नहीं होती। समझ में आया?

हाँ, उसमें आता है। शक्ति, तप, त्याग। अपनी शक्ति देखे कि मेरी इतनी शक्ति है, अधिक नहीं। ये लोग जबरदस्ती लेकर बैठते हैं, इसलिए मैं बलजोरी से लेकर बैठूँ, वह मेरा कर्तव्य नहीं है।

हाँ, यह तो ऐसा विकल्प है। परन्तु यहाँ तो निजशक्ति के साथ और मिलाया, **'निजशक्त्या'** है न यहाँ? वह विकल्प है वहाँ, परन्तु विकल्प में उसे ख्याल है कि इतना तप और इतना भाव, ऐसी इसकी शक्ति की योग्यता है। समझ में आया? वहाँ भी वह। यहाँ निजशक्ति प्रमाण अपने पुरुषार्थ की गति देखे कि इतना ही पुरुषार्थ मैं सहज कर सकता हूँ। स्वभावसन्मुख मेरा पुरुषार्थ इतना ही होता है। पर से विशेष हटता नहीं। अत: जितना

स्वभावसन्मुख पुरुषार्थ हो, उतना राग का त्याग और उसे हिंसा का त्याग कहने में आता है। समझ में आया? परन्तु उसे राग का त्याग क्या, स्वभाव क्या, स्वभावसन्मुख क्या? कभी निर्णय किया नहीं और सुना नहीं, उसे कहाँ से हिंसा का त्याग होता होगा?

मुमुक्षु : कभी सुना नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ तो तुम उपाश्रय में सामने बैठते थे। आहा..हा..! बापू! वीतरागमार्ग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने जो विज्ञान-वीतरागता प्रगट की है और उस विज्ञान-वीतरागता का ही उन्होंने उपदेश दिया है। समझ में आया?

यहाँ यह कहते हैं। आत्मा के स्वभावसन्मुख, शुद्धस्वभाव के सन्मुख तो दृष्टि हुई है। अब उस संवर में उद्यमी पुरुष को, स्वभावसन्मुख की यथाशक्ति से सन्मुखता करके राग के त्यागरूपी पुरुषार्थ उसे करना। यह राग का त्याग भी व्यवहार वचन है। स्वभावसन्मुख जितने अंश में होता है, उतने अंश में राग की उत्पत्ति नहीं होती, वहाँ उतने अंश में त्याग हो जाता है, उसे राग छोड़ता है - ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। वीतराग के वचन बहुत गूढ़ और गम्भीर हैं। भाई! समझ में आया?

हिंसा पर की और स्व की छूटे उतनी छोड़ना। दोनों साथ हैं न? स्व की और पर की दोनों साथ है, हों! भावप्राण, द्रव्यप्राण। दूसरे के भावप्राण और द्रव्यप्राण। उसे छोड़े, उतनी छोड़ना। उसका अर्थ कि अपने में जितना स्वभावसन्मुख होकर शान्ति के रस में जितना पड़ा, उतने अंश में शक्ति प्रमाण राग छूटा। इसलिए अंशतः द्रव्यप्राण नहीं घाते - ऐसा कहने में आता है। उतने अंश में दूसरे के प्राण को नहीं हरता, दूसरे के द्रव्य को नहीं घातता, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। उतने अंश में हिंसा से छूटा है - ऐसे चारों प्रकार की हिंसा से छूटा है, ऐसा कहने में आता है। अपनी भावहिंसा, द्रव्यहिंसा, पर की भावहिंसा और द्रव्यहिंसा इन चार की, स्वभावसन्मुख, भगवान आत्मा आनन्दकन्द प्रभु का भान होने के बाद उसके सन्मुख में दृष्टि होकर जितने अंश में स्थिरता हुई, उतने अंश में उसे राग का त्याग और हिंसा का त्याग हुआ - ऐसा कहने में आता है। आहा..हा..!

किस प्रकार? 'तत्त्वेन हिंस्य हिंसक हिंसा हिंसाफलानि अवबुध्य'-तत्त्वेन -यथार्थ रीति से.. जैसा भगवान ने **'हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा का फल'..**

परमेश्वर केवलज्ञानी ने जैसा कहा वैसा, **इन चार भावों को जानकर..** ये चार भाव हैं। हिंस्य-हिंसा करनेयोग्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा का फल। **हिंसा का त्याग करना उचित है। इन्हें जाने बिना त्याग होता नहीं है..** ऐसे स्वरूप को अन्तर में जाने बिना राग का त्याग और सच्चा त्याग नहीं होता। और **यदि किया भी गया हो तो कार्यकारी नहीं है।** जिसे अन्तर के स्वरूप के शुद्ध चैतन्य का भान नहीं और कुछ बाहर का त्याग किया और राग की मन्दतारूपी भी त्याग किया, वह भी ऐसे ज्ञान के भान बिना, वह कोई कार्यकारी नहीं है। यदि किया हो तो भी कार्यकारी नहीं है। राग का मन्द त्याग, तीव्र राग छोड़ा, कुछ पर का छोड़ा, वह कोई कार्यकारी नहीं है। कार्यकारी नहीं - इसका अर्थ नुकसानकारी है। आहा..हा..! समझ में आया?

अब चार की व्याख्या करते हैं। आया न? **इन्हें जाने बिना त्याग होता नहीं है..** हिंसा कहाँ होती है? हिंसा किसकी होती है? हिंसा किसमें होती है? हिंसा का फल क्या है? हिंसा के भाव किसे कहना? इसका जिसे ज्ञान नहीं, उसे हिंसा का त्याग नहीं हो सकता। और कदाचित् बाहर से किया हो तो ऐसा लगता है कि इसने थोड़ा तीव्र राग घटाया है और बाहर की हिंसा नहीं करता, तो वह कोई त्याग है नहीं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के भान बिना उस त्याग को भगवान त्याग नहीं कहते। समझ में आया? अब हिंस्य की व्याख्या। पहले बोल की व्याख्या।

१. हिंस्य - जिसकी हिंसा हो, उसे हिंस्य कहते हैं। घात होनेयोग्य को हिंस्य कहते हैं। भाई! अकेली हिंसा थी, और हिंस्य कहाँ से आया यह? ऐई! हिंसा-हिंसा थी। हिंसा नहीं करना, हिंसा हो तो पाप लगता है। यह तो फिर एक हिंस्य निकाला। कहो समझ में आया इसमें? **जिसकी हिंसा हो, उसे हिंस्य कहते हैं। अपने भावप्राण..** लो! अपने ज्ञान, दर्शन और आनन्द प्राण **अथवा द्रव्यप्राण..** इस शरीर के प्राण। उसे हिंस्य कहते हैं। समझ में आया? घात होने योग्य। भगवान आत्मा ज्ञान, दर्शन, आनन्द और वीर्य की मूर्ति है। उसके भावप्राण तो ज्ञातादृष्टा शान्ति और आनन्द ऐसे उसके भावप्राणरूपी पर्याय है। उसे घात होने का एक भाव उसे हिंस्य कहते हैं। वह घात होने योग्य है। अपने उल्टे भाव से वह भाव घात होने योग्य है। लो! और घात होने योग्य यह क्या? वहाँ यह

प्रगट पर्याय है। द्रव्य त्रिकाल है, वह तो घात योग्य है ही नहीं। अब ? भावप्राण घात होने योग्य है। भावप्राण उत्पन्न हुए नहीं और घात होने योग्य है ? इसका अर्थ यह है कि भावप्राण ज्ञाता, दृष्टा, आनन्द और शान्ति। शान्ति अर्थात् चारित्र। आनन्द अर्थात् सुख, उसकी उत्पत्ति न हो और उसके स्थान में राग-द्वेष और मिथ्या अभिप्राय की उत्पत्ति हो, वह उस भावप्राण को घातता है, उसे हिंस्य—घात होने योग्य भावप्राण को कहने में आता है। भारी सूक्ष्म व्याख्या। कहो, समझ में आया ?

अपने भावप्राण। पहली शक्ति वर्णन की है न ? जीवत्वशक्ति। ज्ञान, दर्शन, आनन्द ऐसे भावप्राण, उसका जो जीवन, भावप्राण का जीवन, ऐसी जो जीवत्वशक्ति, वह आत्मा में पड़ी है, उसका आदर करने पर वर्तमान दशा में ज्ञान, दर्शन, आनन्द के प्राण प्रगट होते हैं, उस द्रव्य में भी जीवत्वशक्ति है, गुण में भी है और पर्याय में भी जीवत्वशक्ति प्रगट हुई, उसे जीवत्वशक्ति के भावप्राण कहने में आता है। पहले ही वर्णन की है भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने। सैंतालीस शक्तियाँ। आत्मा के गुण। उनमें पहला गुण जीवत्वशक्ति।

चैतन्य का त्रिकाल आनन्द ज्ञानप्राण की वर्तमान दशा में ज्ञाता-दृष्टा, आनन्द और शान्ति की दशा होना, वह भावप्राण है। उसे मिथ्या अभिप्राय द्वारा उसे उत्पन्न होने न देना, उसका नाम उसके भावप्राण को हिंसा होने योग्य को हिंस्य कहने में आता है। कहो, समझ में आया ? अभी एक बोल चलता है, एक बोल की व्याख्या है। अभी तो चलता है, कहीं पूरा नहीं हुआ। अभी एक बोल चलता है। हमारे ये दलाल हैं। लिखावे उसका अधिक चले। आज प्रोषध लिखाना है तो अधिक बैठे, यूँ ही प्रोषध हो तो कुछ नहीं। जल्दी उठ जाये। वे तो जब लिखाना हो, तब तक बैठे। न्यालभाई! यह सब न्यालभाई ने किया होगा न ? वहाँ इनके सेठ थे न। आहा..हा..!

इन चार भावों को जानकर, उनमें जिसकी हिंसा हो, जिसकी हो अर्थात् किसकी हो ? आत्मा के आनन्द और ज्ञान-दर्शन भावप्राण जो त्रिकाली है, उनकी हिंसा नहीं परन्तु उसकी पर्याय की उत्पत्ति न हो, उसका नाम हिंसा। वे तो त्रिकाल है, उसकी हिंसा नहीं होती। क्या कहा ? जो ध्रुव प्राण है, वह हिंस्य नहीं। वे कहीं हिंसा के योग्य नहीं, वे तो ध्रुव हैं। आत्मा में-जीव में ज्ञान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता ऐसे शुद्ध भावप्राण हैं, त्रिकाल! वे

त्रिकाल भावप्राण ध्रुव हैं। वे कहीं हिंस्य नहीं, वे घात होने योग्य नहीं, वे घात नहीं होते और वे उत्पन्न नहीं होते। वे तो ऐसे के ऐसे अनादि एकरूप पड़े हैं। समझ में आया? ऐसे भगवान आत्मा के अन्दर जानना-देखना, आनन्द और शान्ति का सत्पना-अस्तिपना - ऐसे कायमी प्राण, उन पर दृष्टि न देकर, राग और पुण्य और विकल्प तथा बाहर की क्रिया में दृष्टि देकर यह मैं करता हूँ, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव है, यह उस भावप्राण में शुद्धपर्याय उत्पन्न होनी चाहिए, उसे करता नहीं; इसलिए शुद्धपर्याय का हिंस्य, वह शुद्धपर्याय हिंस्य कहने में आती है, घात योग्य कहने में आती है। गजब बात, भाई! समझ में आया?

तब द्रव्यप्राण में कहीं शरीर में नुकसान क्रोधादि हुआ, भावप्राण घात हुए और कुछ कटी अंगुली या अमुक। उस द्रव्यप्राण में निमित्त हुआ, उसे भी हिंस्य कहा जाता है। इतना सामने को दुःख देने में निमित्त हुआ तो उतना भी सामने के भावप्राण को हिंस्य कहा जाता है और सामने के द्रव्यप्राण को भी हिंस्य कहा जाता है। घात योग्य चार प्रकार की दशा। यहाँ दशा है न। ध्रुव और द्रव्य की बात नहीं। ऐसी व्याख्या। बहुत सीधा-सरल मार्ग बताया।

हिंस्य अर्थात् घात योग्य। घात योग्य क्या द्रव्य-गुण घात हो? पर्याय (घात हो)। पर्याय अपनी, जड़ की-शरीर की, निमित्तरूप से-व्यवहाररूप से पर के प्राणी को भी उसे दुःख हो तो उसके प्राण घात किये, ऐसा निमित्त से व्यवहार से कहने में आता है और उसके प्राण को भी शरीर को काटे, छेदे, मारे, उसके द्रव्यप्राण घात किये, ऐसा निमित्त से कहने में आता है। समझ में आया? कितने भंग इसमें?

मुमुक्षु : ऐसी अहिंसा सुनी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुनी नहीं? अरे! भगवान का मार्ग, भाई! अभी कहीं लोग चलते हैं और माना है कहीं। एक ओर परमात्मा का मार्ग, केवली का पड़ा रहा। जिसमें अकेला पाप पोषित होता है, उसे धर्म माना है। आहा..हा..!

देखो! भावप्राण अथवा द्रव्यप्राण अर्थात् इस शरीर की पाँच इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास (आदि)। हिंसा होने के यह प्रकार हैं। पर्याय में भेद होता है न? पर्याय में हिंसा होती है न? इस चार प्रकार की पर्याय को हिंस्य कहने में आता है। घात योग्य कहने में आता है। एक अपने ज्ञान और आनन्द के प्राण की पर्याय प्रगट न करे और राग, पुण्य, दया, दान

की क्रिया मैं करता हूँ - ऐसा मिथ्यात्वभाव, वह आत्मा के भावप्राण को घात करता है। समझ में आया? और तीव्र मिथ्यात्व आदि तथा रागादि होने पर कोई सिर फोड़े, कान तोड़े, नाक तोड़े, आँख फोड़े, वह द्रव्यप्राण घात योग्य है, ऐसा कहने में आता है। परप्राणी को दु:ख हुआ, उसे हिंस्य कहने में आता है। उसके शरीर को कोई काटे, निमित्तरूप से है, हों! वह क्रिया हो सके, यह प्रश्न अभी यहाँ नहीं लेना। आहा..हा..!

एक ओर भगवान के वाक्य ऐसे आवें कि पर के प्राण को घात नहीं सकता, पर के भावप्राण और द्रव्यप्राण को कोई घात नहीं सकता, बचा नहीं सकता। यह एक नय। यहाँ कहते हैं कि परप्राण के द्रव्य और भाव को हिंस्य योग्य है, उन्हें घात सकता है, यह व्यवहारनय का कथन है। समझ में आया? ज्ञान कराने को (कथन है)। जब अपने आनन्द के प्राण को छोड़कर राग उत्पन्न किया, तब अपने को भी हिंसा होकर शरीर में भी जरा कुछ अवयव आदि तोड़े तो उसे द्रव्यहिंसा कहा जाता है। श्वास को रोक ले न, मर जाना है। फिर द्रव्यप्राण लेंगे। वे तो उसके कारण रुकने थे, हों! आत्मा श्वास रोक सके, कर सके (ऐसा) तीन काल में नहीं है। परप्राणी को भी उसके भावप्राण को आत्मा घात कर सके, तीन काल में नहीं परन्तु उस समय प्राण में उसे दु:ख हुआ, उसका यह निमित्त हुआ, इसलिए परप्राण को घातता है - ऐसा कहने में आता है। ऐसी द्रव्य की बात है। एक बोल लिया, दूसरा बोल लेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

उसे रात्रि-भोजन का त्याग है

जो अपने शुद्ध आत्मा को जानता है और परमात्मस्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान अनुभवसहित है, ऐसे निर्मलभाववाले जीव को रात्रि-भोजन का त्यागी जानो, ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है। व्यवहार में जो रात्रि-भोजन नहीं करता और निश्चय से जिसकी आत्मा में अन्धकार नहीं—मिथ्यात्वरूपी रात्रि नहीं, जो ज्ञानसूर्य के प्रकाश में सदैव आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करते हैं, उसे रात्रि-भोजन का त्याग है।

(—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, ६० वीं गाथा। हिंस्य, हिंस्य—चार बोल का **अवबुध्य** ज्ञान करके, **'तत्त्वेन'** ऐसा है न? **'तत्त्वेन'** हिंसा करने योग्य, हिंसक, हिंसा, हिंसा का फल। इसे **'तत्त्वेन'** यथार्थ भाव से जानकर, **'निजशक्त्या'** छोड़ना। स्वभावसनमुख संवरपूर्वक। स्वभावसन्मुख संवरपूर्वक निजशक्ति से हिंसा को छोड़ना। उसमें अब हिंस्य की व्याख्या।

१. हिंस्य – जिसकी हिंसा हो, उसे हिंस्य कहते हैं। पर्याय-पर्याय। **जिसकी हिंसा हो, उसे हिंस्य कहते हैं। अपने भावप्राण..** ज्ञान, दर्शन, आनन्द-अवस्था की उत्पत्ति नहीं होना, उसके स्थान में रागादि का उत्पन्न होना, वह भावप्राण की हिंसा कही जाती है। समझ में आया? हिंस्य-हिंसा के योग्य भावप्राण। ध्रुव नहीं। अपना शुद्धस्वभाव, उसकी पर्याय में शुद्धता की उत्पत्ति होना, वह अहिंसा है। देखे! यह वीतराग महावीर की अहिंसा! और दया, दान आदि के विकल्प उत्पन्न होना, वह भाव भी शुद्धपर्याय की उत्पत्ति को रोकता है; इसलिए उसे भी हिंसा और पर्याय को हिंस्य कहा जाता है। समझ में आया? भावप्राण। भावप्राण में तो वहाँ तक कहा, शुभविकल्प उठे, वहाँ तक भी भावप्राण की हिंसा होती है। ओहो..हो..! वीतराग का मार्ग! छोटाभाई नहीं आये?

यहाँ तो अभी याद आयी थी, १४२ गाथा है न? **'तत् किम्'** आता है कहीं? तुम्हें संस्कृत आती है। नहीं? संस्कृत नहीं आती। मैंने ना किया, इसलिए तुमने भी ना (किया)। हिम्मतभाई को आती है। तुम तो संस्कृत बोलते हो न, कितनी आती है? कर्ता-कर्म की १४२ गाथा में आता है न? **'तत् किम्'** उससे क्या? देखो! कहाँ ले गये बात! आत्मा में मैं शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ, वस्तु है ऐसी, परन्तु ऐसा जो विकल्प उठता है, वह हिंसा है और निर्मल पर्याय की उत्पत्ति नहीं होती, वह हिंस्य है, घात-योग्य है। अहो! वीतराग की अहिंसा! देवजीभाई! भावप्राण की हिंसा कही है न?

भावप्राण का अर्थ - आत्मा शुद्ध ध्रुव चैतन्यमूर्ति को अवलम्ब कर दृष्टि और स्थिरता करे, इतना उसे अहिंसा परमो धर्म कहने में आता है। समझ में आया ? जितना इस दृष्टि का आश्रय न करे और आश्रय किया हुआ हो, तथापि विशेष आश्रय न करे और जितनी विकल्पदशा उत्पन्न हो, वह सब हिंसा है और उस समय शुद्ध भावप्राण की पर्याय उत्पन्न नहीं होती, उतनी हिंस्य है, घात होने योग्य है। समझ में आया ? भावप्राण है या नहीं, इसमें क्या है ? ऐई ! देवानुप्रिया ! इसे तो सबेरे पाठशाला चली। यहाँ इसे नौकरी से रद्द नहीं करते, क्या होगा ? यहाँ भावप्राण की हिंसा होती है - ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया ? आहा..हा.. !

हिंस्य में चार बोल लेंगे। हिंस्य में चार बोल हैं। एक भावप्राण की हिंसा, द्रव्यप्राण की—शरीर, इन्द्रियाँ, श्वास, आयुष्य, मन, वन और काया आदि। पाँच इन्द्रियाँ, श्वास, आयुष्य, मन, वचन और काया (-ऐसे) दस। ये दस द्रव्यप्राण हैं। उन्हें कोई विघ्न हो, उसमें निमित्त हो, इसलिए इसने द्रव्यप्राण का घात किया - ऐसा कहने में आता है, और अपने भावप्राण में शुद्ध समरस चैतन्यस्वरूप में जितना यह विकल्प उठाता है, यह विकल्प उठावे, वह हिंसा है और उस काल में निर्विकल्प अवस्था उत्पन्न नहीं हुई, वह हिंस्य-घात होने योग्य है। हिंस्य वह। समझ में आया ? ऐसी वीर की अहिंसा है। लोग बाहर में दूसरे के साथ मिलान करते हैं न ?

भाई ! महावीर की अहिंसा अर्थात् सत्य अहिंसा। इस सच्ची अहिंसा का स्वरूप ही जगत को नहीं मिला। दूसरे के साथ मिलाकर यह अहिंसा (-ऐसा लोग मानते हैं)। वह तो अकेली व्यवहार की, बिना निश्चय की बात। उसे (तो) व्यवहार भी लागू नहीं पड़ता - ऐसा कहते हैं। जिसे आत्मा में अहिंसा-रागरहित दशा, वीतरागी दृष्टि और वीतरागी पर्याय उत्पन्न हो, उसे अहिंसा कहते हैं और उस समय जरा शुभरागादि हो, उसे व्यवहार से दया कहा जाता है। निश्चय से तो वह हिंसा है। आहा..हा.. ! ओहो..हो.. ! यह नयचक्र है। सिर तोड़ डाले। '**तत्त्वेन**' इसके तत्त्व में विरुद्ध भाव मान्य हो तो यह वीतराग का तत्त्व ऐसा है नयचक्र। '**मूर्धानं**'-सिर होगा न ? पूछा था न कल कि सिर तोड़ता है न ? भाव अर्थात् उसका मुख्य जो श्रद्धा का विपरीत भाव - एकान्तिकभाव, यह उसका सिर। आहा..हा.. !

देखो! वापस भावप्राण, यह पर्याय की उत्पत्ति न हो, उसका नाम भावप्राण गिनने में आता है। भावप्राण त्रिकाली नहीं। त्रिकाली भावप्राण की हिंसा नहीं होती। वह तो जैसा है, वैसा एकरूप सदृश त्रिकाल पड़ा है। समझ में आया? परन्तु जितने प्रमाण में शुभ और अशुभ विकल्प उठाता है, उतने प्रमाण में निर्विकल्प पर्याय की हिंसा हुई। वह निर्विकल्प प्रगट पर्याय प्राण को उत्पन्न नहीं हुई, उसकी हिंसा हुई - ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? भावप्राण श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, आनन्द.. चारित्र अर्थात् शान्ति। इत्यादि की पर्याय, मिथ्यात्व और राग की उत्पत्ति के कारण यह पर्याय उत्पन्न न हो, उसका नाम भावप्राण की हिंसा, वह हिंस्य कहने में आता है। आहा..हा..! समझ में आया? प्रवीणभाई! ऐसी अहिंसा तो तुमने कभी सुनी नहीं होगी।

भावप्राण। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभाव परिपूर्ण समरस प्रभु की पर्याय में उसकी जाति की पर्याय प्रगट होनी चाहिए। शुद्धस्वभाव के अवलम्बन से, ध्रुव का अवलम्बन लेनेवाली पर्याय निर्मल प्रगट होनी चाहिए। समझ में आया? वह पर्याय प्रगट न होकर राग-द्वेष और मिथ्या-अभिप्राय प्रगट हो, उसे भाव हिंस्य कहने में आता है। वे प्राण घात-योग्य हो गये इसके। पर्याय की निर्मलता उत्पन्न होनी चाहिए, उसे इसने घात कर डाला। समझ में आया? आहा..हा..! गज़ब बात, भाई!

वीतराग कहते हैं कि मुझे तू माने—ऐसा तेरा विकल्प (हिंसा है)। गजब करते हैं न वीतराग भी! मेरी सन्मुखता का तुझे श्रद्धा का भाव (हो), वह राग है। वास्तव में तो वह भी भावहिंसा है। आहा..हा..! वीतरागस्वरूप में यह हो, अन्यत्र कहीं यह बात नहीं हो सकती। तेरा भगवान पूर्ण स्वरूप पूरा चैतन्यध्रुव पड़ा है। उसे अवलम्बन में, उसे लक्ष्य में, दृष्टि में लेकर जो पर्याय प्रगट हो, उसे हम मोक्ष का मार्ग कहते हैं और उसे हमने अहिंसा कही है, यह अहिंसा परमो धर्म है। शशीभाई! आहा..हा..! समझ में आया?

अथवा द्रव्यप्राण। भावप्राण अपने अथवा द्रव्यप्राण यह पाँच इन्द्रियाँ, मन,वचन और काया, श्वास और आयुष्य। श्वास रुंधे, रुक जाये, मन हिंसा हो; वाणी, देह, पाँच इन्द्रियों का तो उसके कारण से हो परन्तु यह निमित्तरूप से उन्हें घात करता है - ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? एक ओर कहे द्रव्य इन्द्रिय को कुछ कर नहीं सकता, वह

तो जड़ की पर्याय है। यहाँ कहते हैं कि दस प्राण का घात करता है, लो! द्रव्यप्राण कहो या दस प्राण कहो, उन्हें घात करता है, ऐसा कहा। वे हिंसा होने के योग्य है। लो! उस पर्याय में उस काल में एक अवस्था हो, यहाँ इसने राग से भावप्राण की हिंसा की थी, इससे उस निमित्त का घात करता है, ऐसा इसे उपचार करने में आता है। समझ में आया?

अथवा परजीव के भावप्राण और द्रव्यप्राण। अपने दो लिये, अब पर के। पर के दर्शन, ज्ञान, चारित्र जो आनन्द प्राण की पर्याय उत्पन्न होनी चाहिए उसे, उसमें वह भाव दु:खरूप उसे निमित्त हुआ, इसलिए उसके प्राण को निमित्त हुआ इतना, उस प्राण को.. वास्तव में तो उस प्राण को वह घात करता है, भाई! आहा..हा..! यह तो जो सामने (वाले को) स्वयं को दु:ख होता है, उस दु:ख से सुख के भावप्राण की उत्पत्ति नहीं होती, उसे वह घात करता है। समझ में आया? सामने प्राणी को जो दु:ख होता है, वह दु:ख है, वह आत्मा के आनन्द के प्राण को उत्पन्न नहीं होने देता। इसलिए वास्तव में तो उसने अपने भावप्राण की हिंसा की है परन्तु उसके दु:खभाव में, इसका भाव कठोर आदि था, निमित्त था, इसलिए उसके भावप्राण इसने व्यवहार से घात किये, निमित्त से ऐसा कहने में आता है। ओहो! गजब बात! जैनदर्शन का नय का निश्चय और व्यवहार का वास्तविक स्वरूप जाने बिना, ऐसे का ऐसा इसमें अर्थ करने लगे (तो) गड़बड़ हो।

मुमुक्षु : आगे आ गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आ गया है न (गाथा ५९) गड़बड़ होती है। '**अत्यंतनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्**' ओहो..हो..! '**दुर्विदग्धानां**' अर्द्धदग्ध का तो सिर टूट जाये ऐसा है।

कहते हैं कि जब आत्मा ने अपने शुद्ध शान्ति और आनन्द के प्राण की उत्पत्ति नहीं करके राग और हास्य तथा विकार आदि के परिणाम उत्पन्न किये, इसलिए वह भावप्राण निर्मल उत्पन्न नहीं हुए, वह हिंसा की, इसलिए कहीं शरीर और इन्द्रियों में कुछ होने के काल में उसमें हुआ, उसमें निमित्त हुआ; इसलिए द्रव्यप्राण को घात किया ऐसा कहा। सामनेवाले के भावप्राण उसने दु:ख उत्पन्न किया भाव, उससे उसे घात हुए, उसमें निमित्त हुआ, इसलिए उसके भावप्राण को घात किया, ऐसा कहने में आया और उस काल में

इसकी इन्द्रियों में पाँच इन्द्रिय, श्वास, आयुष्य, मन-वचन और काया दस में कुछ आघात हुआ। हुआ स्वतन्त्र द्रव्य की पर्याय में, परन्तु इसका निमित्त हुआ और उसके अन्दर राग, हिंसा के भावप्राण थे, उनके कारण उसे क्रोधादि हुआ और इन्द्रिय आदि टूटी, तो उसमें वास्तविक निमित्त तो उसका है, परन्तु इसका निमित्त गिनकर उसके द्रव्यप्राण का घात किया - ऐसा कहने में आता है। कहो, समझ में आया इसमें?

परन्तु धीरे-धीरे तो कहा जाता है यह। इसमें समझ में आता है या नहीं? ऐ.. शैलेष! वहाँ तुम्हारे वे सब पहाड़े पड़ने में तो सब कठिन है, यह तो सब सरल है। कितना याद रखना पड़ता है वहाँ तो। सिरफोड़। क्यों रविभाई! यह होशियार व्यक्ति, वहाँ सिर फोड़े अन्दर, यह करना.. यह करना.. पैसे के लिये कमाने के लिये कुछ करना चाहिए या नहीं? हिम्मतभाई नहीं? ये बैठे। यह तुम्हारे चिरंजीवी को कहता हूँ, कहो, मोहनभाई! आहा..हा..!

भगवान का मार्ग वीतराग पर्याय को उत्पन्न करना, वह पूरे शास्त्र का.. कहा न? शास्त्र का तात्पर्य। आहा..हा..! जहाँ देखो वहाँ एक ही मार्ग उसका उत्पन्न होता है। वीतराग के समस्त शास्त्र का सार वीतरागपना प्रगट करना, पर की उपेक्षा करके स्व की अपेक्षा, द्रव्य की अपेक्षा करके पर्याय की निर्मलता उत्पन्न करना। यही यहाँ कहा। सम्पूर्ण शास्त्र का, अहिंसा धर्म वह सार है, लो! समझ में आया? इस अहिंसा के प्रकार। हिंस्य के चार, दो प्रकार के हिंसा के चार हो गये इसे। समझ में आया?

कहते हैं कि अपने भाव-द्रव्यप्राण को और दूसरे के भाव-द्रव्यप्राण को—इसे हिंस्य का भेद कहा जाता है अथवा समुच्चय दूसरी बात बाहर की। **एकेन्द्रियादि जीवसमास के भेद..** ये सब घातयोग्य में निमित्त हैं न? राग है उसमें निमित्त है, वह घातयोग्य है, उसे यह राग निमित्त है। इसलिए एकेन्द्रिय आदि भेद भी हिंस्य में गिनने में आये हैं। घात होनेयोग्य वे जीव हैं। समुच्चय एकेन्द्रिय आदि। वे समुच्चय बाहर के गिने थे। सब एकेन्द्रिय आदि-जीव समास एकेन्द्रिय (आदि) के चौदह भेद हैं न? वे सब जीव के, वे सब जानना।

अथवा जहाँ जहाँ जीव के उत्पन्न होने के स्थान हैं,.. यह हिंस्य जो घात होने के योग्य है, **वह जानना चाहिए।** उन्हें भी जानना चाहिए। कहाँ-कहाँ एकेन्द्रिय,

दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय हैं, यह जानना चाहिए। समझ में आया? **उनका यथास्थान वर्णन होता ही है।** कहते हैं कि यहाँ हम नहीं करते परन्तु उनका यथास्थान- जहाँ यथास्थान वर्णन होता है, उस जगह एकेन्द्रिय की, दोइन्द्रिय, त्रीइन्द्रिय आदि जीवों की जाति को बतलाया है। आहा..हा..! कहो, यह एकेन्द्रिय आदि जीव नहीं, वापस ऐसा कहेंगे। निश्चय से ये जीव नहीं, निश्चय से तो उनके ज्ञान आदि प्राण हैं, वह जीव है। समझ में आया? एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय, यह तो पुद्गल की पर्याय का नाम है। अन्दर में ज्ञानस्वरूप जो आत्मा है, वह आत्मा है परन्तु उसके निमित्तरूप से जो ऐसे प्राण हैं न, उसे; इसलिए एकेन्द्रिय आदि जीव समास को-द्रव्यप्राण को हिंस्य गिनकर, उसे घात नहीं करना - ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? **हिंसक...** यह हिंस्य का अर्थ हुआ - इतना तो हिंस्य का अर्थ हुआ। हिंसा करने योग्य पर्याय किसे कहना? एक भाव पर्याय, एक यहाँ यह द्रव्यपर्याय, सामनेवाली की भावपर्याय और द्रव्यपर्याय। समझ में आया?

२. हिंसक - हिंसा करनेवाले जीव को हिंसक कहते हैं,.. कहो, राग द्वारा जीव के स्वभाव को घात करे, वह जीव हिंसक है। समझ में आया? उसकी व्याख्या की है। **वहाँ प्रमादभावरूप से परिणमन करनेवाले..** जीव, वह हिंसा। देखा? हिंसा परिणमित जीव, वह हिंसक। प्रमादभाव वह हिंसा है। परिणमित जीव वह हिंसक है। मिथ्यात्वरूप से और राग-द्वेष ये सब प्रमाद के भेद हैं। यहाँ प्रमाद अर्थात् यहाँ सम्यग्दर्शनसहित की पूरी बात है न? इसलिए अकेले प्रमादरूप से परिणमित जीव, वह हिंसक है। समझ में आया? आहा..हा..! साधु के अट्ठाईस मूलगुण हैं, वह वास्तव में प्रमाद का भाव है, उसे छोड़े तब अप्रमत्तभाव होता है। बहुत सूक्ष्म बात है।

यह हिंसा का करनेवाला। यह हिंसा में आया। यह तो एक रचनेवाला हिंसक, ऐसा होता है। शुभभाव का करनेवाला, वह हिंसक है - ऐसा कहना है न अभी? आहा..हा..! अरे! भगवान! यह तो पहले शुद्ध उपयोग की बात ले गये थे। शुद्ध उपयोग, उस शुद्धोपयोगी जीव की दया है। उसे घातना, वह जीव की स्वयं की हिंसा है। आहा..हा..! प्रमादभावरूप से परिणमित जीव। यहाँ तो हिंसक लेना है न? हिंसा का करनेवाला। अन्दर में राग और द्वेषरूप परिणमित हुआ जीव, वह हिंसक है।

अथवा अयत्नाचार में प्रवर्तन करनेवाले जीव को हिंसक जानना। देखो, मुनि को भी अयत्नाचार किसी समय होता है न? इसलिए वह भी हिंसक कहा। अयत्नाचार, अयत्नाचार से प्रमाद से देखना, अप्रमादपना प्रगट न करना, ऐसे अयत्नाचार का भाव, स्वयं उस भाव का करनेवाला हिंसक है। समझ में आया? लो! अयत्नाचार के परिणाम करनेवाला हिंसक है। समझ में आया? प्रमादरूप से परिणमना वहाँ कहा, वह तो। मिथ्यात्वरूप से परिणमा है, वह तो हिंसक है ही, परन्तु सम्यग्दृष्टि जितने प्रमादरूप परिणमे उतना भी हिंसक है। एक ओर कहे कि सम्यग्दृष्टि को आस्रव और बन्ध नहीं है। दोपहर को ऐसा आता है, देखो न! उसे हिंसा के परिणाम हैं ही नहीं। वहाँ तो उसकी दृष्टि का शुद्धस्वभाव, शुद्धभाव मुक्तरूप है—ऐसा अनुभव दृष्टि में हुआ, इससे उसे आस्रव और बन्ध परिणाम, वस्तु में नहीं और वस्तु के ध्येय में नहीं और दृष्टि के ध्येय में नहीं और दृष्टि की पर्याय में नहीं; इसलिए उसे आस्रव और बन्ध नहीं, ऐसा कहा। यहाँ सूक्ष्मरूप से भी आत्मा में जितना शुभ का परिणाम प्रमादभाव होता है, वह भी उसका करनेवाला हिंसक गिनने में आया है। कहो, समझ में आया?

इसमें कहा कि यह सब जानना, ऐसा कहा। कहा है न? **'अवबुध्य...** अवबुध्य **हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन'** वापस ऐसा। यथार्थरूप से; ऐसा उपचार से नहीं, वास्तविकरूप से **'नित्यमवगूहमानै'** स्वयं संवर में रहा हुआ, स्वभावसन्मुख के प्रयत्न में रहा हुआ, निजशक्ति से हिंसा के भाव को छोड़कर। ओहो..हो..! आचार्य के कोई कथन गजब है। दिगम्बर सन्तों के वचनों में कितना गम्भीर, गूढ़पना भरा होता है! कहो, समझ में आया? आत्मा अपने आनन्द और शुद्धस्वभाव में से हटकर, जितना पुण्य-पाप का रागादि भाव हो, वह सब अयत्नाचारभाव है। उसे यहाँ हिंसा, हिंसक, यह भाव करनेवाले को हिंसक कहा गया है। कहो, समझ में आया? भले हिंस्य में ले लिया। यहाँ तो उस भाव का करनेवाला हिंसक है, ऐसा कहते हैं। अन्य को मारे, उसकी बात यहाँ नहीं ली है। अन्य तो फिर हिंस्य में उसके बोल लिये थे। चार प्रकार समझाये। समझ में आया? हिंसा का करनेवाला भगवान आत्मा..

यह तो सबेरे में श्रीमद् की एक कड़ी याद आयी थी। 'अनन्त अनन्त भाव भेदथी भरेली भली' भाषा देखो।

अनंत अनंत भाव भेदथी भरेली भली,
अनंत अनंत नय निक्षेपे व्याख्यानी छे;
सकल जगत हितकारिणी हारिणी मोह,
तारिणी भवाब्धि मोक्षचारिणी प्रमाणी छे;
उपमा आप्यानी जेने तमा राखवी ते व्यर्थ,
आपवाथी निज मति मपाई में मानी छे;
अहो! राजचंद्र, बाल ख्याल नथी पामता ऐ
जिनेश्वर तणी वाणी जाणी तेणे जाणी छे।१

सत्रह वर्ष में कहते हैं। समझ में आया? वापस कितने? अनन्त नय और निक्षेप। भाषा ऐसी है। **अनंत अनंत भाव भेदथी भरेली भली,..** सब भभ्भा में। कवि भी ऐसे हैं, देखो! सत्रह वर्ष में (लिखते हैं)। मोक्षमाला का अन्तिम पाठ, अन्तिम १०७ पाठ है। आठवाँ रवि, शुभ और सात वार का है, १०८ वाँ पाठ है। सत्रह वर्ष में! सत्रह समझते हो? १ और ७, सत्तर नहीं। **अनंत अनंत भाव भेदथी भरेली भली,..** जिनेश्वर की वाणी है यह। जिनेश्वर वाणी है न यह? यह वीतराग मुनियों की वाणी है या नहीं? यह जिनेश्वर हैं, ये मुनि जिनेश्वर हैं, वीतराग हैं। **अनंत अनंत भाव भेदथी भरेली भली, अनंत अनंत नय निक्षेपे..** नय अनन्त और निक्षेप भी अनन्त। जाननेवाले के भेद अनन्त और जाननेयोग्य ज्ञेय के भेद भी अनन्त। **सकल जगत हितकारिणी..** दुनिया के सर्व जगत को हित की कारिणी। समझ में आया? **सकल जगत हितकारिणी.. तारिणी, हारिणी, मोक्षचारिणी।** मोह का नाश करनेवाली, मोक्ष का प्रचार करनेवाली। ऐसे शब्द से कहा है। आहा..हा..!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; मोहतारिणी। मोह को तारे। अन्तिम पाठ है। अभी देखा था।

सकल जगत हितकारिणी हारिणी मोह,.. मोह को हरनेवाली वाणी है। देखो! भगवान की वाणी में वीतरागता आती है, मोह का नाश करनेवाली आती है - ऐसा कहते हैं। शशीभाई! **तारिणी भवाब्धि...** भवरूप समुद्र को तारनेवाली, चार गति को उड़ानेवाली है। **मोक्षचारिणी** मोक्ष का चारा करनेवाली, मोक्ष को प्रगट करनेवाली। प्रमाणी। **उपमा**

आप्यानी जेने तमा राखवी ते व्यर्थ,.. कहाँ वीतराग सन्तों की वाणी! उसकी उपमा और उसके प्रमाण की बेहद शक्ति को क्या कहें?

उपमा आप्यानी जेने तमा राखवी ते व्यर्थ,
आपवाथी निज मति मपाई में मानी छे;

उसकी उपमा (देने) जाये, वहाँ तेरी मति का माप आ जाता है कि तुझे वीतरागवाणी का माप करना नहीं आता। **अहो! राजचंद्र, बाल।** यह हमारे मूलचन्द्रजी गाते कि देखो! बाल आया है। दद्दो आया है पहला इसे। अरे! भगवान क्या लोगों की.. यहाँ तो कहते हैं **अहो! राजचंद्र, बाल ख्याल नथी पामता ऐ** तब वे अर्थ करते। अहो! राजचन्द्र बाल! लोगों की दृष्टि फेर की बात है। आहा..हा..! उसे लेखन में पहले दद्दो आया है कि मैं बाल हूँ, मूर्ख हूँ - ऐसा कहे।

मुमुक्षु : दद्दो अर्थात् क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : दद्दो नहीं समझते? यह ... दद्दो अर्थात् नुकसानकारी भाव। अपने ऐसी कहावत आती है। पहले से नहीं कहते? क्या कुछ कहते हैं न अपने? पहले से दद्दो क्या कहते हैं? अपशकुन कहलाता है। पहले कहते थे न, वे पाण्डव नहीं? आज कहाँ वे और आज कहाँ हम। यह दद्दो कहलाता है। अपशकुन। द्रोपदी के कारण लड़ने गये न? द्रोपदी को राजा ले गया था। जहाँ लड़ने जाते हैं, वहाँ कहे आज या वह और या हम। अर्थात् या वह या हम, उसमें पहले वह आया। अथवा आज वह राजा और या हम। समझे। वह राजा हारकर आया और यह कृष्ण हैं। आज यह राजा नहीं, आज हम। हमारी द्रोपदी को लेकर गया? राजा अन्याय का करनेवाला है, ऐसी टंकार जहाँ की न टंकार। भागा, चिल्लाने लग गया कि अर र! उसका टंकार आया! शंख फूंक आया और यदि आया तो वह मार डालेगा। द्रोपदी के समीप (कहता है) माता! अब बचाओ। यह तुम्हें अग्नि, सर्प के घर में लाया। मार डालेगा वह। महिला के वस्त्र पहन। राजा को कहते हैं, हों! महिला अर्थात् एक साड़ी सिर पर डाल। क्या कहलाता है वह? चुनरी, एक चुनरी सिर पर ओढ़। खुले छेदवाली नहीं तो तुझे देखेगा तो मार डालेगा। वह चुनरी देखकर नहीं आयेगा। फिर मुझे सामने कर। चुनरी ओढ़ और मुझे सामने कर, नहीं मारेगा। वह बड़ा

पुरुष है, महापुरुष है। लेकर जाता है, अरे! राजा, द्रोपदी को लेकर आया और हम हाथ न उठायें। उस पर हाथ नहीं मारा जाता। जा। यहाँ कहते हैं, वाणी के अन्दर में पुरुषार्थ का कितना जोर था, उस प्रकार का वाक्य था कि वह राजा। यह कहे हम राजा।

यहाँ तो कहते हैं, अहो! राजचन्द्र! बाल ख्याल नथी (पामता) ऐसा कहते हैं। अज्ञानी जिनेश्वर की वाणी के माप का ख्याल नहीं करते। सन्तों की वाणी में कितनी गूढ़ता, गम्भीरता, रहस्य कितना होता है! **जिनेश्वर तणी वाणी जाणी तेणे जाणी छे।** देखो! इतना १७ वर्ष में कहा। समझ में आया?

यहाँ देखो! यह वाणी मुनियों की है, मुनि हैं न? छठे गुणस्थानवाले हैं। ये वीतरागी मुनि हैं। अमृतचन्द्राचार्य वीतरागी सन्त हैं। छठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं। भावलिंगी सन्त परमेश्वर पद में मिल गये हैं। कहते हैं कि प्रमादरूप से परिणमित जीव को हम हिंसक कहते हैं। व्याख्या तो चाहिए न, चार पाठ में है तो। राग और द्वेषरूप से, प्रमादरूप से परिणमित जीव ही हिंसक कहने में आया है। भले फिर दूसरा जीव मरे या न मरे, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। वह तो हिंस्य में सम्बन्ध पहले बताया। समझ में आया? अयत्नाचार में प्रवर्तता है, वह जीव ही हिंसक है। अपने शुद्धस्वभाव में से निकलकर, अयत्नाचार भाव शुभ-अशुभ में रहे, वही हिंसक कहने में आता है। आहा..हा..! लो! यह जिन की (जिनेन्द्रदेव की) अहिंसा। कहो, न्यालभाई! यह परमेश्वर की, वीतरागमार्ग की अहिंसा! अन्यत्र कहीं नहीं हो सकती।

३. हिंसा–दूसरा बोल। **हिंस्य को पीड़ा पहुँचाना...** देखो! भाषा हिंस्य के चार बोल कहे थे। भावप्राण को पीड़ा उपजाना, अपने द्रव्यप्राण को पीड़ा उपजाना। निश्चय से कहते हैं कि परप्राणी की पर्याय, इस जड़ को कुछ कर नहीं सकती। क्योंकि जड़ की पर्याय उसके काल में उससे होती है। यहाँ कहते हैं कि हिंस्य को पीड़ा उपजाना। पाँच इन्द्रिय, मन, वचन और काया तथा श्वास, आयुष्य को पीड़ा उपजाना। भावप्राण को पीड़ा उपजाना, द्रव्य को पीड़ा उपजाना, हुआ या नहीं? और दूसरे जो सामने के भावप्राण हैं, उन्हें पीड़ा उपजाना। कहो, समयसार में कहा, दूसरे को पीड़ा, सुख-दुःख दे नहीं सकता। (तथापि दे सकता हूँ ऐसा) मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। परन्तु सब जगह समान कथन

होते हैं ? व्यवहार के भी कथन होते हैं परन्तु व्यवहार के जानने के लिये होते हैं। कहीं व्यवहार से कहा, इसलिए ऐसा हो सकता है ? समझ में आया ? ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : अभी से झुकता छोड़ दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी झुकता छोड़ा नहीं। इसीलिए तो कहा न, उसका ज्ञान कराया है। व्यवहार जो निमित्त है.. मोक्षमार्गप्रकाशक में स्पष्टीकरण किया नहीं ? कि व्यवहार के जितने कथन हैं, वे निमित्त आदि का ज्ञान कराने को कहे हैं। यहाँ तो ऐसा कहा, देखो ! पीड़ा उपजाता है। किसे ? जड़ को। अपने पाँच इन्द्रिय मन, वचन, काया और श्वास, आयुष्य (आदि) द्रव्यप्राण को पीड़ा उपजाता है। सामने के भावप्राण को पीड़ा उपजाता है, सामने के द्रव्यप्राण को पीड़ा उपजाता है। ये सब निमित्त के कथन हैं। समझ में आया ? आहा..हा.. ! उस-उस समय निमित्त यह था-ऐसा ज्ञान कराने को वह बात है। मोक्षमार्गप्रकाशक में तो दो नय का कथन करके तो बहुत रहस्य उद्घाटन किया है। बहुत रहस्य, बहुत किया है।

अथवा उसका घात करना.. ठीक! पीड़ा उपजाना और फिर घात करना। साधारण पीड़ा उपजावे, अब घात करे। अपने प्राण की, पर के द्रव्यप्राण की, पर के प्राण की, उसके द्रव्यप्राण का घात करे, वह हिंसा है। **उसका वर्णन ऊपर कर आये हैं।** पहले आ गया है, ऊपर सब आ गया है। हिंसा का वर्णन-हिंसा। अहिंसा का फल। चार बोल हुए न ? हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा का फल।

४. हिंसाफल - हिंसा से जो कुछ.. यहाँ स्थूल बात करते हैं न ? **जो कुछ फल प्राप्त हो, उसे हिंसाफल कहते हैं। इस लोक में तो हिंसक जीव निन्दा पाते हैं,..** हिंसा का करनेवाला प्राणी निन्दा पाता है। लोग उसे कहते हैं कि अरे ! यह क्या करता है यह ? परप्राणी को घाते या अपने प्राण को हरे, जीभ निकाले, दाँत तोड़े, आँख फोड़े। ऐसा करते हैं न सब ? लोक में ही निन्दा को पाते हैं। **राजा द्वारा दण्ड प्राप्त करते हैं..** इस लोक में ही राजा उन्हें दण्ड देता है। अरे ! यह क्या किया ? अपने को देखो ! अपने शरीर को जलावे तो उसे राजा जलते-जलते बचा ले परन्तु उसे कैद में जाना पड़ता है। ठीक ! स्वयं जलने लगा और उसमें से जीवित रह गया और पकड़ में आया, चलो कैद

में। राजा भी दण्ड देता है, लोग भण्डे (निन्दा करते हैं) - ऐसा आता है। 'राजा दण्डे लोग भण्डे'-ऐसा आचरण समकिती का नहीं होता। यह बाहर की व्यवहार की बात है, हों! अन्दर में तो कुछ नहीं।

जिसकी यह हिंसा करना चाहता है, यदि उसका वश चले तो वही इसका घात कर डालता है। लो! यह दूसरे को घात करना चाहता है, परन्तु उसे पता पड़ा कि यह तो मुझे मार डालना चाहता है। वही स्वयं इसे पहले मार डालता है। वश चले तो, हों! समझ में आया? आहा..! निमित्त-निमित्त का ज्ञान कराते हैं, हों! घात कर सकता है, दूसरा इसे मार सकता है, यथार्थरूप से ऐसा नहीं है। समझ में आया? उसको दूसरे को मार डालने का भाव था, ऐसे इसे मार नहीं सका। और उसको भाव हुआ कि मैं इसे मार डालूँ; नहीं तो मुझे मार डालेगा। ऐसे भाव की अपेक्षा से इसे घात करता है - ऐसा कहने में आता है। बात तो ऐसी है भाई!

चरणानुयोग की शैली की कथनपद्धति, तत्त्वदृष्टि से मिलाने जाये तो जैसा हो, वैसा होना चाहिए। और विरोध करे, यह कहे नहीं, देखो, इसमें कहा है ऐसा, और उसमें ऐसा कहा। निश्चय से वह सच्चा और व्यवहार से यह सच्चा। परन्तु इसका अर्थ क्या? सच्चे का कोई मेल है या एक भी निर्णय नहीं? निरधार है या नहीं कि ऐसा ही होता है और दूसरे प्रकार से नहीं होता? फूदड़ीवाद हुआ। ऐसा होता है अनिर्धारित? निर्धारित है, कि जो पर का घात करता है, ऐसा कहते हैं, वह व्यवहार कहते हैं। व्यवहार कहते हैं। व्यवहार का ज्ञान कराते हैं। व्यवहार भी है न, जानने लायक व्यवहार है न? जानने के लिये व्यवहार है न? निमित्त होता है, ऐसा भी है न? उसके कारण वहाँ होता है। निमित्त होता है, ऐसा भी है न? उसका ज्ञान कराते हैं। कहो, समझ में आया?

तथा परलोक में नरकादि गति पाता है,.. परलोक में हिंसा के करनेवाले जीव नरक-निगोद में चले जायें। कहो, समझ में आया? नरक-निगोद में। अभी मानसिक का बाद में कहेंगे। यहाँ तो अभी नरकादि गति पाता है, वहाँ **शारीरिक,..** वह पाता है, वहाँ क्या होता है - यह बात करते हैं। **वहाँ नाना प्रकार के छेदन-भेदनादि शारीरिक,..** होते हैं। शरीर को काटे, नरक में काटे—उसकी हिंसा करे, छेदे, टुकड़े करे। आहा..हा..!

आँख में शीशम, वह क्या समझ में आया ? शीशम का पानी डालते हैं। आँख में शीशम ऐसे डालते हैं। आहा..हा.. ! लोहे के साथ बाँधते हैं। बाँध कर हटते नहीं। कहो ?

यहाँ अभी कोई कहता था, किसी ने थोड़ी चोरी की थी, उस ट्रक की। ट्रक में से किसी की चोरी की थी। ट्रकवाले ने उसे ऐसा बाँधा। सैकड़ों लोग निकले, कहे कि देखो, बचाओगे तो मार डालूँगा। चले जाओ। ऐसा दो-तीन दिन पहले किसी ने कहा। ट्रक में से किसी ने चोरी की। बेचारे को नीम के वृक्ष के नीचे चौबीस घण्टे तक जकड़कर बाँधा और लोग कोई निकले, उन्हें दया आवे (तो कहे) चले जाओ यहाँ से, चले जाओ। चौबीस घण्टे बाँधा और पत्थर मारे। आहा..हा.. ! चौबीस घण्टे जकड़कर वृक्ष के साथ पैर से सिर तक बाँधा। चिल्लाहट मचावे, रोवे, उसे पत्थर मारे। मेरे उसमें से ले गया ? क्या कहते हैं उसे ? ट्रक। ट्रक में से चोरी की। रात के बारह बजे तक ट्रक पड़ा होता है न, उसमें से किसी ने चोरी की होगी। अभी चार-पाँच दिन पहले अमुक जगह किसी ने कहा था। ऐसा मारा बेचारे को चौबीस घण्टे तक, हों ! बाँधकर मार.. मार.. मार डालूँ न, कहो, ऐसी पीड़ा पाप करने का फल, बाह्य में, हों ! यह तो अन्दर का फल तो उसे दुःखरूप कहा। ऐसा तो अनन्त बार किया है, अनन्त बार हुआ है, वह कहीं नया नहीं हुआ। भूल जाता है, भूल। यह मानो कि वर्तमान है, बस हो गया इतना। भूतकाल में क्या हुआ ? भविष्य में क्या होगा ? उसके भान बिना उसकी इसे खबर नहीं पड़ती। क्या कहते हैं ?

वहाँ नाना प्रकार के छेदन-भेदनादि शारीरिक,.. टुकड़े करे, गलावे, पकावे। नरक में तो बहुत दुःख है। **तथा अनेक प्रकार के मानसिक कष्ट भोगता है।** अब मन की हिंसा। पहले शरीर की ली। मानसिक चिन्ता का पार नहीं। पाप के फल ऐसे। ऐसी प्रतिकूलता हो कि मानसिक चिन्ता बढ़ती ही जाये, बढ़ती ही जाये। राग.. राग.. राग.. सोचा हुआ होवे नहीं, अन्दर से सुलगे, ये सब विकार के दुःख, यह मानसिक चिन्ता के दुःख हैं, हिंसा के फल हैं। **मानसिक कष्ट भोगता है। नरक का वर्णन कोई कहाँ तक लिखे ?** नरक का वर्णन कौन और कहाँ तक लिखे ? कौन लिखे और कहाँ तक लिखे ? उसकी वेदना.. आहा..हा.. ! कहो, समझ में आया ?

यहाँ तो देखो न ! रास्ते में एक.. पड़ा हो, जरा सा कुचला होगा, कौआ उसे लेता

था, उठाता था परन्तु ऐसा तो अनन्त बार हो गया है। मरा न हो, कुछ थोड़ा-बहुत कुचला गया हो, उसमें कौआ आकर उठावे। ऐसे मारे.. ऐसा मारे.. बुद्धि तो वहाँ शरीर पर है। यही मैं हूँ, उसमें जो कुछ होता है, वह मुझे होता है। इसलिए उसे बहुत दु:ख होता है। फूँफकार मारे.. फूँफकार मारे.. फूँफकार मारे.. ओहो..हो..! अरे! कभी इसने धीर होकर आत्मा के स्वभाव को देखा नहीं। उसका इसे माहात्म्य ही नहीं आया। जो करना है, वह किया नहीं। नहीं करने का किया और कुछ करते हैं, ऐसा माना। कुछ करते हैं।

नरक का वर्णन कोई कहाँ तक लिखे ? कौन और कहाँ तक कहे ? **सर्व दु:खों का ही समुदाय है।** नरक में तो सर्व दु:खों का समुदाय है। ये सब हिंसा किये हुए, राग-द्वेष के पाप सेवन किये हुए, उसके फलरूप से उन्हें नरक के दु:ख सहन करने पड़ते हैं। समझ में आया ? **सर्व दु:खों का ही समुदाय है।** वहाँ नरक में इस दु:ख का ही बड़ा ढेर है, कहते हैं। आहा..हा..!

मुमुक्षु : ऐसी... अवस्था में..

पूज्य गुरुदेवश्री : होता है तो क्या है ? अवस्था जड़ की है। कषाय जाती है। स्वभावसन्मुख हो जाता है तो फिर चाहे उस नरक की पीड़ा हो। नरक की पीड़ा नरक में रही, आत्मा में क्या है ? अन्तर्गति करे तब न! यहाँ तो हिंसा के फलरूप का वर्णन चलता है। समझ में आया ? सातवें नरक का नारकी समकित पाता है, उसका अर्थ यह कि उसे कहाँ पर की प्रतिकूलता-अनुकूलता पर लक्ष्य है ? इतनी पीड़ा है तो दृष्टि बदलता है। एकदम अन्दर से। ओहो..! ज्ञानी ने कहा था (कि) मेरा स्वभाव बेहद अनन्त, अनन्त दर्शन-ज्ञान है। मैंने मेरी सम्हाल नहीं की थी। मुझे उसका माहात्म्य नहीं आया था। ऐसा करके अन्दर में स्वभावसन्मुख में उतरता है, भवकटी हो जाती है। मिथ्यात्व का नाश हो जाता है। कहो, समझ में आया ? और उसके स्थान में आनन्द को अनुभव करता है। आहा..हा..! 'नारकीकृत बाह्यदु:ख भोगत, अन्दर सुख की गटागटी।' देखो! बाहर में आया परन्तु अन्दर में उतरा। पहलू बदल डाला। जो पर के ऊपर लक्ष्य था, उसे अन्तर के स्वभाव पर लक्ष्य बदला। पहलू बदलने से सब बदला, दिशा बदली, दशा बदली। आहा..हा..!

वह तो अहिंसा की व्याख्या हुई। यह तो अभी हिंसा के फल की व्याख्या चलती है। समझ में आया? आहा..हा..! सज्झाय बहुत आती है, सज्झाय पहले बहुत पढ़ते थे। 'होंसे ते कर्या पाप, दु:खै करयूं छूटे' ऐसा आता है, हों! चार सज्झायमाला है न? उसमें यह आता है। 'हिंसाथी बांध्या कर्म रोता न छूटे प्राणियां' यह आता है। ऐसे अज्ञान में अपने स्वरूप का उत्साह छोड़कर, पर के उत्साह में दौड़ता है, विकार के वेग में जाकर, हिंसा से कर्म बाँधे, रोते नहीं छूटे प्राणी। वह नरक में रोता है। प्राणी जम मारे, लोहे के उन धगधगाते के साथ बाँधे। अरे! वहाँ तुमने बहुत मजा किया था, बापू! आहा..हा..! सात सौ वर्ष का ब्रह्मदत्त का आयुष्य था। असंख्यात अरब वर्ष का दु:ख (अभी भोगता है)। ओहो..हो..! एक-एक मिनिट में (के फल में) असंख्य अरब वर्ष हुए। सात सौ वर्ष के मिनिट, सात वर्ष के मिनिट, उसे सातवीं नरक में एक-एक मिनिट पर असंख्य अरब वर्ष का दु:ख। यहाँ एक मिनिट, वहाँ नरक के असंख्य अरब। अभी ब्रह्मदत्त है। स्वयं नीचे सातवें नरक में पड़ा है। समझ में आया? दु:ख का समुदाय, इस नरक की बात की।

तिर्यंचादि का दु:ख प्रत्यक्ष ही प्रतिभासित होता है। नरक की (बात की)। (अब कहते हैं), पशु में-तिर्यंच में देखो। मार्ग में कुचल जाये। सेवार, काचीड़ा, वह ट्रक निकले और रात्रि में प्रकाश पड़े, वे मानो यहाँ खड़ा रहूँ, ऐसे जाऊँ (इतने में) कुचल जाये। चूरा, आटा (हो जाये) आहा..! एक समय में गति बदले। आहा..हा..! तिर्यंच आदि का सब। मनुष्य आदि लेना उसमें। तिर्यंच के, मनुष्य के, देव के भी दु:ख। समझे न? राग से, शुभाशुभभाव करके गये, वहाँ भी अंगारों में सिंकते हैं। विषय के अंगारों से स्वर्ग में सिंकते हैं। मानसिक दु:ख है। **यह सब हिंसा का फल है।**

इस प्रकार हिंस्य को जानकर.. अब चार के न्याय देते हैं। हिंस्य अर्थात् घात के योग्य। अपने द्रव्य और भाव (प्राण), पर के भाव और द्रव्य (प्राण को) जानकर **स्वयं ही उसका घात न करे,.. हिंस्य को जानकर स्वयं ही उसका घात न करे,..** एक व्याख्या। **'अवबुध्य तत्त्वेन'** बराबर यथार्थ रीति से जानना, तो जानना अर्थात् जानकर उन्हें घाते नहीं, घाते नहीं। अपने प्राण को घात नहीं करे, पर के घात नहीं करे - ऐसा आ गया न? अपने घात नहीं करे और पर के घात नहीं करे - इसमें सब आ गया।

हिंस्य को जानकर स्वयं ही उसका घात न करे,.. मेरे भावप्राण घात होते हैं, ऐसे हिंस्य होने के योग्य जानकर, ऐसे भावप्राण को स्वयं घात नहीं करे। जानने का फल यह है। **हिंसक को जानकर स्वयं वैसा न बने,..** ऐसे विकारी परिणाम का करनेवाला, प्रमादरूप से परिणमित, अयत्नाचार से रहा हुआ, वह हिंसक है। ऐसा हिंसक स्वयं नहीं हो। ऐसा न हो। देखो! चारों के चार प्रकार लेते हैं। **'अवबुध्य तत्त्वेन'** है न? अर्थात् जानकर यथार्थ रीति से ऐसा इसे करना। **हिंसा को जानकर उसका त्याग करे..** रागादि हिंसा है, ऐसा जानकर उसका त्याग करे। **और हिंसा का फल जानकर उससे भयभीत रहे।** चारों का अलग वर्णन किया। हिंसा का फल जानकर उससे भयभीत रहे। चार गति के दुःख से भयभीत रहे। कहो, समझ में आया? **इसलिए यह चार भेद जानना चाहिए।** लो! इसलिए **'अवबुध्य'** कहा था न? इसलिए इन चार भेद को (जानना)—हिंस्य, हिंसक, हिंसा, हिंसा का फल।

गाथा - ६१

आगे जो जीव हिंसा का त्याग करना चाहते हैं, उन्हें प्रथम क्या करना चाहिये – वह कहते हैं –

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव।।६१।।

नित उदुम्बर फल पाँच, मदिरा माँस मधु को यत्न से।
छोड़ें सभी सबसे प्रथम ही, हिंसात्यागेच्छु इन्हें।।६१।।

अन्वयार्थ : (हिंसाव्युपरतिकामै) हिंसा के त्याग के इच्छुक पुरुषों को (प्रथममेव) प्रथम ही (यत्नेन) यत्नपूर्वक (मद्यं) शराब, (मांसं) मांस, (क्षौद्रं) मधु/शहद और (पञ्चोदुम्बरफलानि) *पाँच उदुम्बर फल (मोक्तव्यानि) छोड़ देना चाहिए।

---

* **पाँच उदुम्बर फलों के नाम – बड़, पीपल अथवा गूलर के फल – पाकर, ऊमर, कठूमर** (फणस) के फल (अंजीर भी ऊमर फल में या कठूमर में समझना)।

टीका : 'हिंसाव्युपरतिकामैः प्रथमं एव यत्नेन, मद्यं, मांसं, क्षौद्रं, पंच उदुम्बरफलानि मोक्तव्यानि' – जो जीव हिंसा का त्याग करना चाहते हैं, उन्हें प्रथम ही यत्नपूर्वक मद्य, मांस, मधु, और पाँच उदुम्बरफल, यह आठ वस्तुएँ त्याग करने योग्य हैं।।६१।।

गाथा ६१ पर प्रवचन

आगे जो जीव हिंसा का त्याग करना चाहते हैं, उन्हें प्रथम क्या करना चाहिये – वह कहते हैं – स्थूल हिंसा छोड़ने की बात (करते हैं)।

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव।।६१।।

हिंसा के त्याग के इच्छुक पुरुषों को.. सम्यग्दर्शन-ज्ञान के बाद की बात है, न ये सब? फिर सब आगे आ जाता है, सब समाहित करेंगे। **प्रथम ही यत्नपूर्वक.. 'यत्नेन' यत्नपूर्वक शराब, मांस, मधु शहद और पाँच उदुम्बर फल 'मोक्तव्यानि' छोड़ देना चाहिए।** उस सम्बन्धी का राग छोड़ना, (उसे) यह छोड़ दिया—ऐसा कहने में आता है। उस सम्बन्धी का राग छोड़ना अर्थात् उस सम्बन्धी में स्वरूप-सन्मुख स्थिरता करके राग छोड़ना तो राग के निमित्त उसने छोड़े ऐसा कहने में आता है। नीचे कहेंगे, नीचे आता है, आता है। ख्याल है। क्या कहा?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या ख्याल आवे? वह तो छोड़े उसका लक्ष्य-राग छोड़े, उस ओर का राग छोड़े तो यह छोड़ा, ऐसा कहने में आता है। नीचे है। **पाँच उदुम्बर फलों के नाम-ऊमर,..** गूलर के फल आते हैं? बहुत जीवातवाले होते हैं। गूलर। ऐसे इतने फल होते हैं। अकेले जीव। त्रस-त्रस बहुत होते हैं। राजकोट में वहाँ गूलर के फल हैं।

मुमुक्षु : लाल रंग के होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। रंग ऐसा कुछ नहीं। गूलर का फल वहाँ अपने बाहर नहीं?

एक बार वन में उतरे थे बाग में। किसी राठौड़ का बाग नहीं? राजकोट, बाहर-गाँव के बाहर है। एक बार नहीं तुम्हारे नाथालाल के भाई ने एक यज्ञ किया था। उसके सामने। वहाँ हम उतरे थे। वहाँ बड़ा गूलर का वृक्ष था। राजकोट का मकान है न? वहाँ रात्रि में उतरे थे। गाँव में दूसरे दिन आना था, वहाँ गूलर का फल था। मुम्बई जाते हुए, मार्गसर कृष्ण आठ, कुन्दकुन्दाचार्य की तिथि 'पलासणी'। वह फल बाहर था। इतने-इतने फल दिखें! कहा, यह क्या है? बहुत बड़ा दिखता है और वृक्ष बड़ा, फल यह। यहाँ कोई गरीब मनुष्य लेता नहीं लगता। वे गूलर के फल, अकेली जीवात.. जीवात.. जीवात.. जीवात। गूलर के फल में जीवात बहुत होती है। त्रस बहुत होते हैं।

कठूमर.. यह भी कोई ऐसे वृक्ष का फल होगा। **बड़..** बड़ का टेटा। बड़ बहुत जीव होते हैं, बहुत त्रस होते हैं, त्रस होते हैं। सूक्ष्म.. सूक्ष्म.. सूक्ष्म.. सूक्ष्म.. सूक्ष्म.. **पीपल..** पीपल होगा, पीपल का टेटा, लो! और पीपल का टेटा, पेपड़ी, पेपड़ी होती है न? कितने ही बनिये तो सब्जी बनाते हैं। एक बनिया था। बांकानेर में पीपल का साग, पेपड़ी का। यह सब्जी? लोगों को कुछ खबर नहीं। पेपड़ी की सब्जी। पेपड़ी होती है न? बहुत हरी। उसमें बहुत जीवात होती है और **पीपल के फल..** बड़ा फल लो न, **अथवा गूलर के फल..** बड़ा, जिसमें बहुत त्रस जीव हों। उसमें त्रस जीव है, ऐसा जानकर इन पाँच फल का त्याग करना, हिंसा का भाव छोड़ना। अर्थात् इसने त्याग किया, ऐसा कहा जाता है। पहले में पहले इतना त्याग तो इसे होना चाहिए।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, गाथा ६१, इसकी टीका। **जो जीव हिंसा का त्याग करना चाहते हैं, उन्हें प्रथम ही यत्नपूर्वक..** सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने के बाद की यह बात है, परन्तु ये आठ बोल हैं, वे त्यागे बिना यह जैनधर्म का पात्र, उपदेश सुनने का पात्र भी नहीं है - ऐसा ७४ गाथा में आता है। यहाँ तो त्याग की बात है। पहले का अर्थ कि सम्यग्दर्शन पहले हुआ है, उसके बाद यह त्याग की बात है।

वस्तु का स्वभाव चैतन्य ज्ञायकमूर्ति स्वरूप के अन्तर सावधान होकर दृष्टि तो हुई है, स्वरूपसन्मुख का ज्ञान भी है, स्वरूपसन्मुख का आंशिक आचरण भी है। विशेष आचरण, स्वभाव का आश्रय करने पर, जो कोई स्थिरता प्रगटे, उसमें उतना राग छूटे, उसमें उतना त्याग उसे प्रत्याख्यान से होता है। उसकी बात चलती है। समझ में आया? यहाँ उसकी बात चलती है।

पहली दृष्टि-दर्शनशुद्धि बिना तो इसे कोई त्याग-व्याग एक भी सच्चा नहीं होता। क्या चीज है और किसमें स्थिर होना हे तथा उसमें स्थिर होकर राग छूटता है, या छोड़ना है, और उसके छूटने पर उसके निमित्त छूटते हैं - ऐसा कहने को तो जब स्वभाव की दृष्टि हुई हो और उस स्वभाव में सावधानरूप से आंशिक स्थिर हो, तब उसे उस प्रकार का राग, जितना स्थिर हो, उतना उत्पन्न नहीं होता, तब कितने उसके हिंसा आदि के निमित्त बाहर से छूटते हैं—ऐसा यहाँ व्यवहारनय का शास्त्र है तो 'छोड़े' - ऐसा कहने में आता है।

मुमुक्षु : ऐसे से शुरुआत की, उसके बदले ऐसे से करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसे से कहाँ से होता था? कहो, ठीक! ऐसे से पहले शुरुआत करे। परन्तु कहाँ से शुरुआत करे? शुरुआत किसमें करनी है?

मुमुक्षु : निमित्त छोड़ने में।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसमें छोड़ने में ? निमित्त छूटा पड़ा है। बाहर ही पड़ा है। वस्तु जो चैतन्यस्वरूप है, उसमें तो निमित्त चीज़ है ही नहीं, फिर छोड़ना- यह प्रश्न कहाँ रहा ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : इस छोड़ने का अर्थ यह हुआ कि स्वभाव चैतन्य ज्ञायक की दर्शनशुद्धि प्रगट की है कि यह आत्मा चिदानन्दस्वरूप, पूर्ण शुद्ध हूँ - ऐसा अन्तर में ज्ञान के भानसहित अन्तर प्रतीति हुई है। इस प्रतीति-उपरान्त देशव्यक्ति का अधिकार चलता है न, श्रावक का ? स्वरूप में अन्तर में आंशिक स्थिर होने की सावधानी है, उसे कितने प्रकार का राग टलता है, उत्पन्न नहीं होता और उस प्रकार के हिंसा आदि जो यह माँस आदि है, शराब आदि का लक्ष्य उसे छूटता है; इसलिए यह छोड़ा - ऐसा कहा जाता है। असद्भूत व्यवहारनय से उसे छोड़ता है - ऐसा कहने में आता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : मूल मुद्दा ख्याल में नहीं आता, परन्तु इस मूल मुद्दे की बात के बाद तो यह गाथा शुरु की है। पहली दर्शनशुद्धि, पहले में पहले करना। इसके बिना इसका सब व्यर्थ है। आत्मा जो चीज़ है कि जिसमें स्थिर होकर केवलज्ञान प्राप्त करना है। वह जिसमें स्थिर होता है, वह चीज़ कैसी है ? उस चीज़ को अन्तर्दृष्टि में, ज्ञान के भान में लिये बिना उसमें स्थिरता का प्रयत्न, स्वरूपसन्मुख सावधानी कैसे हो ? और स्वरूपसन्मुख सावधानी हुए बिना राग घटता नहीं; और राग घटे बिना, राग के निमित्त इसने छोड़े - ऐसा भी कहने में नहीं आता। यह तो ऐसी बात है। व्यवहार से तो ऐसा ही बोला जाता है न ? संक्षिप्त शब्द बोलना हो तो किस प्रकार बोलना ? समझ में आया ?

टीका :- जो जीव हिंसा का त्याग करना चाहते हैं.. ६१ गाथा। **उन्हें प्रथम ही यत्नपूर्वक..** देखो ! यत्नपूर्वक। **मद्य, मांस, मधु, और पाँच उदुम्बरफल यह आठ वस्तुएँ त्याग करने योग्य हैं।** अर्थात् इनके प्रति राग छोड़नेयोग्य है। अर्थात् स्वरूप में उग्ररूप से सावधानी करके राग छोड़नेयोग्य है। इसलिए उसे ये छोड़नेयोग्य है - ऐसा कहने में आया। बाहर से तो छूटी ही पड़ी है, कहीं अन्दर घुस नहीं गयी है। समझ में आया ? **प्रथम ही यत्नपूर्वक मद्य, मांस, मधु,..** समझ में आया ? आत्मा का ज्ञानस्वभाव

है। वह ज्ञानस्वभाव है, उसका अन्दर भान हुए बिना, उसमें स्थिरता कहाँ करना - यह तो इसे खबर नहीं होती। स्थिरता अर्थात् चारित्र। चारित्र कोई बाह्य वस्तु नहीं है। अन्तर वस्तु, शुद्ध चैतन्य के भान में उसमें स्थिर होने का नाम चारित्र है। उस चारित्र के समय राग का त्याग होता है और इतना त्याग हो, उतने निमित्त इसने छोड़े - ऐसा कहने में आता है। कहो, समझ में आया?

जो जीव हिंसा का त्याग करना चाहते हैं.. यहाँ तो देशविरतिपने की बात है यह। देशविरतिपना सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता। सम्यग्दर्शन-आत्मा अखण्ड अभेद चिदानन्दस्वरूप के आश्रय बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। कहो, समझ में आया? देशविरतिपना अर्थात् श्रावक। यह देशविरतिपना सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता और सम्यग्दर्शन, इस चैतन्यज्ञायकमूर्ति का अन्तर आश्रय किये बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। पहला सम्यक् चैतन्यशुद्ध वस्तु का आश्रय करके अर्थात् उसके सन्मुख की सावधानी से वह प्रतीति (होती है), ज्ञान के भान सहित कि यह आत्मा शुद्ध और आनन्द है, ऐसे भानसहित की प्रतीति प्रगट करके, अब इसे पहले हिंसा का त्याग करना अर्थात् देशविरतिपना करना, उसकी बात चलती है। समझ में आया?

सम्यग्दर्शन बिना अन्दर भान ही नहीं, वहाँ देशविरतिपना कैसा और सर्वविरतिपना कैसा? क्योंकि यहाँ से निवृत्त होना है परन्तु कहाँ स्थिर होना है, उसके भान बिना, स्थिर हुए बिना यहाँ से निवृत्त होगा किस प्रकार? समझ में आया? मूल वस्तु यह है। आत्मा की वस्तु यह मुख्य वस्तु जो चैतन्य प्रभु का अन्तर में ध्रुव चैतन्य, ध्रुव स्वरूप को अन्तर में लक्ष्य में लेकर उसमें दृष्टि स्थापित करके, उसका अनुभव करके सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, पश्चात् उसमें स्थिरता के लिये यह बाह्य के त्याग का कथन चलता है। कहो, समझ में आया? देशविरति का कथन है। सर्वविरति का कथन आगे आयेगा।

मद्य, मांस, मधु, और पाँच उदुम्बरफल यह आठ वस्तुएँ त्याग करने योग्य हैं। वास्तव में तो इन आठ वस्तुओं का त्याग किये बिना जैनधर्म की देशना के भी योग्य नहीं है। यह ७४ गाथा में आता है। यहाँ तो देशविरति से शुरु किया है न? इससे बात की है। ७४ गाथा है, ७४। क्या कहते हैं? ७० और ४, देखो!

अष्टाविनष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः।।७४।।

ये आठ कैसे हैं? यह माँस, शराब, मधु, और पाँच उदम्बर फल, जिसमें त्रस जीव, त्रस जीव होते हैं त्रस। बड़ का टेटा, पीपर की पीपरी, इत्यादि-इत्यादि। वे **दुःखदायक दुस्तर और पाप के स्थान ऐसे आठ पदार्थों का परित्याग करके निर्मल बुद्धिवाले पुरुष जैनधर्म के उपदेश के पात्र होते हैं।** देखो! समझे?

यह आठ तो साधारण बात है। इसमें क्या है? इसमें हुआ क्या है परन्तु? यह तो अनन्त बार छोड़ा है। अभव्य छोड़ता है, उसमें क्या हुआ? विशेष क्या हुआ? शराब, माँस छोड़ना, इसमें क्या हुआ? यह तो स्थूल बात है। शराब, माँस और आठ छोड़े, तब वह जीव सुनने को पात्र होता है। यहाँ तो विरति का व्याख्यान है। इसलिए..

मुमुक्षु : यह कोई देशविरति नहीं छोड़े, यह तो सामान्य गृहस्थ होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो उसकी बात है यह पहली। ७४ में है, परन्तु यहाँ जो अभी अपने चलता है, वह देशविरति का चलता है।

मुमुक्षु : सामान्य गृहस्थ को ऐसा हो..

पूज्य गुरुदेवश्री : सामान्य गृहस्थ.. त्याग न हो, सम्यग्दर्शन न हो तो भी सम्यग्दर्शन की चीज़ को सुनने के योग्य के लिये, उसे ऐसे आठ बोल नहीं होते। समझ में आया? यहाँ चलता है, वह सब देशविरति का, परन्तु उसमें यह एक थोड़ा बीच में रख दिया है कि भाई! देशविरति को पाँचवें वाले को ही यह हो, ऐसा एकान्त नहीं है। वह तो व्रतपूर्वक होता है, उसे प्रत्याख्यानपूर्वक होता है। भानपूर्वक ज्ञान की एकाग्रतापूर्वक राग का अभाव और बाह्य का त्याग होता है। परन्तु उतना त्याग जिसे नहीं—माँस, शराब, शहद और पाँच उदम्बर फल, ऊमर का फल, बड़ का टेटा, पीपल की पीपरियाँ, यह अंजीर, बहुत अंजीर आती है न? अंजीर, वह तो बहुत त्रस है, वह खाने की इसे बुद्धि हो तो बुद्धि बहुत भ्रष्ट है। वह वीतराग का अरागी मार्ग सुनने को कठिन पड़ेगा, नहीं सुन सकेगा। जो तीव्र रागी प्राणी है, अत्यन्त तीव्र रागी, पर में एकाकार ऐसे त्रस खाने के, उसे वीतरागमार्ग अत्यन्त रागरहित चीज़ सुनने को वह पात्र नहीं होता - ऐसा कहते हैं। इतना तो पहले साधारण

चाहिए। समझ में आया? यह ७४ में कहा है। यहाँ देशविरति है, यह समुच्चय बात ली है। अब इसकी व्याख्या करते हैं। ६२ गाथा।

गाथा - ६२

वहाँ प्रथम ही मद्य के दोष को कहते हैं-

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम्।
विस्मृतधर्माजीवो हिंसामविशंकमाचरति।।६२।।

नित मद्य से मन मुग्धता, मोहितमनी भूले धरम।
हो धर्म विस्मृत जीव हिंसा, में निशंकित प्रवर्तित।।६२।।

अन्वयार्थ : (मद्यं) मदिरा (मनोमोहयति) मन को मोहित करती है और (मोहितचित्तः) मोहित चित्त पुरुष (तु) तो (धर्मम्) धर्म को (विस्मरति) भूल जाता है तथा (विस्मृतधर्मा) धर्म को भूला हुआ (जीवः) जीव (अविशंकम्) निःशंक-निडर होकर (हिंसां) हिंसा का (आचरति) आचरण करता है।

टीका : 'मद्यं मनः मोहयति' - मदिरा मन को मोहित करती है। मदिरा पीने के बाद कुछ होश नहीं रहता 'तु मोहितचित्तः धर्मं विस्मरति' - और मोहित चित्तवाला मनुष्य धर्म को भूल जाता है। खबर बिना धर्म को कौन संभाले? 'विस्मृतधर्मा जीवः अविशंकम् हिंसा आचरति' - धर्म को भूला हुआ जीव निःशंक होकर बेधड़क हिंसा का आचरण करता है। धर्म की खबर न होने से हिंसा करने में डर किसका करे? इसलिए मदिरा, हिंसा का परम्परा कारण है।।६२।।

गाथा ६२ पर प्रवचन

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम्।
विस्मृतधर्माजीवो हिंसामविशंकमाचरति।।६२।।

इसका **अन्वयार्थ : मदिरा मन को मोहित करती है..** मदिरा पीनेवाले के मन का भाव ही मोहित है। इसलिए मदिरा का त्याग करना चाहिए। **मोहित चित्त पुरुष तो धर्म को भूल जाता है..** यहाँ तो वहाँ तक ले लिया, देखा? धर्म, धर्म क्या? वह भूल जाता है, भान बिना पागल हो जाये पागल, नशीली मदिरा पीवे। **मोहित चित्त पुरुष तो धर्म को भूल जाता है..** देखा? यहाँ से लिया। यह तो त्याग समझाना हो, तब मूल सब समझावे या नहीं? **तथा धर्म को भूला हुआ जीव नि:शंक-निडर होकर हिंसा का आचरण करता है।** शराब पीनेवाला, उसे फिर कहीं डर नहीं रहता। कुछ भान बिना चाहे जिसकी हिंसा करे।

टीका : 'मद्यं मनः मोहयति' - मदिरा मन को मोहित करती है। पर में सावधानी की महा उलझन खड़ी करती है। **मदिरा पीने के बाद कुछ होश नहीं रहता..** मदिरा पीनेवाले को कुछ भान नहीं है। **और मोहित चित्तवाला मनुष्य धर्म को भूल जाता है। खबर बिना धर्म को कौन संभाले?** खबर नहीं उसे (कि) आत्मा का ज्ञान और आनन्द क्या है? उसे सम्हाले कौन? इसलिए मदिरा का त्याग पहले ही होना चाहिए।

धर्म को भूला हुआ जीव नि:शंक होकर बेधड़क हिंसा का आचरण करता है। लो, समझ में आया? **'अविशंकम्'** जहाँ वस्तु का भान ही नहीं रहता कि मैं आत्मा, ज्ञान-आनन्द क्या हूँ? उसकी खबर नहीं। मदिरा को पिया हुआ, भूला हुआ, भ्रमणा में पड़ा हुआ, वह नि:शंकरूप से हिंसा आचरण करता है। **धर्म की खबर न होने से हिंसा करने में डर किसका करे?** फिर हिंसा चाहे जिसकी करे। **इसलिए मदिरा, हिंसा का परम्परा कारण है।** मदिरा, हिंसा का परम्परा.. पहले परम्परा कारण सिद्ध करते हैं, पश्चात् साक्षात् कारण बतायेंगे। मदिरा तो अभी पहले परम्परा कारण सिद्ध करते हैं। साक्षात् मदिरा पीते ही पाप है सीधा। पहले तो परम्परा से उसका ऐसा हो, ऐसा हो, ऐसा —हो ऐसा कहकर व्यवहार की बात पहले की है। समझ में आया?

गाथा - ६३

आगे मदिरा को हिंसा का साक्षात् कारण बताते हैं-

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम्।।६३।।

बहु रसज जीवों की सुयोनि, मद्य मानी गई है।
यों मद्य सेवी के सतत हिंसा सुनिश्चित नियत है।।६३।।

अन्वयार्थ : (च) और (मद्यं) मदिरा (बहूनां) बहुत (रसजानां जीवानां) रस से उत्पन्न हुए जीवों का (योनिः) उत्पत्ति स्थान (इष्यते) माना जाता है। इसलिए जो (मद्यं) मदिरा का (भजतां) सेवन करता है, उसके (तेषां) उन जीवों की (हिंसा) हिंसा (अवश्यम्) अवश्य ही (संजायते) होती है।

टीका : 'च मद्यं रसजानां जीवानां बहूनां योनिः इष्यते'-मदिरा रस से उत्पन्न हुए बहुत एकेन्द्रियादि जीवों की योनि अर्थात् उत्पत्ति-स्थान है, इसलिए 'मद्यं भजतां तेषां हिंसा अवश्यं संजायते' - जो मदिरापान करता है, उसके उन मदिरा के जीवों की हिंसा अवश्यमेव होती है। मदिरा में जो जीव पैदा हुए थे, उन सबको यह पी गया तो हिंसा कैसे नहीं हुई।।६३।।

गाथा ६३ पर प्रवचन

आगे मदिरा को हिंसा का साक्षात् कारण बताते हैं-

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम्।।६३।।

और मदिरा बहुत रस से उत्पन्न हुए जीवों का.. बहुत रस से उत्पन्न हुए जीवों का 'रसजानां' रस है न, वह? उत्पत्ति स्थान माना जाता है। उसमें बहुत जीवों की

उत्पत्ति योनि है वह तो। **इसलिए जो मदिरा का सेवन करता है, उसके उन जीवों की हिंसा अवश्य ही होती है।** मदिरा पीनेवाले को मदिरा में जो जीव हैं, वह अवश्य पी जाये और मार डालता है। साक्षात् पाप मदिरा पीने का है। पहले परम्परा बताया।

मदिरा रस से उत्पन्न हुए बहुत एकेन्द्रियादि जीवों की योनि अर्थात् उत्पत्ति-स्थान है.. शराब का सड़ान करते हैं न ? कितने जीव उत्पन्न होते हैं। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, मक्खी, चींटियाँ। **इसलिए जो मदिरापान करता है, उसके उन मदिरा के जीवों की हिंसा अवश्यमेव होती है।** लो! **मदिरा में जो जीव पैदा हुए थे, उन सबको यह पी गया..** मदिरा—शराब। जितने जीव थे। (उन सबको पी गया) **तो हिंसा कैसे नहीं हुई।** साक्षात् मदिरा पीने पर सब मर गये, वह पापी पाप का भागी है।

गाथा - ६४

आगे मदिरा में भावित हिंसा बताते हैं-

अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः।।६४।।

नित मान हास्य अरति जुगुप्सा, शोक भय कामादि सब।
हिंसा के ही पर्यायवाची, मद्य के अति ही निकट।।६४।।

अन्वयार्थ : (च) और (अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः) अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोधादि (हिंसायाः) हिंसा के (पर्यायाः) भेद हैं और (सर्वेऽपि) यह सभी (सरकसन्निहिताः) मदिरा के निकटवर्ती हैं।

टीका : 'च अभिमान भय जुगुप्सा हास्य अरति शोक काम कोपाद्याः हिंसायाः पर्यायाः सर्वे अपि सरकसन्निहिताः' - तथा अभिमान, भय, जुगुप्सा, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोधादि जितने हिंसा के भेद हैं, वे सभी मदिरा के निकटवर्ती हैं। एक मदिरापान करने से वे सभी तीव्ररूप से ऐसे प्रगट होते हैं कि माता के साथ भी कामक्रीड़ा करने को तैयार हो जाता है। अभिमानादि का लक्षण पूर्व में वर्णन कर चुके हैं। इस प्रकार

मदिरा का प्रत्यक्ष दोष जानकर मदिरा का त्याग करना योग्य है। इसके अतिरिक्त जो अन्य मादक-नशावाली वस्तुयें हैं, उनमें भी हिंसा के भेद प्रगट होते हैं। अत: उन सबका भी त्याग करना उचित है।।६४।।

गाथा ६४ पर प्रवचन

आगे **मदिरा में भावित हिंसा बताते हैं**- भावरूप हिंसा। भावरूप वर्तमान भाव।

अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्या:।
हिंसाया: पर्याया: सर्वेऽपि च सरकसन्निहिता:।।६४।।

मदिरा के निकटवर्ती हैं। सरकसन्निहिता: इसकी **टीका : तथा अभिमान,..** देखो! शराब पीनेवाले को अभिमान होता है, इस अभिमान को शराब पिये हुए की उपमा देते हैं। **भय,..** ये सब मदिरा के निकटवर्ती भाव हैं। भय.. भय..। **जुगुप्सा,..** दूसरे की ग्लानि करे। **हास्य,..** खिलखिलाकर हँसे। **अरति, शोक, काम, क्रोधादि** (लोभ) **जितने हिंसा के भेद हैं, वे सभी मदिरा के निकटवर्ती हैं।** मदिरा पीनेवाले को, शराब पीनेवाले को तुरन्त ऐसे सब भाव उत्पन्न होते हैं। **एक मदिरापान करने से वे सभी तीव्ररूप से ऐसे प्रगट होते हैं कि माता के साथ भी कामक्रीड़ा करने को तैयार हो जाता है।** भान नहीं होता शराब पिये हुए को, फिर उसकी खबर नहीं रहती।

अभिमानादि का लक्षण पूर्व में वर्णन कर चुके हैं। पहले आ गया है। हिंसा का लक्षण जहाँ वर्णन किया था न? वह सब हिंसा की पर्याय है। क्रोध, मान, माया, लोभ, अभिमान हिंसा की भावदशा है। भावहिंसा है। उस भावहिंसा की व्याख्या है न यह? मदिरा पीनेवाले को ऐसे भावहिंसा के भाव सब उत्पन्न होते हैं। **इस प्रकार मदिरा का प्रत्यक्ष दोष जानकर मदिरा का त्याग करना योग्य है। इसके अतिरिक्त जो अन्य मादक-नशावाली वस्तुयें हैं, उनमें भी हिंसा के भेद प्रगट होते हैं।** मदिरा के अतिरिक्त ऐसी चीज़ें होती हैं न, यह चरस, गाँजा। ऐसी कठोर चीज़े होती हैं न? मस्तिष्क फट जाये। यह चरस, चरस एक आती है। पीनेवाले का मस्तिष्क भी ऐसे.. गाँजा पीते हैं

बड़ा। मस्तिष्क ऐसा हो जाता है। **मादक-नशावाली वस्तुयें हैं, उनमें भी हिंसा के भेद प्रगट होते हैं।** उनमें यह राग-द्वेष, अभिमान सब प्रगट होता है। **अतः उन सबका भी त्याग करना उचित है।**

गाथा - ६५

आगे मांस के दोष बताते हैं-

न विना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा।।६५।।

नित जीवघात बिना नहीं, है माँस उत्पत्ति कभी।
यों माँसभक्षी को सतत, अनिवार्य हिंसा ही कही।।६५।।

अन्वयार्थ : (यस्मात्) कारण कि (प्राणिविघाताम् विना) प्राणियों का घात किए बिना (मांसस्य) मांस की (उत्पत्तिः) उत्पत्ति (न इष्यते) नहीं मानी जा सकती (तस्मात्) इसलिए (मांसं भजतः) मांसभक्षी पुरुष को (अनिवारिता) अनिवार्यरूप से (हिंसा) हिंसा (प्रसरति) फैलती है।

टीका : 'यस्मात् प्राणिविघातात् विना मांसस्य उत्पत्ति न इष्यते'-प्राणियों - जीवों के घात किए बिना मांस की उत्पत्ति देखने में नहीं आती। मांस (द्विइन्द्रियादि) जीवों के शरीर में होता है, दूसरी जगह नहीं। अतः उनके घात करने पर ही मांस मिलता है। 'तस्मात् मांसं भजतः अनिवारिता हिंसा प्रसरति'- इसलिए मांसभक्षी को अनिवार्य हिंसा फैलती है-लगती है। मांस खानेवाला हिंसा को कैसे नहीं करे? अवश्य करे ही करे।।६५।।

गाथा ६५ पर प्रवचन

आगे मांस के दोष बताते हैं- माँस। माँस नहीं खाना चाहिए।

न विना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा।।६५।।

टीका : प्राणियों-जीवों के घात किए बिना मांस की उत्पत्ति देखने में नहीं आती। क्या कहते हैं ? माँस कहाँ से आता है ? प्राणी के जीव का घात करे तब माँस होता है। माँस कहीं अद्धर से नहीं आता। **प्राणियों-जीवों के घात किए बिना..** भाषा तो ऐसी कही जाये न! जीव मारे न ? माँस लेने के लिए शरीर और जीव भिन्न करे। **जीवों के घात किए बिना मांस की उत्पत्ति देखने में नहीं आती।** यहाँ तो माँस कहाँ से होता है, यह बताते हैं। समझ में आया ? **मांस (द्विइन्द्रियादि) जीवों के शरीर में होता है,..** लो! एकेन्द्रिय में नहीं। एकेन्द्रिय में माँस (नहीं होता)। एकेन्द्रिय के शरीर को माँस नहीं होता। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु को माँस नहीं होता। माँस तो दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय में माँस है।

दूसरी जगह नहीं। अतः उनके घात करने पर ही मांस मिलता है। लो! जीव का घात किये बिना माँस नहीं मिलता। इसलिए **मांस खानेवाला हिंसा को कैसे नहीं करे ? अवश्य करे ही करे।** रात्रि का तो आया था। रात्रि भोजन करनेवाले को माँस का दोष लगता है। आया था। रात्रि में तो आया था। रात्रि भोजन करनेवाले को माँस का दोष लगता है क्योंकि रात्रि में उस पानी में, खिचड़ी, कड़ी, सब्जी, (में) त्रसजीव गिरें तो वह माँस खाता है। वहाँ तो और बहुत आया, संकल्पी हिंसा का कहा। रात्रि भोजन करनेवाला संकल्पी हिंसा करता है। आया था, नहीं ? निबन्धन रत्नावली। संकल्पी हिंसा है। रात्रि भोजन करे, पानी, आहार, दूध में जीव गिरें, त्रस मरे, त्रस माँस है, माँस का भोजन खाता है।

मुमुक्षु : बहुत सावधानी रखे और न मरे तो।

पूज्य गुरुदेवश्री : सावधानी करे तो भी मरे बिना नहीं रहते। वहाँ सावधानी क्या करे ? दीपक, दीपक का प्रकाश है, उसमें बहुत जीवात होती है। त्रस-त्रस की बात आयी थी। रात्रि भोजन में त्रस की हिंसा माँस का आहार है, वह माँस का। रात्रि भोजन का त्याग तो पहले से होना चाहिए - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु : अभी इलेक्ट्रिक लाईट होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ इलेक्ट्रिक लाईट काम नहीं आती। इलेक्ट्रिक में तो अकेली जीवात होती है। उसमें भी जीवात होती है। बहुत जीवात। और सूर्य जैसा इतना प्रकाश नहीं हो उसमें, दिखायी नहीं दे। चाहे ऐसी नहीं होती। ऐसा जो प्रकाश, वैसा प्रकाश नहीं होता। सूक्ष्म जीवात, कंथवा, उड़नेवाले सूक्ष्म (जीव) कड़ी में, खिचड़ी में, सब्जी में, गर्म-गर्म रोटी में, ढेबरा में, जो हो उसमें गिरते हैं; इसलिए रात्रि भोजन में माँस का दोष लगता है। इसलिए आत्मार्थी को रात्रि भोजन नहीं करना, ऐसा लिखा है, हाँ! रात्रि को आया था। समझ में आया?

कैसे नहीं करे? वह हिंसा करे ही करे। त्रस मरे, उसमें वह है। बहुत जीव मरें, पानी पड़ा हो उसमें मरें, उसमें मरें, सबमें। पानी पीते-पीते वहाँ उड़नेवाले जीव आकर उसमें छुएँ, वहाँ कहाँ दिखायी दे सूक्ष्म? तब कोई कहता है कि मर गये तैयार हों, उन्हें खाने में क्या बाधा है? मारेंगे नहीं। स्पष्टीकरण करे, न स्पष्टीकरण। व्यवहार का अधिकार है। आगे, कोई कहता है कि स्वयं जीव को न मारे तो दोष नहीं है। उसे कहते हैं, अपन मारेंगे नहीं, बैल और गाय का भैंस का तैयार मिले, उसमें क्या दोष है? ऐसा कहते हैं। अरे! सब उसमें दोष है, महापाप है। अभी तो देखो न! यह सब कोडलीवर यह सब होता है भ्रष्टाचार सब। कोडलीवर लाते हैं न? वह मछली का तेल।

मुमुक्षु : कोडलीवर ऑयल।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, कितने ही तो अण्डा, यह माँस नहीं है, ऐसा कहते हैं। अण्डा वह कुछ नहीं। भ्रष्ट वेड़ा.. भ्रष्ट वेड़ा हैं वे। युवकों को धर्म की दरकार नहीं होती, और जहाँ जाये वहाँ ऐसा होता है तो उसे कहीं चला ले, चला ले। महा माँस और माँस का बड़ा दोष है। माँस (भक्षी) प्राणी तो नरकगामी है वह। ऐसे अभी इसे नहीं लगता। इसके पाप में (फल) कठोर है, भाई! समझ में आया?

गाथा - ६६

आगे कोई कहे कि स्वयं जीव को न मारे तो दोष नहीं है, उससे कहते हैं-

यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्।।६६।।

स्वयमेव मृत भैंसा बलद, आदि का माँस भि सदा ही।
स्व-आश्रयी सम्मूर्छनों के, मथन से हिंसामयी।।६६।।

अन्वयार्थ : (यदपि) यद्यपि (किल) यह सत्य है कि (स्वयमेव) अपने आप ही (मृतस्य) मरे हुए (महिषवृषभादेः) भैंस, बैल इत्यादि का (मांसं) मांस (भवति) होता है परन्तु (तत्रापि) वहाँ भी अर्थात् उस मांस के भक्षण करने में भी (तदाश्रितनिगोत-निर्मथनात्) उस मांस के आश्रय रहनेवाले उसी जाति के निगोद जीवों के मन्थन से (हिंसा) हिंसा (भवति) होती है।

टीका : 'यद्यपि किल स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः मांसं भवति तत्र अपि हिंसा भवति'-यद्यपि प्रगटरूप से अपने आप मरे हुए भैंस, बैल वगैरह जीवों का मांस होता है तो भी उस मांस भक्षण में भी हिंसा होती है। किस प्रकार? 'तदाश्रित निगोद निर्मथनात्'-स्वयं तो जीव को नहीं मारा परन्तु फिर भी उस मांस के आश्रित जो निगोदरूप अनन्त जीव रहते हैं, उनके घात करने से हिंसा होती है।।६६।।

गाथा ६६ पर प्रवचन

यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्।।६६।।

टीका : यद्यपि प्रगटरूप से अपने आप मरे हुए भैंस, बैल वगैरह.. पाठ है न? **'महिषवृषभादेः'** भैंस अपने आप मर गयी हो, बैल मर गया हो, बछड़ा मर गया हो इत्यादि। कुत्ता मर गया हो, कुत्ते का माँस खाये। मर गये का खाये कितने ही। **वगैरह जीवों**

का मांस होता है तो भी उस मांस भक्षण में भी हिंसा होती है। किस प्रकार? उस मांस के आश्रित जो निगोदरूप अनन्त जीव रहते हैं,... समझे न? भाषा निगोद है। निगोद के जीव। किसी जगह सम्मूर्च्छन कहते हैं परन्तु सम्मूर्च्छन अनन्त नहीं होते, त्रस हों वे अनन्त जीव नहीं होते। अनन्त हों वहाँ स्थावर बिना अनन्त जीव नहीं हो सकते। किसी जगह सम्मूर्च्छन में ऐसा अर्थ करते हैं, परन्तु वे सम्मूर्च्छन त्रस नहीं लेना। समझ में आया?

चाहे वह अन्दर से निगोद हो, दूसरा क्या? निगोद के जीव मन्थन से हिंसा होती है **उस मांस के आश्रित जो निगोदरूप अनन्त जीव रहते हैं, उनके घात करने से हिंसा होती है।** उस प्रकार के तदवर्णा जीव उत्पन्न होते होंगे उसमें। समझे न?

गाथा - ६७

आगे मांस में निगोद की उत्पत्ति कहते हैं-

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम्।।६७।।

कच्चे पके पकते हुए भी, माँस खण्डों में सदा।
उस जाति के सम्मूर्छन, उत्पन्न होते हैं सदा।।६७।।

अन्वयार्थ : (आमासु) कच्ची (पक्वासु) पक्की (अपि) तथा (विपच्यमानासु) पकती हुई (अपि) भी (मांसपेशीषु) मांसपेशियों में (तज्जातीनां) उसी जाति के (निगोतानाम्) सम्मूर्छन जीवों का (सातत्येन) निरन्तर (उत्पादः) उत्पाद होता है।

टीका : 'आमास्वपि, पक्वास्वपि, विपच्यमानासु मांसपेशीषु तज्जातीनां निगोतानाम् सातत्येन उत्पादः अस्ति'-कच्चा हो, अग्नि पर पका हुआ हो, अथवा अग्नि पर पक रहा हो, ऐसे सर्व मांस के टुकड़ों में उसी जाति के निगोदिया अनन्त जीव समय-समय निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। सर्व अवस्थाओं में मांस के टुकड़ों में निरन्तर उसी मांस जैसे नए-नए अनन्त जीव उत्पन्न होते रहते हैं।।६७।।

गाथा ६७ पर प्रवचन

आगे मांस में निगोद की उत्पत्ति कहते हैं-

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम्।।६७।।

कच्चा.. कच्चा माँस हो, तो भी उसमें अनन्त निगोद के जीव हैं। कच्चा माँस सीधा। **अग्नि पर पका हुआ हो,..** उसमें भी अनन्त जीव हैं। वह पकाया हुआ **अथवा अग्नि पर पक रहा हो..** अथवा पकने के काल में भी वहाँ अनन्त जीव हैं। अग्नि में माँस सिंकता हो, वहाँ भी अनन्त जीव हैं। पकते समय अग्नि में, हों! **ऐसे सर्व मांस के टुकड़ों में..** कच्चे माँस का टुकड़ा हो, पका हुआ हो, या पक रहा हो, सब टुकड़ों में **उसी जाति के निगोदिया अनन्त जीव..** उस जाति के निगोद के अनन्त जीवों का.. ऐसा कहते हैं। समझे न? **समय-समय निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं।** भगवान केवलज्ञानी परमात्मा ने उसमें देखा है कि उसमें अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं।

सर्व अवस्थाओं में मांस के टुकड़ों में निरन्तर उसी मांस जैसे नए-नए अनन्त जीव उत्पन्न होते रहते हैं। माँस जैसे कहे हैं, वैसा वर्णन किया। परन्तु मूल निगोद की जाति, फिर अनन्त है। सम्मूर्च्छन हो तो असंख्य उपजें। वैसे वर्ण और वैसे...

निगोद शब्द है। निगोद अर्थात् इसका अर्थ कोई दूसरा करते हैं। निगोद ऐसा नहीं। ऐसा कोई करते हैं कहीं, ऐसा सुना था। सम्मूर्च्छन करते हैं कहीं। उसमें करते हैं। किया है न? बहुत तो सम्मूर्च्छन त्रस जाने वह।

सर्व अवस्थाओं में माँस का टुकड़ा इतना हो, पका हुआ हो, पक रहा हो, या कच्चा हो, वह अनन्त जीवों का स्थान है। इसलिए आत्मार्थी को माँस का स्पर्श नहीं करना, स्पर्श नहीं करना - ऐसा कहेंगे। स्पर्श नहीं समझते हो? छूता नहीं, छूना नहीं। खाना तो नहीं परन्तु उसे स्पर्श नहीं करना। माँस का टुकड़ा पड़ा हो तो उसे स्पर्श नहीं करना उसमें अनन्त जीव हैं। यह माँस का आता है न? चील हड्डियाँ लाकर, वहाँ पड़े होते हैं न।

गाथा - ६८

आगे मांस से हिंसा होती है ऐसा प्रगट करते हैं -

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम्।।६८।।

कच्चे व पक्के माँसखण्डों, को छुए भक्षण करे।
वह सतत संचित विविध जीवों, पिण्ड की हत्या करे।।६८।।

अन्वयार्थ : (यः) जो जीव (आमां) कच्ची (वा) अथवा (पक्वां) अग्नि में पकी हुई (पिशितपेशीम्) मांस की पेशी को (खादति) खाता है (वा) अथवा (स्पृशति) छूता है (सः) वह पुरुष (सततनिचितं) निरन्तर इकट्ठे हुए (बहुजीवकोटीनाम्) अनेक जाति के जीव समूह के (पिण्डं) पिण्ड का (निहन्ति) घात करता है।

टीका : 'यः आमां वा पक्वां पिशितपेशीम् खादति वा स्पृशति सः सततनिचितं बहुजीवकोटीनाम् पिण्डं निहन्ति'-जो जीव कच्चा अथवा अग्नि में पकाये हुए मांस के टुकड़े का भक्षण करता है अथवा हाथ वगैरह से स्पर्श करता है, वह जीव निरन्तर जिसमें अनेक जाति के जीव इकट्ठे हुए थे, उस पिण्ड का घात करता है। मांस में तो निरन्तर जीव उत्पन्न हो-होकर इकट्ठे हुए थे। इसने उस मांस का भक्षण किया अथवा स्पर्श किया, इससे उन जीवों की परम हिंसा उत्पन्न हुई; अतः मांस का त्याग अवश्य करना चाहिए। जिन दूसरी वस्तुओं में भी बहुत जीवों की उतपत्ति पाई जाती है, वह सभी वस्तुएँ त्याग करने योग्य हैं।।६८।।

गाथा ६८ पर प्रवचन

आगे मांस से हिंसा होती है ऐसा प्रगट करते हैं -

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम्।।६८।।

टीका : जो जीव कच्चा अथवा अग्नि में पकाये हुए मांस के टुकड़े का.. कोई भी आत्मा इस कच्चे माँस का टुकड़ा या अग्नि में पकाया हुआ, पका हुआ टुकड़ा, उसका **भक्षण करता है अथवा हाथ वगैरह से स्पर्श करता है..** है न? हाथ से वहाँ स्पर्श करता है, **वह जीव निरन्तर जिसमें अनेक जाति के जीव इकट्ठे हुए थे, उस पिण्ड का घात करता है।** समझ में आया? यहाँ त्रस हिंसा के त्याग की बात है न? श्रावक को पंचम गुणस्थान में ऐसे त्रस हिंसा का त्याग होता है। श्रावक को पाँचवें गुणस्थान में एकेन्द्रिय का त्याग अभी नहीं हो परन्तु त्रस हिंसा का त्याग होता है। उस त्रस हिंसा में इसका वर्णन किया गया है।

मांस में तो निरन्तर जीव उत्पन्न हो-होकर इकट्ठे हुए थे। इसने उस मांस का भक्षण किया अथवा स्पर्श किया, इससे उन जीवों की परम हिंसा उत्पन्न हुई; अतः मांस का त्याग अवश्य करना चाहिए। जिन दूसरी वस्तुओं में भी बहुत जीवों की उत्पत्ति पाई जाती है,.. त्रस की उत्पत्ति (होती हो), वह बहुत दिन का आटा हो, यह क्या कहलाता है? समझे न? क्या कहलाता है वह? मैदा। गेहूँ की मैदा होती है न? गेहूँ का आटा बारीक बहुत दिनों का। बहुत त्रस जीव हों, मैदा की पूड़ी बनाते हैं न? मैदा। बहुत त्रस होते हैं। त्रस जीव की उत्पत्ति हो, माँस। व्रती को वह खुराक खाना नहीं, छोड़ देना, इतना तो त्याग इसे होता ही है। साधारण त्याग हो, यहाँ तो कहते हैं। जैन धर्म सुनने के लिये भी इतनी तीव्र माँस खाने की वृत्ति का त्याग नहीं, उसे अत्यन्त अराग की बात, रागरहित की बात सुनना कठिन पड़ेगी। सुन नहीं सकेगा। समझ में आया?

अतः मांस का त्याग अवश्य करना चाहिए। जिन दूसरी वस्तुओं में भी बहुत जीवों की उत्पत्ति पाई जाती है, वह सभी वस्तुएँ त्याग करने योग्य हैं। लो! यह मैदा, यह जलेबी, इसमें सडांध होती है न। उस कपड़े में, कपड़ा जिसमें डाले। वह क्या कहलाता है? माँडी.. माँडी.. मिल में कांजी (करते हैं) बहुत सडांध होती है। जीवात.. जीवात.. जीवात.. जीवों का ढेर। लटें, कचरघाण कपड़ा। आर डाले। आर कहलाता है हमारे। कपड़े में आर (माँडी) डालते हैं न? मजबूत नया बनाने को। बहुत जीवात होती है, सड़ो डालते हैं। दो-दो महीने, तीन-तीन महीने रखते हैं। सड़ो (करते हैं)

अकेले त्रस, लटें। पैसे के लोभी उसे भी.. मलूपचन्दभाई! कल थोड़ा याद आया था, रात्रि को पैसे का आया तब तुम नहीं थे। वे कहे, मलूपचन्दभाई को क्या? रामजीभाई कहे, उनके लड़के को... बाप को सुने। **वह सभी वस्तुएँ त्याग करने योग्य हैं।** देखा, क्या कहा यह? सड़ो। समझ में आया?

मुमुक्षु : अथाणा।

पूज्य गुरुदेवश्री : अथाणा, गोल केरी का। बारह-बारह महीने का अथाणा (अचार) बहुत सड़ा हुआ हो, हों! गोल केरी का अथाणा, गुंदा, मुरब्बा। यह मुरब्बा - मुरब्बा, छह-छह महीने का मुरब्बा होता है न? बारह-बारह महीने रखे। अकेले त्रस पड़े होते हैं। वह खुराक नहीं होती। धर्म की जिज्ञासावन्तु को वह खुराक नहीं होती। समझ में आया? बारह-बारह महीने का मुरब्बा सड़ गया हो। गन्ने का मुरब्बा, आम का मुरब्बा, आता है न? सेब का मुरब्बा।

मुमुक्षु : पैक बन्द।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैक बन्द हो तो भी अन्दर जीव प्रविष्ट हो जाते हैं। अभी प्रश्न आया था वहाँ से। परदेशी राजा में आता है। परदेशी राजा में.. श्वेताम्बर में। तुम जीव मानते हो परन्तु लाओ एक काँच की वरनी हो, उसमें जीवित मनुष्य को रख दें और फिर बन्द कर दें। जीव कहाँ निकला? दरार तो पड़ी नहीं। काँच की वरनी हो बड़ी चार-पाँच मण की लम्बी हो, उसमें जीवित डालो और फिर रेण दे दो, रेण ऊपर। रेण समझते हो? पैक कर दो, तो वह मर जाये। यदि जीव उसमें से निकला हो उसमें से, फिर देखो तो मुर्दा है, यदि जीव हो तो निकले तो काँच की दरार पड़नी चाहिए। दरार पड़ती नहीं, इसलिए जीव उसमें है नहीं। लो! दूसरी ओर दृष्टान्त दिया है कि मुर्दे को उसमें डालो.. एक भी त्रस न हो। दो महीने, दो-चार दिन अथाणा रखो, वहाँ जीव अन्दर उत्पन्न होते हैं। यदि बाहर से जीव आये हों, वहाँ दरार पड़कर अन्दर घुसना चाहिए न?

यह परदेशी में अधिकार है न। अभी कहीं लेख में आया है। परदेशी के अधिकार में है परन्तु दूसरा ऐसा देते हैं कि ऐसा है न? कहाँ उसमें जीव निकला? कहाँ उसमें जीव घुस गया? घुसा हो तो कहीं से काँच में दरार पड़नी चाहिए न? परमाणु अनन्त स्कन्ध

निकले तो दरार न पड़े तो फिर जीव निकलने में दरार पड़े, यह कहाँ से लाया तू? अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध इस शरीर के एकदम अभी निकल जाते हैं। कहो, समझ में आया?

उसमें जीव नहीं हैं। पहले जीव बाहर से आये, इसलिए जीव नहीं हैं, ऐसा नहीं है। बाहर से कहाँ आये? वह तो वह शरीर उस प्रकार परिणमता है, जीव कहाँ से आया? अन्दर वह जीवात पड़े, तब तो काँच टूटना चाहिए। मुर्दे को, जीवित डालकर बाहर निकाले तो काँच टूटना चाहिए। यह परदेशीराजा के अधिकार में.. है। (संवत्) १९८९ के साल में राजकोट में व्याख्यान चला था न? पोपटभाई! उसकी सब पुस्तकें प्रकाशित हुईं। लिथो.. लिथो दो सौ छपाये थे। परदेशी राजा का अधिकार चलता था। तब उस समय तीन-तीन हजार लोग, बहुत लोग आते थे। कहो, समझ में आया? आहा..हा..!

ये निरन्तर अनेक जाति के जीव एकत्रित हुए, उन्हें मारते हैं। लो! ठीक। माँस तो, ऐसी दूसरी भी जिस वस्तु में उत्पत्ति हो, उन सबका त्याग करना। लो! ऐसे माँस, ऐसे माँस की चीज़ें साधारण मनुष्य को भी, जिसमें त्रस हो त्रस, वह चीज़ तो खाने योग्य है ही नहीं। इतनी तीव्रता-गृद्धि छोड़ने की बात है, हों! व्यवहार से कथन तो ऐसा ही आवे न! समझ में आया?

गाथा - ६९

आगे मधु के दोष बताते हैं:-

मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके।
भजति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम्।।६९।।

है मधु की इक बूँद भी, प्रायः मधूकर घातमय।
जो मूढ़ सेवन करे मधु का, महा हिंसक सदा वह।।६९।।

अन्वयार्थ : (लोके) इस लोक में (मधुशकलमपि) मधु की एक बूँद भी (प्रायः) बहुत करके (मधुकरहिंसात्मकं) मधुकर-भौंरों की अथवा मधुमक्खियों की हिंसास्वरूप (भवति) होती है, इसलिए (यः) जो (मूढधीकः) मूर्खबुद्धि मनुष्य (मधु भजति) मधु

का भक्षण करता है, (सः) वह (अत्यन्तं हिंसकः) अत्यन्त हिंसा करनेवाला होता है, इसलिए सर्वथा प्रकार मधु का त्याग करना योग्य है।।६९।।

गाथा ६९ पर प्रवचन

आगे मधु के दोष बताते हैं:- पहले शराब के कहे, फिर माँस के कहे, अब मधु, मधु। वह यह मधु खाते हैं न औषध में? औषध समझे? औषधि में मधु लेते हैं। एक मधु की बूँद में सात गाँव के मारने के पाप जितना पाप है। कितने ही मधु रोटी में खाते हैं। रोटी में। महापाप है।

मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके।
भजति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम्।।६९।।

इस लोक में मधु की एक बूँद भी... देखो! **'मधुशकलमपि' बहुत करके (मधुकर-भौंरों की अथवा) मधुमक्खियों की हिंसास्वरूप होती है, इसलिए जो मूर्खबुद्धि मनुष्य मधु का भक्षण करता है, वह अत्यन्त हिंसा करनेवाला होता है,..** मधु तो अकेला मक्खी का रस ही होता है, रस। उसमें सूक्ष्म-सूक्ष्म जीवात, त्रस, सब त्रस, वह त्रस का-माँस का ही टुकड़ा सब है। लोगों को मधु की मिठास लगती है। समझ में आया?

मुमुक्षु : पंचामृत में प्रयोग किया जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पंचामृत में? आहा..हा..! भगवान के अभिषेक में?

मुमुक्षु : मधु, दही...

पूज्य गुरुदेवश्री : पाप का शकुन। मधु में पाप है। यहाँ तो कहते हैं भगवान एक.. समझ में आया? अमितगति श्राकवाचार में (कहा है) एक बूँद में सात गाँव का पाप लिखा है। मधु को छूना नहीं चाहिए, मधु लेना नहीं चाहिए। समझ में आया? श्वेताम्बर में भी ऐसा है कि पुराना मधु नहीं खाना। ताजा मधु खाना, ऐसा लोग उसमें से अर्थ

करते हैं। पुराना खोल, पुराना मधु। मधु को बिल्कुल नहीं खाया जाता। समझ में आया? महापाप है।

गाथा - ७०

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात्।।७०।।

जो कपट से मधु छत्र से, स्वयमेव गिरते मधु को।
लेता वहाँ भी तदाश्रित जीव घात से हिंसा हि हो।।७०।।

अन्वयार्थ : (यः) जो कोई (छलेन) कपट से (वा) अथवा (गोलात्) मधुछत्ता में से (स्वयमेव विगलितम्) अपने आप टपका हुआ (मधु) मधु का (गृह्णीयात्) ग्रहण करता है, (तत्रापि) वहाँ भी (तदाश्रय प्राणिनाम्) उसके आश्रयभूत जन्तुओं के (घातात्) घात से (हिंसा) हिंसा (भवति) होती है।

गाथा ७० पर प्रवचन

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात्।।७०।।

जो कोई कपट से अथवा मधुछत्ता में से... देखो! वह मधुछत्ता होता है न? वह कपट से करते हैं। एकदम, एकदम आकर पकड़ते हैं, नीचे अग्नि लगाते हैं, मधुछत्ता में से मधु **गोलात्-गोलात्** कहा। **अपने आप टपका हुआ मधु का ग्रहण करता है वहाँ भी उसके आश्रयभूत जन्तुओं के घात से हिंसा होती है।** एक ओर कहते हैं कि दूसरे की हिंसा कर नहीं सकता। और यह (बात)? यहाँ बात क्या है? तेरा भाव है न खाने का? उसकी बात है। इसलिए व्यवहार से भाषा आवे, तब क्या आवे? समयसार कहे कि किसी भी परप्राणी की हिंसा और पर की दया आत्मा पालन नहीं कर सकता। क्योंकि वह

तो परवस्तु है। परन्तु यहाँ मार डालने का भाव है न इसका? इस अपेक्षा से उसे हिंसा करता है, मारता है, घात करता है, ऐसा कहने में आता है। भाई! बात तो ऐसी है। निश्चय तो सत् है, सत् तो जो होगा, वह रहेगा। वस्तु बदल डालने से कहीं सत् बदल नहीं जायेगा परन्तु जब व्यवहार के कथन आयें, तब संक्षिप्त में ऐसा ही होता है कि इसका भाई! इसे नहीं मारा जाता, हों! समझ में आया? माँस नहीं खाया जाता, भाई! माँस को नहीं खाया जाता, मारा नहीं जाता। तथा मार सकता नहीं और मारा नहीं जाता? परन्तु तेरा भाव है न मार डालने का? वह मरे, न मरे उसके आधीन है।

अपने आप टपका हुआ मधु का ग्रहण करता है, वहाँ भी उसके आश्रयभूत जन्तुओं के घात से हिंसा होती है। लो! देखो! जन्तुओं का घात। **प्राणिनां घातात् हिंसा** होती है, ठीक। निमित्त है न यह? ऐसी भाषा तो ऐसी ही ले, क्या ले? इस प्राणी के घात से बन्ध नहीं होता; बन्ध तो भाव से होता है परन्तु **प्राणिनां घातात् हिंसा** होती है। घात करने का भाव है न? समझ में आया?

वीतरागमार्ग की नयचक्र की बात ऐसी महागूढ़ है, गूढ़। कोई न समझे न तो कुछ का कुछ इसमें (विपरीत निकाले)। अकेला व्यवहार पढ़े और निश्चय की खबर न हो (तो) विपरीत सब मारे इसमें। यह तो निश्चय की दृष्टिसहित खबर है कि एक रजकण की पर्याय मैं नहीं कर सकता। पर को मार नहीं सकता, परद्रव्य का अधिकार मुझे कुछ है ही नहीं। तथा परद्रव्य से, कर्म आदि से मुझमें हो, यह मुझमें कुछ नहीं। ऐसा जहाँ स्वतत्त्व का निर्णय और भान है, उसे फिर राग घटने में यह घात करना नहीं, यह करना नहीं – ऐसा कहने में आया है। आहा..हा..!

गाथा - ७१

आगे इस त्याग को समुच्चयरूप से कहते हैं:–

मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र।।७१।।

नित महा विकृतिमय मधु, नवनीत मदिरा माँस का।
सेवन करें नहिं व्रती, क्योंकि रहें तद्वत् जिव सदा।।७१।।

अन्वयार्थ : (मधु) शहद (मद्यं) मदिरा (नवनीतं) मक्खन (च) और (पिशितं) मांस (महाविकृतय:) महान विकारों को धारण करनेवाले (ता:) इन चारों पदार्थों को (व्रतिना) व्रती पुरुष (न वल्भ्यन्ते) भक्षण न करे। कारण कि (तत्र) उन वस्तुओं में (तद्वर्णा) उस जाति के उसी वर्ण के धारी (जन्तव:) जीव रहते हैं।

टीका : 'व्रतिना मधु मद्यं नवनीतं च पिशितं ता: महाविकृतय: न वल्भ्यन्ते'- व्रतधारी जीवों को मधु, मदिरा, *मक्खन और मांस जो बहुत विकार को धारण करनेवाले हैं, तथा इन्हीं के समान अन्य विकारयुक्त पदार्थों का भक्षण नहीं करना चाहिए। मधु की एक बूँद भी मक्खी की हिंसा से मिलती है। जो मन्दबुद्धि शहद खाते हैं, वे अत्यन्त हिंसक हैं। जो स्वयमेव टपका हुआ अथवा कपट करके मधुछत्तों में से मधु लेते हैं, वह भी हिंसक हैं। कारण कि मधु के आश्रय रहनेवाले जीवों की हिंसा तो उस समय भी होती है। व्रती पुरुष इन वस्तुओं का भक्षण नहीं करता। किसलिये? 'तत्र तद्वर्णा: जन्तव:' - उस वस्तु में उसी रंगवाले बहुत जीव होते हैं। जैसे वह वस्तु है, वैसे ही उसमें जीव होते हैं। अन्य वस्तुओं के कहने से चमड़े से स्पर्शित घी, तेल, जल अथवा संधान, आचार, विष, मिट्टी इत्यादि अभक्ष्य वस्तुओं का त्याग करना योग्य है। मुख्यरूप से मद्य, मांस, मधु का त्याग करवाया, तत्पश्चात् अन्य अभक्ष्य वस्तुओं को छोड़ने का उपदेश किया।।७१।।

गाथा ७१ पर प्रवचन

मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ता:।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र।।७१।।

देखो! 'तद्वर्णा' इसमें डाला। 'व्रतिना मधु मद्यं नवनीतं च पिशितं ता: महाविकृतय: न वल्भ्यन्ते'- व्रतधारी जीवों को.. देखो! ऐसा आया न? है न यह -

* मक्खन को दही में से निकालने के बाद अन्तर्मुहूर्त में ही तपा लेना चाहिए, अन्यथा वह अभक्ष्य हो जावेगा।

'व्रतिना' यह देशविरति की व्याख्या चलती है न? सम्यग्दर्शन सहित, आत्मभानसहित उसे ऐसे पाप के परिणाम करना नहीं, उसे पर का त्याग करना, ऐसा कहने में आता है। कहो, समझ में आया? उसे ये पाप के परिणाम उस भूमिका के योग्य हो सकते नहीं - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? दो कषाय घट गयी है, तब तो व्रतधारी हुआ है। दो कषाय घटी, तब तो श्रावक पंचम गुणस्थान में आया है। आत्मभान, आत्मदर्शन, आत्मज्ञान, तदुपरान्त स्वरूप का आचरण, तदुपरान्त स्वरूप की स्थिरता आंशिक बढ़ी, तब तो श्रावक पंचम गुणस्थान में कहने में आता है। उसे ऐसे भाव नहीं होते। समझ में आया? यह तो पहले कहा कि पहले जैनधर्म सुनने के लिये भी उसे ऐसा भोजन तो नहीं होता, परन्तु ऐसे व्रतधारी को तो त्यागपूर्वक उसे भाव नहीं होता, उसे प्रत्याख्यान होता है। समझ में आया? देखो!

व्रतधारी जीवों को मधु, मदिरा,.. तब कोई कहे व्रतधारी की (बात है), पहले की कहाँ बात है? पहले की आ गयी। पहले कही ७४ में। **जीवों को मधु, मदिरा, मक्खन..** नीचे है। **मक्खन के लिये अभक्ष्यपना इस प्रकार कहा है कि मक्खन को दही में से निकालने के बाद अन्तर्मुहूर्त्त में ही तपा लेना चाहिए, अन्यथा वह अभक्ष्य हो जावेगा।** मक्खन अन्तर्मुहूर्त में तपाकर गरम कर लेना चाहिए। दो घण्टे, तीन घण्टे (हो), वहाँ जीव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहते। फिर उसका घी भी अभक्ष्य होता है। आहा..हा..! दो घड़ी, चार घड़ी मक्खन रहे तो त्रस हो जाते हैं। उसका घी हो, उसमें माँस आता है। समझ में आया? यहाँ तो कितने ही चौबीस-चौबीस घण्टे तक मक्खन रखते हैं। अरे! आठ, आठ दिन, थोड़ा-थोड़ा मक्खन हुआ हो आधा सेर, पौन सेर, आधा सेर, पौन सेर, आठ दिन मक्खन इकट्ठा करके फिर घी करते हैं। अकेला त्रस और फिर कुछ सस्ता मिले और ले आवे। यहाँ चार आना कम में देते हैं, कहते हैं। यहाँ पाँच रुपये सेर होता है, वहाँ साढ़े चार (में) देते हैं।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो डिब्बा। यह तो घी। मक्खन लम्बे काल रखकर उसमें से घी बना हो, वह भी अभक्ष्य है। मक्खन स्वयं अभक्ष्य है, उसमें से बना हुआ बहुत समय बाद का बना हुआ घी, वह भी अभक्ष्य में जाता है। समझ में आया? यहाँ तो डॉक्टर का

पढ़ने जाये तो उस मेंढ़क को बराबर ठीक से जड़कर फिर उसके वे अवयव ठीक से बतावे। कला, कला मेंढ़क की। चार पैर, ढ़ेढका समझते हो? (मेंढ़क)। कील मारकर फिर ऐसे चीरकर (दिखाते हैं)। देखो! इसके साथ यह होता है। यह डॉक्टरपना सीखे। नरक में जाने के लक्षण हैं सब। डॉक्टर कहलाये बड़े होशियार। वह कहे भाईसाहब! ऐसा पाप हमें करना नहीं।

पहले तो ऐसा चलता था। पैसेवाले को एक व्यक्ति ने पूछा कि तुम जिनमिल क्यों नहीं करते? पैसेवाले को (पूछा)। भाई! हमारा इतना पुण्य नहीं की मशीन में पीलाये और पुण्य रहे। भाई ने ऐसा जवाब दिया था। तुम मशीन और मिल क्यों नहीं कराते? पैसेवाले व्यक्ति हो न, तुम व्यापार करते हो, बड़ी-बड़ी दुकान है। भाई! हमारा पुण्य इतना नहीं कि मशीन में पिलाये और वापस पुण्य बाकी रहे। मशीन में पुण्य पिलता है। महापाप, महापाप। मिल में गरम पानी में मेंढ़क मरे, कबूतर मरे। किसे पैसा मिले उसमें.. और फिर थोड़ा पैसा दान में खर्च करे। पाँच, दस लाख, बीस लाख, पचास लाख, उसमें दो लाख खर्च करे, वहाँ धर्म (हो गया माने)। आहा..हा..! क्या उदार व्यक्ति! धर्मी का (खिताब) दे.. क्या कहलाता है। तस्ती। अमुक भाई ने यह बनाया, अमुक भाई ने बनाया। ऐ न्यालचन्दभाई! यह ऐसा कहते हैं। पहले महापाप में से पैदा किया हो महापाप और फिर दूसरे को थोड़ा दान करे वहाँ हो गया.. लो! सुई का दान और ऐरन की चोरी। यह तो जिसे इस संसार में से निकलना है, परिभ्रमण के दुःख से छूटना है, उसे तो दर्शनपूर्वक ऐसे पाप के परिणाम नहीं होते। अरे! कहाँ जाना है? और कहाँ से आया है? समझ में आया? चौरासी के अवतार में कहाँ और कहाँ..

कहते हैं **मक्खन को अन्तर्मुहूर्त्त में ही तपा लेना चाहिए,..** मक्खन तो ऐसा कहे, लो! गर्म करना, और यह करना, ऐसा ही कहे न? परन्तु भाषा क्या हो? इस मक्खन के जल्दी गर्म किये बिना देरी से खाये, देरी से अर्थात् बहुत समय बाद माँस का घी हो तो वह माँस में जाता है। समझ में आया?

मक्खन और मांस जो बहुत विकार को धारण करनेवाले हैं, तथा इन्हीं के समान अन्य विकारयुक्त पदार्थों का भक्षण नहीं करना चाहिए। ऐसी चीज़ हो और

ऐसी कठोर खाने में। **मधु की एक बूँद भी मक्खी की हिंसा से मिलती है।** मधु की एक बूँद (उसमें) महाहिंसा मक्खी की होती है। उस मधु की औषधि भी नहीं लेना चाहिए, मधु को औषध में नहीं लेना चाहिए। मधु के साथ जरा लेना, क्या कहलाता है? अनुपात। नहीं होता, महाहिंसा है। समझ में आया? सेठ हो बड़ा और उसे यह तो कहे उसके साथ औषध में थोड़ा लेने में बाधा नहीं है, जाओ। यहाँ तो कहते हैं एक मधु की इतनी बूँद ले तो बड़ा पाप है।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह दे पहले कितने ही। छूट तो कहाँ से देता था इसे। मक्खन लगाना हो न इसे! सेठ प्रसन्न हो। औषधि तो प्रतिदिन लेता है, थोड़ा मधु लेता है, इसे बाधा नहीं। थोड़ा अतिचार लगेगा। परन्तु मधु की एक बूँद में महापाप है। अकेला माँस रस ही है। मधु के, मक्खी के लार की अकेली रस की उत्पत्ति में अत्यन्त सूक्ष्म जीवात उत्पन्न होती है। वह खुराक नहीं होता। समझ में आया? डॉक्टर कहे कि इसमें दवा में हमेशा एक-एक रुपया भर तुम्हें मधु खाना पड़ेगा तो हड्डियों में कुछ तेजी आयेगी, नहीं तो नहीं आयेगी। मर जाये तो भले मर जाये परन्तु मधु नहीं – ऐसा चाहिए इसे। देह की स्थिति पूरी होनी है वह तो होनी ही है। समझ में आया? यह मधु खाने का भाव धर्मी को नहीं होता।

जो मन्दबुद्धि शहद खाते हैं, वे अत्यन्त हिंसक हैं। जो स्वयमेव टपका हुआ अथवा कपट करके मधुछत्तों में से मधु लेते हैं,.. कपट करके (अर्थात्) ऐसे जलाकर, दूर से लकड़ी सुलगाकर अड़ाकर ऐसा करते हैं। **वह भी हिंसक हैं। कारण कि मधु के आश्रय रहनेवाले जीवों की हिंसा तो उस समय भी होती है।** मधु में अकेला महारस। **व्रती पुरुष इन वस्तुओं का भक्षण नहीं करता। किसलिये? 'तत्र तद्वर्णाः जन्तवः' – उस वस्तु में उसी रंगवाले बहुत जीव होते हैं।** मधु में उस वर्ण के वे बहुत जीव होते हैं। वे वस्तुएँ इसे त्याग में, राग की इतनी तो तीव्रता इसे होती ही नहीं ऐसा कहते हैं। पहले से इतनी तीव्रता नहीं होती, ऐसा कहते हैं। बाद में तो इसे त्यागपूर्वक, प्रत्याख्यानपूर्वक, आंशिक निवृत्तिपूर्वक में उनका त्याग होता है।

उस वस्तु में उसी रंगवाले बहुत जीव होते हैं। जैसे वह वस्तु है वैसे ही

उसमें जीव होते हैं। लो! जैसी वह वस्तु, वैसे ही मधु में जीव होते हैं। **अन्य वस्तुओं के कहने से चमड़े से स्पर्शित घी,..** लो! चमड़ा होता है न? चमड़ा। ताजा या सूखा, उससे स्पर्शित घी में भी त्रस बहुत होते हैं, वह भी नहीं खाता। कुडला, चमड़े का कुडला आता है न? कुडला समझते हो न? अब नहीं आता। पहले बहुत कुडला आते थे। चमड़े का बर्तन, उसमें घी भरते हैं। बहुत बड़े-बड़े चमड़े के बर्तन। परदेश में से ऐसा ही आता था। वह नहीं खाया जाता। वह त्रस की उत्पत्ति है। समझ में आया? **स्पर्शित तेल,..** इस चमड़े के उन कुण्डला में तेल आता है, वह नहीं लिया जाता। उस चमड़े का **जल..** यह कोल्हू का पानी।

मुमुक्षु : बैल पर लावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : बैल पर डालकर लावे, वह बैल तो छूये नहीं भले उसे परन्तु वह चमड़े का होता है न? पानी निकालने का चरस अथवा चमड़े का पानी होता है न वह पानी? मशक। चमड़े की मशक के अन्दर भरकर लावे, चमड़े में पानी भरकर लावे।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ रखे, रखे। बकरे की रखे, उसमें डाले पानी, वह पानी पिया नहीं जाता, छुआ नहीं जाता।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, समझ में आया? चरस का पानी कहा न? वह कहा था। चमड़े का चरस होता है, उसका पानी। अब लोहे का होता है, तथापि लोहे में भी अमुक तो चमड़ा होता है न? सब कहीं, (लोहा) नहीं होता। नीचे पानी निकालने का होता है। वह पानी, वह पानी निकला हो न उस क्यारी में? क्या कहलाता है? वह पीने जाये, पानी की प्यास लगी होती है न? उसमें से पानी पीवे। वह नहीं पिया जाता, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? धोरिया का पानी। रास्ते में। समझे न? दस-बारह बाहर गाँव जाना हो, दस बजे रास्ते में रोटी खाना हो, फिर एक कुँआ हो, वहाँ खाने बैठे, फिर पानी का वह निकला हो, उसमें से ले पानी। समझ में आया? नहीं लिया जाता, ऐसा कहते हैं। उसमें त्रस की उत्पत्ति है। पहले तो ऐसा था न? बाहर-बाहर गाँव जाना हो तो एक में जाये तो फिर सबेरे चले

और शाम को पहुँचे। रेल कब थी ? पहले बहुत नहीं थी। दस-साढ़े दस हो, वहाँ रोटी खाना, एक ओर... जहाँ पानी का कुँआ हो, वहाँ छोड़े। घण्टे, दो घण्टे। यह चरस अकेला चमड़े का होता है। वह पानी निकलता हो उसमें, वह पानी नहीं लिया जाता।

अथवा अचार,.. लो! आया अब। अब आया। अचार, अचार, सड़ा हुआ अचार। वह अचार जिसमें नमक में गलाकर रखे। मरी-मरी तीखा, तीखा समझते हो न ? मिर्ची को क्या कहते हैं ? गोल मिर्ची, गोल मिर्ची काली। उसे पानी में डालकर... मलवार से पूरा डिब्बा आता है। अकेला जीवात.. जीवात.. जीवात..

हम एक बार वहाँ गये थे। भाई के वहाँ। बल्लभ सेठ का छोटा भाई। जामनगर। अब वह तो गृहस्थ व्यक्ति, उसने बड़ा डिब्बा निकाला। क्या है ? कहा मिर्ची का अचार है। अरे! यह हो ? यह तो अकेला खार और नमक और उसमें पानी, उसमें त्रस होते हैं। उसमें तो गन्ध भी मारे, हों! और त्रस की उत्पत्ति। पता नहीं होता त्रस। ऐसे त्रस का आहार आर्य मनुष्य को नहीं होता। आर्य मनुष्य को नहीं होता। व्रती को तो होता ही नहीं। समझ में आया ?

विष,.. जहर, जहर। लो! चमड़े में अचार हो न, जहर उसका होता है न, वह नहीं खाया जाता। **मिट्टी..** लो! **इत्यादि अभक्ष्य वस्तुओं का त्याग करना..** विष और मिट्टी, वह तो अभक्ष्य है। मिट्टी खाते हैं न ? यह भूतड़ा खाये और अमुक खाये और सब..

मुख्यरूप से मद्य, मांस, मधु का त्याग करवाया, तत्पश्चात् अन्य अभक्ष्य वस्तुओं को छोड़ने का उपदेश किया। देखो! **'मधु मद्यं नवनीतं पिशितं'** डाला न सब ? वे तीन तो पहले डाले थे। शराब, माँस, मधु, यह नवनीत अधिक डाला। **'पिशितं'** माँस आया, मक्खन डाला। समझ में आया ? ऐसे जिसमें त्रस जीव हों, उन्हें खाये नहीं।

अब **आगे पाँच उदुम्बर फल के दोष बताते हैं-** यह तो मधु, शराब और माँस के दोष बतलाये। इनके साथ दूसरे भी त्रस हों, वे भी नहीं खाये जाते। अब पाँच उदुम्बर फल की बात करेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है। हिंसा के त्याग की व्याख्या है। जिसमें तीव्र हिंसा हो, त्रस जीव मरें, ऐसा आहार आत्मार्थी को नहीं लेना चाहिए, उसे छोड़ना चाहिए। पहली बात साधारण कही। मधु, माँस और मक्खन। मधु, माँस और मक्खन, यह नहीं खाना चाहिए। मक्खन अन्तर्मुहूर्त के बाद गर्म किया हुआ घी आदि हो तो वह बात अलग, परन्तु अन्तर्मुहूर्त पहले देखकर भी, अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् अभक्ष्य गिनने में आता है। उसमें त्रस की उत्पत्ति होती है अथवा उस प्रकार के जीव (होते हैं)। चमड़े के स्पर्शवाला घी, तेल, जल को भी त्रस की उत्पत्ति गिनकर उसमें माँस का दोष लगता है; इसलिए वह भी छोड़ना और अचार, जहर, और मिट्टी, वह भी अभक्ष्य है, उसे भी नहीं खाना चाहिए।

गाथा - ७२

आगे पाँच उदुम्बर फल के दोष बताते हैं-

योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा।।७२।।

अंजीर ऊमर कठूमर बड़, पीपलीफल त्रसों की।
योनि सदा ही अत: सेवन, से सदा हिंसा कही।।७२।।

अन्वयार्थ : (उदुम्बरयुग्मं) ऊमर, कठूमर (प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि) पाकर (अंजीर), बड़ के फल और पीपल वृक्ष के फल (त्रसजीवानां) त्रस जीवों की (योनि:) खान हैं, (तस्मात्) इसलिए (तद्भक्षणे) उनके भक्षण में (तेषां) उन त्रस जीवों की (हिंसा) हिंसा होती है।

टीका : 'उदुम्बरयुग्मं प्लक्ष न्यग्रोध पिप्पलफलानि त्रसजीवानां योनि:'-उदुम्बर

और कठूमर यह दो तथा पाकर (अंजीर), बड़ और पीपल के फल यह तीन-यह सभी त्रस जीवों की योनि हैं। इनमें उड़ते हुए जीव दिखाई पड़ते हैं। 'तस्मात् तद्भक्षणे तेषां हिंसा भवति'-अत: इन पाँच वस्तुओं के भक्षण में उन त्रस जीवों की हिंसा होती है।।७२।।

गाथा ७२ पर प्रवचन

अब, पाँच उदुम्बर फल। वे हैं तो पाँच प्रकार के फल, परन्तु उनका नाम पाँच उदुम्बर फल, ऐसा करके शब्द पहले के नाम से पाँच इन्होंने प्रयोग किया है। **आगे पाँच उदुम्बर फल के दोष बताते हैं-**

योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा।।७२।।

ऊमर,.. ऊमर का फल होता है। अकेले त्रसजीव होते हैं, त्रस। ऊमरो। त्रस ऐसे कहे थे न, कल? राजकोट में हैं, यहाँ है। उसमें त्रस की उत्पत्ति होती है। उड़ते जीव होते हैं, बारीक जीव होते हैं। ऐसा खुराक आत्मार्थी को नहीं लेना चाहिए। जैनधर्म के सुनने के पात्र के जीव को नहीं लेना चाहिए - ऐसा कहते हैं। जिसमें त्रस जीव है, उसका आहार खाने से मलिन बुद्धि होती है, ऐसे (जीव) वीतराग का मार्ग सुनने के पात्र भी नहीं हो सकते।

अंजीर.. अंजीर, अंजीर होती है न यह? उसमें बहुत जीवात होती है। उसमें त्रस (होते हैं)। अंजीर का हारणा नहीं होता? इतना-इतना गोल। बहुत त्रस होते हैं, त्रस जीव बारीक। **'युग्मं'** अर्थात् ऊमर और अंजीर ये दो होकर गिना। **बड़ के फल और पीपल वृक्ष के फल..** पीपल का टेटा, बड़ का टेटा, पीपल का फल पेपड़ी, पेपड़ी में बहुत त्रस जीव होते हैं। वह खुराक नहीं खाना चाहिए। जैन में जन्मे हुए को उसे नहीं खाना चाहिए। **त्रस जीवों की खान हैं..** यह सब त्रस की उत्पत्ति की खान है। त्रस जीव दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय आदि उत्पन्न होते हैं। **इसलिए उनके भक्षण में उन त्रस जीवों की हिंसा होती है।** इसलिए ऐसे खाना नहीं।

टीका : उदुम्बर और कठूमर.. कठूबर अर्थात् अंजीर। **यह दो.. 'युग्मं'** है न? **'युग्मं'** शब्द था सही न? **तथा बड़ और पीपल के फल..** यह भी नहीं खाना। **पाकर..** वहाँ लिया वापस **पाकर=अंजीर यह तीन – यह सभी त्रस जीवों की योनि हैं।** त्रस जीव बहुत सूक्ष्म उत्पन्न होते हैं। **इनमें उड़ते हुए जीव दिखाई पड़ते हैं।** अंजीर में, बड़ के टेटा में, पीपल की पीपड़ी में उदुम्बर फल में सूक्ष्म उड़ते हुए जीव होते हैं। **अतः इन पाँच वस्तुओं के भक्षण में उन त्रस जीवों की हिंसा होती है।** इसलिए उन्हें छोड़ देना चाहिए। कोई कहे कि उदुम्बर आदि फल में त्रस नहीं हों तो भक्षण करना न? सूखे, सूखे। यह फल सूख जाये तो उसमें त्रस नहीं होते तो खाना या नहीं? ऐसा किसी का प्रश्न है। कहते हैं, नहीं। वे नहीं खाना। उसमें मरे हुए त्रस जीव आदि पड़े होते हैं।

मुमुक्षु : यह ... सूखाई करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सूखाई नहीं करे.. कहते हैं। यह आयेगा इसमें। तीव्र गृद्धि हो तो सूखा कर खाता है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : दिगम्बर में भी होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : करते हैं न, सब करते हैं। तुम्हारे यहाँ करते हैं। हो ऐसा रहेगा न? वह कोई बदलता होगा? सूखाई करे तो उसमें जाये और हरी खावे, उसे सूखावे। वह पाँच सेर खाये और यह अध मण सूखावे। ऐ.. न्यालभाई! वहाँ वह पाँच सेर खावे और यह तो अधिक सूखावे तो कम हो जाये न? यहाँ तो त्रस जीव जिसमें हों, उसकी विशेष बात है अभी। सूखाई की बात लेंगे।

गाथा - ७३

यदि कोई कहे कि इन पाँच उदुम्बरादि फलों में त्रस जीव न हों, तब तो भक्षण कर लें? उसके लिए आगे कहते हैं:-

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्ट रागादिरूपा स्यात्।।७३।।

जब काल पा हो शुष्क यद्यपि, त्रस रहित हो गए वे।
पर तीव्र रागादिमयी हिंसा सदा उन ग्रहण से।।७३।।

अन्वयार्थ : (तु पुनः) और फिर (यानि) यह पाँच उदुम्बर (शुष्कानि) सूखे हुए (कालोच्छिन्नत्रसाणि) समय बीतने पर त्रसरहित (भवेयुः) हो गए हों (तान्यपि) उनके भी (भजतः) भक्षण करनेवाले को (विशिष्टरागादिरूपा) विशेष रागादिरूप (हिंसा) हिंसा (स्यात्) होती है।

टीका : 'तु पुनः यानि शुष्काणि कालोच्छिन्नत्रसाणि भवेयुः तान्यपि भजतः हिंसा स्यात्'-फिर जो पाँच उदुम्बरादि फल काल पाकर त्रस जीव रहित शुष्क हो गए हों तो भी उन्हें खानेवाले को हिंसा होती है। कैसी हिंसा होती है? 'विशिष्ट रागादिरूपा'-जिसमें विशेष रागभाव हुआ है, ऐसे स्वरूपवाली। जो अधिक राग न होता तो ऐसी निन्द्य वस्तु किसलिए ग्रहण करता? अतः जहाँ अधिक रागभाव हुआ, वही हिंसा है। जैसे किसी ने हरी वस्तु नहीं खाई परन्तु उस वस्तु में रागभाव के सद्भाव के कारण उसे सुखाकर खाया। जो राग न हो तो किसलिए ऐसा प्रयास करे?

प्रश्न : यदि सूखी हुई वस्तु में दोष है तो अन्न क्यों खाते हैं?

उत्तर : अन्न निन्द्य नहीं है तथा वह तो रागभाव के बिना सहज प्रवृत्ति से सूखता है, और उसका भक्षण भी सामान्य पेट भरने के निमित्त किया जाता है; अतः कुछ विशेष राग होने का कारण नहीं है। यहाँ तो विशेषरूप से रागभाव का होना ही हिंसा है-ऐसा बताया गया है।।७३।।

गाथा ७३ पर प्रवचन

और फिर यह पाँच उदुम्बर सूखे हुए समय बीतने पर.. है न?

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्ट रागादिरूपा स्यात्।।७३।।

यह बात है, मूल तो तीव्र राग है। पाँच उदुम्बर सूखे हुए समय बीतने पर त्रसरहित हो गए हों, उनके भी भक्षण करनेवाले को विशेष रागादिरूप हिंसा होती

है। राग की तीव्रता है। उसमें तीव्र राग में हो, भले बाहर त्रस चले गये हों, परन्तु अन्दर थोड़े से हों, मर गये आदि पड़े हों। वह खाने की गृद्धि है। यह भाव उसे नहीं होता।

टीका : फिर जो पाँच उदुम्बरादि फल काल पाकर त्रस जीव रहित शुष्क हो गए हों तो भी उन्हें खानेवाले को हिंसा होती है। कैसी हिंसा होती है? जिसमें विशेष रागभाव हुआ है.. तीव्र राग है न? **ऐसे स्वरूपवाली।** राग, तीव्र राग के स्वरूपवाली हिंसा है, ऐसा कहते हैं। **जो अधिक राग न होता तो ऐसी निन्द्य वस्तु किसलिए ग्रहण करता?** जिसमें त्रस जीव की उत्पत्ति है अथवा दया हो परन्तु ऐसे तीव्र राग बिना वह खाने का भाव कैसे करे, इसलिए जहाँ अधिक रागभाव हुआ, वह हिंसा। अन्दर में राग तीव्र हुआ, वही हिंसा है। **जैसे किसी ने हरी वस्तु नहीं खाई..** आया, ऐई! **परन्तु उस वस्तु में रागभाव के सद्भाव के कारण उसे सुखाकर खाया।** खाने का तो वह रह गया।

मुमुक्षु : हरित काय का प्रत्याख्यान।

पूज्य गुरुदेवश्री : हरित काय का प्रत्याख्यान। यहाँ तो तीव्र राग नहीं करना, इस अपेक्षा से बात है। रागभाव से उसे सूखाकर खायी है। तीव्र राग। **जो राग न हो तो किसलिए ऐसा प्रयास करे?**

प्रश्न : यदि सूखी हुई वस्तु में दोष है तो अन्न क्यों खाते हैं? शिष्य का प्रश्न है कि यह बाजरा, ज्वार, गेहूँ, ये सब दाने सूख गये हैं। यदि सूखी वस्तु नहीं खायी जाती तो ये भी क्यों खायें। ऐसा प्रश्न है उसका। तुमने सूखी का इनकार किया तो यह बाजरा, गेहूँ, ज्वार ये भी सूखे हैं।

उत्तर : अन्न निन्द्य नहीं है.. भाई! अनाज है, वह निन्दनीय नहीं है। वह तो साधारण खुराक है। **तथा वह तो रागभाव के बिना सहज प्रवृत्ति से सूखता है,..** वह सहज सूख जाता है। गेहूँ, बाजरा अपने आप सूख जाता है। उसमें कोई राग हो और स्वयं सूखता है, ऐसा कुछ है नहीं। सूख जाता है, सहज सूख जाता है। **और उसका भक्षण भी सामान्य पेट भरने के निमित्त किया जाता है..** गेहूँ, बाजरे का आहार लेते हैं, वह पेट भरने के लिए है, उसे कहीं विशेष गृद्धि नहीं है। कोई विशेष राग होने का कारण नहीं है। विशेष राग, हों! अमुक प्रकार का राग है, वह तो अलग बात है।

यहाँ तो विशेषरूप से रागभाव का होना ही हिंसा है–ऐसा बताया गया है। विशेष रागभाव का होना, वही हिंसा है। भगवान आत्मा स्वभावस्वरूप आनन्द की अहिंसा दशा उत्पन्न होना; उसमें से जितना राग हो, उतनी हिंसा है – ऐसा कहते हैं यहाँ तो। अहो, शुद्ध चैतन्यस्वभाव, अनाकुल आनन्द प्रभु के अवलम्बन में जो कुछ निर्मल, अरागी, वीतरागीदशा हो, उसे ही यहाँ तो भगवान अहिंसा कहने में आता है, अहिंसा कहते हैं। वह अहिंसा धर्म है। समझ में आया? उसमें राग की जितनी वृत्ति हो, वह तो कहते हैं खाने में तीव्र राग है, जिसमें त्रस होते हैं। **यहाँ तो विशेषरूप से रागभाव का होना ही हिंसा है–ऐसा बताया गया है।**

गाथा - ७४

आगे इस कथन का संकोच करते हैं:–

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः।।७४।।

अनिष्ट दुस्तर घोर पाप, मयी ये आठों छोड़कर।
हो शुद्धधी जिनधर्म के, उपदेश का है पात्र तब।।७४।।

अन्वयार्थ : (अनिष्टदुस्तरदुरितायतनानि) दुःखदायक दुस्तर और पाप के स्थान (अमूनि) ऐसे (अष्टौ) आठ पदार्थों का (परिवर्ज्य) परित्याग करके (शुद्धधियः) निर्मल बुद्धिवाले पुरुष (जिनधर्मदर्शनायाः) जैनधर्म के उपदेश के (पात्राणि) पात्र (भवन्ति) होते हैं।

टीका : 'अनिष्टदुस्तरदुरितआयतनानि अमूनि अष्टौ परिवर्ज्य शुद्धधियः जिनधर्मदेशनायाः पात्राणि भवन्ति'–महादुःखदायक और सुगमता से जिनका पार न पाया जा सके ऐसे, महापाप के स्थानरूप इन आठ वस्तुओं के खाने से महापाप उत्पन्न होता है; अतः इन्हें सर्वथा छोड़कर, निर्मल बुद्धिवाला होता हुआ, जैनधर्म के उपदेश का पात्र होता है। प्रथम इनका त्याग कराया जाय, तत्पश्चात् ही कोई अन्य उपदेश दिया

जाय। जैसे जड़ के बिना वृक्ष नहीं होता, वैसे ही इनका त्याग किए बिना श्रावक नहीं होता। इसी कारण इनका नाम मूलगुण है।।७४।।

गाथा ७४ पर प्रवचन

आगे इस कथन का संकोच करते हैं:- अब देखो!

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधिय:।।७४।।

यह आदि आठ बोल कहे, जहर, अचार आदि बहुत जिसमें त्रस मरते हैं, ऐसे जीव अथवा माँस, मधु, और शराब तथा पंच उदुम्बर फल, जिसमें त्रस की उत्पत्ति (विशेष है) वह **दु:खदायक दुस्तर और पाप के स्थान ऐसे 'अमूनि' आठ पदार्थों का परित्याग करके..** ऐसे आठ बोल तो इस छोड़ देना चाहिए। **निर्मल बुद्धिवाले पुरुष जैनधर्म के उपदेश के पात्र होते हैं।** वीतराग का मार्ग रागरहित है, उसमें तीव्र राग की गृद्धि के जो ऐसे आहार हैं, उनका त्याग न हो तो कहते हैं कि रागरहित वीतराग का मार्ग सुनने को भी योग्य नहीं है। कहो, समझ में आया?

वीतरागमार्ग तो अत्यन्त राग से भिन्न है। राग रहित मार्ग, जिसमें स्नेह, प्रेम, प्रीति का अंश नहीं, ऐसा आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप की अहिंसा अरागी पर्याय धर्म, ऐसा वीतराग का मार्ग, तीव्र रागी, ऐसे त्रस के भोगी, वह सुनने को पात्र नहीं हैं। वे उसे सुन नहीं सकते। समझेंगे नहीं, समझेंगे नहीं। ऐसे तीव्र गृद्धि मलिन है, उनकी बुद्धि तीव्र मलिन है। समझ में आया? **'जिनधर्मदेशनाया: पात्राणि'** तब तो धर्म की देशना सुनने को पात्र होता है।

टीका : महादु:खदायक और सुगमता से जिनका पार न पाया जा सके, ऐसे (-महाहिंसा की तरफ) महापाप के स्थानरूप इन आठ वस्तुएँ हैं। मधु। इस औषध में मधु लेना यह बड़ा पाप है। मधु, मधु महापाप। उसके खानेवाले की बुद्धि मैली होती है। समझ में आया?

मुमुक्षु : शौक से न खाता हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : शौक से खाता नहीं परन्तु मारता है न ? शौक नहीं, वह क्या है यह ? मधु की एक बूँद में सात गाँव मारे उतना पाप है। अकेले त्रस का रस है। उसकी एक बूँद भी औषध में ले तो वह महापाप है। औषध के लिये भी इस मधु की चासनी करते हैं न कितने ही ? मधु की चासनी करे, कोई शक्कर की करे, कोई मधु की करे। फिर उसमें कितनी ही चीज़ डाले, वह महापाप है। उसमें बहुत त्रस होते हैं। उसकी बुद्धि माँस की बुद्धि होती है। ऐसे जीव वीतरागमार्ग अत्यन्त हिंसारहित-रागरहित (है), ऐसे को सुनने के पात्र नहीं हैं। वह उसे नहीं सुन सकता। यह क्या कहते हैं ? यह क्या कहते हैं ? समझ में आया ?

महापाप के स्थानरूप इन आठ वस्तुओं के खाने से महापाप उत्पन्न होता है। अतः इन्हें सर्वथा छोड़कर,.. सर्वथा इन मधु, माँस, दो घड़ी के बाद का मक्खन और पंच ऊदम्बर फल। पीपल के फल खाते हैं न ? कितने ही पीपल के नीचे बैठे हों न तो वह पीपरी गिरी हो तो खाते हैं। ऐसा करते हैं। बड़ के नीचे, पीपल, महात्रस जीव का माँस उसमें होता है। उसे खानेवाले की बुद्धि बिगड़ गयी होती है। समझ में आया ? पेपड़ी.. पेपड़ी। लो न, एक जगह बनिया पेपड़ी की सब्जी बनावे, लो ! सब्जी किसकी है ? कहे, पेपपड़ी की। अर र.. ! ये क्या है तुम्हारे ? स्थानकवासी जैन। खबर नहीं होती। बाहर से ऐसा करे कि यह एकेन्द्रिय, एकेन्द्रिय। परन्तु यह त्रस जीव मरते हैं, उसमें महा माँस जैसा भोजन, वह हो नहीं सकता। वापस उसकी सब्जी (बनाते हैं)। एक पेपड़ी खाये तो अकेले त्रस का पाप है। उसकी सब्जी और निवृत्त पीपल के नीचे बैठा हो, वहाँ सारी हरी और सूखी पड़ी हो। छूने से त्रस मर जाते हैं, इतने उसमें जीव होते हैं। उसके बदले खाये, वह महापापी, दुःखदायक, दुस्तर है। उस पाप से निकलना अज्ञानी को दुस्तर है। वह इसे छोड़ देना चाहिए।

निर्मल बुद्धिवाला होता हुआ, जैनधर्म के उपदेश का पात्र होता है। देखो ! ऐसा त्रस जिसमें हो, समझे न ? उसे छोड़ना चाहिए। **प्रथम इनका त्याग कराया जाय, तत्पश्चात् ही कोई अन्य उपदेश दिया जाय...** और कोई उपदेश दे। **जैसे जड़ के बिना वृक्ष नहीं होता..** इन्हें आठ को मूलगुण कहते हैं न ? मूल अर्थात् बाहर लौकिक

का, व्यवहार से मूल। निश्चय मूल दूसरा। **जैसे जड़ के बिना वृक्ष नहीं होता, वैसे ही इनका त्याग किए बिना श्रावक... धर्मी नहीं होता।** कहो समझ में आया? **इसी कारण इनका नाम मूलगुण है।** आठ मूल-मधु, माँस, मक्खन और पाँच प्रकार के फल। ये मूलगुण कहलाते हैं। मूल अर्थात्? तीव्र पाप का त्याग। ये मूल कोई वे मूलगुण नहीं।

गाथा - ७५

आगे इन हिंसादिक के त्याग करने का विधान कहते है:-

कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा।
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा।।७५।।

नित मान्य है उत्सर्ग त्याग, सदा वचन मन काय कृत।
कारित अनुमत भेद नौ से, त्याग अपवादी विविध।।७५।।

अन्वयार्थ : (औत्सर्गिकी निवृत्ति:) उत्सर्गरूप निवृत्ति अर्थात् सामान्य त्याग (कृतकारितअनुमननै:) कृत, कारित और अनुमोदनारूप (वाक्कायनोभि:) मन, वचन और काय से (नवधा) नव प्रकार से (इष्यते) माना गया है (तु) और (एषा) यह (अपवादिकी) अपवादरूप निवृत्ति (विचित्ररूपा) अनेकरूप है।

टीका : 'औत्सर्गिकी निवृत्ति: कृतकारितानुमोदनै: वाक्कायमनोभि: नवधा इष्यते'-यह उत्सर्गरूप त्याग कृत, कारित, अनुमोदन सहित मन, वचन, काय के भेद से नौ प्रकार का कहा गया है, 'तु अपवादिकी एषा विचित्ररूपा'-और अपवादरूप त्याग अनेक प्रकार है।

भावार्थ : हिंसादि का त्याग दो प्रकार का है। एक उत्सर्ग त्याग और दूसरा अपवाद त्याग। उत्सर्ग अर्थात् सामान्य। सामान्यरूप से सर्वथा प्रकार त्याग करने को उत्सर्ग त्याग कहते हैं। उसके नौ भेद हैं। मन से स्वयं करने का चिन्तवन न करे, दूसरे के द्वारा करवाने का चिन्तवन न करे, और किसी ने किया हो, उसे भला न जाने। वचन से स्वयं करने के लिए न कहे, अन्य को करवाने के लिए उपदेश न दे, किसी ने किया हो, उसे भला न कहे। काय से स्वयं न करे, अन्य को हाथ इत्यादि से प्रेरित करके न

करावे, किसी ने किया हो, उसकी हस्तादिक से प्रशंसा न करे। यह नव भेद कहे। तथा अपवाद त्याग अनेक प्रकार का है। यह नव भंग बताये, उनमें से कितने ही भंगों से अमुक प्रकार त्याग करे, अमुक प्रकार न करे, अथवा थोड़ा या बहुत त्याग करे, इस रीत से मुझे यह कार्य करना, इस रीति से नहीं करना, इस भाँति अपवाद त्याग भिन्न–भिन्न प्रकार का है। अत: शक्य हो, उस रीति से त्याग करना।।७५।।

गाथा ७५ पर प्रवचन

आगे इन हिंसादिक के त्याग करने का विधान कहते है:– कोई सामान्यरूप से सर्वथा त्याग करे तो, कोई विशेषरूप से, कोई अमुक कोटि से त्याग आदि करे, उसके प्रकार कहते हैं।

कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा।
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा।।७५।।

टीका : यह उत्सर्गरूप त्याग.. उत्सर्ग अर्थात् सर्वथा त्याग। मन, वचन और काया, करना–कराना और अनुमोदन से इन आठ का त्याग करना चाहिए। यह उत्सर्ग त्याग कहा जाता है। **त्याग कृत, कारित, अनुमोदन सहित मन, वचन, काय के भेद से नौ प्रकार का कहा गया है, और अपवादरूप त्याग अनेक प्रकार है।** कोई काया से खाना छोड़े, अमुक प्रकार का त्याग करे। वचन आदि से न हो।

भावार्थ : हिंसादि का त्याग दो प्रकार का है। एक उत्सर्ग त्याग और दूसरा अपवाद त्याग। उत्सर्ग अर्थात् सामान्य। सामान्यरूप से सर्वथा प्रकार त्याग करने को... सर्वथा त्याग। मन, वचन और काया से, करना–कराना और अनुमोदना नहीं। ये आठ प्रकार के जो कहे वे। समझ में आया? सामान्य कहो, सर्वथा कहो, सर्वदेश कहो, सर्वविरति कहो, सर्वथा प्रकार से कहो। उसे **उत्सर्ग त्याग कहते हैं। उसके नौ भेद हैं। मन से स्वयं करने का चिन्तवन न करे,..** कहो, त्रस जीव। मधु, मक्खन और माँस। आठ–आठ दिन का मक्खन रखकर घी बनावे और वह घी फिर बनिये ले आवे। कुछ

सस्ता मिलता हो, चार आना या आठ आना (सस्ता मिलता हो)। गाँव में जाये, आठ-आठ दिन का हो, हों! आठ-आठ दिन का। कहते हैं कि महापाप है। जगुभाई! होता है या नहीं? गाँव में बहुत आठ-आठ दिन का इकट्ठा करते हैं।

मुमुक्षु : अभी तो सब घी ऐसा ही मिलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए तो कहते हैं कि अब वह घी नहीं खाना तब। आठ-आठ दिन के मक्खन घर के इकट्ठे करे और वह महात्रस की उत्पत्ति, अकेला माँस, जीव का खुराक है। उसका घी बनावे। आहा..हा..! चार आने कम दूँगा, यह ताजा माखन नहीं है। यह चार आने के लोभ से.. बहुत महँगा है न? कितना है यह पता नहीं। पाँच रुपये सेर है? कितना है? ऐ..

मुमुक्षु : सात रुपये सेर।

पूज्य गुरुदेवश्री : सात रुपये सेर? गजब! गाँव में से कुछ आधा सड़ा हुआ आठ दिन के मक्खन का घी मिलता हो तो वह ले आवे। बनिये हैं न! व्यापार में लाभ हो - ऐसा करते हैं या नहीं? परन्तु यह महा नुकसान है, कहते हैं। समझ में आया? इसकी अपेक्षा घी न खाये तो क्या दिक्कत है?

मुमुक्षु : ...कम मिले...

पूज्य गुरुदेवश्री : तो नहीं खाना चाहिए। वास्तव में यह बात है। घी के बिना चलता नहीं? घी के बिना चलता होगा या नहीं? ऐई! कहाँ गया? चलता है? केला और श्रीखण्ड के बिना चलता है? केला और श्रीखण्ड के बिना नहीं चलता परन्तु केला, श्रीखण्ड में ऐसे कोई त्रस जीव नहीं हैं। वह गृद्धि सही, वह अलग बात है। परन्तु ऐसी गृद्धि नहीं। अभी तो बहुत.. एक तो ऐसा घी महा खराब कहलाता है। अकेला माँस का रस, गर्म किया हुआ, सात रुपये का सेर दूँगा यह?.. रुपये भार! दो सेर कहा होगा। समझ में आया? क्या कहा? इसमें देखो!

मन से स्वयं करने का चिन्तवन न करे, दूसरे के द्वारा करवाने का चिन्तवन न करे,.. ऐसा त्रस का आहार। **और किसी ने किया हो उसे भला न जाने। वचन से स्वयं करने के लिए न कहे, अन्य को करवाने के लिए उपदेश न दे, किसी ने**

किया हो, उसे भला न कहे। काय से स्वयं न करे, अन्य को हाथ इत्यादि से प्रेरित करके न करावे, किसी ने किया हो, उसकी हस्तादिक से प्रशंसा न करे। यह नव भेद कहे। नौ भेद हैं, उत्सर्ग से तो नौ प्रकार से त्याग होना चाहिए। उत्सर्ग अर्थात् धोख मार्ग से। सामान्यरूप से, सर्वथा त्याग में नौ प्रकार से त्याग होना चाहिए। अन्दर अकेले त्रस जीव हैं। समझ में आया ?

अपवाद त्याग.. होता है थोड़ा सा। अनेक प्रकार का है। यह नव भंग बताये उनमें से कितने ही भंगों से अमुक प्रकार त्याग करे, अमुक प्रकार न करे, अथवा थोड़ा या बहुत त्याग करे, इस रीत से मुझे यह कार्य करना, इस रीति से नहीं करना, इस भाँति अपवाद त्याग भिन्न–भिन्न प्रकार का है। अतः शक्य हो, उस रीति से त्याग करना।

गाथा - ७६

आगे हिंसा के त्याग के दो प्रकार कहते हैं:–

धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोपि ये परित्युक्तम्।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु।।७६।।

इस अहिंसामय धर्म को, सुन भी यदि असमर्थ हैं।
जो घात थावर छोड़ने, त्रस जीव हिंसा छोड़ दें।।७६।।

अन्वयार्थ : (ये) जो जीव (अहिंसारूपं) अहिंसारूप (धर्मं) धर्म को (संशृण्वन्तः अपि) भले प्रकार सुनकर भी (स्थावर हिंसां) स्थावर जीवों की हिंसा (परित्युक्तम्) छोड़ने को (असहाः) असमर्थ हैं, (ते अपि) वे जीव भी (त्रसहिंसां) त्रस जीवों की हिंसा (मुञ्चन्तु) त्याग दें।

टीका : 'ये अहिंसारूपं धर्मं संशृण्वन्तः अपि स्थावरहिंसां परित्यक्तम् असहाः ते अपि त्रसहिंसां मुञ्चन्तु'–जो जीव, अहिंसा ही जिसका स्वरूप है ऐसे, धर्म का श्रवण गुरुमुख से करते हैं परन्तु रागभाव के वश से स्थावर हिंसा छोड़ने को समर्थ नहीं हैं, उन जीवों को भी त्रसहिंसा का त्याग तो करना ही चाहिए।

भावार्थ : हिंसा का त्याग दो प्रकार से है। एक तो सर्वथा त्याग है, वह मुनिधर्म में होता है, उसे अंगीकार करना चाहिए। किन्तु यदि कषायवश सर्वथा त्याग न बन सके तो त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करके श्रावकधर्म को अंगीकार करना चाहिए। यहाँ कोई त्रस जीव का स्वरूप पूछे तो उससे कहते हैं कि संसारी जीव दो प्रकार के हैं। एक स्थावर और एक त्रस। जो एक स्पर्शेन्द्रिय सहित एकेन्द्रिय जीव हैं, वह स्थावर हैं, उनके पाँच भेद हैं। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। जो द्वीन्द्रियादिक जीव हैं, उन्हें त्रस कहते हैं, उनके चार भेद हैं। स्पर्शन और रसना इन्द्रिय सहित लट, कौड़ी, शंख, गिंजाई वगैरह दो इन्द्रिय जीव हैं। स्पर्श, जीभ और नासिका संयुक्त कीड़ी, मकोड़ा, कानखजूरा वगैरह तीन इन्द्रिय जीव हैं। स्पर्श, जीभ,नाक और आँख सहित मक्खी, भौंरा, पतंगा इत्यादि चतुरिन्द्रिय जीव हैं। स्पर्श, जिह्वा, नासिका, नेत्र और कर्ण सहित जीव पंचेन्द्रिय हैं। उनके दो भेद हैं। जिसके मन पाया जाय, उसे सेनी (संज्ञी) और जिसके मन न पाया जाय, उसे असेनी (असंज्ञी) कहते हैं। इनमें संज्ञी पंचेन्द्रिय को छोड़कर शेष सभी तिर्यंचगति के भेद हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय के चार प्रकार हैं। देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यंच। इनमें देव भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी के भेद से चार प्रकार के हैं। मनुष्य आर्य और म्लेच्छ के भेद से दो प्रकार के हैं। नारकी जीव सात भूमियों की अपेक्षा से सात प्रकार के हैं। तिर्यंचों में मच्छादिक जलचर, वृषभादिक स्थलचर और हंसादिक नभचर – यह तीन प्रकार हैं। त्रस-स्थावर के यह भेद जानकर इनकी रक्षा करना चाहिए।।७६।।

गाथा ७६ पर प्रवचन

आगे हिंसा के त्याग के दो प्रकार कहते हैं:-

धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोपि ये परित्युक्तम्।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु।।७६।।

यह भली प्रकार सुनकर, ऐसा अर्थ किया है। एक जगह जानकर किया है।

टीका : जो जीव, अहिंसा ही जिसका स्वरूप है ऐसे, धर्म का श्रवण गुरुमुख

से करते हैं.. अहिंसा, वह धर्म है अर्थात् आत्मा में पुण्य और पाप का राग उत्पन्न न हो और आत्मा का वीतरागी अहिंसा स्वभाव, स्वरूप शुद्ध चैतन्य के सन्मुख से जो अरागी दशा वीतरागता हो, वह अहिंसा धर्म वीतरागमार्ग में उसे मूल धर्म कहते हैं। आत्मा का घात नहीं करना, ऐसा है मूल। उसमें का आत्मा स्वयं है या नहीं?

शुद्ध चैतन्यस्वभाव के अन्तर में वर्तमान दशा को अन्तर के स्वभावसन्मुख झुकाकर एकाग्र होना, उसमें से जो अरागी, वीतरागी दशा उत्पन्न होती है, वह अहिंसा का, धर्म का, जैनधर्म का मूलस्वरूप है। कहो, समझ में आया? वह वीतराग मार्ग का स्वरूप है। यह अहिंसा, गुरु मुख से श्रवण करके, वापस श्रवण है न? तुझे अपने आप खबर नहीं पड़ेगी। पहले सुनना। पहले उसके भेद और प्रकार सुनना – ऐसा कहते हैं। मक्खनलालजी ने जानकर (ऐसा) अर्थ किया है। **'संशृण्व'** शब्द है न? होता होगा? तब उन्होंने कैसे अर्थ किया? अद्धर से। परन्तु ऐसा होता है? वास्तव में पहले जानना सुनकर चाहिए न? कितने में है यह? ७६, देखो! इसमें ७५ में आया, एक कम हुआ। यहाँ ७१ **'संशृण्वन्तोपि, संशृण्वन्तोपि'** इसका अर्थ किया है। **'संशृण्वन्तोपि'** भले प्रकार से जानता है, तथापि – ऐसा किया है। सुनकर जाना।

अहिंसा का स्वरूप गुरुमुख से बराबर सुनकर। अहिंसा अर्थात् आत्मा में राग की उत्पत्ति नहीं होना और आत्मा में शान्ति–धर्म की उत्पत्ति होना, उसे भगवान अहिंसा धर्म प्ररूपित करते हैं। कहो, समझ में आया? ऐ.. लड़कों! ध्यान रखना, हों! यहाँ खेल करने की अपेक्षा एक घण्टे में क्या है तुम्हारे? वह खेल एक घण्टे छोड़ देना। देखो, लड़के खेल करते हैं। ऐई! लड़कों! वे दरवाजे के पास बैठे हैं और खेल करते हैं। यहाँ खेल करना नहीं होता। यह तो काल बिताना है न। छोटे लड़के हैं तो इनका क्या करना? यहाँ जबरदस्ती बैठाये। यह तो अभी स्थूल बात है, यह तो कुछ न समझ में आये ऐसी नहीं है।

मुमुक्षु : बहुत छोटे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत छोटे हैं। बहुत छोटे हैं। इन बेचारों को कुछ.. परन्तु यह तो बहुत त्रस की बात, कुछ सूक्ष्म बात नहीं है। यह तो समझ में आये ऐसी है, परन्तु ऐसा कि अपने कुछ धर्म होता है अभी? यह तो जबरदस्ती बैठाते हैं तो बैठे। ठीक है।

रागभाव के वश से स्थावर हिंसा छोड़ने को समर्थ नहीं हैं, उन जीवों को भी त्रसहिंसा का त्याग तो करना.. समझ में आया? जिसे तीव्र राग छोड़ना। मन्द राग तो कदाचित् वह स्थावर हिंसा का त्याग न कर सके परन्तु यह तो त्याग इसे करना।

हिंसा का त्याग दो प्रकार से है। एक तो सर्वथा त्याग है, वह मुनिधर्म में होता है, उसे अंगीकार करना चाहिए। उसे मूलरूप से अंगीकार करना, पुरुषार्थ से जागृति लाना। समझ में आया? **किन्तु यदि कषायवश सर्वथा त्याग न बन सके..** कषाय का अंश बाकी है और स्थावर हिंसा का इतना त्याग नहीं कर सके। **तो त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करके श्रावकधर्म को अंगीकार करना चाहिए।** त्रस जीव का तो त्याग करना। सम्यग्दर्शन-ज्ञान के भानपूर्वक की यह बात है। वह मूल बात पड़ी रही और फिर यहाँ डालियाँ-पत्तों को लगा रहे। पहले सम्यग्दर्शन-ज्ञान यह बात की है, उसके बाद इस देशविरति की व्याख्या है। समझ में आया?

मुमुक्षु : पहली व्याख्या तो आगे गयी...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह आगे गयी अर्थात् इसमें क्या काम आवे? हो गया, ऐकड़ा, बगड़ा, तिगड़ा, पहले गया; अब पन्द्रहवाँ, इस चौदह का क्या काम? कुछ नहीं, लो! पन्द्रह, इस चौदह बिना होता होगा पन्द्रह? इसी प्रकार दर्शन, ज्ञानरहित की यह देशविरति होती होगी? आहा..!

यहाँ तो यह बात करते हैं कि यह दर्शनशुद्धि और ज्ञान होने के बाद, उसे तीव्र हिंसा का त्याग, त्रस की हिंसा तो श्रावक को छोड़ना चाहिए। प्रत्याख्यानरूप से। समझे न? ऐसे तो उसे अमुक प्रकार का आहार होता ही नहीं। प्रतिज्ञारूप से उसे करना, ऐसी योग्यता होती है तो। उसकी भूमिका के प्रमाण में पंचम गुणस्थान की व्याख्या है न यह? सम्यग्दर्शन के बाद श्रावक हुआ, स्वरूप की स्थिरता का अंश बढ़ा, तब उसे उस भूमिका में ऐसे भाव का त्याग होता है। ऐसे तीव्र हिंसा के भाव उसे नहीं होते - ऐसा बताते हैं।

यहाँ कोई त्रस जीव का स्वरूप पूछे तो उससे कहते हैं कि संसारी जीव दो प्रकार के हैं। एक स्थावर और एक त्रस। जो एक स्पर्शेन्द्रिय सहित एकेन्द्रिय जीव हैं, वह स्थावर हैं,.. लो! पाँच स्थावर की व्याख्या। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति।

मुमुक्षु : हिले-चले नहीं वह स्थावर।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी यहाँ कहाँ बात है ? त्रस भी मुर्दा पड़ गया हो तो हिलता नहीं। बहुत अन्तिम रोग हो उसका।

स्पर्शेन्द्रिय सहित एकेन्द्रिय जीव हैं, वह स्थावर हैं, उनके पाँच भेद हैं। पृथ्वीकायिक,.. आता है न ? ईरियावही में आता है तुम्हारे। इच्छामी पडिक्कमणां इरिया वहिया आता है न ?

मुमुक्षु : आता तो हो...

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु किसी को कण्ठस्थ किया हो, उसे याद कराते हैं। जगजीवनभाई ! इन जगजीवनभाई को कण्ठस्थ था न ? **पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक।** आता था या नहीं ? यहाँ तो आत्मा को, आत्मद्रव्य को, आत्मजीव को जीव तो अनादि-अनन्त शुद्ध को ज्ञान और भान में लेकर फिर ऐसे जीवों को, उसे नहीं मारने का भाव प्रगट करना, मारने का भाव छोड़ना - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? विशेष स्थिरता आगे बढ़ने के लिये, शुद्धता की वृद्धि के लिये इस प्रकार का राग उसे नहीं होता; इस प्रकार के जीवों की हिंसा नहीं करता - ऐसा कहते हैं।

जो द्वीन्द्रियादिक जीव हैं, उन्हें त्रस कहते हैं,.. दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय **उनके चार भेद हैं। स्पर्शन और रसना इन्द्रिय सहित लट,..** दो इन्द्रिय हैं। लट हो, स्पर्श और रस। अर्थात् जीभ और शरीर। **कौड़ी, शंख, गिंजाई वगैरह दो इन्द्रिय जीव हैं।** उन्हें दो ही इन्द्रियाँ होती हैं। कौड़ी, कौड़ी होती है न ? खेलने की वह कौड़ी होती है न ? उसमें मूल जीव होता है अन्दर। कौड़ी, गिंजाई। गिंजाई होती है न ? यह कुत्ते के कान में, वह सब दो इन्द्रिय हैं। समझ में आया ? शंख, बड़ा शंख होता है न वह ? अन्दर पहले जीव था, फिर सूखकर.. दो इन्द्रिय।

स्पर्श, जीभ और नासिका संयुक्त कीड़ी,.. उसे नासिका सहित तीन इन्द्रिय होती हैं। **मकोड़ा, कानखजूरा वगैरह तीन इन्द्रिय जीव हैं। स्पर्श, जीभ,नाक और आँख सहित मक्खी, भौंरा,..** यह भंवरा, भंवरा चार इन्द्रिय है, उसे कान नहीं होते।

पतंगा इत्यादि चतुरिन्द्रिय जीव हैं। स्पर्श, जिह्वा, नासिका, नेत्र और कर्ण सहित जीव पंचेन्द्रिय हैं। उनके दो भेद हैं। जिसके मन पाया जाय, उसे सेनी (संज्ञी) और जिसके मन न पाया जाय, उसे असेनी (असंज्ञी) कहते हैं। इनमें संज्ञी पंचेन्द्रिय को छोड़कर शेष सभी तिर्यंचगति के भेद हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय के अतिरिक्त सब तिर्यंच गति के भेद हैं। चौइन्द्रिय तक सब तिर्यंच हैं। **संज्ञी पंचेन्द्रिय के चार प्रकार हैं।** मनवाले पंचेन्द्रिय के चार प्रकार हैं। एक **देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यंच।** उनमें देव के चार प्रकार हैं। **इनमें देव भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी के भेद से चार प्रकार के हैं।** उनके चार प्रकार हैं, ये सब त्रस जीव हैं, ऐसा कहते हैं। **मनुष्य आर्य और म्लेच्छ के भेद से दो प्रकार के हैं।** आर्य मनुष्य और म्लेच्छ मनुष्य, म्लेच्छ देश का। **नारकी जीव सात भूमियों की अपेक्षा से सात प्रकार के हैं।** सात नारकी **तिर्यंचों में मच्छादिक जलचर,..** मच्छ, मच्छ बड़ा जलचर **वृषभादिक स्थलचर और हंसादिक नभचर..** लो! जल में चलनेवाले मच्छली इत्यादि पंचेन्द्रिय तिर्यंच। इस स्थल में चलनेवाले बैल, गाय, घोड़ा इत्यादि। हंसादि पक्षी नभचर। जल, पृथ्वी और आकाश तीन में चलनेवाले तीन प्रकार के पंचेन्द्रिय। **त्रस-स्थावर के यह भेद जानकर इनकी रक्षा करना चाहिए।** लो! उन्हें मारना नहीं। भाषा तो ऐसी ही आवे न कि रक्षा करना। रक्षा कर सकता है या नहीं? उन्हें न मारने का भाव, यही उनकी रक्षा (की), ऐसा कहने में आता है। आहा..हा..! चरणानुयोग का कथन ऐसा है जरा।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : सब आये।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह होगा।....

गाथा - ७७

आगे श्रावक को स्थावर हिंसा में भी स्वच्छन्दपने का निषेध करते हैं:–

स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम्।।७७।।

नित योग्य विषयों में प्रवर्तित, गृही को अनिवार्यतम।
अत्यल्प थावर घात बस, हैं शेष हिंसा त्याज्य सब।।७७।।

अन्वयार्थ : (सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्) इन्द्रिय–विषयों को न्यायपूर्वक सेवन करनेवाले (गृहिणाम्) गृहस्थों को (स्तोकैकेन्द्रियघातात्) अल्प एकेन्द्रिय के घात के अतिरिक्त (शेषस्थावरमारणविरमणमपि) बाकी के स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवों के मारने का त्याग भी (करणीयम्) करने योग्य (भवति) है।

टीका : 'सम्पन्नयोग्यविषयाणां गृहिणां स्तोकैकेन्द्रियघातात् शेषस्थावरमारण–विरमण अपि करणीयम् भवति'–न्यायपूर्वक इन्द्रियों के विषयों के सेवन करनेवाले श्रावकों को यत्नवान होने पर भी थोड़ा एकेन्द्रिय का घात होता है, वह तो होवे किन्तु शेष स्थावर जीवों को बिना कारण मारने का त्याग भी उसे करना योग्य है।

भावार्थ : योग्य विषयों के सेवन करते समय सावधानी वर्तते हुए भी स्थावर की हिंसा होती है, वह तो होती ही है परन्तु अन्य स्थावर जीव की हिंसा करने का त्याग तो करना चाहिए।।७७।।

गाथा ७७ पर प्रवचन

आगे श्रावक को स्थावर हिंसा में भी स्वच्छन्दपने का निषेध करते हैं:–लो श्रावक – आत्मदर्शनसहित पंचम गुणस्थानवाला, उसे त्रस की हिंसा का तो त्याग होता है परन्तु स्थावर हिंसा में भी स्वच्छन्दता का निषेध।

स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम्।।७७।।

लो, **'सम्पन्न' इन्द्रिय-विषयों को न्यायपूर्वक सेवन..** ऐसा कहते हैं। **'सम्पन्नयोग्य'** है न? श्रावक को इन्द्रिय के विषयों का न्यायपूर्वक अर्थात् अन्याय आदि, परस्त्री आदि होते नहीं, उसकी योग्यता प्रमाण (हो)। **न्यायपूर्वक इन्द्रियों के विषयों के सेवन करनेवाले श्रावकों को..** न्यायपूर्वक का अर्थ? तीव्र पाप नहीं। उनकी अनीति नहीं। बाकी तो न्यायपूर्वक यह नहीं, अन्यायपूर्वक है। परन्तु उसके योग्य जो न्याय चाहिए, तीव्र अन्याय नहीं, इससे उसे न्यायपूर्वक कहने में आता है, बाकी विषय का सेवन वह न्यायपूर्वक है ही नहीं। निश्चय से तो राग स्वयं न्याय नहीं, वहाँ दूसरा और किसे न्याय कहना? परन्तु पंचम गुणस्थान के योग्य स्वस्त्री आदि का जो विषय, खाना-पीना आदि अमुक हो, उसके **श्रावकों को यत्नवान होने पर भी थोड़ा एकेन्द्रिय का घात होता है वह तो होवे किन्तु शेष स्थावर जीवों को बिना कारण मारने का त्याग भी उसे करना योग्य है।** कहो, समझ में आया? पृथ्वी खोदना, पानी, अग्नि प्रयोग करे, वनस्पति बिना कारण, बिना प्रयोजन के न मारे। दर्शन-ज्ञानपूर्वक राग की तीव्रता घटाने को इस प्रकार की क्रिया उसे नहीं होती। समझ में आया?

भावार्थ : योग्य विषयों के सेवन करते समय सावधानी वर्तते हुए भी.. सावधान हो। स्थावर को भी मारने का भाव नहीं। **स्थावर की हिंसा होती है वह तो होती ही है..** एकेन्द्रिय पानी घात हो, पानी का घात हो, अग्नि, हवा मरे **परन्तु अन्य स्थावर जीव की हिंसा करने का त्याग तो करना चाहिए।** बिना हुए जिसकी आवश्यकता नहीं ऐसे भी स्थावर की हिंसा का त्याग होना चाहिए।

गाथा - ७८

आगे इस अहिंसाधर्म का साधन करते हुए सावधान करते हैं:-

अमृतत्त्वहेतुभूतं परममहिंसारसायनं लब्ध्वा।
अवलोक्य बालिशानामसमञ्जसमाकुलैर्न भवितव्यम्।।७८।।

है अहिंसा उत्तम रसायन, मोक्ष हेतुभूत पा।
होना नहीं आकुल असंगत, देख वर्तन अज्ञ का।।७८।।

अन्वयार्थ : (अमृतत्त्वहेतुभूतं) अमृत अर्थात् मोक्ष का कारणभूत (परमं) उत्कृष्ट (अहिंसारसायनं) अहिंसारूपी रसायन (लब्ध्वा) प्राप्त करके (बालिशानां) अज्ञानी जीवों का (असमञ्जसम्) असंगत वर्तन (अवलोक्य) देखकर (आकुलैः) व्याकुल (न भवितव्यम्) नहीं होना चाहिए।

टीका : 'अमृतत्त्वहेतुभूतं परमअहिंसारसायनं लब्ध्वा बालिशानां असमञ्जसम् अवलोक्य आकुलैः न भवितव्यम्' – मोक्ष का कारणभूत उत्कृष्ट अहिंसारूपी रसायन प्राप्त करके, अज्ञानी जीवों का मिथ्यात्वभाव देखकर व्याकुल नहीं होना चाहिए।

भावार्थ : आप तो अहिंसाधर्म का साधन करता है और कोई मिथ्यादृष्टि अनेक युक्तियों से हिंसा को धर्म ठहराकर उसमें प्रवर्त्तन करे तो उसकी कीर्ति देखकर स्वयं को धर्म में आकुलता नहीं उत्पन्न करना चाहिए अथवा कदाचित् आपके तो पूर्वबद्ध बहुत पाप के उदय से असाता उत्पन्न हुई हो और उसके तो बहुत पूर्व पुण्य के उदय से किंचित् साता उत्पन्न हुई हो तो भी अपने को उदयावस्था का विचार करके धर्म में आकुलता नहीं करना चाहिए।।७८।।

गाथा ७८ पर प्रवचन

आगे इस अहिंसाधर्म का साधन करते हुए सावधान करते हैं:– यह अहिंसा -धर्म को साधते हुए सावधान (करते हैं)।

'अमृतत्त्वहेतुभूतं परममहिंसारसायनं लब्ध्वा।' यह अहिंसा रसायन है। रसायन क्या? वह होती है न? धातु। ऊँची शक्तिवाली चीज़। शक्तिवाली रसायन नहीं होती? बसन्त.. क्या कहलाता है वह? बसन्तमालती और अमुक, अमुक रसायन। मकरध्वज। कभी सर्दी-वर्दी होगी, तब लेते होंगे न? जैसे रसायन शरीर को पुष्टि का कारण है, वैसे अहिंसाधर्म आत्मा को पुष्टि का कारण है। अहिंसाधर्म रसायन है। आहा..हा..! समझ में आया? निरोग शरीर हुआ परन्तु बहुत कमजोरी रहती हो, उसे धातु देते हैं न? मोती की

भस्म देते हैं। बहुत प्रकार के देते हैं। समझ में आया? ताँबे की भस्म, लोहे की भस्म आती है न? यह सब रसायन है। कहते हैं कि उस पर इतना घी तुम्हें खाना। इतना घी तो हमेशा पाँच रुपया भार तो रोटी में लेना। क्योंकि धातु ऐसी है कि तुम्हें पचेगी। वह तो साता की बात, यह तो दृष्टान्त देते हैं, हों! साता का उदय हो और वह हो। इसी प्रकार आत्मा को अहिंसा रसायन है, ऐसा कहते हैं। वह रसायन तो सब धूल है। वह खानेवाला ऐसा का ऐसा मर जाता है। कहो, समझ में आया?

चक्रवर्ती का भोजन देखो! आहा..हा..! परन्तु वह मर गया तुरन्त, हों! हजार-हजार गायों के, हजार-हजार गायें तो कैसी! अकेला गन्ना खाये, हों! गन्ना। गन्ना भी चक्रवर्ती के खेत का। अकेला गन्ना, सेरड़ी समझते हो? गन्ना। हजार गाय का दूध करके वह दूध सौ गायों को पिलाते हैं। सौ का दूध करके दस को पिलाते हैं, उसकी बनाते हैं खीर, उसमें हीरे की भस्म डालते हैं। वह रसायन। समझ में आया? ऐसे सोनी होते हैं कि घी गर्म करे और उसमें डाले सोना और उसमें डाले कुछ औषध। सोना पिघल जाये। उसमें डाले सेर-दो सेर गेहूँ। पाँच सेर गेहूँ, वह गेहूँ पूरा घी पी जाये, उसकी बनाये रोटी।

मुमुक्षु : कमजोर मनुष्य को मन हो जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : कमजोर मनुष्य को सोना पचे किस प्रकार? पाँच सेर सोना डाला हो, पाँच सेर घी और पाँच सेर सोना डाला हो। एक औषध ऐसी होती है। उसमें औषध डाले तो वह सोना पूरा घी में गल जाता है। अकेला घी हो, उसमें पाँच सेर गेहूँ डाले। गेहूँ पी जाये पपड़ी हो जाये उसका आटा बनावे और उसकी रोटी बनावे और उसमें फिर गाय का घी (डाले) आहा..हा..! वे भी मर गये सब, हों! यहाँ तो कहते हैं शरीर की पुष्टि होने में यह एक रसायन का निमित्त है, वैसे आत्मा में पुष्टि होने में अहिंसा धर्म वह महा पुष्ट है। अहिंसा राग ही नहीं होता। आहा..हा..!

अमृतत्त्वहेतुभूतं परममहिंसारसायनं लब्ध्वा।
अवलोक्य बालिशानामसमञ्जसमाकुलैर्न भवितव्यम्।।७८।।

अन्वयार्थ : अमृत अर्थात् मोक्ष का कारणभूत 'अमृतत्त्वहेतुभूतं' अमृत अर्थात् ही मरना नहीं, ऐसा मोक्ष। मोक्ष को ही अमृत कहते हैं। अमृत मोक्ष के कारणभूत। अमृत

अर्थात् मोक्ष और हेतुभूत अर्थात् कारणभूत। मोक्ष अर्थात् अमृत है, बाकी कोई अमृत है नहीं। आहा..हा..! परम पवित्र आत्मा की शुद्धदशा। जैसा उसका पवित्र शुद्ध पूर्ण स्वभाव है, ऐसी उसकी पूर्ण पवित्र दशा का नाम मुक्ति, उसका नाम अमृत, उसके हेतुभूत-कारणभूत.. **'परमम' उत्कृष्ट अहिंसारूपी रसायन... अहिंसारूपी रसायन प्राप्त करके..** आहा..हा..! क्या कहते हैं? देखो!

भगवान आत्मा, पूर्ण शुद्ध परमात्मदशा प्राप्त हो, उसका नाम मुक्ति है। उसके हेतुभूत आत्मा का अहिंसाधर्म। ऐसे धर्म को प्राप्त करके.. **अज्ञानी जीवों का असंगत वर्तन देखकर..** कहते हैं कि दूसरे प्राणी को देखकर द्वेष न करना। समझ में आया? दूसरे प्राणी को देखकर अपने को सच्ची अहिंसा प्रगटी है। ऐसा यह क्यों नहीं करता? यह क्यों विपरीत मार्ग पर है? द्वेष नहीं करे, आकुलता नहीं करे। जगत की चीज़ें ऐसी की ऐसी है। समझ में आया?

अहिंसारूपी रसायन प्राप्त करके अज्ञानी जीवों का असंगत वर्तन देखकर.. मैलरहित वर्तन देखकर। मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान, मिथ्या आचरणवाला (वर्तन देखकर) आकुलता नहीं करना। आकुलता नहीं करना। वह आकुलता फिर हिंसा है तुझे - ऐसा कहते हैं। दूसरे जीव ऐसा क्यों नहीं करते? ऐसा होकर क्यों नहीं करते? परन्तु तुझे क्या काम है?

मुमुक्षु : स्वयं निवृत्ति लेकर बैठा हो तो दूसरे को कहे छोड़ दो।

पूज्य गुरुदेवश्री : (तू) छोड़ न अन्दर में। अधिक राग हो तो छोड़ दे। दूसरे का तुझे काम क्या है? ऐसा यहाँ कहते हैं। दूसरे का असंगत वर्तन और मैलरहित देखकर तुझे आकुलता हो तो तू वापस हिंसा में पड़ा। उसे तो होना होगा तब होगा। कोई प्राणी चाहे जो करे। अरे! यह साधु होकर ऐसा! साधु होकर ऐसा! परन्तु साधु तूने माना है न? तुझे साधु होकर ऐसा। परन्तु तेरी मान्यता में भूल है या उसकी? साधु है नहीं और तू कहे कि साधु होकर ऐसा (करे)! वह तो साधु था ही नहीं। समझ में आया?

कहते हैं, भगवान का अमृत मोक्षमार्ग; मोक्ष उसका जो मार्ग, अहिंसा रसायन। आहा..हा..! रागरहित दशा ही आत्मा की पुष्टि का कारण है। लो! आहा..हा..! पुरुषार्थसिद्धि-

उपाय है। भगवान का मार्ग, मोक्ष का मार्ग अहिंसा। जिसमें सूक्ष्म दया का विकल्प उठना, वह भी जहाँ हिंसा है; उससे रहित आत्मा के स्वभाव की अहिंसा जिसने प्रगट की है, ऐसे अहिंसा के रसायन से जिसका आत्मा पुष्ट है। रसायन खानेवाला शरीर पुष्ट होता है तो उस रोगी और जीर्ण शरीर हो, उसे द्वेष किया करता होगा? ऐई! तुझे ऐसा नहीं, ऐसा नहीं। शरीर बड़ा लट्ठ जैसा हो, यह सूख गया है, लो! टेटा हो जाये। साकरचन्दभाई को कैसा शरीर था। देखो! कल कहते थे न? पानाचन्दभाई (कहते थे)। बड़ा लट्ठ जैसा शरीर, ७५ वर्ष हुए तो भी। खाना-पीना, ऐसा लटकता था.. हो गया ऐसा। कहो, पानी भी डाले वहाँ चिल्लाते हैं। अन्दर अल्सर हो गया है, अल्सर। कैंसर, पानी डाले वहाँ.. यह शरीर की दशा है। यह शरीर की पुष्टिवाला फिर द्वेष करे कि तुझे आया नहीं, ऐसा-ऐसा करते हैं। खा न हलुवा। पानी नहीं पड़ता वहाँ हलुवा किसका खाता था वहाँ? खाना नहीं आता? खा हलुवा। घी, नारायण कहलाता है।

एक व्यक्ति रोगी था। उसे दूसरा कहे घी तो नारायण। पागल तो थोड़ा था, उसमें घी दिया तो अधिक प्रस्फुटित हुआ। परन्तु किसे नारायण? नारणभाई का मस्तिष्क ऐसा बदला था और उसमें जैरामभाई लाठी आये थे। थोड़ा घी दिया। यह तो नारायण कहलाये। अरे! कहा यह क्या? फटा प्याला अधिक। वजुभाई! परन्तु किसे नारायण? जिसे निरोगता हो, पच सकता हो उसे। अन्य को नारायण हो जायेगा। मस्तिष्क फटा। यह लो, तुम्हारी अस्ति में देखो यह। ...बहुत अनुभव हुए न बहुत।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो... है। यह तो सब इन्हें कहाँ? यहाँ तो कहते हैं **अज्ञानी जीवों का असंगत वर्तन...** श्रद्धा में अन्तर, ज्ञान में अन्तर, आचरण में अन्तर - ऐसा देखकर **व्याकुल नहीं होना चाहिए।** आकुलता नहीं करना। कितनों को यह तो जला जायेगा। यह तो जगत में पूरा ऐसा ही भरा है। तेरी अहिंसा बना रख न, तेरा भाव बना रख - ऐसा कहते हैं यहाँ। समझ में आया? अमुक ऐसा नहीं करते, अमुक ऐसा नहीं करते।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ...शुभविकल्प जरा हो, परन्तु उसमें पर में आकुलता करने का

कारण हो ? ऐसा करता नहीं, करता नहीं, भाई ! उसकी पर्याय के काल में उसे वह है। उसे वह पर्याय अभी बैठी है, हो क्या ? तीर्थंकर ऊपर से उतरे तो माने ऐसा है ? फिर आकुलता करने का कारण क्या ? सिद्ध भगवान सब देख रहे हैं, देखो ! कुकर्म विपरीत करे, उसके लिये नीचे उतरते हैं ? विकल्प करता है कि भाई ! इसे कैसा है ? आहा..हा.. !

कहते हैं, देखो ! मुनि स्वयं अमृतचन्द्राचार्य। नाम ऊपर डाल दिया, अमृत–मोक्ष का नाम, और उसका हेतु / मार्ग को प्राप्त अमृतचन्द्राचार्य स्वयं कहते हैं, देखो ! दूसरे अज्ञानी जीवों का दुमेल, श्रद्धा, श्रद्धा का मेल नहीं, कहीं ज्ञान का मेल नहीं, कहीं आचरण का मेल नहीं, ऐसा देखकर आकुलता नहीं होनी चाहिए। तेरा मार्ग तुझमें रखना। अहिंसा रखना चाहिए। आकुलता होगी तो हिंसा होगी। मोक्षमार्ग में विघ्न करनेवाली है। समझ में आया ? दुनिया में यह वापस पंचम काल की यह तो बात है। मुनि जब थे, उस समय बहुत ऐसे प्रतिकूल श्रद्धावाले आदि वर्तते हों और बड़े मानधाता नाम धराते हों। साधु, आचार्य, धनी, संन्यास, उपाध्याय। अर्थात् ? अरे ! परन्तु इसे तो कुछ खबर नहीं पड़ती। क्या करना तुझे ? आकुलता करना ? यह तो दुनिया में ऐसा अनादि से चला आता है।

टीका : मोक्ष का कारणभूत उत्कृष्ट अहिंसारूपी रसायन प्राप्त करके.. यह एक तो ऐसा अहिंसा धर्म पाकर, प्राप्त करके अब व्याकुल नहीं होना। **अज्ञानी जीवों का मिथ्यात्वभाव देखकर..** देखा ? अज्ञानी जीवों की मिथ्याश्रद्धा (देखकर)। अरे ! यह तो परद्रव्य को कर्ता मानता है, यह तो राग को धर्म मानता है, पुण्य को धर्म मानता है। इससे कहीं पर के ऊपर व्याकुलता करने की आवश्यकता नहीं है। बनारसीदासजी ने नहीं कहा कि शुभ में शुद्ध का अंश है। मान, मान तो शाबास ! नहीं तो तेरा द्रव्य ऐसा परिणमे, उसमें मैं क्या करूँ ? मुझे जो कहने का आशय है, वह तुझे समझ में नहीं आता, तेरी परिणति में जो बात बैठी है, उससे तू हटता नहीं। हो गया। तेरा द्रव्य... आता है न ?

भावार्थ : आप तो अहिंसाधर्म का साधन करता है.. स्वयं तो राग में धर्म माने बिना, स्वभाव में धर्म मानकर, शुद्धस्वभाव से धर्म का साधन करता है। व्यवहार आदि जो राग है और उससे धर्म मानता हो, करता हो, उस माननेवाले के ऊपर आकुल नहीं होना। भाई ! आहा..हा.. ! **आप तो अहिंसाधर्म का साधन करता है..** शुद्धस्वभाव के आश्रय

में अनाकुलता की उत्पत्ति, राग की (अनुत्पत्ति), ऐसा जो अहिंसाधर्म साधता है। **कोई मिथ्यादृष्टि अनेक युक्तियों से हिंसा को धर्म ठहराकर..** अनेक युक्ति द्वारा राग में धर्म ठहराकर। राग हिंसा है न? **अनेक युक्तियों से हिंसा को धर्म ठहराकर उसमें प्रवर्त्तन करे तो उसकी कीर्ति देखकर स्वयं को धर्म में आकुलता नहीं उत्पन्न करना चाहिए..** देखा? ऐसा पुण्यशाली! ऐसा जगत में..! दुनिया में वह ऐसा ही चलता है। दुनिया किसे कहे? उसके पुण्य का उदय हो तो उसकी चले। वह व्यवहार कहता हो, वह बराबर चले। उस प्रकार का गोत्र बाँधा हो। आता है न? ऊँच-नीच गोत्र में..? उस प्रकार का पुण्य बाँधा हो तो इसे लगे, उसकी बात सच्ची है, हों! यही बात करते हैं। राग से धर्म मनवाता हो। शुभभाव है, वह राग हिंसा है; शुद्ध उपयोग है, वह अहिंसा है। समझ में आया? कोई भी शुभराग में उसके कारण धर्म प्रगट होगा, शुभ करते-करते प्रगट होगा, शुभ कारण और निश्चय कार्य (प्रगट होगा)—ऐसी बात करते हो तो उसके प्रति आकुलता नहीं करना। उस सम्बन्धी तो बहुत संख्या निकलेगी। ऐसी संख्या बहुत निकलेगी। कहाँ तू करेगा? कहाँ-कहाँ तू करेगा? समझ में आया?

मिथ्यादृष्टि अनेक युक्तियों से हिंसा को धर्म ठहराकर उसमें प्रवर्त्तन करे तो उसकी कीर्ति देखकर.. उसकी कीर्ति बढ़ी, पुण्य के कारण बढ़ती है, भाई! पुण्य तत्त्व है या नहीं? जैसे संवर-निर्जरा तत्त्व है, वैसे पुण्य भी तत्त्व है। अहिंसाधर्म एक तत्त्व है। अहिंसाधर्म कहो या संवर-निर्जरा तत्त्व कहो। वह भी-पुण्य भी एक तत्त्व है। आहा..हा..! आचार्य ने यहाँ गजब डाला है। अहिंसा अमृत मोक्षमार्ग, अमृत ऐसा मोक्ष, उसका कारण जो अहिंसा। रागरहित दृष्टि, ज्ञान और शान्ति, वह अहिंसा मोक्ष का मार्ग, उससे आत्मा रसायनरूपी पुष्टि हो।

दूसरों को विपरीत देखकर आकुलता करना नहीं। और उसकी बाहर कीर्ति बढ़ी हो.. समझ में आया? अज्ञानी को माननेवाले बहुत हों। उसमें पुण्य का उदय हो। बराबर है। पहले यह मार्ग चाहिए। वह कहता है, यह बराबर है। पहले बिना ऐसे का ऐसे नहीं होता। लोगों को अच्छा लगे। बहुमती यहाँ काम नहीं आते, कहते हैं। यहाँ बहुमती हो तो ध्यान रखना। आकुलता करना नहीं। ऐसे में कैसे मेरे मत दिये खोटे। सब क्यों हाँ-हाँ करते

हैं ? उसे लगे तो हाँ करे, उसमें तुझे क्या है परन्तु ? उसकी वर्तमान दशा में ऐसा लगे कि यह बराबर कहता है। समाज के लिये पहला यह धर्म चाहिए। यह भाव कुछ सुधरे तो फिर धर्म प्राप्त करने के योग्य (हो)। अब यह तो अनन्त काल हुआ परन्तु कभी हुआ ही नहीं लायक अब ? समझ में आया ? यहाँ तो मोक्ष का पात्र वास्तव में तो समकिती को गिना है। पात्र, हों! पात्र जीव वह है, क्योंकि रागरहित स्वभाव की दृष्टि और ज्ञान हुए हैं, वही मोक्ष के लिये पात्र है। समझ में आया ? दूसरा मोक्ष के लिये पात्र नहीं है। मोक्ष उसमें रह सकेगा, उसमें आयेगा।

मिथ्यादृष्टि अनेक युक्तियों से हिंसा को धर्म.. बहुत युक्ति दे यह लेख लिखे, यह लेख लिखे, यह शास्त्र में लिखा। देखो! आता है या नहीं ? पण्डित जयचन्द्रजी ने कहा है न ? शास्त्र में जैनधर्म में भी व्यवहार निमित्त देखकर बहुत कथन आता है, परन्तु उसका फल संसार है। इसलिए उलझन में नहीं आना। दूसरे कहते हों कि देखो! भगवान ने कहा है या नहीं यह व्यवहार ? यह व्यवहार भगवान ने कहा है या नहीं ? और भगवान ने उसे साधन तथा हेतु कहा है या नहीं ? उसमें युक्ति दे, ऐसी की उस बेचारे को ऊ... हो जाये। ठीक, बापू! यह तो व्यवहार निमित्त साधनरूप से कहा था। स्वभाव का साधन करता हो तो उसको (व्यवहार को) निमित्त साधन कहा जाता है। क्योंकि उसके ऐसे मन्द राग हो, उसकी उस दशा को वर्तमान में विघ्न नहीं करता, इसलिए उसे निमित्त गिनकर व्यवहार साधन कहा है। वह युक्ति ऐसी दे कि नहीं, यह हो तो हो, यह हो तो हो। लेख भी शास्त्र में ऐसे आवें, वह दे सामने। क्षण-क्षण में व्यवहार से बढ़ते-बढ़ते.. ऐई! देवानुप्रिया! आता है न ? पंचास्तिकाय, शुद्धभाव बढ़ाता जाये और दूज के चन्द्रमा की भाँति सुख से सुख से.. लो, यह लेख आये सब। भाई है, बापू! सब बात है। यह व्यवहार की बात है। निश्चय के भानवाला, जहाँ ऐसा व्यवहार होता है, उसे उस प्रकार से व्यवहार से बढ़ता है, ऐसा कहने में आता है। बाकी बढ़ता है तो स्वभाव के आश्रय से। व्यवहार से क्या बढ़े, पराश्रय से बढ़ता होगा।

यह तो ऐसी युक्ति दे तो **कीर्ति देखकर स्वयं को धर्म में आकुलता नहीं उत्पन्न करना चाहिए अथवा कदाचित् आपके तो पूर्वबद्ध बहुत पाप के उदय से असाता**

उत्पन्न हुई हो.. लो, शरीर में हों! **आपके तो पूर्वबद्ध बहुत पाप के उदय से असाता उत्पन्न हुई हो...** सामनेवाले को **और उसके तो बहुत पूर्व पुण्य के उदय से किंचित् साता उत्पन्न हुई हो तो भी अपने को उदयावस्था का विचार करके धर्म में आकुलता नहीं करना चाहिए।** हम इतना-इतना धर्म करते हैं और इस शरीर में रोग रहा ही करता है और वह पाप करता है तथा शरीर निरोग रहा करता है। अब यह क्या है? ऐसे आकुलता करना नहीं, वह तो हो, साता का उदय हो तो निरोग हो। उसके प्रमाण में समान, भाई! जिस जगह जाना है, उस जगह समान भाव हो, तब जायेगा न? इसलिए ऐसा देखकर आकुलता नहीं करना।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

जिसे धर्मात्माओं के प्रति अरुचि है...

जिसे आत्मा का धर्म रुच गया, उसे जहाँ-जहाँ वह धर्म देखता है, वहाँ-वहाँ प्रमोद और आदरभाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। धर्मस्वरूप का भान होने के बाद भी वह स्वयं वीतराग नहीं होता, इसलिए स्वयं स्वधर्म की पूर्णता की भावना का विकल्प उठता है; और विकल्प पर निमित्त की अपेक्षा रखता है, इसलिए अपने धर्म की प्रभावना का विकल्प उठने पर वह जहाँ-जहाँ धर्मी जीवों को देखता है, वहाँ-वहाँ उसे रुचि, प्रमोद और उत्साह उत्पन्न होता है। वास्तव में तो उसे अपने अन्तरंग धर्म की पूर्णता की रुचि है। धर्मनायक देवाधिदेव तीर्थंकर और मुनि-धर्मात्मा, सद्गुरु, सत्शास्त्र, सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी, यह सब धर्मात्मा, धर्म के स्थान हैं। उनके प्रति धर्मात्मा को आदर-प्रमोदभाव उमड़े बिना नहीं रहता। जिसे धर्मात्माओं के प्रति अरुचि है, उसे अपने धर्म के ही प्रति अरुचि है, अपने आत्मा पर क्रोध है। *(—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)*

गाथा - ७९

आगे मिथ्यादृष्टि, युक्ति से हिंसा में धर्म ठहराता है उसको प्रगट करके श्रद्धालु श्रावक को सावधान करते हैं। वह बारह सूत्रों में कहते हैं :-

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः।।७९।।

भगवद् धरम अति सूक्ष्म, हिंसा धर्म हेतु उचित है।
यों भ्रमित धर्मी हो कभी भी, जीव घात नहीं करे।।७९।।

अन्वयार्थ : (भगवद्धर्मः) भगवान का कहा हुआ धर्म (सूक्ष्मः) बहुत बारीक है, इसलिए (धर्मार्थं) धर्म के निमित्त से (हिंसने) हिंसा करने में (दोषः) दोष (नास्ति) नहीं है (इति धर्ममुग्धहृदयैः) ऐसा धर्ममूढ़ अर्थात् भ्रमरूप हृदयवाला (भूत्वा) होकर (जातु) कभी भी (शरीरिणः) शरीरधारी जीवों को (न हिंस्याः) नहीं मारना चाहिए।

टीका : 'भगवद्धर्मः सूक्ष्मः' – ज्ञान सहित धर्म सूक्ष्म है, अतः 'धर्मार्थे हिंसने दोषः न अस्ति' – धर्म के निमित्त से हिंसा करने में दोष नहीं है। 'इति धर्ममुग्धहृदयैः भूत्वा शरीरिणः जातु न हिंस्याः' – इस प्रकार धर्म में जिनका चित्त भ्रमरूप हुआ है, वैसे होकर प्राणियों को कभी भी मत मारो।

भावार्थ : कोई अज्ञानी कहता है कि दूसरी जगह तो हिंसा करना पाप है परन्तु यज्ञादि में धर्म के निमित्त से तो हिंसा करने में कोई दोष नहीं है। इस श्रद्धान के साथ हिंसा में प्रवर्तन करना योग्य नहीं है। जहाँ हिंसा है, वहाँ धर्म कभी नहीं है।

प्रश्न : जैनमत में मन्दिर बनवाना, पूजा-प्रतिष्ठा आदि करना कहा है, वहाँ धर्म है कि नहीं?

उत्तर : मन्दिर, पूजा, प्रतिष्ठादि कार्य में यदि जीव हिंसा होने का भय न रखे, यत्नाचार से न प्रवर्त्ते, किन्तु केवल अपनी प्रतिष्ठा और मान पोषण के लिये जैसे-तैसे कार्य करे तो वहाँ धर्म नहीं है, पाप ही है और यत्नपूर्वक कार्य करते हुए थोड़ी हिंसा हो

तो उस हिंसा का पाप तो हुआ परन्तु धर्मानुराग से पुण्य-संचय विशेष होता है अथवा अपना संचित्त धन खर्च करने से लोभकषायरूप अन्तरंग हिंसा का त्याग होता है। हिंसा का मूलकारण तो कषाय है, इसलिए तीव्रकषायरूप होकर उनकी हिंसा न करने से पाप भी थोड़ा हुआ। अत: इस रीति से पूजा-प्रतिष्ठादि करे तो पुण्यरूपी धर्म ही होता है। जैसे कोई मनुष्य धन खर्च करने के लिये धन कमाता है तो उसे कमाया ही कहते हैं। यदि वह धन धर्मकार्य में न लगाया तो उस धन से विषय सेवन करके महापाप उत्पन्न करता, इस दृष्टि से धर्मकार्य में अल्प सावद्य लगने पर भी नफा ही हुआ। जिस प्रकार मुनि एक ही नगर में रागादि (स्नेहादि) उत्पन्न होने के भय से वहाँ न ठहर कर विहार करते हैं, विहार करते हुए थोड़ी-बहुत हिंसा भी होती है परन्तु नफा-नुकसान का विचार करने पर एक ही नगर में रहना योग्य नहीं है। उसी प्रकार यहाँ भी नफा-नुकसान का विचार करना चाहिए। एक सामान्य कथन से विशेष कथन का निषेध नहीं करना चाहिए। ऐसा ही कार्य तो आरम्भी, अव्रती, और तुच्छव्रती करते हैं। अत: संक्षेप में ऐसा ही उपदेश है कि - धर्म के निमित्त से हिंसा नहीं करना चाहिए।।७९।।

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, ७८ गाथा हुई, ७८। अब बारह गाथा में विशेष अहिंसाव्रत के अन्दर में उसका स्पष्टीकरण करते हैं। **मिथ्यादृष्टि युक्ति से हिंसा में धर्म ठहराता है उसको प्रगट करके श्रद्धालु श्रावक को सावधान करते हैं। वह बारह सूत्रों में कहते हैं:**-बारह सूत्र हैं, बारह। अहिंसा व्रत का (विषय) चलता है, यह अहिंसा का (अधिकार) चलता है न? आत्मा के शुद्ध स्वभाव का, ज्ञान का भान होकर, यह आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है, इसकी क्रिया ज्ञान की ही है—ऐसा भान होने के पश्चात् ज्ञान की क्रिया में, स्वरूप में विशेष अंश से स्थिर हो, तब इसे ऐसे अणुव्रत आदि के अहिंसा के विकल्प होते हैं, उसकी व्याख्या चलती है। समझ में आया? उसमें कोई हिंसा में अनेक प्रकार से धर्म मानता है, उसका स्पष्टीकरण करके धर्मी को सावधान करते हैं कि यह बात सत्य नहीं है।

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः।।७९।।

***सर्वज्ञ-वीतराग...** वास्तव में यह शब्द नहीं चाहिए। भगवान का-हमारे ईश्वर का धर्म ऐसा कहा हुआ है - ऐसा यज्ञवाले कहते हैं। भाई! भगवान का-ईश्वर का कहा हुआ धर्म ऐसा है, यह मिथ्यादृष्टि कहते हैं। अर्थ में अन्तर पड़ गया है।

मुमुक्षु : सर्वज्ञ नहीं चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वज्ञ नहीं चाहिए (अन्वयार्थ में सर्वज्ञ शब्द नहीं चाहिए।) और नीचे ज्ञानसहित धर्म सूक्ष्म-यह भी नहीं चाहिए। टीका का अर्थ है, वह भी नहीं चाहिए। भगवान किया है न? उसमें लिखा थोड़ा, परन्तु यह जरा उस अन्यमती की अपेक्षा से। सर्वज्ञ नहीं कहा इसमें। भगवान धर्म सूक्ष्म है, ज्ञानसहित धर्म सूक्ष्म है। टोडरमलजी ने ऐसा अर्थ इतना किया है। भाई! भगवान का कहा हुआ, ईश्वर का कहा हुआ ज्ञानसहित धर्म सूक्ष्म है। यज्ञ के लिए हिंसा हो, उसमें पाप नहीं - ऐसा ईश्वर का धर्म है। समझ में आया? उसकी बात चलती है।

'सूक्ष्मः' बहुत बारीक है.. ईश्वर ने कहा हुआ, अज्ञानी, हों! ऐसा अज्ञानी कहता है। हमारे **भगवान का कहा हुआ धर्म बहुत बारीक है, इसलिए धर्म के निमित्त से हिंसा करने में दोष नहीं है, ऐसा धर्ममूढ़ अर्थात् भ्रमरूप हृदयवाला होकर..** ऐसे धर्म को माननेवाले या ईश्वर ने कहा है कि उसमें - यज्ञ में पाप नहीं है। **ऐसा धर्ममूढ़ अर्थात् भ्रमरूप हृदयवाला होकर कभी भी शरीरधारी जीवों को नहीं मारना चाहिए।** शरीरधारी मूल तो यहाँ पंचेन्द्रिय यज्ञ की बात अधिक है। समझ में आया?

टीका : 'भगवद्धर्मः सूक्ष्मः' - ज्ञान सहित धर्म सूक्ष्म है,.. ईश्वर ने कहा हुआ ज्ञान, उसके धर्म में अब इस ज्ञान की ऐसी गति है कोई कि दूसरे में भले पाप हो, परन्तु यज्ञ में पाप नहीं है। **अतः 'धर्मार्थे हिंसने दोषः न अस्ति' - धर्म के निमित्त से हिंसा करने में दोष नहीं है। 'इति धर्ममुग्धहृदयैः भूत्वा शरीरिणः जातु न हिंस्याः'**

* गुजराती प्रति में भगवान सर्वज्ञ शब्द को लक्ष्य कर गुरुदेवश्री ने यह वाक्य कहा है। हिन्दी प्रति में यह वाक्य नहीं है। - सम्पादक

– इस प्रकार धर्म में जिनका चित्त भ्रमरूप हुआ है, वैसे होकर प्राणियों को कभी भी मत मारो। यह तो सब बात करते हैं, सब करते हैं न! है तो अहिंसा की व्याख्या, उसमें यह बात करते हैं।

भावार्थ : कोई अज्ञानी कहता है कि.. देखो! वापस यहाँ आया। **कोई अज्ञानी कहता है कि दूसरी जगह तो हिंसा करना पाप है परन्तु यज्ञादि में धर्म के निमित्त से तो हिंसा करने में कोई दोष नहीं है...** कोई दोष नहीं, ऐसा। **इस श्रद्धान के साथ हिंसा में प्रवर्तन करना योग्य नहीं है। जहाँ हिंसा है, वहाँ धर्म कभी नहीं है।** समझ में आया? हिंसा की बारह गाथा कही है, बारह। तब अब प्रश्न उठता है कि तुमने तो कहा कि प्राणी का घात नहीं करना, तो यह जैन मन्दिर बनाना और उसमें क्या है तुम्हारा?

प्रश्न : जैनमत में मन्दिर बनवाना, पूजा-प्रतिष्ठा आदि करना कहा है, वहाँ धर्म है कि नहीं? लो! धर्म अर्थात् पुण्य, हों! यहाँ...

मन्दिर, पूजा, प्रतिष्ठादि कार्य में यदि जीव हिंसा होने का भय न रखे, यत्नाचार से न प्रवर्त्ते,.. दो बोल। मन्दिर, पूजा-प्रतिष्ठा में यत्नाचार से प्रवर्तन न करे, जीवहिंसा होने का भय न रखे **किन्तु केवल अपनी प्रतिष्ठा और मान पोषण के लिये जैसे-तैसे कार्य करे..** हम प्रतिष्ठा करानेवाले हैं, मन्दिर स्थापित करते हैं, प्रतिमा स्थापित करते हैं, हम पूजा करते हैं - ऐसी अपनी महत्ता पोषण के लिये जैसे-तैसे किया करे, हिंसा में कुछ ध्यान न रखे, यत्न न रखे, यत्नाचार नहीं रखे **तो वहाँ धर्म नहीं है, पाप ही है..** लो! कहाँ? मोहनभाई! कहाँ पाप है? इस मन्दिर-पूजा में भी पाप है - ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : यत्नाचार न रखे तो!

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, बस! इसमें ऐसा कहते हें। मन्दिर, पूजा, प्रतिमा आदि कार्य में यदि यत्नाचार न रखे, भय न रखे, मान से करे, उसमें भी मात्र पाप ही है - ऐसा कहा है। समझ में आया?

मुमुक्षु : मान पोषण के लिये।

पूज्य गुरुदेवश्री : मान पोषण के लिये। गाँव में हम संघ सेठ कहलायें। सेठ क्या करावे? यह तुम्हारे सिर पर बात आती है। यह कहे कि लड़को दे तो हो। बाकी होगा तो सही न। वहाँ कहाँ... है।

मुमुक्षु : अब तो काम शुरु हो गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पत्र में तो लिखा है चिन्ता नहीं रखना, यह पढ़ लिया मैंने। अगले वर्ष में अपने काम निश्चित है, ऐसा चुनिभाई ने लिखा है या नहीं? यह बात ठीक अब। अपने निश्चित है अगले वर्ष में, हों! और तुम्हें तैयारी (रखनी)। लिखा था न? यह क्या होगा? तुम्हें तैयारी रखनी। तुमने किया ऐसा होगा?

मुमुक्षु : दूसरा क्या हो, पैसा दे?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें एक शब्द अन्त में लिखा है। अन्तिम शब्द है। तुम्हें तैयारी रखनी। ठीक कहा यह। कहो, समझ में आया इसमें?

यहाँ कहते हैं कि मन्दिर करे, पूजा करे, प्रतिष्ठा करे—ऐसा कार्य में जीवहिंसा होने का भय न रखे, ऐसा का ऐसा दिये ही रखे, जहाँ-तहाँ एकेन्द्रिय जीव कितने मरते हैं? क्या हो? पंचेन्द्रिय कैसे मरते हैं? समझ में आया? कीड़े-मकोड़े कैसे मरते हैं?- इसका ध्यान ही न रखे। **यत्नाचार से न प्रवर्त्ते, किन्तु केवल अपनी प्रतिष्ठा और मान पोषण के लिये जैसे-तैसे कार्य करे..** यह बात है। 'मात्र' भक्ति का, पूजा, दया का हेतु होता है, उसमें साधारण कोई एकेन्द्रिय (की) हिंसा होती है, यत्नाचार होने पर भी इतनी होती है तो 'सावद्य लेशो बहु पुण्य राशो' वहाँ पुण्य होता है। परन्तु इस प्रकार (अर्थात् अयत्नाचार से) करे तो वह पुण्य भी नहीं है, पाप है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहा..हा..!

भगवान का मार्ग अत्यन्त अहिंसक है। कहो, छह काय के जीव, छह काय जीव के लिये आता है न? आयतन में। बोध पाहुड़, दो गाथायें आती हैं। पहली और अन्तिम। छह काय जिसके जीव के लिये बोधपाहुड़ है। निश्चय से प्रतिमा और पूजा और सब अर्थ किया है, इसलिए उनको-तारणपंथी को अच्छा लगता है। परन्तु उसमें, भाई! यह तो कहते हैं यत्न रखना। ऐसा पूजा का भाव, भक्ति का भाव हो, परन्तु उसमें अत्यन्त निध्वंस परिणाम हो जाए, पाप का भय न रखे और यत्नाचार का लक्ष्य न रहे और मान पोषण के लिये अकेली हिंसा ही हो, मैं पूजा करनेवाला हूँ, मैं यह मन्दिर बनानेवाला हूँ, मैं यह करनेवाला हूँ - ऐसा दूसरे से अधिक बताने के लिये ऐसा करता हो तो वहाँ अकेला पाप ही है। समझ में आया?

और यत्नपूर्वक कार्य करते हुए थोड़ी हिंसा.. देखो! हिंसा तो एकेन्द्रिय की होती हे, अमुक हुए बिना नहीं रहती। **यत्नपूर्वक कार्य करते हुए थोड़ी हिंसा हो तो उस हिंसा का पाप तो हुआ परन्तु धर्मानुराग से पुण्य-संचय विशेष होता है..** यह आया। 'सावद्य लेशो।' हिंसा का पाप थोड़ा तो हुआ। एकेन्द्रिय का घात तो होता है, पृथ्वी, पानी। अभिषेक में जीव मरते हैं। यह पढ़ते हैं, उसमें तो बहुत पोल उघाड़ी है। दश दिग्पाल होते नहीं, चौबीस यक्ष-यक्षिणी होते नहीं, पंचामृत का अभिषेक होता नहीं। बहुत-बहुत लिखा है। पुस्तक बनायी है न यह? 'निबन्ध रत्नावली', 'जैन निबन्ध रत्नावली'। पचास अधिकार (लेख) हैं। यह सब बाद में चला है। यह बात है नहीं। भगवान के मार्ग में इतनी सब हिंसा हो - ऐसा होता नहीं, ऐसा मार्ग ही नहीं। यह तो कहते हैं धरणेन्द्र-पद्मावती नहीं, यह शास्त्र में है नहीं। यह सब लिखा है। बहुत लिखा है। पचास निबन्ध लिखे हैं। यह अद्धर से आया है।

मुमुक्षु : इनका लिखा सच्चा होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : इन्होंने आधार से लिखा है। पूर्व के शास्त्र में कहीं नहीं, पूर्व के शास्त्र में कहीं नहीं। पुराने शास्त्र में, आदिपुराण इत्यादि में कहीं नहीं। आशाधर होने के बाद सब चला है। स्पष्ट लिखा है। बेचारे ने प्रमाण तो दिया है। इसकी जो बात है, इतनी सत्य हो, उतनी तो स्वीकार करनी चाहिए न? व्यवहार की बात है, परन्तु उसे जानना चाहिए। यह आठ कैसी? दिक्कुमारी। आठ भी शास्त्र में नहीं। छह के ही नाम हैं। पाठ सहित बात की है। आठ कुमारिका में रखा नहीं। बहुत लिखा है, पचास निबन्ध लिखे हैं। पंचकल्याणक में नाटकीय ढंग कर डाला है, नाटकीय ढंग। वीतरागमार्ग में ऐसा नाटकीय ढंग होता है? तेरापंथी है।

मुमुक्षु : उनके लोग नाटक...

पूज्य गुरुदेवश्री : नाटकीय ढंग का आकर्षण हो तो फिर हो गया। उसका अर्थ दूसरा ऐसा कहते हैं, हम ऐसे शृंगार भगवान को करते हैं, तब आकर्षण होता है। सिर पर मुकुट चढ़ावें, यह करें... यह करें। अन्यमती भी कहते हैं कि हम ऐसे शृंगार करते हैं, तब आकर्षण होता है। जैन भी कहे कि उन्हें मुकुट-बुकुट और आंगी चढ़ावे तो आकर्षण हो। यह भी कहे कि आकर्षण हो।

मुमुक्षु : परन्तु इन दो में से सच्चा कौन सा?

पूज्य गुरुदेवश्री : न्याय से समझना चाहिए या नहीं? ऐसे बात दोनों करते हैं अपने। यत्नाचार चाहिए विशेष हिंसा एकेन्द्रिय की भी न हो, ऐसा मार्ग है। बापू! देखो न! भगवान को यहाँ बाहुबलीजी में चढ़ते नीचे कितने कीड़े-मकोड़े जीवात पड़ गये हैं, ऊपर मग की डाल और यह.. बापू! यह कहीं वीतरागमार्ग है? भाई!

मुमुक्षु : तेरापंथी में... होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : तेरापंथी को डालते हैं फिर सब। तब बीस पंथी कहते हैं न कि वहाँ आकर मेरे सब बदलते हैं, देखो! घर में आकर न करते हैं, परन्तु यहाँ सब करते हैं। सबको लालच हो जाता है, ऐसा लिखते हैं वे लोग। एक प्रतिमा मात्र वीतरागभाव देखने के लिये ऐसा निष्क्रिय (बिम्ब) शुभभाव में निमित्त है। उसके बदले तो बढ़ा दिया इतना, कि यह कोई अकेला मानो.. इसलिए तारणस्वामी ने बात ही नहीं की। उड़ाओ अब। छोड़ न व्यर्थ का आया है। ऐई! यह तो उसमें भी नहीं कहा, भाई! योगसार में भी नहीं कहा? 'नहीं देव मन्दिर विषे नहीं मूर्ति चित्राम्।'

मुमुक्षु : वह तो निश्चय की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इतनी इसने अधिक की, फिर व्यवहार है। पहले निश्चय का तो कर। व्यवहार है, शुभभाव है; नहीं – ऐसा नहीं परन्तु उसकी मर्यादा की हद होती है। फिर वहीं का वहीं रहा। भगवान पर कितने कलश रखना? जन्मवर्ष में अलग डालते एक और फिर एक सौ आठ पानी के कलश के कलश।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : वकालात करते.. उसमें एक हजार आठ थे परन्तु यहाँ बिना कारण? भगवान को साफ करने का हेतु था। उसके बदले ऊपरा-ऊपरी सोने के, चाँदी के। सब अतिरेक बढ़ गया है, अतिरेक हो गया है।

मुमुक्षु : अब उसकी मर्यादा बाँध दो।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐई! यह पण्डितजी करें। पण्डित हैं न अपने तो ये।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ प्रतिष्ठा किसे आती है। तुम्हारे भाई को कहो इसे।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कुछ नहीं, ऐसा है किया हुआ।

संचित्त धन खर्च करने से लोभकषायरूप अन्तरंग हिंसा का त्याग होता है। वह बताते हैं। भगवान की पूजा, प्रतिष्ठा, मन्दिर आदि बनाने में, यत्नपूर्वक कार्य करने से थोड़ी हिंसा होती है। **धर्मानुराग से पुण्य-संचय विशेष होता है..** एक बात। दूसरा, **संचित्त धन खर्च करने से लोभकषायरूप अन्तरंग हिंसा का त्याग होता है।** देखा! लोभ-कषाय घटने से अन्दर जो लोभ की तीव्र हिंसा है, उतनी घटती है, उतनी हिंसा का त्याग है। **हिंसा का मूलकारण तो कषाय है, इसलिए तीव्रकषायरूप होकर उनकी हिंसा न करने से पाप भी थोड़ा हुआ।** लो, ठीक। **हिंसा का मूलकारण तो कषाय है, इसलिए तीव्रकषायरूप होकर उनकी हिंसा न करने से पाप भी थोड़ा हुआ। अतः इस रीति से पूजा-प्रतिष्ठादि करे तो पुण्यरूपी धर्म ही होता है।** धर्म अर्थात् पुण्य।

मुमुक्षु : पुण्य तो ऊपर कहा, फिर यहाँ धर्म किसलिए कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्यों वहाँ धर्म कहा था न?

मुमुक्षु : यह पुण्य कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ? कहाँ कहा?

मुमुक्षु : पाप थोड़ा और पुण्य बहुत।

पूज्य गुरुदेवश्री : हिंसा का पाप कम, पुण्य बहुत हो। वह पुण्य अर्थात् धर्म। दूसरे की अपेक्षा की बात है न? पाप की अपेक्षा से धर्म होता है - पुण्य होता है, दूसरा क्या? वह तो पुण्य ही होता है। आहा..हा..! यह तीन लोक के नाथ तीर्थंकर को आहार दे तो भी पुण्य होता है। संसार पारित नहीं होता। कहो, संसार का अभाव तो आत्मा का आश्रय हुए बिना दूसरा कोई उपाय है ही नहीं। ऐसी बातें जितनी लिखी हों, पराश्रय में निर्जरा हो और ऐसा बहुत है, यह श्वेताम्बर में। तथारूप के साधु को आहार दे तो एकान्त सुनिर्जरा।

किंचित् नहीं पाप। धूल में भी निर्जरा नहीं होती। निर्जरा वह कहीं पर के आश्रय से होती होगी? यह वास्तविक तत्त्व ही पूरा बिगड़ गया है, बापू! ऐसा होगा?

वस्तुस्वभाव जो चैतन्य है, उसका आश्रय करके जो कुछ शान्ति या श्रद्धा, ज्ञान हो, बस! वह होने से जन्म-मरण का अन्त (होता है)। वह निर्जरा है। तीन लोक के नाथ तीर्थंकर को आहार दे तो (संसार पारित होता है), श्वेताम्बर में यह बहुत है। रेवती को आहार दिया, रेवती ने परित संसार किया। विपाक में है। मिथ्यादृष्टि थे देनेवाले, साधु सच्चे थे। आहार-पानी दिया, उसने परित संसार किया। मार्ग अत्यन्त विपरीत है। यह वीतरागमार्ग नहीं है। ऐई! न्यालचन्दभाई! वहाँ तो तुमने बहुत अधिक सुना है। हाथी के भव में दया पालकर परित संसार किया, सुबाहुकुमार, विपाक में (लिखा है)। मिथ्यादृष्टि थे, तथारूप के साधु को आकर देखे.. आहा..हा..! आहार-पानी दिया, परित संसार (किया) बिल्कुल झूठी बात है।

मुमुक्षु : पात्रा में दिया होगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पात्रा ही था न वहाँ। परन्तु यह तो सच्चे दिगम्बर मुनि हों, तो भी परवस्तु है न? पर का जो लक्ष्य जाता है, उतना राग ही होता है। शुभ है, पुण्य है परन्तु उससे निर्जरा होती है, भाई! ऐसा नहीं होता।

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य मानस्तम्भ बड़ा पड़ा है। समझ में आया? भगवान शुद्ध चैतन्यस्वभाव वीतरागस्वरूप है, उसका आश्रय करने से दृष्टि होती है, आश्रय करने से ज्ञान होता है, आश्रय करने से चारित्र होता है। चारित्र अर्थात् निर्जरा। बाकी तो अभी गड़बड़ बहुत है। यहाँ तो यह स्थूल की बातें करके अहिंसा को सिद्ध करते हैं। समझ में आया? यह मार्ग अहिंसा है, लो! भगवान! मुनियों को आहार देकर निर्जरा माने, वह हिंसा है। राग है, उसमें निर्जरा मानता है, वह हिंसा में धर्म मानता है। वास्तव में ऐसा है, लो! सूक्ष्म बात ऐसी है। आहा..हा..!

मुमुक्षु : यहाँ तो श्रावक के आचार चलते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह श्रावक के लिये बात चलती है। मुनि को कहाँ देना है? देनेवाले को मुनि सच्चे मिलें तो भी उनसे शुभ हो, निर्जरा नहीं होती। शुभराग है, वह

अल्पहिंसा है और उसमें धर्म माने अहिंसा। उस हिंसा में अहिंसा मानी, निर्जरा मानी। भाई! बात तो ऐसी है, बापू! जगत को मानने से ही छुटकारा है। इसमें कहीं तीन काल में बदले, ऐसा नहीं है। आहा..हा..! समझ में आया?

जैसे कोई मनुष्य धन खर्च करने के लिये धन कमाता है तो उसे कमाया ही कहते हैं। जैसे कोई मनुष्य धन खर्च करने के लिये, हों! धर्म कमावे। **यदि वह धन धर्मकार्य में न लगाया तो उस धन से विषय सेवन करके महापाप उत्पन्न करता,..** वह धन धर्मकार्य में अर्थात् इस पुण्य कार्य में। **तो उस धन से विषय सेवन करके महापाप उत्पन्न करता, इस दृष्टि से धर्मकार्य में अल्प सावद्य लगने पर भी नफा ही हुआ।** क्या? उस पाप की अपेक्षा, विषय-सेवन की अपेक्षा, मन्दिर खाते शुभ हुआ, शुभभाव हुआ न उतना? इसलिए वह भी फायदा हुआ, उतना शुभभाव हुआ, शुभ।

मुमुक्षु : शुभभाव को फायदा कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : शुभभाव फायदा कहा। व्यवहार तो कहे ही है न, भाई! कथन की पद्धति क्या करे तब? पाप की अपेक्षा पुण्य इतना तो फायदा व्यवहार से कहलाये या नहीं? कहो!

जिस प्रकार मुनि एक ही नगर में रागादि (स्नेहादि) उत्पन्न होने के भय से वहाँ न ठहर कर विहार करते हैं,.. देखो! दृष्टान्त दिया है। जैसे मुनि एक ही गाँव में रागादि उपजने के भय से विहार करते हैं। एक के एक नगर में बारम्बार रहने से राग उत्पन्न होता है। वह के वह परिचयवाले आदमी, महिलायें, लड़के, वह के वह परिचयवाले हों। रागादि उजपने के भय से विहार करते हैं। लो! **विहार करते हुए थोड़ी-बहुत हिंसा भी होती है...** होती है या नहीं चलते हुए? **परन्तु नफा-नुकसान का विचार करने पर एक ही नगर में रहना योग्य नहीं है।** लो! फायदा विचारने पर और नुकसान विचारने पर एक नगर में रहना योग्य नहीं है।

उसी प्रकार यहाँ भी नफा-नुकसान का विचार करना चाहिए। विषय-कषाय के लिये पाप होता हो, उसकी अपेक्षा पूजा-प्रतिष्ठा भगवान की होती है, उसमें पुण्य है, अकेला फायदा है, ऐसा विचारना चाहिए। अपेक्षा से बात है न? व्यवहारनय से बात

है न ? वीतराग के स्याद्वाद कथन ऐसे हैं। व्यवहार से तो पाप की अपेक्षा पुण्य ठीक है – ऐसा कहने में आता है। परमार्थ से तो दोनों हेय हैं। हेय होने के पश्चात् व्यवहार की दशा में पाप के भाव की अपेक्षा पुण्य का भाव व्यवहार से ठीक कहने में आता है।

एक सामान्य कथन से विशेष कथन का निषेध नहीं करना चाहिए। क्या कहा ? किसी के लिए हिंसा नहीं करना – ऐसा आया न सामान्य कथन ? उसके विशेष भंग जो हों, वापस मन्दिर आदि में एकेन्द्रिय आदि हो, उसका हेतु है, उसे विचारना चाहिए। उस विशेष का निषेध नहीं करना। **ऐसा ही कार्य तो आरम्भी, अव्रती, और तुच्छव्रती करते हैं।** संसार में आरम्भ करनेवाला गृहस्थी भी करता है न ? अव्रती भी करता है और तुच्छव्रती, नहींव्रती, वह करे। **अतः संक्षेप में ऐसा ही उपदेश है..** क्या ? **कि–धर्म के निमित्त से हिंसा नहीं करना चाहिए।** किसी प्रकार से, एकेन्द्रियादि कोई सामान्य। विशेष में ऐसा समझना चाहिए। थोड़ा विशेष समझना चाहिए। जहाँ–जहाँ जो–जो योग्य है, वहाँ उसे समझना चाहिए। कहो, समझ में आया ? अव्रती और तुच्छव्रती, थोड़ा व्रती, पंचम गुणस्थानवाला, लो न ! हल्का व्रती अर्थात् क्या ? मुनि नहीं, ऐसा। तुच्छव्रती। अणुव्रती, तुच्छव्रती अर्थात् अणुव्रती, श्रावक। समझ में आया ? यह एक ७९ गाथा हुई।

गाथा - ८०

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम्।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः।।८०।।

नित धर्म देवों से प्रगट, यों उन्हें देय यहाँ सभी।
इस दुर्विवेकी मति को, पा नहिं करो हिंसा कभी।।८०।।

अन्वयार्थ : (हि) निश्चय से (धर्मः) धर्म (देवताभ्यः) देवों से (प्रभवति) उत्पन्न होता है, इसलिए (इह) इस लोक में (ताभ्यः) उनके लिये (सर्वं) सभी कुछ (प्रदेयम्) दे देना चाहिए (इति दुर्विवेककलितां) ऐसी अविवेक से ग्रसित (धिषणां)

बुद्धि (प्राप्य) प्राप्त करके (देहिनः) शरीरधारी जीवों को (न हिंस्याः) नहीं मारना चाहिए।

टीका : 'हि धर्मः देवताभ्यः प्रभवति'-निश्चय से धर्म देवताओं से उत्पन्न होता है, 'इह ताभ्यः सर्वं प्रदेयम्'-इस लोक में उन देवों के निमित्त सब कुछ दे देना चाहिए। जीवों को भी मारकर उन पर चढ़ा दो। 'इति दुर्विवेककलितां धिषणां प्राप्य देहिनः न हिंस्याः'-ऐसी अविवेकपूर्ण बुद्धि से प्राणियों को नहीं मारना चाहिए।

भावार्थ : देव, देवी, क्षेत्रपाल, काली, महाकाली, चण्डी, चामुण्डी इत्यादि के लिए हिंसा नहीं करना। परजीव के मारने से अपना भला कैसे हो सकता है? सर्वथा नहीं हो सकता।।८०।।

गाथा ८० पर प्रवचन

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम्।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः।।८०।।

'हि' निश्चय से धर्म देवों से उत्पन्न होता है.. ऐसा कहते हैं। भाई! देव था तो धर्म कहे, इसलिए देव के नाम से कोई भी माँस आदि करना, वह कहीं पाप नहीं है। **इस लोक में उनके लिये सभी कुछ दे देना चाहिए..** अज्ञानी ऐसा कहता है। महापुरुष देवताओं, देव से यह धर्म प्रगट हुआ है, लो! **ऐसी अविवेक से ग्रसित 'धिषणां' बुद्धि प्राप्त करके शरीरधारी जीवों को नहीं मारना चाहिए।** समझ में आया? किसी भी जीव को मारना... एकेन्द्रिय को भी प्राण प्रिय है। वह भी उसके प्राण हैं। जैसे अन्न प्राण हैं, वैसे उसे दस प्राण, उसके प्राण हैं, जिसे जो प्राण हो वह। उसकी वह रिद्धि मानी है न व्यवहार से? एकेन्द्रिय जीव, एक निगोद के एक शरीर में अनन्त जीव है। अहो! सर्वज्ञ का मार्ग कितने स्वभाव को प्रतीति कराता है! ऐसे अनन्त जीव हैं, उन्हें भी मारने का अधिकार नहीं। समझ में आया? उन्हें भी देह छूटने पर देह की ममता है तो निगोद को दुःख होता है न? वस्तु है, अस्ति है न? वह अस्ति है। ऐसे कोई निकाल डाले तो कहीं निकले? अस्ति है, वह वस्तु का स्वभाव है, जीव हैं, उन्हें ऐसे शरीर को छूए न, जहाँ तहाँ कितने शरीर छूट जायें। दुःख होता है। इसलिए धर्म के लिये या यह करने के लिये कोई

बाधा नहीं है, क्योंकि महापुरुषों ने कहा हुआ धर्म, उसके लिये हम हिंसा करें तो अब बाधा नहीं है—ऐसा सत्य मार्ग में नहीं हो सकता। किसी के लिये कहाँ है ? भाई! आहा..हा..!

टीका : निश्चय से धर्म देवताओं से उत्पन्न होता है,.. ऐसा कहे। देव धर्म कहनेवाले हैं न ? **इस लोक में उन देवों के निमित्त सब कुछ दे देना चाहिए। जीवों को भी मारकर उन पर चढ़ा दो।** लो! बलिदान, बकरा चढ़ओ, यह चढ़ाओ.. यह चढ़ाओ.. आहा..हा..! यह भी है न ? जगत में चलता है न ? एक अभी गिरनार में ईश्वर को खोजने निकला। सुना है न ? भाई! नहीं सुना ? जवान मनुष्य था, कितने वर्ष का ? बीस। ईश्वर को खोजने निकला। कहीं नहीं मिला। गोली मारकर मर गया, गोली मारकर मर गया, गोली खाकर।

अपने थे नहीं ? तब (संवत्) १९९५ में गये, तब वे नारायण मुनि थे। एक नारायण मुनि थे। बीच में 'लाठी' की ओर मिले थे। पुण्यवाला मनुष्य था.. था और फिर वैराग्य हो गया। तब १९९५ में चढ़े, तब था। तुम नहीं थे, नहीं ? नीचे थे, ऊपर नहीं थे। नारायण मुनि बीच में मिले। ऐसे.. दिखाता था। कोई अमलदार अधिकार, परन्तु वैराग्य हो गया। उसमें डोली निकली। फिर थकान लगी तो बैठा था। फिर जब वहाँ सहस्राम्रवन में भक्ति होती थी, तब सुना था कि उस भरतवन में.. नीचे भरतवन है न ? भरतवन में वहाँ आगे गये और फिर भगवान के विरह में बहुत रोये। वहाँ बैठे थे, सुनते थे, सुना कि अभी नारायण मुनि कृष्ण के विरह में रोते हैं। भरतवन है न नीचे ? सहस्राम्रवन जरा ऊपर है, भरत जरा नीचे है। कोई उस ओर से चढ़ते हैं। ऐसा सुना था, वहाँ लोग निकले तो कहे कि स्वयं नारायण मुनि अभी भगवान के विरह के लिये बहुत रोते हैं। बाहर कहाँ भगवान थे ? और भगवान जो है, वह कहीं तेरे पास आवे ऐसे नहीं, वे तो वीतराग हैं। भगवान तो तू है पूर्ण, उसके पास जाना नहीं और दूसरे भगवान को मिलना है। वे भगवान कहाँ से आते थे ? आहा..हा..! जगत की उलझन, अज्ञान का पाप तो महापाप। उसके कारण ही यह अनन्त संसार हुआ है। आहा..हा..! समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं, मारकर सब चढ़ाना। **जीवों को भी मारकर उन पर चढ़ा दो। ऐसी अविवेकपूर्ण बुद्धि से प्राणियों को नहीं मारना चाहिए।**

भावार्थ : देव, देवी, क्षेत्रपाल,.. लो! यहाँ तो क्षेत्रपाल आये। जैन में भी क्षेत्रपाल चढ़ाते हैं पहले, क्षेत्रपाल की पहली पूजा। क्या कहलाता है? भौमिया कहलाता है, भोमियाजी। दूसरी भाषा कुछ है। उसके लिये सामने करो। अरे! वीतरागमार्ग में यह होता है? सुन न! **देव, देवी, क्षेत्रपाल, काली, महाकाली,..** यह लो न, कलकत्ता की। **चण्डी, चामुण्डी..** लो! चामुण्डी होगी कोई, यह चामुण्डा नहीं, हों! दूसरी कोई चामुण्डी होगी। **इत्यादि के लिए हिंसा नहीं करना।** चामुण्डा नाम इसमें आया है। इसमें नाम आया है। किसी जीव का नाम होगा। **परजीव के मारने से अपना भला कैसे हो सकता है?** किसी भी जीव को, एकेन्द्रियादि को मारने से भी कहीं स्वयं का भला नहीं होता। **सर्वथा नहीं हो सकता।**

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा? आहा..हा..! इस टेकरी ऊपर। यह वह दिखता था वह। कुछ सब जाते हैं, बड़ा मेला भरता है। वहाँ एक बाबा था, नहीं? लौकिक इस गाँधी की लाईन का। लोग मानते थे। वे दिखते थे। पहले अपने (संवत्) २०१३ में कमरे पर उतरे थे न, तब दिखते थे, इस बार अन्यत्र उतरे थे, बाहर। समझ में आया?

ऐसे देव-देवी के लिये किसी जीव को मारना, यह मार्ग में नहीं हो सकता। यह देवता के लिये कहा। पहले यज्ञ के लिये कहा था। अब अपने बड़ों के लिये। गुरु हो, फकीर आदि, बाबा आदि, लो! समझ में आया? आता है न इसमें नहीं? इस 'बिलखा' में एक बाबा आया था। है न अभी वहाँ, 'बिलखा' नहीं, 'बिलखा'? एक बाबा आया था और फिर उसने माँस माँगा, तेरे लड़के का माँस चाहिए। यह कथा, परन्तु यह सब गप्प है, ऐसा कुछ होता है?

मुमुक्षु : खांडणियां में।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हाँ है न, यह सब खांडणियां है और सब है। चेलैयो, चेलैयो पड़ता था, उसके पिता के यहाँ वह बाबा आया। वह कहे - लाओ माँस। किसका चाहिए? लड़के का चाहिए। बुलाओ लड़के को। चेलैयो पड़ता था। उसे किसी ने कहा कि तेरा पिता, देख तुझे मारकर देनेवाला है। चेला कहे जाऊँ।

भागु तो मारी भूमिका लाजे, भोरिंग जीले भार,
महेरामण माजा न मुके चेलैयो सत् न चुके।

ऐसा बोलता है। 'भागु तो मारी भूमिका लाजे, भोरिंग..' भोरिंग कहता है न नीचे? नाग ने यह पृथ्वी उठायी है। किसी ने उठायी नहीं। वह तो नागकुमार देव नीचे हैं। **महेरामण माजा न मुके चेलैयो सत् न चुके।** ऐसे के ऐसे गप्प जोड़ी दी धर्म के नाम से। ए.. मोहनभाई! वह फिर वहाँ खाण्डवा जाते हैं। तब बाबा कहता है कि बाँझ का नहीं लूँगा। अब तो तू बाँझ हो गया। तेरा लड़का हो तो लूँ। तब पिता कहता है कि मेरे दो जीव हैं, लड़का है, तब माँस दिया। गप्प ही गप्प यह कैसे?

मुमुक्षु : मनुष्य को मार डालकर मास खाऊँ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आयेगा इसमें, हों! अभी बहुत। अपना माँस नहीं देना, यह आयेगा।

गाथा - ८१

पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति।
इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम्।।८१।।

सब पूज्य हेतु अजादि के, घात में कुछ दोष नहिं।
यों सोच अतिथि हेतु भी, नहिं जीवघात करो कभी।।८१।।

अन्वयार्थ : (पूज्यनिमित्तं) पूज्य पुरुषों के लिये (छागादीनां) बकरा वगैरह जीवों को (घाते) घात करने में (कः अपि) कोई भी (दोषः) दोष (नास्ति) नहीं है (इति) ऐसा (संप्रधार्य) विचारकर (अतिथये) अतिथि अथवा शिष्ट पुरुषों के लिए (सत्त्वसंज्ञपनम्) जीवों का घात (न कार्यम्) नहीं करना चाहिए।

टीका : 'पूज्यनिमित्तं छागादीनां घाते कोऽपि दोषः न अस्ति'-अपने गुरु के लिए बकरा आदि जीवों के घात में कुछ दोष नहीं है, 'इति संप्रधार्य अतिथये सत्त्वसंज्ञपनम् न कार्यम्'-ऐसा सोचकर अतिथि (फकीर इत्यादि गुरु) के लिये जीवों का घात नहीं करना चाहिए।

भावार्थ : पापी, विषयलम्पटी और जिह्वालोलुपी, जो स्वयं तथा अन्य जीवों को नरक में ले जाने के लिये तैयार हैं, ऐसे कुगुरुओं के लिये भी हिंसा करना उचित नहीं है। हिंसा से उनका और अपना कैसे मोक्ष हो सकता है? अर्थात् कदापि नहीं हो सकता।।८१।।

गाथा ८१ पर प्रवचन

पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति।
इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम्।।८१।।

अन्वयार्थ : पूज्य पुरुषों के लिये.. अपने गुरु, फकीर, बाबा, साधु इत्यादि ! **बकरा वगैरह जीवों को घात करने में कोई भी दोष नहीं है, ऐसा विचारकर अतिथि अथवा शिष्ट पुरुषों के लिए जीवों का घात नहीं करना चाहिए।** ऐसा कि बड़े पुरुष के लिये करते हैं न, गुरु के लिये करते हैं न, हमारे क्या? इसलिए पाप नहीं होता, ऐसा विचारना नहीं। देखो! एक अमृतचन्द्राचार्य महामुनि सन्त हैं, छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं, ये अध्यात्म के कथन के समय उसका भी कथन अलौकिक और व्यवहार के कथन की शैली भी समझाने में सूक्ष्म, सूक्ष्म भाव से समझाते हैं। इसे यह समझना तो पड़ेगा या नहीं? समझ में आया?

टीका : अपने गुरु के लिए बकरा आदि जीवों के घात में कुछ दोष नहीं है,.. बकरा मारे, लड़का मारे लो न, यह सब। **ऐसा सोचकर अतिथि.. अतिथये** है न? अतिथि। मूल तो अतिथि के लिये। **(फकीर इत्यादि गुरु) के लिये जीवों का घात नहीं करना चाहिए।** कहो, फकीर आये हों, गुरु आये हों, उनके लिये माँस मारकर नहीं देना। ऐसा हो? वह लेनेवाला पात्र नहीं है, देनेवाले को दान में माँस नहीं हो सकता देने के लिये। यह और दूसरी बात आयेगी।

पापी, विषयलम्पटी और जिह्वालोलुपी, जो स्वयं तथा अन्य जीवों को नरक में ले जाने के लिये तैयार हैं, ऐसे कुगुरुओं.. आहा..! **पापी, विषयलम्पटी**

और जिह्वालोलुपी,.. खुराक खाने में **जो स्वयं तथा अन्य जीवों को नरक में ले जाने के लिये तैयार हैं,..** स्वयं नरक में जाते हैं और यजमान को साथ में ले जाते हैं, चलो, बापू! साथ में। गला पकड़कर ले जाये (-ऐसा) ज्ञानार्णव में कहा है। कुगुरु यजमान को गला पकड़कर, चल साथ में। विपरीत श्रद्धा कराते हैं, विपरीत ज्ञान कराते हैं, नरक और निगोद के स्थान, दोनों के लिये बनावे। आहा..हा..! अरे! बाहर में कोई पूछनेवाला है? लो! **जीवों का घात नहीं करना चाहिए..**

भावार्थ : पापी, विषयलम्पटी और जिह्वालोलुपी, जो स्वयं तथा अन्य जीवों को नरक में ले जाने के लिये तैयार हैं, ऐसे कुगुरुओं के लिये भी हिंसा करना उचित नहीं है। समझ में आया? **हिंसा से उनका और अपना कैसे मोक्ष हो सकता है? अर्थात् कदापि नहीं हो सकता।** नरक हो, नरक हो, भाई! समझ में आया? ये सब मार्ग विपरीत हैं, चार गति के मार्ग हैं। ८२ !

गाथा - ८२

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम्।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु।।८२।।

बहु जीव घातोत्पन्न, भोजन से भला इक जीव की।
हिंसामयी भोजन विचार, करो न हिंसा बड़े की।।८२।।

अन्वयार्थ : (बहुसत्त्वघातजनितान्) बहुत से जीवों के घात से उत्पन्न हुए (अशनात्) भोजन की अपेक्षा (एकसत्त्वघातोत्थम्) एक जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन (वरम्) अच्छा है, (इति) ऐसा (आकलय्य) विचारकर (जातु) कभी भी (महासत्त्वस्य) बड़े त्रस जीव का (हिंसनं) घात (न कार्यम्) नहीं करना चाहिए।

टीका : 'बहुसत्त्वघातजनितान् अशनात् एक सत्त्वघातोत्थम् वरम्'-बहुत जीवों के नाश से उत्पन्न हुए भोजन की अपेक्षा एक जीव के मारने से उत्पन्न किया गया भोजन उत्कृष्ट है 'इति आकलय्य जातु महासत्त्वस्य हिंसनं न कार्यम्'-ऐसा विचारकर कभी भी बड़े जीव की भी हिंसा नहीं करना चाहिए।

भावार्थ : कोई कहे कि अन्न के आहार से तो बहुत जीव मरते हैं, इसलिए एक बड़ा जीव मारकर भोजन करें तो बहुत भला – ऐसा मानकर पंचेन्द्रिय जीव का घात करता है। वहाँ हिंसा तो प्राणघात से है, और एकेन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय के द्रव्यप्राण तथा भावप्राण बहुत अधिक पाये जाते हैं। इसी कारण ऐसा उपदेश है कि बहुत एकेन्द्रिय के जीवों को मारने की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीव के मारने का पाप अनेक गुणा होता है तो पंचेन्द्रिय के मारने पर क्यों न बहुत पाप होगा? तथा द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों के मारने में तो मांस का आहार होता है, जिसका दोष पहले ही कहा जा चुका है; इसलिए ऐसा ही श्रद्धान करना उचित है।।८२।।

गाथा ८२ पर प्रवचन

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम्।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु।।८२।।

बहुत से जीवों के घात से उत्पन्न हुए भोजन की अपेक्षा एक जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन अच्छा है.. अनाज के बहुत एकेन्द्रिय जीवों को मार डालने की अपेक्षा एक हाथी मारे, निश्चिन्त खाते रहना। भाई! जगत में तर्क है न सब? तुम कितने मारते हो प्रतिदिन? वनस्पति, दाने, अनाज, करेला, क्या कहलाता है? लौकी। कितने जीव खाते हो, लो! उसकी अपेक्षा एक हाथी मारे और फिर छह-बारह महीने चले। मर जायेगा। वह तो एकेन्द्रिय अलग बात है और स्वयं एक मारे (वह अलग बात है)। ऐसे जीव माननेवाले जगत में हैं।

बहुत से जीवों के घात से उत्पन्न हुए भोजन की अपेक्षा एक जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन अच्छा है, ऐसा 'आकलय्य' विचारकर कभी भी बड़े त्रस जीव का घात नहीं करना चाहिए। 'महासत्त्वस्य' हाथी, बैल आदि बड़े मारे न? फिर निश्चिन्त थोड़ा-थोड़ा खाना। एक साथ ऐसे बहुतों को मारना, इसकी अपेक्षा (ऐसा करना अच्छा)। परन्तु वे एकेन्द्रिय जीव हैं, वह अलग बात है, पंचेन्द्रिय अलग बात है। स्पष्टीकरण करेंगे, हों!

टीका : 'बहुसत्त्वघातजनितान् अशनात् एक सत्त्वघातोत्थम् वरम्'-बहुत जीवों के नाश से उत्पन्न हुए भोजन की अपेक्षा एक जीव के मारने से उत्पन्न किया गया भोजन उत्कृष्ट है.. ऐसा अज्ञानी कहते हैं। **'इति आकलय्य जातु महासत्त्वस्य हिंसनं न कार्यम्' 'जातु'** आया, देखो! **ऐसा विचारकर कभी भी..** यह **'जातु'** का अर्थ किया है न? कभी भी-काल के अर्थ में आता है। **बड़े जीव की भी हिंसा नहीं करना चाहिए। 'महासत्त्वस्य हिंसनं न कार्यम्'** बहुत छोटे-छोटे मार डालना, उसकी अपेक्षा एक बड़े को मारना कि जिससे अपना काम चले। यह मार्ग नहीं है। जगत में अनेक स्वच्छन्द हैं। दुनिया में कोई दण्ड मिले, ऐसा है वहाँ तुरन्त? तुरन्त मिलता है अन्दर परन्तु वह इसे देख नहीं सकता। भाव की हिंसा होती है। सूक्ष्म स्वभाव है, उसका ज्ञान नहीं; इसलिए इसे भावहिंसा होती है, उसका भी भान नहीं। बाहर में जैसे-तैसे मनावे, माने। आत्मार्थी को ऐसा नहीं करना।

भावार्थ : कोई कहे कि अन्न के आहार से तो बहुत जीव मरते हैं.. देखा! अन्न में तो बहुत मरते हैं। दाने, बाजरा, चावल। चावल तो अचेत है। **इसलिए एक बड़ा जीव मारकर भोजन करें तो बहुत भला - ऐसा मानकर पंचेन्द्रिय जीव का घात करता है। वहाँ हिंसा तो प्राणघात से है, और एकेन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय के द्रव्यप्राण तथा भावप्राण बहुत अधिक पाये जाते हैं।** देखा? एकेन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय के द्रव्यप्राण दस होते हैं। उसे (एकेन्द्रिय को) चार होते हैं। और भावप्राण बहुत अधिक होते हैं। एकेन्द्रिय को प्रगटरूप से भावप्राण थोड़े होते हैं और उसे (पंचेन्द्रिय को) बहुत होते हैं। द्रव्यरूप प्राण की यहाँ अभी बात नहीं है। प्रगटरूप जो अशुद्ध भावप्राण है न? प्रगट पर्याय, वे भावप्राण भी एकेन्द्रिय को थोड़े हैं और पंचेन्द्रिय को बहुत हैं न?

इसी कारण ऐसा उपदेश है कि बहुत एकेन्द्रिय के जीवों को मारने की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीव के मारने का पाप अनेकगुणा होता है तो पंचेन्द्रिय के मारने पर क्यों न बहुत पाप होगा? लो! द्वीन्द्रिय को मारने का अनेकगुना पाप है। द्रव्य और भावप्राण बहुत हैं इसलिए (बहुत गुना पाप है)। एकेन्द्रिय को एक इन्द्रिय है, शरीर प्राण है, श्वास है, आयुष्य है - चार प्राण हैं। समझ में आया? पंचेन्द्रिय को दस प्राण हैं। पाँच

इन्द्रिय, मन, वचन, काया और श्वास तथा आयुष्य। फिर बीच में इसमें कम-ज्यादा हों। दो इन्द्रिय, त्रीइन्द्रिय। **एकेन्द्रिय के जीवों को मारने की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीव के मारने का पाप अनेक गुणा..** द्वीन्द्रिय देखा? एक इन्द्रिय अधिक है, प्राण-द्रव्यप्राण अधिक है, भाव इन्द्रिय है। देखो! दो इन्द्रिय को दूसरा जो है, रसनेन्द्रिय का प्राण और अन्दर भावप्राण दो अधिक है। एकेन्द्रिय को नहीं, उसे अकेली स्पर्शेन्द्रिय है। श्वास और आयुष्य होते हैं। शरीर प्राण होता है।

तो पंचेन्द्रिय के मारने पर क्यों न बहुत पाप होगा? तथा द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों के मारने में तो मांस का आहार होता है.. कहो, एकेन्द्रिय के शरीर में माँस नहीं, एकेन्द्रिय शरीर माँस नहीं। इस पृथ्वी, वनस्पति में माँस नहीं। दो इन्द्रिय शरीर से लेकर इसके (पंचेन्द्रिय) शरीर में माँस होता है। समझ में आया? अब और दूसरे प्रकार से। बहुत कहते हैं न, यह साँप और बिच्छू और सिंह को मार डालें, (क्योंकि ये) तो बहुतों को मारनेवाले हैं। इन्हें मार डालें तो बहुत मारनेवालों को रोकेंगे। जगत में चलता है, वह सब प्रकार यहाँ लिये हैं।

गाथा - ८३

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम्।।८३।।

इस एक के ही घात से, बहु जीव रक्षा नित्य ही।
यों मान हिंसक जीव की भी, करो हिंसा नहिं कभी।।८३।।

अन्वयार्थ : (अस्य) 'इस (एकस्य एव) एक ही (जीवहरणेन) जीव का घात करने से (बहूनाम्) बहुत जीवों की (रक्षा भवति) रक्षा होती है', (इति मत्वा) ऐसा मानकर (हिंस्रसत्त्वानाम्) हिंसक जीवों की भी (हिंसनं) हिंसा (न कर्त्तव्यम्) नहीं करना चाहिए।

टीका : 'अस्य एकस्य जीवहरणेन बहूनाम् रक्षा भवति'-इस एक ही जीव के

मारने से बहुत से जीवों की रक्षा होती है 'इति मत्वा हिंस्र सत्त्वानाम् हिंसनं न कार्यम्'- ऐसा जानकर हिंसक जीवों का भी घात नहीं करना।

भावार्थ : सर्प, बिच्छू, सिंह, नाहर इत्यादि दूसरे जीवों को काटनेवाले-मारनेवाले - हिंसक जीवों को मार डालने से बहुत से जीव बच जाते हैं, इसलिए इनके मारने में पाप नहीं है - ऐसा श्रद्धान नहीं करना, क्योंकि इसे तो इसके कार्य का पाप लगेगा। लोक में अनेक जीव पाप-पुण्य उपार्जन करते हैं, उनमें इसको क्या? वे हिंसक जीव हिंसा करते हैं तो उसका पाप उन्हें लगता है। आप उनकी हिंसा करके क्यों पाप उपार्जन करें।।८३।।

गाथा ८३ पर प्रवचन

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम्।।८३।।

'इस एक ही जीव का घात करने से.. सिंह, बाघ, नाग, इत्यादि। **बहुत जीवों की रक्षा होती है',..** बहुतों को मारते आयेंगे तथा बहुत जीव की रक्षा होगी। मारो नाग को। यहाँ सर्प निकला था। एक आया था। वह कवि तो गुजर गया। उसने कहा, मारो इसे। (संवत्) १९९२ के साल की बात है, ३१ वर्ष हुए। वह कहे कि यह सर्प जियेगा तो बहुतों को मारेगा, मार डालो। कहो, ब्राह्मण होकर गजब की बात करता है। आहा..हा..! ऐसा मार्ग वह होता है! तो तू भी कितनो को मारनेवाला हुआ? फिर तुझे मार डाले तो? तू कितनों को मार डालनेवाला? देखो न! ऐसे को मारे। कोई तुझे मार डाले तो? ऐसे वह कहीं भाव होते हैं? यहाँ हुआ था ऐसा। **ऐसा मानकर हिंसक जीवों की भी हिंसा नहीं करना चाहिए।** हिंसक जीव बाघ, नाग, साँप, बिल्ली बहुतों को मारेगी, इसकी अपेक्षा इसे एक को मार डालें तो? ऐसा नहीं मारा जाता। पाप कहा था तुझे। मारे न मारे यह प्रश्न बाद में है। तू उसे मारने का भाव करे, पहला तो यह तुझे पाप है। समझ में आया? बहुत जाति ली है, बहुत, हों!

टीका : 'अस्य एकस्य जीवहरणेन बहूनाम् रक्षा भवति'-इस एक ही जीव

के मारने से बहुत से जीवों की रक्षा होती है-ऐसा जानकर हिंसक जीवों का भी घात नहीं करना। हिंसक जीव का भी घात नहीं करना। नाग हो, सर्प हो। वे सब प्राणी उनके आयुष्य प्रमाण जियेंगे और उनके भाव प्रमाण होगा। वह जो होनेवाला होगा, वह होगा। बाहर कुछ भाव करे और कुछ क्रिया हो, ऐसा भी नहीं। किसी को मारना, यह नहीं हो सकता। देखो! श्रावक की श्रद्धा में ऐसा नहीं होता। उसे सच्चा अहिंसा व्रत सम्यग्दर्शनसहित होता है, इसके लिये श्रद्धा को बराबर नि:सन्देह कराते हैं।

भावार्थ : सर्प, बिच्छू,.. लो! बिच्छू निकले और मनुष्य मार डाले। **नाहर..** यह नाहर बकरे को मारते है न? नाहर, नाहर। मार डालो नहीं तो बहुत बकरों को मारेगा। एक को मार डालो। **सिंह,..** बाघ इत्यादि लेना। **इत्यादि दूसरे जीवों को काटनेवाले-मारनेवाले-हिंसक जीवों को मार डालने से बहुत से जीव बच जाते हैं, इसलिए इनके मारने में पाप नहीं है - ऐसा श्रद्धान नहीं करना,..** बहुत प्रकार की बात वर्णन करते हैं। **क्योंकि इसे तो इसके कार्य का पाप लगेगा।** लो! इस मारनेवाले को तो उसका पाप लगे, परन्तु तुझे क्या? उसका पाप तुझे लगता है?

लोक में अनेक जीव पाप-पुण्य उपार्जन करते हैं,.. लो! **उनमें इसको क्या?** अनेक प्रकार के मनुष्य पाप के भाव, पुण्य के भाव उत्पन्न करें, उसमें तुझे क्या? परन्तु तू कहाँ कितने पड़ेगा? तेरा काम क्या है? बापू! तेरा तत्त्व निवृत्त तत्त्व है। परद्रव्य के अभावस्वभावरूप, परद्रव्य के अभावस्वभावरूप निवृत्त है। अब तुझे किसका करना है इसमें? आहा..हा..! **क्योंकि इसे तो इसके कार्य का पाप लगेगा। लोक में अनेक जीव पाप-पुण्य उपार्जन करते हैं, उनमें इसको क्या?** लो! हो गया। कितने ही ऐसा कहते हैं कि तू स्वार्थी हो गया है। हमारे क्या? दुनिया में तो सब होता है। **वे हिंसक जीव हिंसा करते हैं तो उसका पाप उन्हें लगता है। आप उनकी हिंसा करके क्यों पाप उपार्जन करें।** वे पाप करेंगे तो उन्हें है, जवाबदारी उन्हें है। उनके पाप का फल उन्हें भोगना पड़ेगा, उन्हें कठोर पड़ेगा। तुझे क्या काम है? तू उन्हें मारे तो तुझे पाप लगेगा। कहो, समझ में आया? दूसरी बात करते हैं।

गाथा - ८४

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरु पापम्।
इत्यनुकम्पां कुत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः।।८४।।

बहु जीव घाती घोर पाप, करें यदि जीवित रहें।
यों करो हिंसक जीव की भी, नहीं हिंसा दया से।।८४।।

अन्वयार्थ : (बहुसत्त्वघातिनः) 'बहुत जीवों के घातक (अमी) यह जीव (जीवन्तः) जीवित रहेंगे तो (गुरु पापम्) बहुत पाप (उपार्जयन्ति) उपार्जित करेंगे' (इति) इस प्रकार की (अनुकम्पां कृत्वा) दया करके (हिंस्राः शरीरिणः) हिंसक जीवों को (न हिंसनीयाः) नहीं मारना चाहिए।

टीका : 'बहुसत्त्वघातिनः अमी जीवन्तः गुरु पापं उपार्जयन्ति'-बहुत जीवों को मारनेवाले यह पापी जीते रहेंगे तो बहुत पाप उत्पन्न करेंगे, इस प्रकार 'इति अनुकम्पां कृत्वा हिंस्राः शरीरिणः न हिंसनीयाः'-दया करके हिंसक जीवों को भी न मारे।

भावार्थ : शिकारी, चिड़ीमार, बाज इत्यादि जो-जो हिंसक हैं, वे जीवित रहेंगे तो बहुत पाप करेंगे और अनेक जीवों को मारेंगे, इसलिए इनको मार देना चाहिए - ऐसा श्रद्धान नहीं करना, क्योंकि उनकी हिंसा-वृत्ति का पाप उनको ही है, अपने को क्या? यदि हो सके तो उनकी उस पापक्रिया को छुड़ा देना।।८४।।

गाथा ८४ पर प्रवचन

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरु पापम्।
इत्यनुकम्पां कुत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः।।८४।।

'बहुत जीवों के घातक यह जीव जीवित रहेंगे तो बहुत पाप उपार्जित करेंगे'.. वह कहे बहुतों को मारेंगे। 'बहुत जीवों के घातक यह जीव जीवित रहेंगे तो बहुत पाप उपार्जित करेंगे' इस प्रकार की दया करके हिंसक जीवों को नहीं

मारना चाहिए। उनकी दया करके, समझ में आया न? ये बहुत जीवितों को मारेंगे, इसकी अपेक्षा मार डालें तो इनकी दया की। वह अलग था। वह तो बहुतों को मारेगा, इसलिए मार डालें तो दूसरे जीवों की रक्षा होगी, ऐसा था। उसमें और इसमें अन्तर है। ८३ में ऐसा था कि इन सिंह आदि को मार डालें तो बहुत जीव बचें, यह था। और यहाँ कहते हैं कि बहुत पाप करेगा तो जीवित को मार डालें तो कम तो पाप करेगा। उसकी अनुकम्पा की, ऐसा। समझ में आया?

बहुत जीवों के घातक यह जीव.. अन्तर, हों! दो बात में अन्तर है, दोनों गाथाओं में। **जीवित रहेंगे तो बहुत पाप उपार्जित करेंगे..** यह स्वयं ने उनकी दया की। **इस प्रकार की दया करके हिंसक जीवों को नहीं मारना चाहिए।**

मुमुक्षु : उन्हें पाप में उबारना।

पूज्य गुरुदेवश्री : उन्हें पाप में से उबारना। पहले दूसरे जीवों को बचाने के लिये ऐसा करे। दूसरे को मार डाले, उसकी अपेक्षा इसे मार डालें। यह जीवित रहेगा तो बहुत पाप करेगा, इसकी अपेक्षा इसे मार डालें। ऐसी उनकी दया लाया। आहा..हा..! **बहुत जीवों को मारनेवाले यह पापी जीते रहेंगे तो बहुत पाप उत्पन्न करेंगे, इस प्रकार दया करके हिंसक जीवों को भी न मारे।** तेरी श्रद्धा महा विपरीत है। आहा..हा..!

शिकारी, चिड़ीमार, बाज इत्यादि जो जो हिंसक हैं, वे जीवित रहेंगे तो बहुत पाप करेंगे और अनेक जीवों को मारेंगे... यह बगुला..। **इसलिए इनको मार देना चाहिए - ऐसा श्रद्धान नहीं करना, क्योंकि उनकी हिंसा-वृत्ति का पाप उनको ही है, अपने को क्या? यदि हो सके तो उनकी उस पापक्रिया को छुड़ा देना।** हिंसा टालने का भाव करना। अब आया।

गाथा - ८५

बहुदु:खासंज्ञपिता: प्रयान्ति त्वचिरेण दु:खविच्छित्तिम्।
इति वासनाकृपाणीमादाय न दु:खिनोऽपि हन्तव्या:।।८५।।

अति दु:ख पीड़ित शीघ्र ही, सब दुखों से छूटें सदा।
यों वासना असि ले दुखी को, भी कभी नहिं मारना।।८५।।

अन्वयार्थ : (तु) और (बहुदु:खासंज्ञपिता:) 'अनेक दु:खों से पीड़ित जीव (अचिरेण) थोड़े ही समय में (दु:खविच्छित्तम्) दु:खों का अन्त (प्रयान्ति) पा जावेंगे'(इति वासनाकृपाणीं) इस प्रकार की वासना अथवा विचाररूपी तलवार (आदाय) लेकर (दु:खिन: अपि) दु:खी जीवों को भी (न हन्तव्या:) नहीं मारना चाहिए।

टीका : 'तु बहुदु:खासंज्ञपिता: अचिरेण दु:खविच्छित्तिम् प्रयान्ति'-यह जीव बहुत दु:ख से पीड़ित हैं, अत: यदि इन्हें मार दिया जाय तो उनका सारा दु:ख दूर हो जायेगा। 'इति वासनाकृपाणीं आदाय दु:खिन: अपि न हन्तव्या:'-ऐसी खोटी वासनारूपी तलवार ग्रहण करके दु:खी जीवों को भी नहीं मारना चाहिए।

भावार्थ : यह जीव रोग से अथवा दरिद्रता आदि से अत्यन्त दु:खी है, यदि इसे मार दें तो उस दु:ख से वह मुक्त हो जावेगा, ऐसी श्रद्धा नहीं करना चाहिए। मनुष्य और तिर्यंच की आयु पुण्य के उदय से बड़ी होती है; अत: उसका छेद नहीं करना। अथवा जैसा उसका उदय है, वैसा भोगता है, आप हिंसा करके पाप क्यों उत्पन्न करे।।८५।।

गाथा ८५ पर प्रवचन

बहुदु:खासंज्ञपिता: प्रयान्ति त्वचिरेण दु:खविच्छित्तिम्।
इति वासनाकृपाणीमादाय न दु:खिनोऽपि हन्तव्या:।।८५।।

और 'अनेक दु:खों से पीड़ित जीव थोड़े ही समय में दु:खों का अन्त पा जावेंगे'... यह बेचारा बहुत दु:खी है। शीघ्र मार डालें तो शीघ्र निपट जाये - दु:ख का

अन्त आवे। तेरी श्रद्धा बहुत विपरीत है, कहते हैं। महापापी है, तू पापी है। ऐसे को मार डालना, बहुत दु:खी है, इसलिए शीघ्र उनका अन्त ला दें। **'अनेक दु:खों से पीड़ित जीव थोड़े ही समय में दु:खों का अन्त पा जावेंगे'**.. बहुत दु:खता है, पीड़ित है, उसे एकाध इंजेक्शन दे दो तो बेचारा शीघ्र छूट जाये। यह वहाँ कहाँ माँ-बाप बैठे हैं वहाँ? मौसी बैठी है जायेगा वहाँ? तेरी श्रद्धा विपरीत है, तू पापी है। तेरी श्रद्धा में अन्तर है। बहुत दु:खी है इसलिए.. दु:खी तो उसके भाव के कारण है। उसे मार डालूँ तो फिर शीघ्र अन्त आ जाये। अन्त किसका आ जाये? मरकर नरक में जायेगा तो बहुत दु:ख होगा। आहा..! कहो, समझ में आया इसमें? दु:ख का अन्त पायेगा। दया के प्रकार, यह दया, दया कैसी? पापी है। दया कहाँ है? दया का भान कहाँ है? वह दु:खी होता है, इसलिए तू उसे मार डाले, इसलिए दु:ख से अन्त आवे, यह तेरी श्रद्धा ही विपरीत है। समझ में आया? महा मिथ्यादृष्टि है। पापी है। दूसरे जीव बहुत दु:खी होते हैं, इसलिए शीघ्र अन्त ला दूँ। तेरी मान्यता मिथ्यापाप है, बड़ा पाप है। लोगों को खबर नहीं पड़ती। समझ में आया?

इस प्रकार की वासना अथवा विचाररूपी तलवार.. देखा? **'वासनाकृपाणीं'** ऐसी मान्यतारूपी तलवार लेकर किसी को मारना नहीं। वह तो उसके उदय प्रमाण, उसके राग-द्वेष के प्रमाण में दु:ख भोगता है। यहाँ से जायेगा वहाँ कहीं उसकी मौसी बैठी है? मरकर जायेगा तो नरक में तो बहुत दु:ख है। यहाँ मरेगा तो वहाँ कहीं और हिरण के बच्चे के रूप में (उत्पन्न होगा)। और सिंह पकड़ेगा तो ठीक से खायेगा। संसार में तो सब ऐसा ही भरा है। तू किसे करेगा? समझ में आया? **इस प्रकार की वासना अथवा विचाररूपी तलवार लेकर दु:खी जीवों को भी नहीं मारना चाहिए।** प्रवीणभाई! वह दु:खी हो तो बहुत दु:ख से मुक्त हो जाये न! बहुत पीड़ित हो तो क्या करना? कहो।

मुमुक्षु : जहर दे दे तो निपट जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : जहर दे दे। तुझे पाप लगेगा। उसका तो दु:ख मुक्त होना तो उसके (कारण से होगा)। शरीर का दु:ख है उसे? उसे ममता का दु:ख है। शरीर छूटा, इसलिए दु:ख से छूट गया? यह श्रद्धा महाविपरीत है, मान्यता महा बुरी है। समझ में आया? दुनिया को अक्ल नहीं होती और इस प्रकार मानती है। उसे दु:ख से छुड़ाया, दु:ख

से पीड़ित था तो शीघ्र दु:ख से छुड़ाया। तेरी श्रद्धा से छुड़ाया, तूने तुझे सच्ची श्रद्धा से (छुड़ाया), खोटी श्रद्धा की।

'तु बहुदु:खासंज्ञपिता: अचिरेण दु:खविच्छित्तिम् प्रयान्ति'-यह जीव बहुत दु:ख से पीड़ित हैं, अत: यदि इन्हें मार दिया जाय तो उनका सारा दु:ख दूर हो जायेगा। मरे तो शीघ्र अन्त आ जाये। **'इति वासनाकृपाणीं आदाय दु:खिन: अपि न हन्तव्या:'-ऐसी खोटी वासनारूपी तलवार ग्रहण करके...** वासनारूपी तलवार। **दु:खी जीवों को भी नहीं मारना चाहिए।** समझ में आया? आठ-आठ दिन तक पीड़ित हो तो क्या करना? दो भाई थे। छोटा बहुत बीमार पड़ा, तो बड़ा भाई कहता था मुझे सेवा बहुत करनी पड़ती है। दो रुपये का जहर लाकर दिया तो मरा नहीं। पाँच दिन बाद अधिक जहर ले आया। दिया वहाँ समाप्त हो गया। कहाँ तक करना अब? यह दु:खी हुआ करे, यहाँ मुझे सेवा करनी। 'लीमड़ी' में वह छोटालाल था न। दीक्षा ली थी न।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु क्या? छूट जाये ऐसा नहीं, यह सेवा करना आयेगा। घर में दो व्यक्ति, दो भाई हैं कुँवारे है। अब यह मरता नहीं और मुझे यहाँ रात्रि में जागरण करना पड़े। मुझे दो का पकाना पड़े। इसके लिये कुछ करना तो पड़े न! लोग कहें, कुछ खिलाया इसे? क्या किया? इसे हलुवा बना देना, वापस पानी देना, मौसम्बी ला देना। अब मुझे करना कितना? दो रुपये का जहर लाकर दिया परन्तु मरा नहीं। स्वयं कहता था, हों! यह छोटालाल था। लीमड़ी में मेरे साथ था, मुझसे बात करता था। बुरे हाल में मर गया। इस प्रकार मैंने पाप किये हैं। वापस उसमें अरमान नहीं, हों! बात करता था, ऐसा किया, ऐसा किया। क्या कहता है तू यह? बिच्छू देखा तो कहे मार डालूँ। ऐसा तो कौन जाने... कहो, समझ में आया? दु:खी प्राणी को भी मार डालना। शीघ्र दु:ख से अन्त लायेगा, यह तेरी श्रद्धा भी खोटी है, तेरी मान्यता खोटी है। ऐसे हिंसा, वह तेरे आत्मा की है। ऐसा हो नहीं सकता। भावार्थ लेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय। अहिंसा की व्याख्या चलती है। सम्यग्दर्शनसहित हिंसा का त्याग, स्थिरता के अंश की वृद्धि। स्वभाव शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अन्तर अनुभव का भान होने के पश्चात् स्वरूप में स्थिरता होने का नाम अहिंसा है। उस अहिंसा में ऐसा हिंसा का भाव नहीं होता, यह व्याख्या चलती है। यहाँ ८५ में यह आया है।

यह जीव रोग से अथवा दरिद्रता आदि से अत्यन्त दुःखी है, यदि इसे मार दें तो उस दुःख से वह मुक्त हो जावेगा, ऐसी श्रद्धा नहीं करना चाहिए। छूटे कहाँ से? इसका उदय कर्म का है, फिर यह शरीर से भोगे या दूसरे से भोगे, यह कहीं कर्म हटनेवाला नहीं है। मार डालने से कहीं वहाँ मौसीबा बैठी है? यह वहाँ नरक में जाएगा तो इससे अधिक दुःखी होगा। यह भाव अधिकार किसका तेरा? दूसरे को दुःखी देखकर गरीबी, बहुत कर्ज से घिर गया हो, और मस्तिष्क वैसा (पागल जैसा) हो गया हो, इसे मार डालें तो बेचारा दुःख से बचे। दुःख से बचे कहाँ? इसके कर्म के कारण जहाँ जाएगा, वहाँ यह कर्म तो पड़ा ही है। दुकान बदलने से लेनदार दुकान छोड़ेंगे? दुकान बदले तो लेनदार छोड़ेंगे? जहाँ जाएगा, वहाँ जाएँगे। किसी प्राणी को ऐसे दुःख से छूट जाए - ऐसी मान्यता नहीं करना। ऐसा करके मारना नहीं।

मुमुक्षु : मान्यता ही खोटी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह श्रद्धा खोटी है। बड़ी चर्चा चली थी न? देखो न! भाई ने कहा था, कल हिम्मतभाई ने कहा था। बछड़े के समय में चर्चा नहीं चली थी? गाँधी की। वह बात अतयन्त विपरीत थी। लोग खलबलाहट करके एकदम हमारे पास आये थे। उसकी श्रद्धावाले थे और उसमें यह आया तो कहे - यह क्या? कहा, यह था वह ही। वह क्या-क्या? उसे अहिंसा किसे कहना - खबर ही नहीं। महावीर की अहिंसा, वह गाँधी की अहिंसा, ऐसा लोग कहते हैं (परन्तु) ऐसा हे नहीं, बापू! यह वस्तु दूसरी है, भाई!

भगवान की अहिंसा तो, आत्मा में शुद्धस्वभाव शक्तिरूप है, उसे व्यक्तरूप करना, उसका नाम वस्तु की अथवा वीर के घर की अहिंसा है। वस्तु ऐसी है। यह कहीं किसी ने बनायी नहीं है। परजीव को न मारने का विकल्प भी, वह भी एक हिंसा है। शुभभाव है न? यह तो वीतरागमार्ग है, भाई! सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव अकेले वीतराग -विज्ञान के पिण्ड हो गये हैं। उन्हें वीतरागी-विज्ञान करने की ही बात भगवान के मुख में आती है। समझ में आया? स्वभाव शुद्ध वीतरागस्वरूप है। उसमें अन्तर नजर कर, उसमें स्थिर हो, बस! इसका नाम वीतरागी अहिंसा और विज्ञान कहा जाता है। जगत को समझना कठिन पड़े, इससे कहीं मार्ग बदला जाएगा?

कहते हैं, दूसरे को दु:ख से पीड़ित देखकर, दु:खित देखकर दु:ख से छुड़ा दें कि जिससे वर्तमान में बेचारा दु:ख से बचा जाए। भविष्य में क्या होगा - इसकी तो इसे खबर नहीं। ऐसे नहीं मारा जाता, किसी प्राणी को ऐसे नहीं मारा जाता। और **मनुष्य और तिर्यंच की आयु पुण्य के उदय से बड़ी होती है..** सामनेवाले का आयुष्य हो, पुण्य के उदय से उसे आयुष्य मिला है।

मुमुक्षु : दो आयुष्य होते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, मनुष्य और तिर्यञ्च की दो बात है न? दूसरे को कौन मारता है यहाँ नारकी-देव को? मनुष्य और तिर्यञ्च की आयुष्य के उदय से, ऐसा सिद्ध करना है। पुण्य के उदय से मिला, उसे तू दु:खी-रोग आदि देखकर मार डाले, यह कोई उचित है? ऐसा कहते हैं। उसके पुण्य का उदय है, उसे ऐसा तिर्यञ्च-मनुष्य का आयुष्य मिला, उदय से बहुत होता है - आयुष्य लम्बा होता है।

अत: उसका छेद नहीं करना। उसे मारना नहीं। यह दु:खी आदि देखते हैं न! बहुत दु:खी हो और उसे स्वयं को मन हो जाए कि अब मर जाना, लो! परन्तु तू जायेगा कहाँ? बहुत पीड़ा, बापू! अब सहन नहीं होती। कितने ही मरते हैं न? देखो न! गोली खाकर मरते हैं, अग्नि में गिरकर मरते हैं, कुँए में पड़कर मरते हैं, अफीम खाते हैं। कहाँ जाएगा, भाई! आत्मा तो नित्य है न? जैसे तूने कर्म किये, वैसे उदय में आये बिना नहीं रहेंगे। इसलिए ऐसे जीव का छेद नहीं करना - मारना नहीं।

अथवा जैसा उसका उदय है, वैसा भोगता है,.. ऐसे समाधान करना। जैसा उसे कर्म का उदय है, वैसे संयोग उसे मिलें, उसमें दूसरा क्या करे? और दूसरा दे क्या? जैसा उसे पूर्व का पुण्य-पाप का उदय है, वैसा वह भोगता है। **आप हिंसा करके पाप क्यों उत्पन्न करे।** दूसरे को मारकर हिंसा करके पाप किसलिए उत्पन्न करना? और उसे मारते समय उसकी पीड़ा उसे अधिक होगी या नहीं? तुझे तो पाप के परिणाम (होंगे) परन्तु उसे मरते, उसे भी क्लेश परिणाम होंगे। इसलिए कहते हैं कि ऐसा दूसरे को मारकर पाप किसलिए उत्पन्न करना? इसलिए किसी को इस प्रकार के दु:खी, गरीब (देखकर).. मार डालो.. एक व्यक्ति को बहुत तरंग थी, तरंग, बहुत तरंग। फिर बाँधते हैं न? वह नहीं बाँधते? पारा। गाँवों में ऐसा होता है।

मुमुक्षु : संधिवात होवे उसे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; पारा बाँधे। तब भी कहीं पीड़ा नहीं मिटती। फिर बन्दूक से मारो मुझे - ऐसा कहे, मुझसे सहन नहीं होता। बन्दूर से मारो। कहो, समझ में आया? पैसेवाला बड़ा सेठ था। बन्दूक से मारो, परन्तु यह पीड़ा सहन नहीं होती। कहाँ जाओगे? यह तो जो उदय आया है, वह तो सर्वत्र वह का वह आत्मा के साथ रहनेवाला है। कहाँ जाओगे? वहाँ है कहीं? इस प्रकार से स्वयं भी मरना नहीं और दूसरे को भी मारना नहीं। ८६ (गाथा)

गाथा - ८६

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हता: सुखिन एव।
इति तर्कमण्डलाग्र: सुखिनां घाताय नादेय:।।८६।।

सुख प्राप्त होता कष्ट से, सुख युक्त मरते सुखी ही।
पर लोक में यों कुतर्क असि से, सुखी को मारो नहीं।।८६।।

अन्वयार्थ : (सुखावाप्ति:) 'सुख की प्राप्ति (कृच्छ्रेण) कष्ट से होती है; अत: (हता:) मारने में आए हुए (सुखिन:) सुखी जीव (सुखिन: एव) परलोक में सुखी ही

(भवन्ति) होंगे', (इति) इस प्रकार (तर्कमण्डलाग्रः) कुतर्क की तलवार (सुखिनां घाताय) सुखी जीवों के घात के लिए (नादेयः) अंगीकार नहीं करना चाहिए।

टीका : 'कृच्छ्रेण सुखावाप्तिः'-कष्ट से सुख की प्राप्ति होती है, 'सुखिनः हताः सुखिनः एव भवन्ति'-इसलिए सुखी जीवों को मारा जाय तो वे परलोक में भी सुखी ही होंगे, 'सुखिनां घाताय इति तर्कमण्डलाग्रः न आदेयः'-सुखी जीवों के घात के लिए इस प्रकार का विचार किसी को नहीं करना चाहिए।

भावार्थ : सुख कष्ट से होता है। इसलिए इन सुखी जीवों को काशी के करवत इत्यादि रीति से मारा जाय तो परलोक में भी वह सुखी होंगे - ऐसा श्रद्धान नहीं करना चाहिए। इस प्रकार मरने या मारने से सुखी कैसे हो सकते हैं? सुखी तो सत्यधर्म के साधन से हो सकते हैं।।८६।।

गाथा ८६ पर प्रवचन

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव।
इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः।।८६।।

अन्वयार्थ : सुख की प्राप्ति कष्ट से होती है.. कहते हैं कि सुख मिलना महा पुण्य के उदय से, बहुत मेहनत से मिलता है। **अतः मारने में आए हुए सुखी जीव..** वह सुखी जीव है, उसे यदि मार डाले न, तो वह सुखी में कहीं अवतरित होगा, बहुत पैसेवाला और बहुत सुखी होवे न, उसे मार डाले तो सुखी में अवतरित होगा। कुछ नियम है सुखी में अवतरित होगा? मर जाएगा कहीं नरक में जाएगा और पशु में चला जाएगा। **सुखी जीव परलोक में सुखी ही होंगे' इस प्रकार 'तर्कमण्डलाग्रः' कुतर्क की तलवार सुखी जीवों के घात के लिए अंगीकार नहीं करना चाहिए।** सुखी है, वह सुखी रहेगा, मार डालो, भाई! बहुत प्रकार वर्णन किये हैं, हों!

'कृच्छ्रेण सुखावाप्तिः' कष्ट से सुख की प्राप्ति होती है,.. अर्थात् बहुत पुण्य से प्राप्ति होती है। बहुत मेहनत करे, पुण्य होवे तो बाहर के संयोग (प्राप्त होवे)। अभी बाहर की बात है, हों! आत्मा के आनन्द के सुख की बात नहीं।

मुमुक्षु : कष्ट भोगे तो सुखी हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : कष्ट से सुख की प्राप्ति होती है।

मुमुक्षु : मारने का कष्ट दें तो सुखी होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए सुखी जीवों को मारें तो वे परलोक में भी सुखी ही होते हैं। ऐसा।

मुमुक्षु : कष्ट डाले तो सुख।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, कष्ट से सुख की प्राप्ति होती है, यहाँ तो यह है। यह तो परन्तु वर्तमान में सुखी है, उसे ऐसा कि,

मुमुक्षु : बाद में भोग दे तो दुःखी हो

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक। **'कृच्छ्रेण सुखावाप्तिः'** सुख की प्राप्ति कष्ट से होती है। यह बहुत दुःख पावे तो सुख हो - ऐसा विपरीत फिर कहाँ से निकाला?

कष्ट से सुख की प्राप्ति होती है, इसलिए सुखी जीवों को मारा जाय तो वे परलोक में भी सुखी ही होंगे,.. ठीक! विष्णु का डाला था। काशी में करवत लेते थे न। कोई आवे न, करवत दो। सुखी होगा। तुम्हें थोड़ा कष्ट होगा, थोड़ा कष्ट होगा, परन्तु बाद में बहुत सुखी होओगे।

मुमुक्षु : कष्ट में सुख होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी कष्ट में सुख नहीं। **कष्ट से सुख की प्राप्ति होती है, इसलिए सुखी जीवों को मारा जाय तो वे परलोक में भी सुखी ही होंगे,..** सुख के समय उसे मार डाले तो परलोक में भी सुखी होगा। **सुखी जीवों के घात के लिए इस प्रकार का विचार किसी को नहीं करना चाहिए।** सुखी जीवों के धात के लिये उसे दुःखी करके, पर में सुखी होगा, ऐसा विचार नहीं करना।

सुख कष्ट से होता है। इसलिए इन सुखी जीवों को काशी के करवत इत्यादि रीति से मारा जाय तो परलोक में भी वह सुखी होंगे - ऐसा श्रद्धान नहीं करना चाहिए। इस प्रकार मरने या मारने से.. दोनों भाषा रखी लो! **मरने या मारने**

से सुखी कैसे हो सकते हैं? कहो, समझ में आया? इस प्रकार से मरते हैं वे भी सुखी किस प्रकार से हों? और तू उन्हें मारे तो तू सुखी किस प्रकार होगा? **सुखी तो सत्यधर्म के साधन से हो सकते हैं।** सच्चा धर्म अन्तर आनन्द साधे, वह सुखी होता है। सत् धर्म का साधन, हों! बाहर के साधन–फाधन की बात नहीं है। स्वभाव शुद्ध चैतन्य का साधन, अन्तर में अवलोकन और दृष्टि करके स्थिर होना, ऐसा स्वभाव का साधन (करे), उससे सुखी होता है। बाकी कोई सुख है नहीं। अब जरा गुरु की बात करते हैं।

गाथा - ८७

उपलब्धिगतिसाधनसमाधिसारस्यभूयसोऽभ्यासात्।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्त्तनीयं सुधर्मभिलषिता।।८७।।

पा अत्यधिक अभ्यास से, हेतु सुगति रस समाधि।
युत निज गुरु हिंसा करे, नहिं सुधर्मार्थी शिष्य भी।।८७।।

अन्वयार्थ : (सुधर्मं अभिलषिता) सत्यधर्म के अभिलाषी (शिष्येण) शिष्य द्वारा (भूयसः अभ्यासात्) अधिक अभ्यास से (उपलब्धि सुगतिसाधनसमाधिसारस्य) ज्ञान और सुगति करने में कारणभूत समाधि के सार को प्राप्त करनेवाले (स्वगुरोः) अपने गुरु का (शिरः) मस्तक (न कर्त्तनीयम्) नहीं काटना चाहिए।

टीका : 'सुधर्मं अभिलषिता शिष्येण स्वगुरोः शिरं न कर्त्तनीयम्'–धर्म के चाहनेवाले शिष्य को अपने गुरु का मस्तक नहीं काटना चाहिए। कैसा है गुरु? 'भूयसः अभ्यासात् उपलब्धि सुगति साधन समाधिसारस्य'–बहुत अभ्यास से जिसने सुगति के कारणभूत समाधि का सार पा लिया है।

भावार्थ : हमारा गुरु अभ्यास में लग गया है (ध्यान–समाधि में मग्न है), अभ्यास बहुत किया, अब यदि इसके प्राणों का अन्त कर दिया जाय तो वह उच्च पद को प्राप्त हो जायेगा – ऐसा विचार करके शिष्य को अपने गुरु का मस्तक काटना योग्य नहीं है। उसने जो साधन किया है, उसके फल को वह भविष्य में प्राप्त करेगा ही, तू हिंसा करके पाप किसलिए उत्पन्न करता है।।८७।।

गाथा ८७ पर प्रवचन

उपलब्धिगतिसाधनसमाधिसारस्यभूयसोऽभ्यासात्।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्त्तनीयं सुधर्मभिलषिता।।८७।।

सत्यधर्म के अभिलाषी शिष्य द्वारा अधिक अभ्यास से ज्ञान और सुगति करने में कारणभूत समाधि के सार को प्राप्त करनेवाले.. ध्यान में बैठे हैं, वे साध रहे हैं, गुरु ध्यान में बैठकर धर्म को साधते हैं। उसमें से मार डाले तो ऐसे के ऐसे सुखी रहा करेंगे। मार डालो उन्हें। समझ में आया? धर्म का चाहनेवाला शिष्य वापस, ऐसा कि उन्हें भी धर्म होता है न? ऐसा कहा है न? सत्यधर्म का अभिलाषी कहा है। ऐसे को मार डाले तो अपने को भी लाभ हो और उन्हें भी लाभ हो।

सत्यधर्म के अभिलाषी शिष्य द्वारा अधिक अभ्यास से ज्ञान और सुगति करने में कारणभूत समाधि के सार को प्राप्त करनेवाले.. समाधि में हैं अर्थात् आत्मा के आनन्द में हैं। उन्हें मार डालें तो भविष्य में भी सुखी होंगे। **अपने गुरु का मस्तक नहीं काटना चाहिए।** ऐसा होगा जगत में कहीं। **धर्म के चाहनेवाले शिष्य को अपने गुरु का मस्तक नहीं काटना चाहिए। कैसा है गुरु? बहुत अभ्यास से जिसने सुगति के कारणभूत समाधि का सार पा लिया है।** लो!

भावार्थ : हमारा गुरु अभ्यास में लग गया है (ध्यान-समाधि में मग्न है), अभ्यास बहुत किया,... अन्दर में, **अब यदि इसके प्राणों का अन्त कर दिया जाय तो वह उच्च पद को प्राप्त हो जायेगा..** लो! **ऐसा विचार करके शिष्य को अपने गुरु का मस्तक काटना योग्य नहीं है।** ऐसा विचार करके शिष्य को। **उसने जो साधन किया है उसके फल को वह भविष्य में प्राप्त करेगा ही, तू हिंसा करके पाप किसलिए उत्पन्न करता है।** होगा ऐसा कोई मत जगत में बहुत प्रकार के होंगे।

मुमुक्षु : गुरु के समीप ऐसा सीखा होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : सीखा। गुरु के समीप सीखा नहीं, उसे ऐसा हो गया कि यह ध्यान में हैं और अभ्यास में भी आनन्द में हैं, उड़ा दें। गुरु के समीप शिष्य सीखा नहीं।

ऐसा कहे और गुरु के समीप शिष्य ऐसा सीखा होगा ? प्रेमचन्दभाई ! उसे ऐसा कि ध्यान में बैठे हैं और उन्हें उड़ा दें तो अब वापस ध्यान बदलेगा नहीं और उसी-उसी में सुखी हो जायें और मोक्ष हो जाये। अत: हमने तो गुरु का भी अच्छा किया कहलाये। गुरु को बदला दिया कहलाये। गुरु ने अपने को पढ़ाया, समझाया तो अपने को उन्हें कुछ लाभ देना चाहिए न ! ऐसे उड़ जाये तो उन्हें लाभ मिलेगा, ऐसा मानते हैं लो ! ८८।

गाथा - ८८

धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयताम्।
झटितिघटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानाम्।।८८।।

घट नष्ट खग शिव शीघ्र, यों मानों नहीं ये खारपटिक।
जो शिष्य विश्वसनीयता, वश दिखा कम धन चाह नित।।८८।।

अन्वयार्थ : (धनलवपिपासितानां) थोड़े धन का लोभी और (विनेयविश्वासनाय दर्शयताम्) शिष्यों को विश्वास उत्पन्न करने के लिये दर्शानेवाला (खारपटिकानाम्) खार-पटिकों का (झटितिघटचटकमोक्षं) शीघ्र घड़ा फूटने से चिड़िया के मोक्ष की तरह मोक्ष का (नैवश्रद्धेयं) श्रद्धान नहीं करना चाहिए।

टीका : 'खारपटिकानाम् झटितिघटचटकमोक्षं नैव श्रद्धेयं'-एक खारपटिक मत है, वह तत्काल घड़े के पक्षी के मोक्ष समान मोक्ष कहता है, उसका श्रद्धान नहीं करना।

भावार्थ : कोई खारपटिक नाम का मत है, उसमें मोक्ष का स्वरूप ऐसा कहते हैं कि जिस प्रकार घड़े में पक्षी कैद है, यदि उस घड़े को फोड़ डाला जाय तो पक्षी बंधन रहित मुक्त हो जाय। उसी प्रकार आत्मा शरीर में बन्द है, यदि शरीर का नाश कर दिया जाय तो आत्मा बन्धनरहित-मुक्त हो जाय। ऐसा श्रद्धान नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह श्रद्धान हिंसा का कारण है। अन्तरंग कार्माणशरीर के बन्धनसहित आत्मा इस तरह मुक्त कैसे हो सकता है? कैसा है खारपटिक? 'धनलवपिपासितानाम्'-थोड़ा सा धन का लोभी है। तथा कैसा है? 'विनेयविश्वासनाय दर्शयताम्'-शिष्यों को विश्वास दिलाने के लिये कितनी ही रीतियाँ दिखलाता है। अत: इसके कथन का श्रद्धान नहीं करना।।८८।।

गाथा ८८ पर प्रवचन

धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयताम्।
झटितिघटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानाम्।।८८।।

थोड़े धन का लोभी और शिष्यों को विश्वास उत्पन्न करने के लिये दर्शानेवाला खार-पटिकों का शीघ्र घड़ा फूटने से चिड़िया के मोक्ष की तरह मोक्ष का श्रद्धान नहीं करना चाहिए। घड़े में चिड़िया हो, घड़ा फोड़ डाले तो चिड़िया उड़कर चली जाये। फोड़ डाले तब उड़े। ऐसे इसे (शरीर को) फोड़ डालें तो आत्मा उड़कर मोक्ष में चला जाये। घड़ा बन्द है न? यह बन्द है, देखो! घड़े में चिड़िया बन्द हो तो घड़ा फोड़ डालें तो चिड़िया उड़ जाये। इसी प्रकार यह पूरा बन्द है, फोड़ डाले तो आत्मा मोक्ष में चला जाये। जगत में कोई ऐसा भी अभिप्राय है। **एक खारपटिक मत है, वह तत्काल घड़े के पक्षी के मोक्ष समान मोक्ष कहता है,..** लो! घड़ा फूटकर तुरन्त चिड़िया उड़ जाये, ऐसा मोक्ष कहते हैं, ऐसा मोक्ष। **उसका श्रद्धान नहीं करना।**

कोई खारपटिक नाम का मत है, उसमें मोक्ष का स्वरूप ऐसा कहते हैं कि जिस प्रकार घड़े में पक्षी कैद है, यदि उस घड़े को फोड़ डाला जाय तो पक्षी बंधन रहित मुक्त हो जाय। उसी प्रकार आत्मा, शरीर में बन्द है, यदि शरीर का नाश कर दिया जाय तो आत्मा बन्धनरहित-मुक्त हो जाय। लो! बन्धनरहित तो वह करे, तब हो या तू करे तो हो? तू शरीर का नाश करे, उसमें बन्धनरहित कहाँ से हो गया? जगत में ऐसे भी अभिप्राय बहुत पड़े हैं।

ऐसा श्रद्धान नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह श्रद्धान हिंसा का कारण है। अन्तरंग कार्माण शरीर के बन्धन सहित आत्मा इस तरह मुक्त कैसे हो सकता है? अन्तरंग कार्माण शरीर के बन्धन सहित किस प्रकार हो? वह तो इस शरीर का छेद किया। कार्माण शरीर के बन्धनरहित तो वह आत्मा अपने स्वभाव का आश्रय ले, तब हो। तब बन्धन से छूटे। अकेले शरीर का नाश करने से बन्धन से नहीं छूटता।

कैसा है खारपटिक?-थोड़ा सा धन का लोभी है। तथा कैसा है?-शिष्यों को विश्वास दिलाने के लिये कितनी ही रीतियाँ दिखलाता है। अतः इसके कथन

का श्रद्धान नहीं करना। मार डालें तो इसके पास से पैसा मिले, ऐसा होता है इत्यादि-इत्यादि। समझ में आया? पैसा हो उसके पास तो (कहे), देखो! तुम्हें ऐसे-ऐसे मार डालेंगे तो तुम्हारी मुक्ति होगी। मार डालें तो उसके पास पैसा हो वह ले ले। ऐसा किसी-किसी जगह होगा। इसमें कहीं लिखा था। ८९

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : गुरु की यहाँ कहाँ बात है? मार डाले, ऐसा मनुष्य हो, उसे कहे कि देखो! घड़े में चिड़िया है न, घड़ा फोड़कर, ऐसे घड़ा तेरा फोड़ डालें और मोक्ष हो जाये, पैसा हो तो ले ले। वह लोभ में खिंच जाये। यहाँ करते हैं न अभी? कोई दस गुना और पन्द्रह गुना देते हैं न? पैसा आवे ठग। और डबल दे। फिर सबके बहुतों के गहने ले तुमको डबल कर दूँगा। पचास हजार (के) गहने एकत्रित हो और लेकर चला जाये। किसी के पाँच सौ के लेकर, दो-एक हजार दिये हों इतने में। दो, पाँच हजार पहले तो देना ही पड़े न! फिर विश्वास उपजाकर.. नानाभाई! ओहो..! यह तो डबल कर देता है, अपने को दुगुना कर देता। ऐई! फिर बहुत लुटते हैं।

इसी प्रकार इसे भी लोभ हो कि यदि इस शरीर में कष्ट है, इस शरीर में से उड़ जायेगा। चिड़िया मार डालोगे तो। तुम्हारा आत्मा मुक्त हो जायेगा। बस! लो! तब भाई! मेरा पैसा हो तो तुम ले लो। ऐसा भी मत जगत में होगा। अहिंसाधर्मी जीव को ऐसी श्रद्धा करना नहीं, यहाँ तो ऐसा सिद्ध करते हैं। जहाँ विकल्प उठाना वह हिंसा है, वहाँ और ऐसी सब गड़बड़ करना, वह तो बाह्य में भी ठिकाना नहीं है।

गाथा - ८९

दृष्ट्वा परं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम्।
निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्मापि।।८९।।

अति देख भोजन हेतु आए, क्षुधित को निज माँस ही।
दें दान ऐसा सोच तुम, निज आत्मघात करो नहीं।।८९।।

अन्वयार्थ : (च) और (अशनाय) भोजन के लिये (पुरस्तात्) पास (आयान्तम्) आये हुए (अपरं) अन्य (क्षामकुक्षिम्) भूखे पुरुष को (दृष्ट्वा) देखकर (निजमांसदान-रभसात्) अपने शरीर का माँस देने की उत्सुकता से (आत्मापि) अपना भी (न आलभनीय:) घात नहीं करना चाहिए।

टीका : 'च अशनाय आयान्तं क्षामकुक्षिं पुरस्तात् दृष्ट्वा निजमांसदानरभसात् आत्मा अपि न आलभनीय:'-भोजन लेने के लिए आए हुए दुर्बल उदरवाले मनुष्य को अपने समक्ष देखकर अपना मांस देने के उत्साह से-उतावली से अपने शरीर का भी घात नहीं करना।

भावार्थ : कोई माँसभक्षी जीव भोजन के लिये अपने पास आया, उसे देखकर उसके लिये अपने शरीर का भी घात नहीं करना, कारण कि माँसभक्षी पात्र नहीं है, माँस का दान उत्तम दान नहीं है।।८९।।

गाथा ८९ पर प्रवचन

दृष्ट्वा परं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम्।
निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्मापि।।८९।।

और भोजन के लिये पास आये हुए अन्य भूखे पुरुष को देखकर-निजमांसदानरभसात्-अपने शरीर का माँस देने की उत्सुकता से अपना भी घात नहीं करना चाहिए। कहो, समझ में आया ? इसमें कथा आती है न ? शान्तिनाथ भगवान की, उसमें श्वेताम्बर में आती है। पूर्व में थे, प्रौषध में थे, उसमें एक पक्षी आया, उसे दूसरा पकड़ने को। यह मेरा आहार है, इसलिए मुझे दो, नहीं तो तुम्हारे शरीर का माँस दो। कथा आती है या नहीं ? शान्तिनाथ का पूर्वभव, पूर्वभव। बहुत पहले। वह पक्षी था देव, इनकी परीक्षा करने आया कि बहुत दयावान है। बैठा उसमें - क्या कहलाता है ? तराजू में बैठा, इतना वजन किया कि पूरे स्वयं बैठ गये तो भी पार नहीं आया। यह दया पाली, यह बात सत्य नहीं है। ऐसा नहीं होता। देनेवाले मनुष्य को देनेवाले को वह पात्र नहीं और लेनेवाला भी पात्र नहीं और देनेवाला माँस नहीं दे सकता। दोनों अपात्र हैं। कथा में आता है। मेघरथ

के भव में ऐसा किया। यह मिथ्या दया की बातें। ऐसी वह कहीं दया होती है?

भूखे पुरुष को '**क्षामकुक्षिम्**' जिनकी '**कुक्षिम्**' खाली है उन्हें? खाली पेट है जिनका, उन्हें **अपने शरीर का माँस देने की.. 'रभसात्'** का अर्थ यह किया, नहीं? उत्सुकता '**रभसात्**' का तत्काल ऐसा आता है उसमें। उतावल, समय। **अपना भी घात नहीं करना चाहिए।** लो! **'च अशनाय आयान्तं क्षामकुक्षिं पुरस्तात् दृष्ट्वा निजमांस -दानरभसात् आत्मा अपि न आलभनीयः' भोजन लेने के लिए आए हुए दुर्बल शरीरवाले मनुष्य को...** देखा? मेरा शरीर बहुत दुर्बल है। **अपने समक्ष देखकर अपना मांस देने के...** लो भाई! माँस, तेरा शरीर दुर्बल हो तो तुझे मेरा माँस दूँ। मूर्ख है, कहते हैं। वह माँस देनेवाला भी मूर्ख और लेनेवाला भी मूर्ख। दोनों को अधर्म है।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, देते हैं न? **अपने समक्ष देखकर अपना मांस देने के उत्साह से-उतावली से अपने शरीर का भी घात नहीं करना।** शरीर में से माँस उसे नहीं देना। देने के योग्य है? वह तो महापाप है। लेनेवाला भी अपात्र है।

कोई माँसभक्षी जीव भोजन के लिये अपने पास आया,.. यह सब अन्दर चलता है, हों! कथाओं में भी सब लिखा है। **उसे देखकर उसके लिये अपने शरीर का भी घात नहीं करना,** दया हो गयी मानो, ओहो..हो..! मुझे ऐसी दया आयी, मेरा शरीर ले जा, जा कहे। **कारण कि माँसभक्षी पात्र नहीं है, माँस का दान उत्तम दान नहीं है।** उसमें आता अवश्य है, यह अमरचन्द दीवान का। जयपुर, नहीं? राजा ने कुछ जयपुर में वह सिंह बाँधा न! सिंह बाँधा कि जाओ, इसे दीवानजी माँस दो इसे, भोजन दो जाओ। लड्डू लेकर अन्दर आये। सिंह में, हों! पिंजड़े में गये। सिंहराज! वनराज! यह खाना हो तो खा, नहीं तो इस शरीर को खा। यहाँ इनकार करते हैं। समझ में आया? बाहर में तो उसकी महिमा चलती है, दीवान ने ऐसा किया। अपना माँस देना, वह उचित नहीं है। खानेवाला भी पात्र नहीं है। वस्तु ऐसी है, लो! यह तो ऐसा निकला! उसमें ऐसा है। अभी समाचार-पत्र में आया, प्रकाश (हितैषी) सन्मति सन्देश (में आया)। पिंजड़े में अमरचन्दजी खड़े हैं।

जयपुर में दिगम्बर दीवान बहुत हो गये हैं। ऐसे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धावाले। फिर सिंह ने सिर फेर लिया, मुँह फेर लिया, लिया नहीं। यहाँ है यह, यह खाना हो तो खा, नहीं तो यह शरीर है, ऐसा आता है कहते हैं। अभी अन्यमती में बात आयी है, नहीं? होवे वह ठीक, परन्तु ऐसी बात अभी समाचार-पत्र में आयी थी। प्रकाशचन्दजी ने डाली थी। वास्तव में तो उन्होंने यह सब पुरुषार्थसिद्धि-उपाय का सब सुना है न? दिगम्बर थे। बहुत वाँचन। जयपुर में जैन की पुरी है - जैनपुरी। तीन हजार तो घर हैं, दो सौ तो मन्दिर हैं। बड़ी जैनपुरी है। वहाँ बड़े-बड़े विद्वान हुए। सेठ भी बड़े-बड़े हो गये हैं। दीवान बड़े जैन के, हों! एक के बाद एक दीवान बड़े, जैन के दीवान। यहाँ कहते हैं कि भाई! ऐसे सिंह को यह खाना हो तो खा, नहीं तो दूसरा कुछ नहीं है - ऐसा कहे। इस शरीर को खा, ऐसा नहीं हो सकता। न्याय से तो ऐसा है। माँसभक्षी प्राणी है तो फिर माँस कैसे अपना दे? ऐसी दया नहीं हो सकती।

माँसभक्षी पात्र नहीं है, माँस का दान उत्तम दान नहीं है। वह लेनेवाला भी पात्र नहीं, पापी है और यह देनेवाला भी (दाता) नहीं, उत्तम दान नहीं, वह तो पाप दान है। लो! बहुत बोल आये, बारह गाथा कही थी न? अब अन्तिम ९०, इसकी अन्तिम। ये सब दृष्टान्त देकर सारांश करते हैं।

गाथा - ९०

को नाम विशति मोहं नयभंगविशारदानुपास्यगुरून्।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसा विशुद्धमतिः।।९०।।

नय भेद बहुज्ञाता गुरु, सेवक रहस्य जिनमत विदित।
निर्मलमति ले अहिंसा, आश्रय नहीं हो विमोहित।।९०।।

अन्वयार्थ : (नयभंगविशारदान्) नय के भंगों को जानने में प्रवीण (गुरून्) गुरुओं की (उपास्य) उपासना करके (विदितजिनमतरहस्यः) जैनमत का रहस्य जाननेवाला (को नाम) ऐसा कौन (विशुद्धमतिः) निर्मल बुद्धिधारी है जो (अहिंसां श्रयन्) अहिंसा का आश्रय लेकर (मोहं) मूढ़ता को (विशति) प्राप्त होवे?

टीका : 'नाम नयभंगविशारदान् गुरुन् उपास्य कः मोहं विशति'-हे जीव, नय के भेदों को जानने में प्रवीण गुरु की सेवा करके कौन जीव मोह को प्राप्त होगा? अर्थात् कोई नहीं होगा।

भावार्थ : जीव को भले-बुरे हित-अहित का श्रद्धान गुरु के उपदेश से होता है। पूर्वोक्त अश्रद्धानी कुगुरु के बहकाने से यह जीव अन्यथा प्रवर्त्तन करता है। परन्तु जिस जीव ने सर्व नय के ज्ञाता परम गुरु की सेवा की है, वह भला कैसे भ्रम में पड़ सकता है? कदापि नहीं पड़ सकता। कैसा है वह जीव? 'विदितजिनमतरहस्यः'-जिसने जैनमत का रहस्य जान लिया है। और कैसा है वह जीव? 'अहिंसा श्रयन्'-(सर्वज्ञ वीतरागकथित) दया ही को धर्म का स्वरूप जानकर जिसने अंगीकार किया है। और कैसा है? 'विशुद्धमतिः'-जिसकी बुद्धि निर्मल है, ऐसा जीव मोह को प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार दयाधर्म को दृढ़ करके अहिंसा व्रत का निर्णय किया।।९०।।

गाथा ९० पर प्रवचन

को नाम विशति मोहं नयभंगविशारदानुपास्यगुरून्।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसा विशुद्धमतिः।।९०।।

'नयभंगविशारदान्' नय के भंगों को जानने में प्रवीण.. नय का ज्ञान। व्यवहार-निश्चय, निमित्त-उपादान, वास्तविक क्या है, इसके जानने में प्रवीण है। **नय के भंगों को जानने में प्रवीण..** होशियार, विचिक्षण। ऐसे **गुरुओं की उपासना करके 'विदितजिनमतरहस्यः' जैनमत का रहस्य जाननेवाला..** वीतराग परमेश्वर केवलज्ञानी त्रिलोकनाथ वीतरागदेव ने जो मार्ग कहा, उसके रहस्य के जाननेवाले हैं। समझ में आया? **ऐसा कौन 'विशुद्धमतिः' निर्मल बुद्धिधारी है, जो अहिंसा का आश्रय लेकर मूढ़ता को प्राप्त होवे?** ऐसे दया के नाम से ऐसा कौन करेगा? ऐसा कहते हैं। समझ में आया? धर्मी जीव ऐसा करे नहीं। दुःखी देखकर मार नहीं डाले। माँस के भोजनवाले को माँस दे नहीं। ऐसी दया ही नहीं है, वह सब हिंसा है। मिथ्यात्व है, मिथ्यात्व। उसमें मानना कि मैंने इसे दुःख से मुक्त किया, वह तो महामिथ्यात्व है, मूढ़ है, मूढ़ है। कहो, मोहनभाई! क्या

होगा यह ? गजब बात, भाई ! कितने.. कर डाले। सबको खोटा उड़ाया। समझ में आया ?

निर्मल बुद्धि, विशुद्धमति सम्यग्दृष्टि है न यहाँ ? उसकी अहिंसा की व्याख्या चलती है न ? **अहिंसा का आश्रय लेकर मूढ़ता को प्राप्त नहीं होता।** दया के नाम से ऐसी हिंसा वह नहीं करता। आहा..हा.. ! जहाँ भगवान का मार्ग अन्तर शुद्ध उपयोग होना, वही अहिंसा है। दूसरों को मारना या न मारना और दया, यह सब विकल्प हैं, वे विकल्प स्वयं हिंसा है। आहा..हा.. ! ऐसे वीतराग के मार्ग के रहस्य को समझकर, अहिंसा के आश्रय से ऐसी मूढ़ता क्यों करे ? धर्मी को ऐसी मूढ़ता नहीं हो सकती। समझ में आया ? दुनिया की लाईन अलग, धर्म की लाईन अलग। दुनिया के पुण्यवन्त प्राणी दुनिया में सराहे जायें, इससे कहीं धर्म है, ऐसा है नहीं। बहुत मानते हैं, करोड़ों मानते हैं। करोड़ों मानें इससे क्या है परन्तु ? समझ में आया ?

भगवान वीतराग परमेश्वर ने तो आत्मा के शुद्ध उपयोग को अहिंसा कहा है। शुभराग को भी हिंसा कहा तो दूसरे को ऐसे मारना और ऐसे करना और इस दुःखी को मारना, वह तो महापाप की दृष्टि है। ऐसी दृष्टि अहिंसा के समझनेवाले धर्मी को, वीतरागमार्ग के रहस्य के जाननेवाले को ऐसी श्रद्धा नहीं हो सकती। कहो, समझ में आया इसमें ?

मुमुक्षु : ...सुख हो, इसके लिये..

पूज्य गुरुदेवश्री : सुख हो न। इसे ऐसा कि मैं कुछ परोपकार करूँ, मुझे उपकार किया तो कुछ उपकार करूँ न। मेरे ऊपर उपकार किया है, मुझे समझाया है, तब मैं भी कुछ उपकार करूँ न, सही अवसर पर तो उपकार करना चाहिए न ? जल्दी मोक्ष हो जाये इनका। मूढ़ है, कहते हैं। आहा..हा.. ! मोक्ष, वह कहीं अपने स्वभाव के आश्रय से होता होगा, या शरीर के छूटने से होता होगा ?

'नाम नयभंगविशारदान् गुरुन् उपास्य कः मोहं विशति'-हे जीव, नय के भेदों.. नाम-कुनाम, कुनाम अर्थात् क्या ? यह तो यूँ ही रखा है, हों ! यह सम्बोधन। कुनाम ऐसा कौन - ऐसा है अन्दर। कुनाम, ऐसा वह कौन होगा जगत में ? **नय के भेदों को जानने में प्रवीण..** निश्चयनय-व्यवहार में, निमित्तनय-उपादाननय, स्व-आश्रयनय, पराश्रयनय के ज्ञान में जो विशारद है। **हे जीव, नय के भेदों..** नय का ज्ञान सूक्ष्म है, भाई !

समझ में आया? अहो! निश्चय से, स्व-आश्रय से जितनी निर्मलता प्रगट हो, उस निर्मलता को ही परमात्मा अहिंसा कहते हैं। ओहो..! यह निश्चय अहिंसा, सच्ची अहिंसा। परजीव को न मारना—ऐसा भाव, वह भी सच्ची अहिंसा नहीं, तो फिर मारना और दुःखी देखकर मार डालना, सुखी देखकर मार डालना, सब भंग लिये हैं। दुःखी देखकर मार डालना, सुखी देखकर मार डालना। आहा..हा..! मार डालने का तेरा विकल्प ही खराब है। तुझे श्रद्धा का भान नहीं, मूढ़ है, मूढ़। कहो, समझ में आया इसमें?

हे जीव, नय के भेदों को जानने में प्रवीण गुरु की सेवा करके कौन जीव मोह को प्राप्त होगा? अर्थात् कोई नहीं होगा। ऐसी मूढ़ता कौन सेवन करेगा? ऐसा कहते हैं। वास्तविक नय का ज्ञान है, निश्चय-व्यवहार का (ज्ञान है), ऐसे ज्ञानी ऐसी मूढ़ता को कैसे प्राप्त होंगे? **जीव को भले-बुरे हित-अहित का श्रद्धान गुरु के उपदेश से होता है।** लो! धर्मात्मा गुरु के उपदेश से अच्छे-बुरे, हित और अहित अपने स्वभाव की शान्ति प्रगट करना, स्वभाव वह हित है; पुण्य-पाप के विकल्प, वे अहित हैं। समझ में आया? अच्छे-बुरे—स्वभाव का आश्रय लेकर शुद्धता (प्रगट होना), वह अच्छा है। पुण्य-पाप के विकल्प वे बुरे अर्थात् अनिष्ट हैं। कहो, अच्छा-बुरा है न पहला? अच्छे -बुरे और अहित-अहित। अच्छा, वह शुद्ध का-स्वभाव का आश्रय लेना, वह अच्छा है, शुभाशुभ परिणाम वे बुरे-खराब हैं। हित-अपने शुद्धस्वरूप का आश्रय लेकर अन्दर स्थिर होना, वह हित है; बाकी पुण्य-पाप के विकल्प, वे अहित हैं। समझ में आया?

ऐसा श्रद्धान... ऐसा श्रद्धान **गुरु के उपदेश से होता है। पूर्वोक्त अश्रद्धानी कुगुरु के बहकाने से..** ऊपर कहे गये भंगों का अश्रद्धानी, भानरहित अज्ञानी **कुगुरु के बहकाने से यह जीव अन्यथा प्रवर्त्तन करता है।** कहो समझ में आया? सुखी को मार डालना, दुःखी को मार डालना, दुःख से पीड़ित है, उसे शीघ्र मुक्त करना। सब कुगुरु के भ्रमाये हुए हैं, कहते हैं। समझ में आया? आहा..! मूढ़ शब्द आया या नहीं इसमें! **'मोहं'** आया न? **'मोहं'** आया, मोह को कौन प्राप्त हो? मूढ़ता को (ऐसी) भाषा है। समझ में आया?

परन्तु जिस जीव ने सर्व नय के ज्ञाता परम गुरु की सेवा की है,.. सर्व नयों के जाननेवाले। स्व-आश्रय में क्या लाभ? पराश्रय में क्या नुकसान? समझ में आया? ऐसे

ज्ञान का जिन्हें बराबर स्व-आश्रय-पराश्रय का भान है, ऐसे गुरु की सेवा की। **वह भला कैसे भ्रम में पड़ सकता है?** कहो, समझ में आया? **नहीं पड़ सकता। कैसा है वह जीव? 'विदितजिनमतरहस्यः'**- जिनमत। **जिसने जैनमत का रहस्य जान लिया है।** वीतरागभाव का भाव। जैनमत का रहस्य वीतरागभाव है। समझ में आया? राग, निमित्त की उपेक्षा और आत्मा के आनन्दस्वभाव शुद्ध की अपेक्षा, ऐसा वीतरागमार्ग का रहस्य है। कितने ही ऐसा कहते हैं कि भाई! यह जो मरते हैं तो चढ़ाओ धुन। समझ में आया न? धुन चढ़ाओ तो धुन में रहेगा यह। धुन में रहेगा, वह तो राग है। ऐई! इसे अन्दर में धुन चढ़नी चाहिए। समझ में आया? मरने के समय, आत्मा के आनन्द की अन्दर धुन चढ़े, तो इसकी धुन के कारण समाधि हो। दूसरे धुन चढ़ावे इसे, उस पर लक्ष्य रहे तो समाधि होती होगी?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो बहुत करते हैं न! भगत थे वे न? परन्तु यहाँ यह होता है न? अपने हो और मरे तब कि भाई! लगाओ धुन। वह तो एक शुभभाव का निमित्त होने के लिये। इतना शुभभाव उसे रहे, परन्तु वह कोई समाधिमरण का कारण नहीं है। उसका लक्ष्य धुन में रहा करे, वह तो लक्ष्य राग में रहता है, वह कहीं वस्तु नहीं है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु इससे क्या? शुभभाव कहा। वह मूल वस्तु नहीं। वह मूल दया, अहिंसा नहीं। वह तो भाई थे न अपने? बाबरावाले, नहीं? क्या नाम? दामोदरभाई! बहुत मस्तिष्कवाला व्यक्ति। अन्तिम स्थिति, यहाँ उनके मकान में देह छूटी थी। तब दूसरों को कहा था कि मेरी अन्तिम स्थिति में कोई मुझे कुछ सुनाना नहीं। ऐसा कहा था। भाई! दामोदारभाई ने कहा था कि उस समय कुछ बोलना नहीं। मैं मेरे अन्तर विचारधारा में होऊँ और तुम उस समय.. बना ऐसा, उस समय सब लोग एकत्रित होकर धुन लगायी। दामोदर वकील, तुम्हारे मकान का काम कर गये न। उसे कहाँ याद है? वे कहते थे, पहले से, हों! मुझे अन्तिम स्थिति में कुछ सुनाना नहीं। क्योंकि मेरे अन्तर झुकाव में विक्षेप होगा, ऐसा कहते थे। स्वयं को अन्तर में झुकना है, उसमें दूसरे धुन चढ़ावे, उसमें कहाँ से झुकता था?

समझ में आया ? अत्यन्त वह हो, उसे शुभभाव में रहे, वह अलग बात है। ऐ.. चुनिभाई! खबर है या नहीं ? चुनिभाई को खबर होगी न! तुम्हारे घर में ही था। उसने कहा था पहले, हों! पहले। इनकार किया था। सहज ही ऐसा हुआ, अन्त में सब बोलते थे। इसलिए फिर क्या उसका.. समझ में आया ?

'विदितजिनमतरहस्यः'-जिसने जैनमत का रहस्य जान लिया है। जैनमत का रहस्य तो स्व का आश्रय लेना है। समझ में आया ? पर का आश्रय लेना और पर की धुन लगाना, वह कहीं जैनमत का रहस्य नहीं है। गजब बात, भाई! वीतराग का मार्ग तो कोई दुनिया से उल्टा। वीतराग परमात्मा का जो अभिप्राय और मत, वह तो स्वभाव आनन्द की पूर्णता की ओर का आश्रय लेना। थोड़ा या बहुत परन्तु जो आश्रय है, वह जैनमत है। समझ में आया ? इसके अतिरिक्त जैनमत दूसरा नहीं हो सकता।

'अहिंसा श्रयन्'-दया ही को धर्म का स्वरूप.. दया अर्थात् यह अहिंसा, हों! समझ में आया ? आत्मा में रागादि की उत्पत्ति न होना - ऐसी अहिंसा ही जो धर्म का स्वरूप है, वह दया। **ऐसा जानकर जिसने अंगीकार किया है।** समझ में आया ? यह अहिंसा अर्थात् आत्मा की दया, अपने आत्मा की दया। अरे! आत्मा। अब इस समय तो राग छोड़, स्वरूप का आश्रय ले। ऐसी अपनी दया ले, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? **'अहिंसा श्रयन्'** जिसने भगवान आत्मा पूर्ण पवित्र आनन्दस्वरूप का आश्रय लेकर जिसने अहिंसा प्रगट की है, ऐसी दया, धर्म का स्वरूप है। **दया ही को धर्म का स्वरूप..** तब वह दया अर्थात् कौन सी ? यह। **ऐसा जानकर जिसने अंगीकार किया है।** कहो, समझ में आया ?

'विशुद्धमतिः'-जिसकी बुद्धि निर्मल है, ऐसा जीव मोह को प्राप्त नहीं होता। पाठ है न **मोहम्** ? समझ में आया ? ऐसे अहिंसा के नाम से मोहपने को धर्मी जीव प्राप्त नहीं होता। अहिंसा के नाम से, दया के नाम से मूढ़ता का सेवन नहीं करता। कहो, समझ में आया इसमें ? इसमें तो बड़े-बड़े मानधाता भी खोटे पड़ें किस प्रकार। मलूपचन्दभाई! मानधाता कहना किसे ? दुनिया में सराहे जाते हों, उन्हें मानधाता कहना ? आहा..!

अपना पवित्र आनन्दधाम, उस ओर का लक्ष्य करके उसमें घुस जाना, लीन होना,

बस! यही पूरे वीतरागमार्ग का, नय के प्रमाण का फल यह है। समझ में आया? तब अहिंसा प्रगट होती है, नहीं तो अहिंसा प्रगट नहीं होती। निर्विकल्पोऽहम् शुद्धोऽहम् - आती है न भावना? बन्ध अधिकार के अन्त में दो जगह। यह सब वह तो समझाते हैं कि ऐसा-ऐसा। परन्तु यदि इसका विकल्प जो निर्विकल्पोऽहम्.. निर्विकल्पोऽहम् तो निर्विकल्प कहाँ आया? मरते समय भगवान के दर्शन करना और भगवान के दर्शन में सामने देखकर मरना। सामने देखकर मरे, वह तो राग है। ऐई! वास्तविक बात तो इसे स्वभाव का शरण देना, और यह स्वभाव का शरण ले, वह पूरे वीतरागमार्ग का रहस्य है। परमेश्वर वीतराग त्रिलोकनाथ ऐसा फरमाते हैं। इससे विरुद्ध बात, वह वीतरागमार्ग की नहीं है।

इस प्रकार दयाधर्म को दृढ़ करके... लो! **अहिंसा व्रत का निर्णय किया।** लो! व्यवहार व्रत का, इसमें भी ऐसा भाव नहीं होता। अब सत्यव्रत, दूसरे व्रत की व्याख्या। बहुत श्लोक आये, हों! इसमें बहुत आये। बारह तो ये और इससे पहले शुरु किया।

गाथा - ९१

सत्यव्रत

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः।।९१।।

यह जो प्रमादी योग से, कुछ भी असत् अभिधान है।
जानो उसे नित अनृत, उसके चार भेद यहाँ कहें।।९१।।

अन्वयार्थ : (यत्) जो (किमपि) कुछ (प्रमादयोगात्) प्रमाद कषाय के योग से (इदं) यह (असदभिधानं) स्व-पर को हानिकारक अथवा अन्यथारूप वचन (विधीयते) कहने में आता है, (तत्) उसे (अनृतं अपि) निश्चय से असत्य (विज्ञेयम्) जानना चाहिए (तद्भेदाः) उसके भेद (चत्वारः) चार (सन्ति) हैं।

टीका : 'यत् किमपि प्रमादयोगात् इदं असत् अभिधानं विधीयते तत् अनृतं अपि विज्ञेयम्'-जो कुछ प्रमादसहित योग के हेतु से असत्य अर्थात् बुरा अथवा अन्यथारूप

वचन है, उसे निश्चय से अनृत जानो। 'तद्भेदाः चत्वारः सन्ति'-उस असत्य वचन के चार भेद हैं।।९१।।

गाथा ९१ पर प्रवचन

सत्यव्रत

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः।।९१।।

ये सत्यव्रत की व्याख्या करते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव को सत्यव्रत का एक विकल्प होता है, और उसके स्थान में स्वयं को स्थिरता का अंश भी होता है। शुद्धस्वभाव का अनुभव होकर, दृष्टि परिणमकर, पश्चात् स्वरूप-सन्मुख की शान्ति की विशेषता में रहकर, उस भूमिकाप्रमाण उसे अहिंसा और सत्य का विकल्प उठता है, उसकी व्याख्या करते हैं। इसमें दोनों आ जाते हैं—अन्तर एकाग्रता और यहाँ विकल्प। व्यवहार बताता है कि इसका निश्चय ऐसा होता है।

जो कुछ प्रमाद कषाय के योग से.. प्रमादयोगात प्राणव्यपरोपण हिंसा है न? वह सर्वत्र लागू करते हैं, क्योंकि असत्य भी हिंसा है, चोरी भी हिंसा है, अब्रह्म भी हिंसा है, परिग्रह की ममता भी हिंसा है। **जो कुछ 'प्रमादयोगात्' प्रमाद कषाय के योग से यह स्व-पर को हानिकारक..** अपने को और पर को दुःखदायक, **अन्यथारूप वचन..** हानिकारक अथवा विपरीत वचन **कहने में आता है..** प्रमादयोग से, कषायभाव से। **उसे निश्चय से असत्य जानना चाहिए उसके भेद चार हैं।**

'यत् किमपि प्रमादयोगात् इदं असत् अभिधानं विधीयते तत् अनृतं अपि विज्ञेयम्'-जो कुछ प्रमाद सहित योग के हेतु से... योग तो अकेला कम्पन है परन्तु उसके साथ प्रमादभाव है न? **असत्य अर्थात् बुरा अथवा अन्यथारूप वचन है,..** झूठ अथवा विपरीत जो है, **उसे निश्चय से अनृत जानो।** प्रमादयोग से जितना बोला जाता है, वह सब झूठा, अन्यथा और विपरीत जानना। झूठा और खोटा और विपरीत जानना। **उस असत्य वचन के चार भेद हैं।**

गाथा - ९२

वह आगे कहे जा रहे हैं। उनमें प्रथम भेद कहते हैं:-

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र।।९२।।

निज द्रव्य क्षेत्र रु काल भाव, से सत्य वस्तु का किया।
जिसमें निषेध विलोप-सत, पहला नहीं देवदत्त कहा।।९२।।

अन्वयार्थ : (यस्मिन्) जिस वचन में (स्वक्षेत्रकालभावैः) अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से (सत्अपि) विद्यमान होने पर भी (वस्तु) वस्तु का (निषिध्यते) निषेध करने में आता है, (तत्) वह (प्रथमम्) प्रथम (असत्यं) असत्य (स्यात्) है (यथा) जैसे (अत्र) 'यहाँ (देवदत्तः) देवदत्त (नास्ति) नहीं है'।

टीका : 'यस्मिन् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सत् अपि वस्तु निषिध्यते तत् प्रथमं असत्यं स्यात्'-जिस वचन में अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से सत्तारूप में विद्यमान पदार्थ का भी निषेध करने में आये, कि पदार्थ नहीं है; यह प्रथम भेदरूप असत्य है। दृष्टान्त कहते हैं- 'यथा अत्र देवदत्तः नास्ति'-जैसे यहाँ देवदत्त नहीं है।

भावार्थ : किसी क्षेत्र में देवदत्त नाम का पुरुष बैठा था, वहाँ किसी ने पूछा कि यहाँ देवदत्त है? तो उत्तर दिया कि यहाँ देवदत्त नहीं है। इसी प्रकार अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से जो वस्तु अस्तिरूप हो, उसे नास्तिरूप कहना असत्य का प्रथम भेद है। अस्ति वस्तु को नास्तिरूप कहना वह। जो कुछ वह पदार्थ है, उसे द्रव्य; जिस क्षेत्र को रोककर तिष्ठे, उसे क्षेत्र; जिस काल में जिस रीति से परिणमन करे, उसे काल; तथा उस पदार्थ का जैसा कुछ निजभाव है, उसे भाव कहते हैं। इस अपने चतुष्टय की अपेक्षा से सर्व पदार्थ अस्तित्वरूप हैं। वहाँ देवदत्त का निजचतुष्टय तो था ही परन्तु नास्तिरूप जो कथन हुआ, वही असत्य वचन हुआ।।९२।।

गाथा ९२ पर प्रवचन

वह आगे कहे जा रहे हैं। उनमें प्रथम भेद कहते हैं:- देखो! पहला भेद पूरा।

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र।।९२।।

यह तो दृष्टान्त है, हों! **जिस वचन में अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से विद्यमान होने पर भी..** देखो! भगवान आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से विद्यमान है, यह बात ली। देखा? आत्मा अपना द्रव्य अर्थात् प्रदेश और गुण का पिण्ड—ऐसा जो द्रव्य; द्रव्य अर्थात् अपनी चौड़ाई; काल अर्थात् वर्तमान दशा। यह द्रव्य, अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है। समझ में आया? यह पहले अस्ति का भंग कहते हैं। वह **विद्यमान होने पर भी वस्तु का निषेध करने में आता है..** कि ऐसा नहीं। ऐसी वस्तु नहीं। वह वस्तु ही ऐसी नहीं। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है? तो कहे - नहीं, नहीं; अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं। वह झूठ है। अपने काल से वस्तु है, तो कहे - नहीं, अपने काल से नहीं, पर से है। वह झूठ है।

मुमुक्षु : यहाँ तो देवदत्त का इनकार किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : देवदत्त का तो दृष्टान्त दिया है। देव तो यह आत्मा है। देवदत्त का तो दृष्टान्त दिया है। उस अभव्य का तो दृष्टान्त दिया है, तो कहे - अभव्य के लिये यह है। व्यवहार अभव्य भी करता है। यह व्यवहार, अभव्य के व्यवहार का निषेध है। वह तो दृष्टान्त दिया है; अभव्य क्या, भव्य के व्यवहार का भी निषेध है। क्या हो? नुकसान तो जीव को स्वयं को लगता है या कहीं किसी को है इसमें? आहा..हा..! वर्तमान तो किसी पुण्य के कारण लोगों को सुहाता हो, इसलिए उसे स्वीकारे, महिमा दे। लड़के बोले नहीं? यहाँ स्कूल में अभी होंगे नहीं?

देखो! महासिद्धान्त। असत्य में यह लिया, देखा? स्वयं अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है और 'नहीं' कहना - काल से नहीं, क्षेत्र से नहीं, भाव से नहीं—यह बड़ा झूठ है। अपना आत्मा या कोई भी वस्तु। ये परमाणु भी अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से हैं।

आत्मा के कारण ये नहीं हैं और उसमें कहना कि यह परमाणु यहाँ ऐसा है नहीं, यह परमाणु ऐसा यह है नहीं, यह झूठ है। समझ में आया? समझ में आता है न? भरतभाई! यह शरीर- ऐसा है नहीं। यह मेरे कारण है, मेरे कारण है, उसके कारण नहीं, यह झूठ है - कहते हैं। तुम्हारे चिरंजीवी को कहता हूँ। कहो, समझ में आया या नहीं? ऐई! भरत! झोबालिया आया और। यह प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है। जैसे देवदत्त यहाँ है। ऐसा कहे कि यहाँ नहीं। वैसे प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है और ऐसा कहना कि वह नहीं, यह बड़ा झूठ है। समझ में आया?

जिस वचन में अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से विद्यमान होने पर भी.. देखो न! ओहो..हो..! रचना। **विदूषाम्**- ऐसा कहा है न? पण्डितों के लिये यह उद्धार करता है - ऐसा लिखा है न?

मुमुक्षु : शुरुआत में लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : शुरुआत में लिखा है तो ठेठ तक लिया होगा या नहीं ऐसा? भाई! यह आत्मा भी अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है। अपने काल से नहीं - ऐसा कहे, काल से नहीं - कहे तो भी स्वयं नहीं - ऐसा हो जाता है। अपनी अवस्था है न? यह अवस्था, यह काल की वह अवस्था के कारण काल है उसका। समझ में आया? आत्मा का वर्तमान जो अनन्त गुण की चलता (प्रवर्तमान) काल, चलता क्या कहते हैं? वर्तमान काल नहीं कहते? चालू - वर्तमान काल। उसकी किसी समय में उस-उस पदार्थ की चालू-वर्तमान काल की अनन्त गुण की अवस्था से वह है। उसे ऐसा कहना कि नहीं, नहीं; ऐसा नहीं - वह झूठ है। जिसे अभी पदार्थ की श्रद्धा और ज्ञान नहीं, वह सत्य बोल कैसे सकेगा? - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आत्मा क्या? कर्म क्या? विकार क्या? उनकी पृथकता, उनकी भिन्नता, उनकी अनेकता जिसके ख्याल में, दृष्टि में नहीं, उसे व्रत हो कैसे सकते हैं? - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? कहीं फिर व्रतधारी नाम धरावें और झूठ तो ऐसा बोले - ऐसा कहते हैं। ऐई! दीपचन्दजी!

अपना आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है। जैसे देवदत्त, दृष्टान्त है वह तो। देवदत्त यहाँ है, उसे कहते हैं कि यहाँ नहीं। झूठ है। बात डाली, देखो न! स्वक्षेत्र, काल,

भाव से सत् अस्ति है, ऐसा है न ? सत्यव्रत में वहाँ से शुरु किया। जिसे सत् की दृष्टि हुई नहीं, उसे सत्यव्रत नहीं हो सकता। विकल्प भी उसका खोटा होता है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

विद्यमान होने पर भी वस्तु का निषेध करने में आता है, वह प्रथम असत्य है, जैसे 'यहाँ देवदत्त नहीं है'। लो! यहाँ तो जैसे कि की बात है या नहीं ? **यथा** है या नहीं ? ऐसा ही है, यथा - यह तो दृष्टान्त दिया है। मनुष्य हो और कहे कि वहाँ तोता है ? कि नहीं। झूठ है या नहीं ? क्योंकि यदि हाँ किया तो वह फौजदार पकड़ने आया है। वह यहाँ नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु भगवान ने, परमेश्वर ने केवलज्ञानी ने प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक पॉईन्ट / परमाणु, अपना द्रव्य अर्थात् वस्तु; क्षेत्र अर्थात् चौड़ाई; काल अर्थात् अवस्था; भाव अर्थात् शक्ति से वस्तु है, पर के कारण नहीं। पर के कारण नहीं, यह बाद में कहेंगे यहाँ। परन्तु स्व से है, ऐसा नहीं कहना, निषेध करना कि ऐसा नहीं, यह पहला झूठ है। ओहो..हो..! समझ में आया ? इसकी टीका में अधिक आयेगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

...क्योंकि धर्म और धर्मी पृथक् नहीं है।

धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं होता। जिसे धर्मरुचि होती है, उसे धर्मात्मा के प्रति रुचि होती है। जिसे धर्मात्माओं के प्रति रुचि नहीं होती, उसे धर्मरुचि नहीं होती। जिसे धर्मात्मा के प्रति रुचि और प्रेम नहीं है, उसे धर्मरुचि और प्रेम नहीं है और जिसे धर्मरुचि नहीं है, उसे धर्मी (आपका) आत्मा के प्रति ही रुचि नहीं है। धर्मी के प्रति रुचि न हो और धर्म के प्रति रुचि हो, यह हो ही नहीं सकता क्योंकि धर्म तो स्वभाव है, वह धर्मी के बिना नहीं होता। जिसे धर्म के प्रति रुचि होती है, उसे किसी धर्मात्मा पर अरुचि, अप्रेम या क्रोध नहीं हो सकता। जिसे धर्मात्मा प्यारा नहीं, उसे धर्म भी प्यारा नहीं हो सकता। और जिसे धर्म प्यारा नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। जो धर्मात्मा का तिरस्कार करता है, वह धर्म का ही तिरस्कार करता है क्योंकि धर्म और धर्मी पृथक् नहीं है।

(—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय चलता है। अमृतचन्द्राचार्य कृत पुरुषार्थसिद्धि अर्थात् अपना चैतन्यस्वरूप, शुद्ध आत्मा की प्राप्ति, मोक्ष कैसे हो - उसका उपाय क्या है? - यह बतलाते हैं। अपने ९२ गाथा चलती है। सम्यग्दर्शनसहित सत्यव्रत की व्याख्या चलती है। ९२, ९२ समझते हो? ९० और २। स्वक्षेत्र, काल। क्या कहते हैं? यह श्रावक के सत्यव्रत की व्याख्या चलती है। सच्चा श्रावक किसे कहते हैं? कि अपना आत्मा शुद्ध ज्ञायक चिदानन्द आनन्द ज्ञानमूर्ति आत्मा है। ऐसे पुण्य-पाप के विकल्प से, राग से रहित अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करके प्रतीति करना, उसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शन है। समझ में आया? यह श्रावक होने के पहले ऐसी दशा होती है।

मुमुक्षु : जैन में जन्में, इसलिए...

पूज्य गुरुदेवश्री : जैन में जन्में तो क्या हुआ? जैन में जन्म हुआ तो क्या? थैली में चिरायता भरा हो और ऊपर शक्कर नाम लिखे तो... करियातु (चिरायता) समझते हो न? हमारे काठियावाड में करियातु कहते हैं। थैली में चिरायता रखे और ऊपर शक्कर नाम लिखे तो क्या वह शक्कर नाम लिखने से मीठा हो जाता है? इसी प्रकार जैन सम्प्रदाय में जन्में तो क्या जैन हो गये? बल्लभदासभाई! आहा..हा..!

अपना आत्मा, सर्वज्ञ परमेश्वर—जिन्हें एक सैकेण्ड के असंख्य भाग में - एक समय में तीन काल-तीन लोक जानने में आये हैं; ऐसे परमेश्वर सर्वज्ञदेव की इच्छा बिना वाणी आयी। उस वाणी को यहाँ शास्त्र कहने में आता है। उस वाणी में से सन्तों ने शास्त्रों की रचना की। उन शास्त्रों में श्रावक का स्वरूप कैसा है - उसकी बात यहाँ चलती है। श्रावक, पहले अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा अकेला ज्ञानस्वरूप है। वह ज्ञान पर की, शरीर, वाणी, मन की क्रिया नहीं करता और अन्दर में दया, दान, व्रत, भक्ति का पुण्य-पाप का राग होता है; उस राग का भी वह कर्ता नहीं, ऐसा आत्मा का ज्ञानस्वरूप है। भाई! थोड़ी सूक्ष्म बात है।

भगवान आत्मा—यह आत्मा वस्तु है न ? वस्तु, तो यह ज्ञानस्वरूप, चैतन्यस्वरूप, चैतन्यसूर्य है। यह चैतन्यसूर्य, उसकी दृष्टि में जो आया है, तो उसे आत्मा राग और पुण्य -पाप और दया, दान, व्रत, भक्ति का जो राग है, वह भी मेरा कर्तव्य है - ऐसा स्वरूप में नहीं है और आत्मा शरीर, वाणी, मन की अवस्था / पर्याय / क्रिया कर सके - यह आत्मा में नहीं है।

मुमुक्षु : यह पर की क्रिया...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह शरीर। यह चलता है तो कहे - मैं चलाता हूँ, मैं बोलता हूँ - यह आत्मा में नहीं। क्यों ? वह तो जड़ की अवस्था है। परमाणु भाषा-ध्वनि उठती है, वह जड़ की अवस्था-जड़ की पर्याय-जड़ का कार्य है; और शरीर चलता है, वह भी उसके कारण से चलता है, आत्मा के कारण से नहीं; अत: आत्मा उस पर का कर्ता तो नहीं, परन्तु पुण्य और पाप, दया, दान, व्रत और भक्ति का शुभ-अशुभभाव है, वह भी आस्रव है। वह आस्रवतत्त्व मलिनभाव है, वह भी आत्मा में नहीं। वह तो ज्ञान-विज्ञानघन, विज्ञान चैतन्यघन - ऐसा दृष्टि में आता है और उसका अनुभव हो तो उसे सम्यग्दर्शन कहने में आता है। समझ में आया ? पहली दृष्टि धर्म की। धर्म की शुरुआत की पहली दृष्टि। सम्यक्-सत् दृष्टि। कैसा स्वरूप है ? शरीर, रजकण, कर्म से भिन्न आत्मा और राग का कण, शुभविकल्प, दया, दान, व्रत, भक्ति से भी भिन्न - ऐसा विज्ञानघन, उसकी दृष्टि अनुभव में होकर सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तो उसे धर्म की पहली सीढ़ी कहने में आता है। कहो, समझ में आया ? तब से धर्म शुरु होता है। इसके अतिरिक्त धर्म शुरु नहीं होता। विज्ञानघन का अनुभव करने से जो दृष्टि प्राप्त हुई, उसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शन, धर्म की पहली सीढ़ी, धर्म का पहला सोपान वहाँ से शुरु होता है। यह सम्यग्दर्शन जिसे न हो, उसे व्रत, तप, श्रावक या मुनिपना तीन काल में कभी होता नहीं। समझ में आया ?

वह यहाँ ९२ वीं गाथा में कहते हैं कि सम्यग्दर्शन होने के बाद... समझ में आया ? सूक्ष्म बात है। जगत की चलती बात अलग है और सत्य कुछ दूसरा है। रामचन्द्रजी ! वस्तु ऐसी है। सर्वज्ञ परमेश्वर परमात्मा त्रिलोकनाथ, जिन्हें एक सैकेण्ड के असंख्य भाग में - एक समय में तीन काल- तीन लोक जानने में आये। ऐसा अपने ज्ञान का जहाँ पूर्ण विकास

हुआ, अपने पुरुषार्थ से रागादि का नाश करके, वीतराग-विज्ञानघन आत्मा, केवलज्ञान को प्राप्त हुए, तो उनकी बिना इच्छा वाणी निकली। उन परमात्मा ने ऐसा कहा, ऐसा जाना, ऐसा है कि यह आत्मा जिसे प्रथम सम्यग्दर्शन होता है, वह कैसे होता है ? कि मैं तो विज्ञानघन चिदानन्दस्वरूप, जगत का दृष्टा और ज्ञाता हूँ। जगत अर्थात राग, विकल्प से लेकर प्रत्येक चीज़ का कर्ता-हर्ता मैं नहीं, उसका मैं तोड़नेवाला-फोड़नेवाला नहीं; पर को बिगाड़नेवाला या सुधारनेवाला मैं नहीं; मैं तो ज्ञान-आनन्दस्वरूप हूँ। आहा..हा..! ऐसा अन्तर में आत्मा का अनुभव होकर, जो आत्मा में सम्यक् प्रतीति होती है, उसका नाम भगवान प्रथम सम्यग्दर्शन कहते हैं। समझ में आया ? आहा..हा..! इसके बिना दुनिया माने कि हम देव-गुरु-शास्त्र को मानते हैं, हम मानते हैं - वह समकित-फमकित है ही नहीं। समझ में आया ? बल्लभदासभाई! इस सम्यग्दर्शनपूर्वक...

मुमुक्षु : पहले थोड़ा ज्ञान हो या पहले सम्यग्दर्शन ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्यग्दर्शन। सम्यग्दर्शन हो तो ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहने में आता है। सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है। दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है। समझ में आया ? होते हैं एकसाथ। दीपक और प्रकाश एकसाथ होते हैं, परन्तु दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है। इसी तरह सम्यग्दर्शन के साथ ज्ञान होता है, परन्तु सम्यग्दर्शन, कारण है और सम्यग्ज्ञान, कार्य कहने में आता है। एक समय में दो हैं। वह सम्यग्दर्शन कैसा ? दुनिया माने वैसा नहीं। देव-गुरु-शास्त्र को मानो, नवतत्त्व को मानना, वह नहीं। वह तो व्यवहार भेद है, विकल्प है; वह नहीं। समझ में आया ?

भगवान आत्मा निर्विकल्प सच्चिदानन्द प्रभु सिद्ध समान, जैसा परमेश्वर त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव ने देखा है, वैसे अन्तर आत्मा में.. मैं उपदेश देनेवाला नहीं, मैं वाणी का कर्ता नहीं। वाणी तो जड़ है। उपदेश कौन करे ? समझ में आया ? वाणी किसकी है ? वह तो जड़ की है; मेरी नहीं। मैं उपदेश करता हूँ तो दुनिया को लाभ होगा, यह मान्यता ही मिथ्यादृष्टि की है। ऐई! बल्लभदासभाई! गजब बात, भाई! क्योंकि उपदेश की क्रिया, वह तो जड़ परमाणु की है। आत्मा उसका कर्ता है ही नहीं; और जो विकल्प-जरा राग उठता है, वह राग अपना स्वरूप नहीं है और अपना कर्तव्य नहीं है। आहा..हा..! समझ में आया ?

ज्ञानानन्द निर्विकल्प अनुभव में आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आना और स्वाद में भान होकर प्रतीति होना, इसका नाम भगवान, सम्यग्दर्शन कहते हैं। बल्लभदासभाई! आहा..हा..! इस सम्यग्दर्शन के पश्चात् स्वरूप में शान्ति, अतीन्द्रिय आनन्द की वृद्धि होना। सम्यग्दर्शन में आत्मा के आनन्द का अनुभव हुआ कि मैं अतीन्द्रिय आनन्द ही हूँ; ये राग, पुण्य, व्रत-अव्रत का जो विकल्प उठता है, वह मैं नहीं हूँ, वह मेरा स्वरूप नहीं है। मैं आनन्द और ज्ञानमूर्ति हूँ—ऐसा अन्तर में अनुभव होने के पश्चात् स्वरूप में शान्ति, अकषायभाव, दूसरी कषाय (चौकड़ी) का नाश होकर अन्तर में शान्ति-सर्वार्थसिद्धि (के) देव को, क्षायिक समकिती को जो शान्ति नहीं - उससे विशेष शान्ति (होना)। अन्दर में अकषाय आनन्द आंशिक आ जाना, उसका नाम पंचम गुणस्थान श्रावक कहने में आता है।

इस श्रावक में बारह व्रत का विकल्प कैसा है? बारह व्रत कैसे हैं? है तो व्रत विकल्प / आस्रव, परन्तु पश्चात् स्वरूप में आनन्द की स्थिरता जो शान्ति हुई है, उसका नाम भगवान श्रावकपना और पंचम गुणस्थान कहते हैं। अब उस व्रतधारी का सत्यव्रत कैसा है? समझ में आया? सम्यग्दर्शन के बिना व्रत-व्रत होते ही नहीं। बराबर है? रामचनद्रजी? सम्यग्दर्शन के बिना अणुव्रत-बणुव्रत होते ही नहीं। यह अणुव्रत की व्याख्या चलती है। यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है। चलता अधिकार है, उसमें वांचन करते-करते ९२ वीं गाथा चलती है। समझ में आया?

जिसे भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा वीतरागदेव ने कहा, वैसी आत्मा की जिसे अन्दर श्रद्धा नहीं, उसका अनुभव नहीं, उसकी प्रतीति नहीं, जिसे निर्विकल्प आनन्द का अन्तर्वेदन नहीं, उसे जैन नहीं कहते। और इसके बिना उसे अणुव्रत होते हैं, व्रत होते हैं - यह सब मिथ्यादृष्टि की मान्यता है। समझ में आया? बल्लभदासभाई! ९२ वीं गाथा में यह बात करते हैं, देखो! सत्यव्रत। सूक्ष्म श्लोक है, इसमें।

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र।।९२।।

यह श्लोक है, श्लोक। क्या कहते हैं देखा! **'यस्मिन् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सत् अपि वस्तु निषिध्यते तत् प्रथमं असत्यं स्यात्'** यह संस्कृत हुआ। इसका हिन्दी करते

हैं। **जिस वचन में अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से सत्तारूप में विद्यमान पदार्थ का भी निषेध करने में आये, कि पदार्थ नहीं है; यह प्रथम भेदरूप असत्य है। दृष्टान्त कहते हैं-'यथा अत्र देवदत्तः नास्ति'-जैसे यहाँ देवदत्त नहीं है।** क्या कहते हैं? सुनो!

किसी क्षेत्र में देवदत्त नाम का पुरुष बैठा था,.. और कोई कहे कि यहाँ नहीं। होने पर भी 'नहीं' - ऐसा कहना झूठ है। यह तो दृष्टान्त हुआ। इसी प्रकार अपने आत्मा में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव... अर्थ में है, देखो! पीछे है। **द्रव्य कहते हैं। जो क्षेत्र में एकत्वरूप होकर...** द्रव्य है न? देखो! **जो कोई वह पदार्थ है उसे तो द्रव्य कहते हैं..** क्या कहते हैं? जरा सूक्ष्म बात आ गयी है। वस्तु है न वस्तु? आत्मा, यह परमाणु - पॉईन्ट, यह परमाणु है न? वह मूल चीज़ नहीं, वह तो अनन्त परमाणु के पिण्डरूप स्कन्ध, स्कन्ध अर्थात् पिण्ड है। यह पॉईन्ट जो। परमाणु जो अन्तिम टुकड़ा है, उसे परमाणु कहते हैं, और यह आत्मा, देह से भिन्न ऐसे अनन्त आत्मा, ऐसे अनन्त परमाणु, ऐसे असंख्य कालाणु, एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति और आकाश, ऐसे सर्वज्ञ परमेश्वर ने-परमात्मा ने-केवलज्ञानी ने छह द्रव्य देखे हैं। छह द्रव्य जाति से; संख्या से अनन्त।

कहते हैं कि कोई भी पदार्थ अपने वस्तुस्वरूप से द्रव्य है। उसमें है न? देखो! **जो कोई वह पदार्थ है, उसे तो द्रव्य कहते हैं..** जैसे आत्मा, यह परमाणु। परमाणु वस्तु है, आत्मा वस्तु है, उसे द्रव्य कहते हैं। पश्चात् **जिस क्षेत्र को रोककर तिष्ठे उसे क्षेत्र,..** आत्मा असंख्य प्रदेशी अपना क्षेत्र है। समझ में आया? असंख्य प्रदेश आत्मा अपनी चौड़ाई रखता है। परमाणु एक प्रदेश की चौड़ाई रखता है तो वह उसका स्वक्षेत्र कहने में आता है और आत्मा में अपनी अवस्था ज्ञान, आनन्द, शान्ति होना, वह स्वकाल की अवस्था है और उसके साथ रागादि होना, वह विकार की अवस्था है। अपनी वह पर्याय स्वकाल में स्व से है, स्व से है। उसे ऐसा न मानकर वह पर से है-ऐसा मानना, वह असत्य / झूठ है।

मुमुक्षु : समझ में नहीं आया, फिर से कहो।

पूज्य गुरुदेवश्री : फिर से कहते हैं। कोई ऐसा का ऐसा नहीं छोड़ देंगे। क्या कहते हैं, समझ में आया?

आत्मा वस्तु है। द्रव्य, पदार्थ, अस्ति, अनादि-अनन्त है। सत् वस्तु है। गुण, शक्ति और उसकी अवस्था, उसके पिण्ड को द्रव्य कहते हैं और उसका अवगाहन-जितने क्षेत्र में रहता है, उसे क्षेत्र कहते हैं। ये दो तो उसकी चौड़ाई और गुण-पर्याय का पिण्ड - दो। उनसे आत्मा है, उनसे है। पर से नहीं, शरीर से नहीं, कर्म से नहीं, पर से नहीं। अब तीसरी बात सूक्ष्म आयी कि आत्मा.. यहाँ सम्यग्दृष्टि की बात है न? सम्यग्दृष्टि को, श्रावक को ऐसा अनुभव हुआ है कि अपना आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप चिदानन्द मैं हूँ, मैं राग और देह की क्रिया का करनेवाला नहीं। मेरी पर्याय में, मेरे अस्तित्व में, मेरे वर्तमान स्वकाल में, मेरी पर्याय में जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान और शान्ति का अंश हुआ, वह मेरा स्वकाल है, समझ में आया? वह मुझसे मुझमें है, पर के कारण नहीं। नटुभाई!

अपना आत्मा द्रव्य अर्थात् त्रिकाल वस्तु है और असंख्य प्रदेश की चौड़ाई, वह उसका क्षेत्र है, उससे आत्मा है। कर्म से, शरीर से, पर से आत्मा तीन काल में है ही नहीं। अत: अपने द्रव्य से है, अपने क्षेत्र से है, और अपने काल से है। काल शब्द से वर्तमान अवस्था। काल शब्द से वर्तमान पर्याय। काल शब्द से गुण की वर्तमान दशा। जो त्रिकाल गुण हैं, उनकी वर्तमान दशा। सम्यग्दर्शन, वह दशा है। सम्यग्दर्शन, वह निर्विकल्प आत्मा के अनुभव की पर्याय है और सम्यग्ज्ञान, आत्मा का ज्ञान, राग से भिन्न, पर से भिन्न होकर, अपना जो ज्ञान हुआ, वह भी सम्यग्ज्ञान आत्मा का पर्यायरूप स्वकाल है। वह अपने से है—ऐसा नहीं मानकर, स्वकाल पर से है (-ऐसा मानता है).. समझ में आया? तो उसने अपना अस्तित्व उड़ा दिया। अपने सम्यग्दर्शन में कोई कर्म, दर्शनमोह था, वह हट गया तो अपनी सम्यग्दर्शन की पर्याय उत्पन्न हुई। मूढ़ है, उसे सम्यग्दर्शन की खबर नहीं है।

मुमुक्षु : उसे व्रत तो होते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्यग्दर्शन के बिना व्रत कहाँ से आये? चौथे गुणस्थान का ठिकाना नहीं, उसे व्रत कहाँ से आये? व्रत तो पाँचवें, छठवें गुणस्थान में होते हैं। अभी सम्यग्दर्शन की खबर नहीं, सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं? उसकी खबर नहीं। सम्यग्दर्शन है नहीं तो व्रत कहाँ से आये? समझ में आया?

वीतराग परमेश्वर के मार्ग में श्रावक की पंचम गुणस्थान में कैसी दशा है, उसका

वर्णन चलता है। मुनि की तो अलौकिक दशा होती है। वे तो अलौकिक अन्तर आनन्द में, अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते हैं, उन्हें मुनि कहते हैं। अतीन्द्रिय आनन्द का उभरा (ऊफान आता है)। उभरा को क्या कहते हैं? ऊफान। समुद्र में ज्वार आता है न? ऊफान, ज्वार आता है न? ज्वार। वैसे भगवान आत्मा प्रथम तो सम्यग्दृष्टि होता है, तब आत्मा के स्वरूप का आनन्द और आत्मा का पूर्ण आनन्दस्वरूप अन्दर है, उसकी प्रतीति अन्दर भानसहित होती है। पश्चात् श्रावक होता है। सच्चे श्रावक की बात है, यह सम्प्रदाय की बात नहीं है। वस्तु अन्दर में है, उस आनन्द में विशेष एकाकार होकर, आनन्द की एक अंश विशेष दशा, चौथे गुणस्थान से विशेष प्रगट हुई, विशेष शान्ति हुई, उसे पंचम गुणस्थान (कहते हैं)। उस गुणस्थान में सत्यव्रती कैसे होते हैं, उसकी बात चलती है। इसके बिना व्रत, ब्रत नहीं होते। समझ में आया? पुरुषार्थसिद्धि-उपाय की यह ९२ गाथा चलती है न? चलते-चलते ९२ गाथा आयी है। ऐई! रामचन्द्रजी! भगवान बात तो ऐसी चीज़ है परन्तु इसे खबर नहीं, खबर नहीं। क्या चीज़ है? क्या सम्यग्दर्शन है?

यह सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ तो आत्मा मुक्त है—ऐसा अन्तर अनुभव में भान हो जाता है। समझ में आया? आहा..हा..! गृहस्थाश्रम में राजपाट हों परन्तु अन्दर में निर्लेप दृष्टि अन्दर शुद्ध आनन्दकन्द की हो जाती है कि जिसमें राग का / व्रत का जो विकल्प है, वह भी मेरा कर्तव्य नहीं, मेरा स्वरूप नहीं। मैं उससे बन्धन में आता हूँ। वह मेरा स्वरूप नहीं। आहा..हा..! समझ में आया? थोड़ी सूक्ष्म बात है। सुनायी तो देता है न भैया? लॉजिक से दूसरी बात है यह। पूरे जगत से अलग है। ठीक, भाई!

बात तो ऐसी है कि आत्मा, यह आत्मा के आनन्द के स्वाद की अनुभवदृष्टि होने के पश्चात् स्वरूप में स्थिरता का विशेष शान्ति का अंश प्रगट हुआ, उसमें सत्यव्रतवाले श्रावक कैसे हैं - उसकी बात चलती है। तो कहते हैं कि श्रावक अपनी पर्याय में, जो अपनी पर्याय सम्यग्दर्शन-ज्ञान और शान्ति, दो कषाय का अभाव हुआ, अपने अनुभव में विश्वास हुआ कि मैं आनन्दमय हूँ, मैं निर्विकल्प शान्तमय हूँ; मैं राग नहीं, पर नहीं। ऐसे अनुभव में जो स्वकाल की पर्याय स्व से हुई है, वह स्वयं से सत् है। उसके साथ जरा राग भाग भी है। जब तक पूर्ण नहीं तो राग है तो दया, दान का विकल्प भी है, राग है, वह बन्धन का कारण है। वह भी समझता है कि मेरे स्वकाल में है, परन्तु राग है तो सम्यग्दर्शन है—

ऐसा भी नहीं और अन्दर राग है तो वह कर्म के निमित्त से राग हुआ है, कर्म के कारण हुआ है - ऐसा भी नहीं। समझ में आया? गजब, भाई!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : फिर से स्पष्टीकरण करते हैं, अधिक स्पष्टीकरण करते हैं। एक सामान्य बात आयी है। अब स्पष्ट करते हैं। स्वकाल।

भगवान आत्मा अपने आनन्द ज्ञानमूर्ति का भान होने के पश्चात् अन्दर एकाग्र होकर विशेष शान्ति आयी। कहते हैं कि पश्चात् अपनी पर्याय में, अपनी अवस्था में... उस अवस्था को स्वकाल कहते हैं। तो स्वकाल में दो भाग हैं। श्रावक की वर्तमान अवस्था में दो भाग हैं। एक शुद्धता का अंश प्रगट हुआ है और एक अशुद्ध राग है। पूर्ण शुद्ध नहीं। पूर्ण शुद्ध हो तो वीतराग हो जाये और पूर्ण अशुद्ध हो, तब तो मिथ्यादृष्टि है। अपने शुद्धस्वरूप में, अपना आश्रय शुद्ध करके, जितनी सम्यग्दर्शन, ज्ञान, शान्ति, निर्विकल्प आनन्द आदि पर्याय प्रगट हुई, वह स्व से है। स्व से है - एक बात। उसके साथ में दया, दान का विकल्प / राग आता है, वह विकार है, बन्ध का कारण है, हेय है। वह समझता है। बल्लभदासजी! आहा..हा..! तथापि समझता है कि यह पर्याय मुझसे है। स्वकाल है न? स्वकाल है या नहीं? वस्तु त्रिकाल है, असंख्यप्रदेशी आत्मा का क्षेत्र चौड़ा है और उसमें गुण-भाव हैं, यह बाद में आयेगा। यहाँ तो स्वद्रव्य से है, स्वक्षेत्र से है, स्वकाल से है। तो काल अर्थात् अपनी पर्याय, धर्मी जीव की, अन्तर आनन्द और ज्ञान की शान्ति और ज्ञान की एकाग्रता का जो विकास हुआ है, विकल्प रागरहित जो दशा हुई है, वह शुद्ध की अवस्था मुझसे है। किसी पूर्व पर्याय के कारण से नहीं। बीच में कोई दया, दान का शुभराग आता है, उससे भी नहीं। कर्म का अभाव हुआ तो मेरी पर्याय ऐसी हुई - ऐसा भी नहीं। मेरे स्वकाल की श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति की पर्याय मेरी मुझसे है। वह सत् से है। अस्ति मुझसे है, पर से है नहीं और उसके साथ जितना राग आया, बारह व्रत का जो विकल्प उठता है कि मैं दूसरे को दुःख न दूँ, ऐसा व्रत का विकल्प। व्रत वह विकल्प है, राग है, आस्रव है। व्रत, संवर-बंवर नहीं है। समझ में आया? गजब भाई!

पंच महाव्रत के परिणाम संवर नहीं हैं, वह विकल्प हैं। किसी जीव को दुःख न

दूँ - ऐसी वृत्ति उठती है तो वह राग है, विकार है। सम्यग्दृष्टि को राग आता है। समझता है कि राग की पर्याय स्वकाल से है, मुझसे है; और राग के पीछे अपनी श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति की निर्मल पर्याय हुई, वह स्वकाल स्वयं से है। वह राग से नहीं; राग, पर से नहीं। अपने स्वकाल से पर की अवस्था का काल नहीं है। अरे रे! समझ में आया? स्वकाल है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह तो इसका दृष्टान्त दिया है। देवदत्त मूल पाठ में तो ऐसा है न देखो! ९२ गाथा है न। **'सदपि हि'** ऐसा शब्द पड़ा है न? **'सदपि हि'** वह अस्तिरूप है, ऐसा पाठ है।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करता है? कोई नहीं करता। उपदेश नहीं करता। निकलता है - उपदेश तो निकलता है, करता नहीं। रामचन्द्रजी! सुनो! वाणी निकलती है, आत्मा नहीं करता।

मुमुक्षु : उपदेश तो आत्मा....

पूज्य गुरुदेवश्री : उपदेश आत्मा नहीं कर सकता।

मुमुक्षु : तो कौन करता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वाणी।

मुमुक्षु : कौन करे और किसे करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : जड़ की पर्याय को। जड़ की पर्याय उत्पन्न होती है। किसे करे? सुननेवाला सुने तो उसे ज्ञान हो तो वाणी को निमित्त कहने में आता है। दूसरा कुछ है ही नहीं।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। शरीररहित ही त्रिकाल है।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। शरीर, शरीर में है। शरीर, शरीर में है; आत्मा में नहीं।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो पहली बड़ी भूल है। यह तो चलता है, पहले सुना नहीं? कि अपना द्रव्य अपने से है। पहले तो आया है। अपना द्रव्य स्व से है। सुना नहीं, भाई! सूक्ष्म बात है। भगवान! पहले बात आ गयी है।

'सत्अपि' देखो! **'स्वक्षेत्रकालभावैः सत्अपि'** अर्थात् स्वद्रव्य से सत् है, स्वक्षेत्र से सत् है, स्वकाल से सत् है, स्वभाव से सत् है। यह श्लोक बराबर आ गया है, अच्छा आया है। अपना द्रव्य है, वह वस्तु स्व से है, शरीर से नहीं। तीन काल में नहीं। आत्मा कभी भी शरीर से नहीं। आत्मा शरीर में नहीं। स्वयं अपने में है, शरीर, शरीर में है। रामचन्द्रजी!

प्रत्येक पदार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से स्वयं से है और परपदार्थ का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से प्रत्येक पदार्थ नहीं है। यहाँ तो अस्ति से चलता है। दूसरे भाग में नास्ति से आयेगा। बाद में ९३ वीं गाथा में आयेगा। यह तो अस्ति सिद्ध करते हैं। आहा..हा..! अरे! भगवान! भगवान आत्मा वर्तमान में भी त्रिकाल में, तीनों काल में आत्मा अपने द्रव्य अर्थात् गुण-पर्याय के पिण्ड से है। परद्रव्य शरीर, कर्म से है ही नहीं। नहीं तो अपना अस्तित्व नहीं रह सकता। समझ में आया?

अभी भी शरीर का एक-एक पॉइन्ट.. यह शरीर मूल चीज़ नहीं है। यह तो पहले ही कहा था। अन्तिम जो पॉइन्ट है, टुकड़ा है, उसे परमाणु कहते हैं। एक-एक परमाणु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है। परमाणु अपने द्रव्य से है। एक-एक पॉइन्ट अपने गुण-पर्याय के पिण्ड से है, आत्मा से नहीं। परमाणु अपना स्व-क्षेत्र एक प्रदेशी स्व से है, आत्मा से नहीं और परमाणु में जो ऐसी पर्याय होती है, देखो! यह पर्याय उसका स्वकाल है। वह परमाणु की पर्याय स्व से है, आत्मा से नहीं। आहा..हा..! बात ऐसी गड़बड़ में चढ़ गयी है न! अभी तो पहले दो भिन्न हैं, उसकी खबर नहीं। अनुभव तो कहाँ से हो? बराबर है? आहा..हा..!

भगवान आत्मा.. यह तो पहले से कहा था कि विज्ञानघन चैतन्यबिम्ब अन्दर में नजर करने से, वह तो मात्र विज्ञानघन है। उस विज्ञानघन में राग ही नहीं तो शरीर कहाँ से आया? धूल आया? शरीर तो बाहर रह गया, धूल है। यह तो मिट्टी का पिण्ड है। ऐई! बल्लभदासजी! अरे! भगवान! इसकी इसे खबर नहीं और मानता है कि धर्म करते हैं।

धूल में भी धर्म नहीं। समझ में आया? कहते हैं कि आत्मा अपने स्वद्रव्य से है, परद्रव्य से नहीं। देखो! यह अंगुली। यह अंगुली वस्तु द्रव्य है। वह स्वयं से है, इस अंगुली से नहीं। यह अंगुली, इस अंगुली से नहीं।

मुमुक्षु : क्यों?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर के अभावरूप है। यह अंगुली कट जाये तो भी यह अंगुली रहती है, तो इससे यह नहीं, स्वयं से है, पर से नहीं। ऐसे एक-एक पॉइन्ट परमाणु / रजकण स्व से है, पर से नहीं। ऐसे एक-एक आत्मा स्व से है, पर रजकण और पर आत्मा से नहीं। समझ में आया? लॉजिक-न्याय से तो है। वीतरागमार्ग न्याय से कहता है। मात्र मान लेना, ऐसा नहीं। लॉजिक से, न्याय से, युक्ति से, अनुभव में भाव आवे, उसका भासन करके मानना, इसका नाम यथार्थता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : सूक्ष्म बात करते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ आया है तो क्या करें? अधिकार ही यह आया है। रामचन्द्रजी! देखो! रामचन्द्रजी किसी दिन आवे तो अधिकार यह आया है। बहुत अच्छा अधिकार है।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : लॉजिक से, न्याय से सिद्ध होना चाहिए न? शब्दमात्र से नहीं चलता। भगवान आत्मा.. बात यह है, यह कहा न? इसके चार बोल हैं। वस्तु है, यह कोई मूलचीज नहीं। यह तो एक पॉइन्ट, दृष्टान्त है। पूरी चीज़ है, वह द्रव्य, तो वह स्व से है, पर से नहीं। पूरा क्षेत्र चौड़ा है। स्व के क्षेत्र से है, परक्षेत्र नहीं। उसकी अवस्था स्वकाल है, स्व से है, पर के काल से नहीं और उसकी शक्ति वर्ण, गन्ध, रस, भाव है, वह स्व से है, पर से नहीं।

इसी प्रकार भगवान आत्मा.. यहाँ तो आत्मा को भगवान ही कहते हैं। आहा..हा..! स्वरूपचन्दजी! भगवान आत्मा, भाई! इस देह में... आहा..हा..! ऐसी नजर तो कर पहले, ऐसे अन्दर देख तो सही। अकेला विज्ञानघन ही है, वह तुझे दिखेगा। उसमें दूसरा कुछ नहीं। वह विज्ञानघन वस्तु स्व से है, शरीर से नहीं। यदि शरीर से भी हो तो भिन्न नहीं रह सकता। समझ में आया? अनादि काल से.. निगोद के एक शरीर में अनन्त जीव हैं।

निगोद। आलू आदि होते हैं न? उसका एक कण है, उस राई जितने कण में असंख्य औदारिकशरीर हैं और एक शरीर में अनन्त जीव हैं और एक जीव अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है; दूसरे जीव से नहीं। न्याय से तो ख्याल में आ जाता है। स्पष्ट न्याय से समझना चाहिए न? निरावयम् मार्ग है। न्याय से, लॉजिक से, ज्ञान से जैसे यथार्थ है, वैसे ज्ञान को वहाँ ले जाना, उसे न्याय कहने में आता है। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि कोई भी आत्मा या कोई भी परमाणु, अपने स्वकाल की अस्ति से, सत् से है। उसे ऐसे इनकार करना कि नहीं.. नहीं.. नहीं.. स्व की पर्याय स्व से नहीं। स्व की पर्याय पर से है, वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। उसे सत्यव्रत नहीं होता। समझ में आया?

मुमुक्षु : यह मूल में भूल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मूल में भूल है, भाई! बात तो ऐसी है। मूल भूल है, भाई! अनादि की भूल रह गयी। जैन दिगम्बर साधु होकर अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक गया।

मुनि व्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो,
पे निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।

अनन्त बार नग्न-दिगम्बर क्या हुआ? धूल में? आत्मा क्या है, उसका अनुभव और सम्यग्दर्शन बिना सब तेरा अंकरहित... रण में रुदन है। रण में पोक समझते हो न? अरण्य रुदन। अरण्य रुदन। तेरा रुदन कोई सुननेवाला नहीं है। समझ में आया? ये छोटाभाई हमारे यहाँ व्याख्यान में बहुत बार आते थे। खबर है? (संवत्) १९८९ के वर्ष से, हों! तीन-तीन हजार लोगों के अन्दर। वह अपने भोजनशाला थी, नहीं? आये हैं, हाँ! प्रेम था। फोटोग्राफ करते परन्तु आते बहुत।

मुमुक्षु : बहु भाग परदेश रहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा होगा। ऐसा होगा, भाई! समझ में आया?

न्याय से, लॉजिक से, युक्ति से, अनुभव से और आगम से वस्तु सिद्ध होनी चाहिए। मात्र मानना, ऐसी चीज़ है नहीं। आत्मा अपने स्वरूप के स्व काल से है। सम्यग्दृष्टि ऐसा मानता है कि मेरी वर्तमान दशा जो निर्मल हुई है, वह स्व से हुई है, स्व में है और जो दया, दान, व्रत के विकल्प / राग उठता है, वह राग अपने स्वकाल में स्व से है, वह राग पर से नहीं। स्व से है और इनकार करना कि नहीं, यह झूठ है। उसका कथन

झूठ, उसका उपदेश झूठ, उसकी मान्यता खोटी है। रामचन्द्रजी! भाई! ऐसा है।

मुमुक्षु : असत्य वचन हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : खोटा हो गया। समझ में आया? यह वीतराग का मार्ग है, इसमें कोई गड़बड़ नहीं चलती। जिन्हें इन्द्र मानते हैं, जिन्हें गणधर मानते हैं। भगवान महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं। सीमन्धर परमात्मा त्रिलोकनाथ वर्तमान महाविदेह में विराजते हैं। समझ में आया? केवलज्ञानी त्रिलोकनाथ हैं, उनका कहा हुआ मार्ग त्रिकाल तीर्थंकर कहते हैं, ऐसा यह कहते हैं।

मुमुक्षु : सब तीर्थंकर एक ही कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब तीर्थंकर एक हैं। सब एक ही बात करते हैं, दूसरी कहाँ से कहे? सत्य हो वह कहे या असत्य कहे?

यहाँ कहते हैं, देखो! **जिस काल में जिस रीति से परिणमन करे..** देखो! **जिस काल में जिस रीति से परिणमन करे उसे काल कहते हैं।** बस! इसमें इतना अर्थ चलता है। है इसमें? जिस काल में, अपनी पर्याय स्वकाल में, वर्तमान अवस्था में परमाणु एक समय में स्वकाल में, वह परमाणु भी अपने कारण से भाषा की अवस्था होती है। भाषा की, परमाणु की जो अवस्था (होती है) वह भाषा का स्वकाल है। वह स्वकाल अपनी अस्ति से है। आत्मा की इच्छा हुई तो वाणी निकली - ऐसा है नहीं। समझ में आया? फिर से - क्या करें भाई? समझना तो पड़े।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : इच्छा के बिना वाणी निकलती है। इच्छा अपने स्वकाल में है और वाणी की पर्याय उसके स्वकाल में है। उसका स्वकाल यहाँ नहीं और यहाँ का (स्वकाल) वहाँ नहीं। अभाव है। फिर से बात करते हैं। निर्णय करो। ऐसा नहीं चलता। यहाँ तो पक्का करके फिर आगे चलेगा।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : वे अपनी भिन्न-भिन्न पर्याय से है। सबकी पर्याय भिन्न-भिन्न है या नहीं? सब द्रव्यों की भिन्न-भिन्न अवस्था है न? परमाणु की भिन्न-भिन्न अवस्था है।

इस कारण से भिन्न-भिन्न अवस्था दिखती है। वह स्वयं के कारण से है।

मुमुक्षु : दुःख और सुख यह सब काल्पनिक...

पूज्य गुरुदेवश्री : दुःख की कल्पना, वह कल्पना स्वकाल में अपने से है। वह भी स्व से है, पर से नहीं।

मुमुक्षु : गरीबी है वह...

पूज्य गुरुदेवश्री : गरीब-बरीब कुछ है नहीं। मैं गरीब हूँ - ऐसी मान्यता स्वकाल से अज्ञानी को है। गरीब कैसा, तवंगर कैसा? वह तो पर की धूल है। पाँच, पच्चीस करोड़ हो, दस करोड़ हो, या धूल हो, वह तो परमाणु अपनी पर्याय से स्वकाल से है। वे तो उनके स्वकाल से है। तेरे स्वकाल से है? चीज़ तुझमें घुस गयी है? समझ में आया? गजब बात भाई! ऐई! वकील!

वह.. नहीं वस्तु ऐसी है। ऐसी नहीं तो दूसरे प्रकार से नहीं हो सकती। करो न्याय, ऐसा नहीं चलता। ऐसी मान्यता, अन्धश्रद्धा चले, ऐसी बात है ही नहीं। समझ में आया? भगवान परमेश्वर त्रिलोकनाथ फरमाते हैं, ऐसे सन्त, महामुनि, दिगम्बर अन्तर अनुभव करके चारित्र की, आनन्द की दशा में वनवास में रमते / झूलते थे। उसमें यह श्लोक बन गया है। विकल्प से श्लोक बनाया नहीं, यह वाणी से बन गया है।

मुमुक्षु : किसने बनाया?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन बनावे? वाणी से बन गया है।

मुमुक्षु : पुद्गल से बन गया?

पूज्य गुरुदेवश्री : पुद्गल से यह श्लोक बन गया। आत्मा से बनता है? आत्मा में वाणी है तो बनावे? रामचन्द्रजी! सूक्ष्म है, भाई! परन्तु समझ में आये ऐसा है। न्याय से (बात) आती है।

एक-एक परमाणु है न? भगवान! यहाँ तो आत्मा को भगवानरूप से बुलाते हैं। अज्ञान तो उसकी दशा में है, वस्तु तो भगवान ही है। तो कहते हैं कि भगवान! एक बार सुन तो सही, प्रभु! तेरी वर्तमान दशा में, तेरी अवस्था.. अवस्था कहो, दशा कहो, स्वकाल कहो, स्वपर्याय कहो, त्रिकाल द्रव्य का वर्तमान अंश कहो, वह अंश, निर्मल पर्याय

समकिती ऐसा मानता है कि मेरी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-पर्याय मेरे स्वकाल से मुझमें है और मुझमें जरा राग भी आता है, उस काल में राग आया, वह पूर्व के काल से नहीं, पर से नहीं; अपने काल से वह राग स्व से आया है परन्तु ज्ञानी उस राग को हेय मानता है।

मुमुक्षु : राग क्यों आता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दुर्बलता, कमजोरी है। अपने पुरुषार्थ की कमी है। चारित्रगुण की विपरीत पर्याय स्व से हुई है। जो हुई, वह अपनी दुर्बलता, कमजोरी से हुई। अपने स्वकाल से हुई है। स्वकाल, त्रिकाल चारित्रगुण है न ? त्रिकाल अन्तरगुण है, चारित्रपर्याय प्रगट वह नहीं। त्रिकाल गुण है, उसकी विपरीत पर्याय राग उस समय में आती है। सम्यग्दृष्टि जानता है कि राग है दया, दान का विकल्प है, वह मेरी पर्याय में है। अस्तिरूप है, हेय है। मुझे आदरणीय नहीं। आहा..हा.. ! गजब बात, भाई ! समझ में आया ?

परमात्मा त्रिलोकनाथ परमेश्वर वीतरागदेव सौ इन्द्रों के समक्ष ऐसी दिव्यध्वनि करते थे, ऐसा कहना वह व्यवहार है। दिव्यध्वनि होती थी। रामचन्द्रजी ! आहा..हा.. ! भगवान भी वाणी करते हैं - ऐसा नहीं है। वाणी भी अनन्त परमाणु की पुंजरूप एक अवस्था है, उसे वाणी कहते हैं, वह परमाणु की स्वकाल की अवस्था है। आत्मा के कारण से वह अवस्था होती नहीं। आहा..हा.. ! मूल बात की खबर नहीं होती और फिर हम धर्म करते हैं, बापू ! कहाँ से धर्म आया ? अभी सम्यग्दर्शन की खबर नहीं, व्रत कहाँ से आया, मुनिपना कहाँ से आया, अणुव्रत कहाँ से आये ? नटुभाई ! ये पालीताणा में वकील हैं। समझ में आया ? क्या (कहा) ?

यह भाषा निकलती है न ? परमाणु। कहते हैं कि वह परमाणु द्रव्य है। उसकी चौड़ाई एक प्रदेश है। उसकी वर्तमान अवस्था होती है, वह स्वकाल स्वयं से स्वकाल से है। आत्मा की इच्छा हुई तो यह पर्याय हुई-ऐसा नहीं है। आत्मा में ज्ञान हुआ कि मैं ऐसे बोलूँ, तो ज्ञान के कारण से भाषा की पर्याय नहीं है। भाषा की स्वकाल अवस्था स्व से है, पर से है नहीं। निर्णय करो। ऐसा नहीं चलता। ऐसा मान ले, ऐसा नहीं चलता। झकझोर कर सत्य का निर्णय करना चाहिए। समझ में आया ?

कहते हैं कि **जिस काल में जिस समय में से...** कोई भी परमाणु या कोई भी

आत्मा। छह द्रव्य हैं। द्रव्य संख्या से अनन्त हैं, जाति से छह हैं। अनन्त आत्मायें, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति, आकाश ये सभी वस्तुएँ हैं, हों! अस्ति है। यह छह अस्ति है और उसमें से एक काल नहीं कहो तो नास्ति हो गयी। छह द्रव्य हैं। अपने ज्ञान की एक समय की पर्याय में छह द्रव्य जानने की ताकत है। एक समय की पर्याय स्वीकार करनेवाले को छह द्रव्य हैं, ऐसा स्वीकार उसे आता है; और इन छह द्रव्यों में से एक द्रव्य निकाल डाले तो अपनी ज्ञान की पर्याय को उसने निकाल डाला। अपनी पर्याय को उसने माना नहीं।

फिर से, फिर से बात करते हैं। एकदम चल गयी बात। फिर से बात करते हैं। जगत में छह द्रव्य हैं। सुनो! अनन्त आत्मायें, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति, (एक) आकाश। भगवान ने केवलज्ञान में अनादि-अनन्त छह द्रव्य देखे हैं। इन छह द्रव्यों में कोई ऐसा माने कि काल नहीं हैं, तो उसने नास्ति की। अपने ज्ञान की एक समय की पर्याय में छह द्रव्य जानने की ताकत है; अत: जिसने छह द्रव्यों को नहीं माना, उसने एक समय की पर्याय इतनी है, ऐसा नहीं माना। आहा..हा..! भारी सूक्ष्म बातें, भाई! बापू! भगवान आत्मा का मार्ग ही सूक्ष्म है। शशीभाई!

एक समय की ज्ञान की अवस्था है। स्व से है। तो वह स्व से है - ऐसा अस्तिरूप कब माना? कि जगत में जितने पदार्थ हैं, छह द्रव्य को जानने की एक समय की पर्याय में ताकत है तो एक समय की पर्याय स्व से है, ऐसा माननेवाला, छह द्रव्य जगत में हैं, ऐसा उसमें आ गया, परन्तु छह द्रव्य जगत में नहीं हैं, ऐसा माननेवाला अपनी पर्याय को भी नहीं मानता। आहा..हा..! अरे! भगवान! ऐसा मार्ग बेचारे को सुनने को मिलता नहीं। अन्धे अन्ध। अन्धी दौड़।

भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा.. आहा..हा..! तेरी पर्याय में.. यहाँ तो सम्यग्दृष्टि की बात चलती है न? सम्यग्दृष्टि अपने को जानता है कि मेरी सम्यग्दर्शन की पर्याय यह है, सम्यग्ज्ञान की है और जरा स्थिरता की तथा शान्ति की भी है। ऐसी दशा में मुझे जरा राग भी है, तो वह राग और अनन्त पर्यायें, वे अपने अस्तित्व से है। क्या कहा? देखो! **जिस काल में जिस रीति से परिणमन करे..** जिस काल में आत्मा जिस प्रकार से परिणमता है। जिस समय की अवस्था में परिणमता है **उसे काल कहते हैं।** इस इतने में सब पड़ा है।

फिर से **जिस काल में जिस रीति से परिणमन करे..** आत्मा और परमाणु, छहों द्रव्य। जिस समय में, जिस रीति से जिस प्रकार से उनकी पर्याय का परिणमन हुआ, वह स्व से है। परमाणु में भी ऐसी पर्याय है, ऐसी हुई, भाषा हुई, वह परमाणु जिस प्रकार से, जिस काल में, जो परिणमन भाषारूप होता है, वह स्व से है। दूसरे परमाणु से नहीं, कर्म से नहीं, आत्मा से नहीं। आहा..हा..!

अनन्त द्रव्य हैं, ऐसी मान्यता किसे होती है? समझ में आया? मैं अखण्डानन्द ज्ञायक चिदानन्दमूर्ति, मुझमें तो अनन्त ज्ञान-आनन्द भरा है। मैं अल्पज्ञ तो एक समय की पर्याय में हूँ, त्रिकाल में तो अखण्डानन्द प्रभु हूँ, ऐसे अनुभव में प्रतीति आनन्द आया। कहते हैं कि मेरी पर्याय मेरे स्वकाल से, मेरी रीति से, मेरे कारण परिणमी है और दया-दान का राग आया, वह मुझसे है। वे दया के परिणाम आये तो इससे हाथ लम्बा हुआ और दूसरे को दान देने की पर्याय, पैसे देने की पर्याय हुई, उसमें राग की मन्दता हुई, तो उससे पैसा देने की पर्याय हुई - ऐसा ज्ञानी नहीं मानते। ऐई!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : जानने की बात हो गयी। अपनी जानने की पर्याय स्व से है। जानने की जो पर्याय पर में हुई, वह स्व में नहीं। अपनी पर्याय स्व से है। वह जानता है कि अपनी पर्याय स्व से है और अपनी पर्याय से पर की पर्याय है - ऐसा नहीं। सूक्ष्म है, भगवान! समझ में आया? आहा..हा..!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान है और रामचन्द्रजी भगवान हो गये, लो! कल कहते थे। जिज्ञासु होकर आये हैं, आपके समागम के लिये। यह तो आत्मा है, भाई! आत्मा में तो बड़ी शक्ति है, भाई! केवलज्ञान लेने की शक्ति है तो सत्य समझने की शक्ति क्यों नहीं होगी? एक समय में केवलज्ञान लेने की शक्ति, भगवान! उसे क्या कहे! राग का नाश करने की और एक समय में केवलज्ञान लेने की शक्ति है। आहा..हा..! तो कहते हैं कि ऐसे भगवान आत्मा की जहाँ निर्विकल्प दृष्टि होकर सम्यग्दर्शन हुआ, तब अपनी पर्याय में जितनी पर्याय निर्मल हुई, वह स्वकाल की रीति से हुई। क्या कहते हैं?

जिस काल में जिस रीति से.. जिस प्रकार से। जिस प्रकार से ज्ञान का, दर्शन का, आनन्द का, राग का परिणमन जिस प्रकार से हुआ, वह स्व से सत् है, वह स्वकाल से सत् है। पर से बिल्कुल नहीं। इसी प्रकार परमाणु, एक पॉइन्ट, रजकण और अनन्त पॉइन्ट एकत्व होकर जो अखण्ड पिण्ड है, यह अंगुली अखण्ड पिण्ड है, इसकी जो अवस्था होती है, यह होंठ हिलते हैं, वह स्वकाल में, उस रीति से होंठ की पर्याय.. इसे होंठ कहते हैं न? **जिस काल में जिस रीति से..** जो होंठ जिस प्रकार से परिणमते हैं, वह अपनी पर्याय से परिणमते हैं। स्व से वह पर्याय है, आत्मा से नहीं, पर से नहीं, कर्म से नहीं। समझ में आया? यह भाषा की पर्याय हुई, वह होंठ से नहीं।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह वस्तु है। वहाँ... तो वस्तु एक चीज़ है। वह क्या? किसी में कर देती है? अलग चीज़ है, अलग चीज़ है।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं.. नहीं.. यह सब बात मिथ्या है, यह सब मिथ्या है। यह सब अज्ञानी की मान्यता है। कर्म जड़ है। जड़ तुझमें क्या करे? जड़ की पर्याय जड़ में है, तेरी पर्याय तुझमें है। यह बात तो यहाँ चलती है। भाई! ऐसा है, भगवान! कर्म क्या? कर्म आत्मा को भटकाते हैं? जड़? जगत् में कहते हैं, ईश्वर भटकाता है और जैन में कर्म भटकावे। तो ईश्वरकर्ता (की अपेक्षा) कर्म तो जड़ हुआ, तेरा स्वामी जड़ हुआ? तेरी बड़ी मूर्खता है।

मुमुक्षु : जड़ ने चेतन को भटका दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : हमारे जैन में तो कर्म बड़े हैं। कर्म बड़े हैं तो उनमें रहे, तेरे घर में कहाँ आये? यहाँ तो कहते हैं कि कर्म की पर्याय भी.. कर्म भी.. कर्म क्या चीज़ है? परमाणु की एक पर्याय है। अनन्त रजकण की कर्म एक अवस्था है। वह स्वकाल में परिणमती अवस्था है। अपने कारण से नहीं और उसके कारण से अपने में कुछ नहीं। आहा..हा..! राग की पर्याय स्व में हुई, दया, दान, व्रत का विकल्प उठे, वह स्व से है, कर्म से नहीं। कर्म का स्वकाल उसमें है। यह काल स्वकाल स्व से है। अरे! क्या सत्य बात! त्रिलोकनाथ परमेश्वर वीतरागदेव का सत्य बहुत गड़बड़ में चढ़ गया है। बल्लभदासभाई!

आहा..हा..! प्रभु! यह सत्य तो सत्य ही रहेगा। तीन काल में कोई विपरीत माने तो कहीं दूसरा हो जायेगा ऐसा है नहीं।

यहाँ तो कहते हैं **जिस काल में जिस रीति से परिणमन करे..** कौन? परमाणु, आत्मा, कर्म की पर्याय। कर्म का उदय आया तो वे कर्म के परमाणु उस प्रकार उदय में आने का परिणमन हुआ। उसमें तुझे क्या हुआ? बिल्कुल नहीं। कर्म की पर्याय उसमें अस्तित्व रखती है, अपना राग अपने में अस्तित्व रखता है। राग में कर्म की पर्याय की नास्ति है, कर्म की पर्याय में राग की नास्ति है। समझ में आया? मूल बात की खबर नहीं होती और ऊपर से करो धर्म। हो गये महाव्रत और हो गये अणुव्रत। धूल में भी नहीं है। अज्ञानी का मिथ्या भ्रम है। समझ में आया?

भगवान आत्मा स्व काल की परिणति में परिणमता है, देखो! मुनि भी अपने में ऐसा ही मानते हैं। यहाँ श्रावक का अधिकार है। मुनि (का) बाद में आयेगा, १९७ गाथा से (आयेगा)। चारित्र के अधिकार में। प्राय: १९७ है। १९७ से चारित्र अधिकार लेंगे। १९७ गाथा, गाथा है न? सकलचारित्र। १९७ से लेंगे। यहाँ १९७ गाथा है, हों! १९७। समझते हो? १, ९, ७ वहाँ चारित्र कहा। चारित्र तो अलौकिक, बापू! चारित्र क्या है, यह बात तो कोई दुनिया ने सुनी नहीं। आहा..हा..! जिसे परमेश्वर गणधरदेव नमस्कार करें, वह चारित्रपद कैसा होता है भगवान! वह तो आत्मा के अनुभवसहित, जो एक विकल्प का भी कर्ता नहीं और स्वरूप में आनन्द की लहरें उछलती हों। क्षण में छठा, क्षण में सातवाँ, क्षण में छठा, क्षण में सातवाँ गुणस्थान। क्षण में आनन्द में उतर जायें, क्षण में छठा गुणस्थान आ जाये। विकल्प उठता है विकल्प। एक विकल्प दया का,.. क्षण में अन्तर में उतर जायें। ऐसे सच्चे मुनि, वीतराग के सच्चे मुनि होते हैं, उन्हें तो एक दिन में हजारों बार छठा-सातवाँ गुणस्थान आता है। समझ में आया? उन्हें तो एक, पौन सेकेण्ड नींद नहीं आती क्योंकि छठे गुणस्थान की प्रमाददशा बहुत थोड़ी रहती है। पौन सेकेण्ड के भाग में, बहुत हजारवें भाग में। नींद नहीं। एक घण्टे की नींद है तो मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? अरे! गजब बात, भाई!

यह तो अभी श्रावक की बात चलती है। फिर १९७ से मुनि की दशा आयेगी। आहा..हा..! चारित्र तो स्वरूप के आनन्द में झूलना, वीतरागभाव। पंच महाव्रत का एक विकल्प उठता है वह भी राग, आस्रव, जहर, दु:ख.. दु:ख.. दु:ख है। अन्तर में ऐसी

अनुभव की स्थिरता हो तो आनन्द की सहजदशा हो जाये, उसका नाम चारित्र है। यहाँ तो अभी श्रावक के व्रत की बात करते हैं। उसमें पहले सत्य में ये बोल रखे हैं। देखो!

ऐसे लोग कहते हैं कि हमने सत्यव्रत अंगीकार किया है। परन्तु बापू! तुझे अभी वस्तु की खबर बिना सत्य आया कहाँ से? हमारी गुजराती भाषा थोड़ी आ जाती है। जहाँ अभी सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है, वह प्रगट हुए बिना तुझे सत्य आया कहाँ से? व्रत-ब्रत आये कहाँ से? और ऐसे व्रत चलाना, वह तो वीतरागमार्ग से अत्यन्त विरुद्ध मार्ग है। समझ में आया?

कहते हैं, एक-एक परमाणु, आत्मा में स्वयं से राग आया, कमजोरी से, अपने अस्तित्व से, उसका जानना—ज्ञान, वह भी उसका राग है—राग है, उसका ज्ञान स्व में हुआ है। वह भी स्व से हुआ है, राग से नहीं हुआ। ऐसा स्वकाल से प्रवर्तन अपने में है, वह पर से नहीं और कर्म के परमाणु का जो बन्ध पड़ता है, वर्गणा कर्म के रजकण थे, फिर यहाँ राग आया और उस समय कर्म अपनी पर्यायरूप परिणमित हुए तो राग से नहीं। वे परमाणु अपनी पर्याय से, जिसके... उससे परिणमे हैं। राग के कारण कर्म परिणमते हैं - ऐसा नहीं है। आहा..हा..!

मुमुक्षु : तब उसे सत्य होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तब उसे सत्य है, ऐसा होता है। नहीं तो सब झूठा है। समझ में आया?

उस पदार्थ का जैसा कुछ निजभाव है, उसे भाव कहते हैं। चौथा बोल। प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु में जो त्रिकाल अनन्त गुण जिसमें हैं, अनन्त गुण! त्रिकाल रहनेवाले। आत्मा द्रव्य त्रिकाल है, वैसे उसके अनादि-अनन्त गुण उसमें त्रिकाल हैं। उन गुणों को भाव कहते हैं। वर्तमान दशा को काल कहते हैं, त्रिकाल गुण को भाव कहते हैं, दोनों के पिण्ड को द्रव्य कहते हैं, चौड़ाई को क्षेत्र कहते हैं। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है और पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नहीं है और परवस्तु स्वयं के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है, वह अपने से नहीं है। इससे विपरीत बोलता है उसका नाम व्रत नहीं, व्रतधारी नहीं और श्रद्धा भी भ्रष्ट है। कहो, समझ में आया? ये चार बोल कहे। दूसरे बोल कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, ९२ गाथा। सम्यग्दृष्टि जीव को श्रावकपने के सत्यव्रत के परिणाम कैसे होते हैं, और उसे असत्य वचन का त्याग होता है, उसका वर्णन चलता है। सम्यग्दर्शनपूर्वक। आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप ज्ञायक, वह किसी का कर्ता-हर्ता नहीं और किसी से बना हुआ नहीं। ऐसी अपनी शुद्ध चैतन्य की सत्ता, उसके अस्तित्व का अन्तर्मुख होकर भान और श्रद्धा होना, उसे सम्यग्दर्शन कहने में आता है। उसके पश्चात् स्वरूप में स्थिरता आंशिक हो, वह वास्तव में तो पंचम गुणस्थान की दशा वह है, परन्तु उसे व्रत के विकल्प ऐसे होते हैं, उसके पीछे स्थिरता कितनी होती है, यह बतलाने को व्रत की व्याख्या करते हैं।

असत्य। जो कोई चीज़ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से हो, उसे 'नहीं' कहना, वह असत्य है। पहलाा बोल है। जो कोई पदार्थ आत्मा, परमाणु आदि छह द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है। अपना गुण-पर्याय (का) पिण्ड द्रव्य; प्रदेश की एकता, एकता प्रदेश की, वह क्षेत्र; वर्तमान अवस्था का होना, वह काल; त्रिकाली गुणधर्म, वह भाव - इनसे वस्तु है, उसे 'ना' कहना कि ऐसा है नहीं। है उसे नहीं कहना, वह असत्य वचन है। समकिती श्रावक को ऐसा असत्य वचन नहीं हो सकता - ऐसा कहते हैं। अन्तिम योग (Total) है न, देखो!

अपने चतुष्टय की अपेक्षा से सर्व पदार्थ अस्तित्वरूप हैं। ९२। **वहाँ देवदत्त का निजचतुष्टय तो था ही परन्तु नास्तिरूप जो कथन हुआ वही असत्य वचन हुआ।** है अपने से; उसे नहीं कहना, इसे झूठ कहा जाता है। समझ में आया? अब दूसरा - 'नहीं' उसे अस्ति कहना।

गाथा - ९३

आगे दूसरा भेद कहते हैं :-

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः।।९३।।

पर द्रव्य क्षेत्र रु काल भाव से, असत् वस्तुरूप का।
प्रगटीकरण है असद्, उद्भावन द्वितीय ज्यों घट यहाँ।।९३।।

अन्वयार्थ : (हि) निश्चय से (यत्र) जिस वचन में (तै परक्षेत्रकालभावैः) उन परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से (असत् अपि) अविद्यमान होने पर भी (वस्तुरूपं) वस्तु का स्वरूप (उद्भाव्यते) प्रगट करने में आवे (तत्) वह (द्वितीयं) दूसरा (अनृतम्) असत्य (स्यात्) है (यथा) जैसे (अस्मिन्) यहाँ (घटः अस्ति) घड़ा है।

टीका : 'हि यत्र तैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैः वस्तुरूपं असत् अपि उद्भाव्यते तत् द्वितीयं अनृतं'-निश्चय से जिस वचन में परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से पदार्थ सत्तारूप नहीं है तो भी वहाँ प्रगट करना वह दूसरा असत्य है। उसका दृष्टान्त-'यथा अस्मिन् घटः अस्ति'-जैसे कि यहाँ घड़ा है।

भावार्थ : किसी क्षेत्र में घड़ा तो था नहीं इसलिए उस समय उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी नहीं था। दूसरा पदार्थ था अतः उस समय उसी का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव था। किसी ने पूछा कि यहाँ घड़ा है कि नहीं? वहाँ 'घड़ा है' ऐसा कह देना दूसरे असत्य का भेद है। क्योंकि नास्तिरूप वस्तु को अस्ति कहा।।९३।।

गाथा ९३ पर प्रवचन

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः।।९३।।

निश्चय से जिस वचन में उन परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अविद्यमान

होने पर भी.. नास्ति। पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से कोई चीज़ नहीं है। **होने पर भी वस्तु का स्वरूप प्रगट करने में आवे वह दूसरा असत्य है..** पर से नहीं, तथापि पररूप हैं - ऐसा (कहना)। जहाँ घड़ा नहीं है, वहाँ घड़ा कहना। इसी तरह जहाँ आत्मा नहीं है, वहाँ आत्मा कहना; जहाँ जड़पना नहीं, वहाँ जड़पना कहना, इसका नाम दूसरा असत्य कहा जाता है।

टीका : निश्चय से जिस वचन में परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से पदार्थ सत्तारूप नहीं है.. पर से अस्तिरूप कोई पदार्थ नहीं है, तथापि पर से अस्तिरूप कहना - कर्म के कारण आत्मा में राग होता है, कर्म के कारण आत्मा में निवृत्ति धर्म है - इत्यादि पर से नहीं, उसे पर से कहना, इसका नाम असत्य और झूठ कहा जाता है। यह तो स्थूल बात रखी है। यह तो दृष्टान्त है। यह तो वहाँ 'भगवती' में आता था न उसमें, ऐसा एक शब्द है अचेतन-अचेतन परिणमेय, नचेतन-नचेतन परिणमेय - ऐसा एक शब्द है। अर्थ में ऐसा किया है कि घट है, वह पट नहीं और पट है, वह घट नहीं। मैंने कहा - भाई! यह तो स्थूल, यह तो दृष्टान्त है। एक शब्द है भगवती में। टीका में ऐसा लिया है - अचेतन-अचेतन परिणमेय अर्थात् घड़ा घड़ारूप होता है और पट (पटरूप होता है)।

यहाँ दृष्टान्त दिया, देखो न! देवदत्त, देवदत्तरूप से होता है, अर्थात् घड़ा, घड़ारूप से होता है और घड़ा पररूप से नहीं होता। परन्तु यह तो दृष्टान्त है। अचेतन-अचेतन परिणमेय। फिर हम तो यहाँ अर्थ करते। फिर सब सुनते। वहाँ कौन विरोध करता था? वहाँ किसे खबर थी? अचेतन-अचेतन जो विद्यमान वस्तु, वह विद्यमानरूप, अपने रूप परिणमित है। नचेतन-नचेतन परिणमेय - जिस पररूप नहीं, उस नहीं रूप परिणमती है। अस्तिरूप, अस्तिरूप परिणमे और नहीं (नास्ति), वह नहीं रूप परिणमे। यह समझे नहीं, इसलिए कहे ठीक लगे। उनके सम्प्रदाय को दिक्कत न आवे, इसलिए कोई दिक्कत नहीं।

यह शब्द यहाँ लागू पड़ा, देखो! पाठ में क्या कहा **'यथा देवदत्तोऽत्र'** है न पहले का? पहले में। **'अनृतम् यथा अस्मिन् घटः'** दूसरे में, यह ९३ चलती है उसमें। यह तो दृष्टान्त दिया है। सर्वत्र लागू पड़ता है। जहाँ प्रत्येक की अपनी चीज़ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है, उसे 'नहीं' कहना, उसके काल में ऐसा नहीं, उसके काल में वह है। उसके बदले उस काल में नहीं कहना। समझ में आया? मिथ्या वचन है। जरा सूक्ष्म बात

है। समझ में आया ? उस काल से वह है, भाई ! प्रत्येक द्रव्य की पर्याय को उस काल से है, काल से है, उसके बदले उस काल से नहीं, ऐसा कहना, वह मिथ्या है। समझ में आया ? देखो ! यह काल जो समय-समय का जो उसका स्वकाल है, उस काल से ही वह है। वह है उस काल से और उसे काल से नहीं है, ऐसा कहना, उस काल से नहीं। आगे -पीछे काल से, दूसरी अपेक्षा से (कहे) पहले काल से और बाद के काल से हो। वह वस्तु झूठ है। समझ में आया ?

प्रत्येक वस्तु का अपना वस्तुपना तो कायम रहता है, क्षेत्र भी कायम रहता है, भाव कायम रहता है। अब उसे बदलने के काल पर अपने यहाँ अधिक तो वजन देना है। जो उसका बदलने का जो स्वकाल है, उससे वह है। उस काल की, उस पर्याय से वह द्रव्य है। उसके बदले उस काल की वह चीज़ है, ऐसा इनकार करना, कैसे ? उस काल से वह पर्याय नहीं, उस काल की वह पर्याय नहीं। यह अस्ति को नास्ति करने जैसा झूठ है। कहो, समझ में आया इसमें ? बहुत बात रखी है परन्तु.. अमृतचन्द्राचार्य ने व्यवहार ग्रन्थ के अन्दर भी..

निश्चय से जिस वचन में परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से पदार्थ सत्तारूप नहीं.. पर के कालरूप से यह सत्तारूप अपनी पर्याय नहीं है। किसी भी द्रव्य की वर्तमान पर्याय परद्रव्य की पर्याय की सत्तारूप से नहीं है, पर के स्वकाल की पर्याय है तो इसकी स्वकाल की पर्याय है - ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : निमित्त होवे तो हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु उसका अर्थ ही यह हुआ, निमित्त की पर्याय निमित्त में रह गयी। उसके स्वकाल की पर्याय उससे, यह स्वकाल की पर्याय इससे है। उससे नहीं और उससे है - (ऐसा कहना) वह झूठ है।

मुमुक्षु : काल शब्द प्रयोग किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : काल का अर्थ क्या हुआ ? काल अर्थात् पर्याय। ऊपर नहीं आ गया ? जिस काल में जिस रीति से परिणमे, उसे काल कहते हैं। लो ! जिस काल में जिस रीति से, जिस रीति से जिस प्रकार का उसका परमाणु का, आत्मा का परिणमन है। जिस काल से और जिस रीति से। उस रीति से उसका परिणमन है, उसे 'है' उसे इन्कार करना,

मिथ्यात्व है। और है, उसे नहीं कहना, पर से ऐसा कहना, पर से है - ऐसा कहना वह मिथ्यात्व है। समझ में आया? न्यालभाई! आगे गये थोड़े से। वहाँ इसे ठीक नहीं लगता। यहाँ सामने जगह है, इन्हें कान से कम सुनायी देता है तो यहाँ दबाव पड़ता है। लोग फिर बीच में आया करते हैं न सब इसलिए... चतुर व्यक्ति है...

मुमुक्षु : ...मार्ग देना।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी जगह बैठना कि कोई आकर दबाव न करे। ऐसा कुछ नहीं कहते। 'बैठना चाहिए, उठावे नहीं कोई कहीं' ऐसा कहते हैं न? ऐसा कुछ है। परन्तु थोड़ा कान से कम सुनते हैं न इसलिए। कहो, समझ में आया?

जैसे कि यहाँ घड़ा है। देखो! घड़ा नहीं वहाँ घड़ा कहना। जहाँ परकाल से नहीं, वहाँ परकाल से कहना, इसका नाम दूसरा असत्य / झूठ कहलाता है। आहा..हा..! समझ में आया? बात बहुत (कठिन)। प्रत्येक पदार्थ की वर्तमान पर्याय उस काल में वह परिणति है, उससे वह है। वह है, स्व से है, उसे नहीं कहना, यह पहला झूठ, और पर से है वह है स्वयं से, तथापि पर से है ऐसा कहना, वह दूसरा झूठ। समझ में आया? वह पर से नहीं, तथापि पर से है (ऐसा कहे)।

किसी क्षेत्र में घड़ा तो था नहीं... देखा? परवस्तु तो थी नहीं **इसलिए उस समय उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी नहीं था।** वह वस्तु नहीं थी तो उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी नहीं थे। **दूसरा पदार्थ था, अतः उस समय उसी का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव था।** दूसरे के थे, दूसरे के थे। दूसरे के अर्थात्? जिसके कहते हैं, उसके नहीं थे और दूसरे के थे। **किसी ने पूछा कि यहाँ घड़ा है कि नहीं?** लो! घड़े के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव वहाँ नहीं थे। **वहाँ 'घड़ा है' ऐसा कह देना दूसरे असत्य का भेद है।** उस घड़े का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, उसरूप से घड़ा वहाँ नहीं था। उसके कालरूप से घड़े की पर्यायरूप से घड़ा वह उसरूप से नहीं था। उसे कहना कि उस काल में वह घड़ा था, उस परक्षेत्र में घड़ा था, ऐसा दूसरा झूठ कहा जाता है। तीसरे में ऐसा कहेंगे कि अन्य -अन्य कहेंगे, ऐसा कहते हैं, भाई! इसमें पहले में ऐसा कि स्वरूप से है, उसे इनकार करना; दूसरे में पर से नहीं, उसे इनकार करना; तीसरे में अन्य को अन्य कहना, बैल को घोड़ा कहना, जीव को जड़ कहना, जड़ को जीव कहना। समझ में आया?

यह शरीर है न ? इस शरीर की पर्याय है यह, देखो ! उसके कारण आत्मा की पर्याय नहीं। आत्मा की पर्याय अपने स्वकाल में, अपने कारण से है। ऐसी अस्तिरूप न कहकर वह नहीं - ऐसा कहना, वह पहला झूठ, और इस शरीर की पर्याय के कारण यहाँ है, यह दूसरा झूठ। मोहनभाई ! आहा..हा.. ! गजब लिखा ! अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त मुनियों की व्याख्या ही कोई अलौकिक ! सन्त महाधर्म के स्तम्भ, सत्य को ऐसा खड़ा रखा है। आहा..हा.. ! कथन की शैली में भी उनके.. सन्त, दिगम्बर सन्तों की कथनी ही कोई अलग प्रकार की है। केवलज्ञान के स्तम्भ, केवलज्ञान को टिका रखा है। वस्तु कहते हैं, देखो ! अब यहाँ असत्य के व्रत की व्याख्या है कि सत्यव्रत में ऐसा असत्य नहीं होता। उसमें यह डाला है, क्योंकि उत्सूत्र बोले वह अनर्थदण्ड है। ऐसी उत्सूत्र प्ररूपणा करना नहीं। यह सब इसमें लिखेंगे। समझ में आया ? आहा..हा.. !

भगवान आत्मा यहाँ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है। अर्थात् ? द्रव्य अर्थात् ? गुण धर्म त्रिकाली और पर्याय काल, उसका पिण्ड वह वस्तु है। क्षेत्र, उसका अपना एकत्व जो प्रदेश का। एकत्व समझे न ? किसी को असंख्य हो, किसी को अनन्त हो। वह एकत्वक्षेत्र वह उससे है, पर के क्षेत्र से नहीं। स्वकाल से है, स्वपर्याय से है और स्वगुण से है। उसे 'नहीं' कहना कि नहीं, नहीं। स्वपर्याय से नहीं, स्वपर्याय नहीं, स्वपर्याय नहीं, स्वगुण नहीं, स्वक्षेत्र नहीं, स्वद्रव्य नहीं। कहो, समझ में आया इसमें ? इसी प्रकार शरीर, शरीर की पर्याय से परिणम रहा है। उसका अस्तित्व उससे है ऐसा है, ऐसा इनकार करे कि नहीं, ऐसा नहीं है, नहीं ऐसा नहीं है। तथा शरीर की पर्याय में अस्तिरूप से होने पर भी उसे 'नहीं' कहना, नहीं कहना, नहीं, वह पर से है - यह दूसरा असत्य कहने में आता है।

मुमुक्षु : इसमें जीव हो तो शरीर चले न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ये तो सब बातें, सब हो गयी हैं। जीव हो तो शरीर चले, जीव हो तो बोले, यह सब जड़ की पर्याय में जीव की पर्याय हो तो वहाँ हो, यह मिथ्याभ्रान्ति है। वाणी की पर्याय, जीव हो तो होती है, तो उसकी पर्याय का अस्तित्व उससे सिद्ध नहीं किया, उसकी पर्याय इसके कारण है, अर्थात् वह नहीं, वह नहीं, यह है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : जीव के बिना कहीं मुर्दा चलता होगा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब अपने आप चलते हैं। कौन चलता था ? यहाँ रजकण नहीं

चलते ? देखो न.. अँगने में देखो तो कितने रजकण अपने आप ऐसे दौड़ादौड़-दौड़ादौड़ (होते हैं)। पवन न हो तो भी, हों! और कोई ऐसा कहे कि पवन की प्रेरणा से चलते हैं। दरवाजे बन्द हों, पवन..

मुमुक्षु : निमित्तवादी तो सब कारण शोधते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कारण शोधने से क्या होता है ? वस्तु स्वतन्त्र है वहाँ (कारण क्या शोधे) ? समय-समय का परिणमन उसी काल का, उसी प्रकार का, उसी भाव का जिस रीति से है, उस रीति से वह सत्य है। कोई भी आत्मा और कोई भी परमाणु का जिस समय में, जिस प्रकार का जिस काल में पूर्व-पश्चिम के काल बिना.. समझ में आया ? पूर्व और पश्चिम के बिना, पहली और बाद की पर्याय के काल बिना। उस वर्तमान काल में वह-वह, उस काल में, उस रीति से परिणमन है, उसे अस्ति कहना, ऐसा है, उसे इनकार करना वह असत्य वचन है। आहा..हा.. ! समझ में आया ?

वाणी की पर्याय जीभ से होती है, यह वाणी की पर्याय का अस्तित्व उड़ाया। वाणी की पर्याय से सामनेवाले को ज्ञान होता है। नहीं हो तो यहाँ किसलिए सामने बैठे हो ? यह ऐसा कहते हैं। कल बेचारा पूछता था कि यह उपदेश किसलिए ? यह मन्दिर किसलिए ? वह तो बेचारा जानने के लिए (पूछता था), हों! वह अन्दर इसका ध्यान रखे। कहे कि यह क्या ? यह तो भाई ! यह तो शुभभाव होते हैं, ,तब वहाँ होता है तो उसे-शुभभाव को निमित्त कहा जाता है। होवे तो। इस शुभभाव से वहाँ बनता है - ऐसा नहीं। समझ में आया ? और वह भी उपदेश के काल में, ऐसा विकल्प आया, वह उसके काल में आया है। तब उस काल में ही क्यों आवे ? आगे-पीछे नहीं। कहा - उस काल में आनेवाला हो तो उस काल में ही आवे। ऐसा पूछा था, मध्यस्थता से, हों! जिज्ञासा से। दो घण्टे बराबर उस समय ही विकल्प आवे ? कि उस समय ही आवे। ऐई! व्यक्ति जरा मध्यस्थ था। पुस्तक ले जाता हूँ, मुझे यह बात उचित लगती है, मैं वहाँ अभ्यास करूँगा, फिर से मैं आऊँगा। एक बार न्याय से सुने तो सही। सुनने का मिले नहीं और ऐसे के ऐसे अद्धर-अद्धर से गोला उड़ावे - ऐसा कहीं चले ?

मुमुक्षु : आज तक चला ही है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : चला है। आहा.. ! अरे ! भगवान क्या हो ?

सबेरे वह याद आया था, वह गन्ना-गन्ने का नहीं आता ? मोक्षमार्गप्रकाशक में सेरड़ी (गन्ने) का सेरड़ी समझते हो भाई ? गन्ना। गन्ना होता है न, उसे हमारे गुजराती में सेरड़ी कहते हैं। उस गन्ने के पोर का टोडरमलजी ने दृष्टान्त दिया है। नीचे रसहीन भाग (जड़) ऊपर ऊपरी। बीच का भाग कोई तीन, चार, पाँच पोरें अच्छी। उसमें भी बीच के में सियाल ने बटका भरा हो। सियाल, सियाल कहते हैं न ? जंगल का सियाल। सात, आठ, दस कातली हो, उसमें तीन कातली का इस ओर मोटे में जाये, भोटे में जाये। उस ओर दो, तीन कातली खारे में जाये, बीच की चार, पाँच रही ठीक, उसमें सियाल ने काट खाया हो। अब उसमें से चूसना हो तो चूसो, नहीं तो बोबे तो गन्ने का पार नहीं हो, बहुत गन्ना उगेगा।

इसी प्रकार एक तो बाल (अवस्था का) काल पन्द्रह-बीस (वर्ष का) मुफ्त में जाता है। कुछ भान बिना। यह पढ़ना है और गिनना है और कमाना है। बाद में कमाऊँगा और अमुक.. उसी-उसी में बाल्यकाल जाता है। अन्तिम साठ के बाद का वृद्ध काल। यह बीच का बीस से साठ का चालीस (वर्ष का) रहा वह जरा... परन्तु उसमें भी वापस सोने में जाये, खाने में जाये, पीने में जाये, मल-मूत्र विसर्जन में जाये, उसमें थोड़ा व्यापार में जाये, अब थोड़ा बहुत बाकी रहा हो। अब उसे भोग में रखो या आत्मा में रखो, यह कहते हैं तुम्हारी इच्छा। लो! क्यों! हीरालालजी! इतना समय है। बीस से साठ। साठ के बाद तो वृद्धावस्था कहलाती है, हों! वह वृद्धावस्था में जाती है, नीचे का बालकपन में जाता है, बीच के चालीस वर्ष रहे। उसमें भी सोने में, रोग आवे तो दवा करनी है, अमुक करना है, उसमें जाता है। उसमें फिर विवाह किया हो तो स्त्री में जाये, पुत्र हुए तो उसमें जाये, अब समय रहा कहाँ इसे ? थोड़ा समय व्यर्थ कुकथा में गँवावे, परवृत्ति और परकथा (में गँवावे)। उससे कहते हैं इस समय में इतना रख न। चूसना छोड़ दे उसे, उसे बो दे। समझ में आया ? आहा..हा..!

अरे! कितना समय! जो अवधि लेकर आया, (उसमें) एक समय बढ़े, ऐसा नहीं है। यह देह छूटने के काल के समीप में जाता है। ठीक बात होगी ? मलूपचन्दभाई! आहा..! अब इतने काल में इसे आत्मा का करना है। वह यदि नहीं करे.. आहा..! इसमें पर की कहाँ लगाना और इसमें पर का कहाँ करना ?

अपना आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है। जिस रीति से धर्म की पर्यायरूप

से जो रीति है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। चौथे गुणस्थान की पर्याय चौथे रूप, पाँचवें की पाँचवें रूप, छठे की छठे रूप। उस रूप से उस कालपने वह पर्याय है, उस रीति से वह सत् है, दूसरी रीति से कहे, वह असत् है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहा..हा..! गजब बात भाई! भगवान केवलज्ञानी का मार्ग अलौकिक, अलौकिक परम सत्य! परमेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा कहते हैं कि भाई! प्रत्येक पदार्थ अपने काल में, उस काल से वह पर्याय उस काल की जो है, उसे उस रीति से जाने तो वह सत् कहलाये और दूसरी रीति से जाने तो वह सत् का निषेध किया है। समझ में आया?

मुमुक्षु : पूँछ तक (अन्त तक) पहुँच गया, उसे क्या करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : पूँछ-पूँछ कुछ नहीं। यह तो कहाँ पूँछ तक पहुँचा है? साठ कहा न? इसलिए अन्त तक पहुँचे हैं - ऐसा कहते हैं। बीस से साठ कहा न, इसलिए साठ से ऊपर गये उसका क्या करना? ऐसा कहते हैं मगनभाई! सेठ है न? यह तो सेठ है। यह कोई गया नहीं, अब इसमें है और अभी दो वर्ष बाकी है न। समय-समय का स्वतन्त्र काल स्वयं बाकी है। आहा..हा..! यहाँ तो एक दृष्टान्त देकर बात की है। बाकी तो वृद्धावस्था में भी हो सकता है। वृद्धावस्था तो देह की है, आत्मा की कब वृद्धावस्था? शरीर की अवस्थारूप शरीर है, आत्मा की अवस्था में इस शरीर की अवस्था नहीं है। कहो, समझ में आया?

तार का अन्त नहीं कहते वे? .... सरीया। अन्तिम तार। उसमें टूटी, टूट गयी अच्छी साड़ियों का, वह लेने निकले बेचारा। साधारण महिला हो वह पड़ा हो पुराना कि लाओ न, बाँट दें। होवे पच्चीस रुपये की कीमत का। पहली पाँच, दस देती हो तो प्रसन्न हो जाये। पति से गुस्त पड़ी हो, इसलिए अपने प्रयोग के लिये होगा। साड़ी की डोर पहले में भाई! पीतल की छतरी नहीं होती थी छतरी? हमारे पहले स्थिति अच्छी थी और वह पीतल के तारों की छतरी थी, पीतल के तारों की छतरी। फिर मुझे खबर है छोटी उम्र में। कितने अधिक पीतल के सरिया की छतरियाँ पुरानी हुई ऊपर पड़ी है। तो किसी को खबर नहीं हो और हमारे वह रेवड़ीवाला निकले ना, पुरानी थी न, उसकी खिड़की थी, अभी खिड़की है न, वही खिड़की थी, और खिड़की में बाहर लकड़ियाँ हैं, उन पर पुरानी छतरियाँ पड़ी हुईं थीं। पीतल के सरिया की, हों! पीतल के सरिया। सच्ची पीतल के। वह

चीज़ ऊँची थी न पहले! ऐसी की ऐसी पड़ गयी हो। पड़ी थी। कोई न हो तो उसमें से ले लें दो चार सरिया और रेवड़ी ले लें। रेवड़ीवाला प्रसन्न हो जाये कि ये लड़के यह पीतल के सरिया देते हैं। यहाँ तो बेकार की पड़ी हो, कब किसी को खबर भी न हो और हम तो फिर जहाँ-तहाँ ढूँढ़ते हों। भाई! यह तो पीतल का सरिया लगता है। ५६-५७-५८ की बातें हैं ऐसी।

कितनी ऐसी चीज़ हो और उसे है, और यह है। यह पीतलपने है, यह लोहापने नहीं है। इसकी कीमत पीतलपने है। रेवड़ी बराबर देते थे, हों! प्रसन्नता से रेवड़ी दे। व्यक्ति ठीक लगता है। उसे तो अधिक पैसे की कमायी हो न? अब खबर पड़ी, हों! अब खबर पड़ी। हम पीतल के सरिया ले जाते और वह रेबड़ी देता। इसी प्रकार जिसका अस्तित्व जितनी कीमत का है, उतनी कीमत का उसे जानना चाहिए। उससे कम-ज्यादा करे तो कहते हैं कि झूठ है-ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहा..हा..! गजब बात डाली है असत्य में। यह वापस क्या? कि जो सत् जिस रीति से है, उस रीति से न कहे तो हिंसा है, भाई! यहाँ तो हिंसा सिद्ध करनी है न? असत्य, वह हिंसा है, लो! समझ में आया?

इसके लिये - यह सब हिंसा के लिये चलता है। असत्य हिंसा, चोरी हिंसा, विषय हिंसा, परिग्रह-ममत्व सब हिंसा है। वह अपनी प्रत्येक पर्याय जिस रीति से है, उस रीति से सत् है। वह सत् है, उसे 'नहीं' ऐसा मानना, वह हिंसा है, वह हिंसा है। वास्तविक कषाय परिणाम उत्पन्न होता है और उसमें मिथ्याश्रद्धा होने से जीव के प्राण की हिंसा होती है। समझ में आया? आहा..हा..! गजब बात डालते हैं, परन्तु कहाँ की कहाँ! पद्धति भी कथन पद्धति! कहो, समझ में आया?

वहाँ 'घड़ा है' ऐसा कह देना दूसरे असत्य का भेद है। क्योंकि नास्तिरूप वस्तु को अस्ति कहा। लो! नहीं, यह जीव ऐसे नहीं, इसकी केवलज्ञान पर्याय नहीं होती। कहो, जीव को पूर्ण समय में केवलज्ञानपर्याय का अस्तित्व नहीं होता। उसे भी अपूर्ण पर्याय रहती है - ऐसी मान्यता वह महा झूठी है और वह हिंसा है। आहा..हा..! समझ में आया? केवलज्ञानी के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उनका अस्तित्व है। केवलज्ञान की एक समय की पर्याय, सर्व को जानने का अस्तित्व रखती है। इतना अस्तित्व है, वह है; उसे इनकार करना कि ऐसा नहीं होता, ऐसा नहीं होता - झूठ है, हिंसा है, मिथ्याश्रद्धा हुई। तेरे

चैतन्य के भावप्राण प्रगट होने चाहिए, उन्हें वह श्रद्धा प्रगट नहीं होने देती, वह हिंसा है। समझ में आया? ओहो! तीन काल-तीन लोक के प्रमाण में पूरा नियम रच दिया है। समझ में आया?

ऐसे सिद्ध, एक सिद्ध हों वे दूसरे सिद्ध में मिल जायें, उनके अस्तित्व का नाश करे, यह झूठ है। सिद्ध एक हो, वहाँ तक निर्मल होने के बाद मिल जायें, सब एक ही हो जायें। वहाँ कहाँ चौका-चूल्हा अलग होता है? मिथ्या बात है। सर्वत्र अपना अस्तित्व भिन्न-भिन्न ही त्रिकाल में है। आहा..हा..! सिद्ध होते हैं तो उनका स्वकाल भिन्न है, दूसरे सिद्ध का स्वकाल भिन्न है। कोई किसी की पर्याय किसी की अस्ति के कारण नहीं है और अपना अस्तित्व है, उसे इनकार करे, वह पहला झूठ तथा अपना अस्तित्व यहाँ नहीं, पहला है उसे न करे और पहला नहीं उसे हाँ करे, नहीं उसे हाँ करे, यह मिथ्यात्व है। कहो, समझ में आया? मतिज्ञान में केवलज्ञान की मान्यता करे तो झूठ है। केवलज्ञान में मतिज्ञान की पर्याय माने तो झूठ है। आहा..हा..!

गाथा - ९४

आगे तीसरा भेद कहते है :-

वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाऽश्वः।।९४।।

स्वरूप से सत् वस्तु को, पररूप से जिसमें कहें।
है अन्यथा प्ररूपण तृतिय, ज्यों बैल को घोड़ा कहें।।९४।।

अन्वयार्थ : (च) और (यस्मिन्) जिस वचन में (स्वरूपात्) अपने चतुष्टय से (सत्अपि) विद्यमान होने पर भी (वस्तु) पदार्थ (पररूपेण) अन्य स्वरूप से (अभिधीयते) कहने में आता है उसे (इदं) यह (तृतीयं अनृतं) तीसरा असत्य (विज्ञेयं) जानो (यथा) जैसे (गौः) बैल को (अश्वः) घोड़ा है (इति) ऐसा कहना।

टीका : 'च यस्मिन् सत् अपि वस्तु पररूपेण अभिधीयते इदं तृतीयं अनृतं विज्ञेयं'-जिस वचन में यद्यपि पदार्थ अपने चतुष्टय में विद्यमान है तथापि उस पदार्थ

को अन्य पदार्थरूप से कथन किया जाय उसे तीसरा असत्य जानो। उसका उदाहरण- यथा गौः अश्वः-जैसे बैल को घोड़ा कहना।

भावार्थ : किसी क्षेत्र में बैल अपने चतुष्टय में स्थित था वहाँ किसी ने पूछा कि यहाँ क्या है? तो ऐसा कहने में आया कि यहाँ घोड़ा है। यह असत्य का तीसरा भेद है। वस्तु को अन्यरूप कहना।।९४।।

गाथा ९४ पर प्रवचन

आगे तीसरा भेद कहते है :- उसमें तो इतना - है, उसे नहीं कहना; नहीं, उसे है (कहना)। अब अन्य को अन्य कहना।

वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाऽश्वः।।९४।।

और जिस वचन में अपने चतुष्टय से विद्यमान होने पर भी पदार्थ अन्य स्वरूप से कहने में आता है.. आहा..हा..! भारी गजब बात! देखो! पैसे की पर्याय है न? उसके बदले जहाँ परिणमने की, उस जगह परिणमेगी, कहते हैं। समझ में आया? उसका अस्तित्व वह वहाँ ही है। कोई कहे कि इस मन्दिर में खर्चे और यहाँ खर्चे परन्तु यह बात ही झूठी है।

मुमुक्षु : तो फिर मन्दिर में खर्च करने का उपदेश किसलिए?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसने उपदेश दिया है? किसने कहा है?

यह तो ऐसा होवे तो उसमें पाप नहीं, क्योंकि उसका भाव शुभ है, इतना सिद्ध किया। कर सकता है ऐसा कुछ सिद्ध नहीं किया। समझ में आया? उसमें जरा हिंसा का भाव... यहाँ मन्दिर हो, हो। उपदेश हो, उपदेश करते हैं, ऐसा नहीं; उपदेश होता है। उसमें जो विकल्प जितना है, उतनी भी हिंसा है। आहा..हा..! मलूपचन्दभाई! यह ऐसा मार्ग है, बापू! कोई वहाँ.. आहा..हा..! उसे इनकार करे कि नहीं, झूठ है। शुभविकल्प राग है, वह हिंसा है। आत्मा वीतरागस्वरूप है, उसमें से विकल्प उठा। उसमें ऐसा कहे कि यह तूने

दान (दिया), उसमें जरा हिंसा.. उस परिणाम में उसका शुभ का हेतु है; इसलिए शुभभाव के कारण वह जरा हिंसा है। उसका अशुभपना नहीं और शुभ है, इतना सिद्ध करना है। शुभभाव से वहाँ किया जा सकता है, ऐसा नहीं और वह हुआ है, इसलिए यहाँ शुभभाव होता है, ऐसा नहीं। यह तो उसके भाव के काल में ऐसे एकेन्द्रिय की-आदि की हिंसा होती है न उसमें, पृथ्वी-पानी आदि, उसके निमित्तरूप से, हों! तब कहे, भाई! उसमें है परन्तु इसकी भक्ति का हेतु अधिक है। इसकी विशेषता यह है, इसलिए इसे शुभभाव है। शुभभाव का अस्तित्व है और अशुभभाव का अस्तित्व है, ऐसा नहीं, इतनी बात है।

मुमुक्षु : तथापि वह हिंसा?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह हिंसा है, परन्तु उसकी (अशुभ की) अपेक्षा से उसे अहिंसा व्यवहार से कहने में आता है। आहा..हा..! 'प्रभु का मार्ग है शूरों का, कायर का नहीं काम।' आहा..हा..! जहाँ स्वतन्त्र आत्मा, परमाणु प्रत्येक काल में उनकी पर्याय से परिणमे और पर से नहीं। है उसे इनकार करना, है उसे इनकार करना। समझ में आया? यह झूठ है, कहते हैं। तथा है कुछ और कुछ कहना, यह तीसरे के लिये। आहा..हा..! इसका अर्थ।

'वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्' बोला गया। **'अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाऽश्वः' और जिस वचन में अपने चतुष्टय से विद्यमान होने पर भी, पदार्थ अन्य स्वरूप से कहने में आता है...** अन्यरूप से कहने में आवे। आहा..हा..! समझ में आया? **उसे यह तीसरा असत्य जानो। जैसे बैल को घोड़ा है ऐसा कहना।** होवे बैल और कहना घोड़ा। कितना धीर हुआ दृष्टि कर सके और कितना धीर हुआ सत्यव्रत पाल सके। दुनिया के वेग में झुका हुआ, वह यह नहीं कर सकता। समझ में आया?

टीका : 'च यस्मिन् सत् अपि वस्तु पररूपेण अभिधीयते इदं तृतीयं अनृतं विज्ञेयं'-जिस वचन में यद्यपि पदार्थ अपने चतुष्टय में विद्यमान है, तथापि उस पदार्थ को अन्य पदार्थरूप से कथन किया जाय उसे तीसरा असत्य जानो। समझ में आया? **उसका उदाहरण-यथा गौः अश्वः-जैसे बैल को घोड़ा कहना।** सर्वज्ञ को अल्पज्ञ कहना, अल्पज्ञ को सर्वज्ञ कहना - यह सब अन्य का अन्य है।

मुमुक्षु : पुण्य को धर्म कहना वह ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य को धर्म वह अन्य है। पुण्य है, वह राग है, उसे धर्म कहना वह अन्य का अन्य है, अन्य का अन्य है। वैसे (ही) धर्म को पुण्य कहना, वह अन्य का अन्य है। समझ में आया ?

किसी क्षेत्र में बैल अपने चतुष्टय में स्थित था.. किसी क्षेत्र में, कोई चीज़ वहाँ थी, ऐसा लेना। **वहाँ किसी ने पूछा कि यहाँ क्या है?** यह पदार्थ किस प्रकार से है ? **तो ऐसा कहने में आया कि यहाँ घोड़ा है।** अर्थात् वह चीज़ नहीं, परन्तु दूसरी है। **यह असत्य का तीसरा भेद है। वस्तु को अन्यरूप कहना।** आहा..हा..! वाह रे वाह! समझ में आया ? मिथ्याश्रद्धा को सम्यक्श्रद्धा कहना, सम्यक्श्रद्धा को मिथ्याश्रद्धा कहना, वह सब अन्य का अन्य है। समझ में आया इसमें ? आहा..!

मुमुक्षु : दृष्टान्त प्रमाण... पागल ही कहलाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कहे इस दृष्टान्त प्रमाण पागल कहलाये परन्तु यह तुम जो दृष्टान्त देते हो, दूसरा, उसमें तो बहुत पागल नहीं कहते, ऐसा कहते हैं। बैल को घोड़ा कहे तो पागल कहे, परन्तु अल्पज्ञ पर्याय को सर्वज्ञ कहे और सर्वज्ञ को अल्पज्ञ कहे तो दुनिया पागल नहीं कहे - ऐसा कहते हैं। आहा..हा..!

जिसकी पर्याय का जितना अस्तित्व जैसे है, वैसे न कहकर, दूसरे प्रकार से मानना, वह असत्य है, असत्य है। आहा..हा..! वाह रे वाह! अमृतचन्द्राचार्य, पुरुषार्थसिद्धि -उपाय में सत्य का वर्णन (करते हैं)। पहला कहे सत्य (बोलते हैं), परन्तु सत्य वस्तु कैसी है, उसके भान बिना सत्य बोले किस प्रकार ? सत्य लाया कहाँ से ? सत्यवादी आता है न ? हरिश्चन्द्र सत्यवादी। ऐई! आता है ? वह राजा था न ? परन्तु किसका सत्यवादी ? वस्तु की खबर बिना सत्यवादी किसका ? पोपटभाई! सुना है या नहीं ? वह बिकी, बाद में हरिश्चन्द्र बिका.. रानी आती है न नाटक। यह तो हमने नाटक देखे हैं न सब। हरिश्चन्द्र राजा और उसकी स्त्री तारामती। वहाँ चाण्डाल में बेचा गया, वह श्मशान में रहता है। समझ में आया ? हरिश्चन्द्र, हों! उसमें वह रानी.. होगा। पुत्र मर गया, पुत्र लेकर आयी, यह कहे कि लाओ दान। क्या कहलाता है ? दान, दान.. कौन दे ? तारामती। दान दिये बिना नहीं

जलाया जा सकता ? मैं हरिश्चन्द्र राजा हूँ। पहले पहिचाना की यह राजा, उसने पहिचाना की रानी। हमारे तो सत्य है, दान लिये बिना नहीं जलाया जायेगा। उसमें सत्य कहाँ आया ?

वास्तविक पदार्थ आत्मा के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, उसे उस प्रकार से जाने बिना, दूसरे प्रकार से जाने वहाँ मूल असत्य—मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान कहो, या असत्य कहो। पहले उसके मूल में जहाँ असत्य पड़ा है, फिर उसकी वाणी में असत्य तो आये बिना नहीं रहता। जिसकी श्रद्धा मिथ्याश्रद्धा, मिथ्यात्व.. मिथ्यात्व कहो या असत्य कहो। सही है या नहीं ? तो जहाँ वस्तुस्वरूप जिस प्रकार से है, उस प्रकार से न मानकर विपरीत मानता है, वह स्वयं असत्य है। अब उसकी मान्यता असत्य है, उसका सब उसे तो असत्य ही है। उसे सत्यव्रत लाये कहाँ से ? समझ में आया ? आहा..हा.. ! 'सतिया सत् मत छोड़िये' वे बाबा आते हैं न पैसा लेने ? 'सत् छोड़े पत जाये, सत् की बाँधी लक्ष्मी, फिर मिलेगी यहाँ' इतना वह बोले। दुकान पर पैसा लेने आता था न दुकान पर। शशीभाई !

सतिया सत् मत छोडिये, सत् छोड़े पत जाये,
सत् की बाँधी लक्ष्मी, फिर मिलेंगी यहीं।

आहा..हा.. ! भगवान आत्मा द्रव्य से अनन्त गुण का पिण्ड सत् है। क्षेत्र से असंख्य प्रदेश से सत् है। गुण से अनन्त गुण से सत् है। पर्याय अनन्त गुण की वर्तमान जो वर्तती पर्याय, वह सत् है। आहा.. ! समझ में आया ? उसे दूसरे प्रकार से कहना - होवे उससे दूसरा कहना। उसका नाम बैल को घोड़ा कहने जैसा झूठ है। अब उसे हिंसा स्थापित करते हैं, वह सब हिंसा ही है। कहते हैं। समझ में आया ? झूठ वचन में हिंसा का सद्भाव। ये तीनों हिंसा हैं। सत् को सत्रूप न मानना, वह हिंसा; सत् को असत् से मानना, वह हिंसा; और एक को दूसरे रूप मानना, वह हिंसा।

गाथा - ९५

आगे चौथा भेद कहते हैं :-

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत्।
सामान्येन त्रेधा मतिमदमनृतं तुरीयं तु।।९५।।

गर्हित रु पापसहित अप्रिय, वचन जो सामान्य से।
त्रय रूप मानों यह चतुर्थ, अनृत है जिनने कहे।।९५।।

अन्वयार्थ : (तु) और (इदं) यह (तुरीयं) चौथा (अनृतं) असत्य (सामान्येन) सामान्यरूप से (गर्हितं) गर्हित (अवद्यसंयुतम्) पाप सहित (अपि) और (अप्रियं) अप्रिय इस तरह (त्रेधा) तीन प्रकार का (मतम्) माना गया है। (यत्) जो कि (वचनरूपं) वचनरूप (भवति) है।

टीका : 'तु इदं तुरीयं अनृतं सामान्येन त्रेधा मतम्-यत् अपि वचनरूपं गर्हितं अवद्यसंयुतं अप्रियं भवति'-यह चौथा असत्य का भेद तीन प्रकार का है। (१) वचन से निन्दा के शब्द कहना, (२) हिंसा सहित वचन बोलना, (३) अप्रिय अर्थात् दूसरे को बुरे लगें ऐसे वचन बोलना।।९५।।

गाथा ९५ पर प्रवचन

आगे चौथा भेद कहते हैं :- चौथा भेद, चौथा भेद है न? तीन, तीन बोल तीन। इस चौथे के तीन। तीन गये, चौथे के तीन।

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत्।
सामान्येन त्रेधा मतिमदमनृतं तुरीयं तु।।९५।।

और यह चौथा असत्य... तीन असत्य कहकर चौथी बात करते हैं। इन तीनों में हिंसा है, हों! सभी। **सामान्यरूप से गर्हित, पापसहित और अप्रिय इस तरह तीन**

प्रकार का माना गया है। जो कि वचनरूप है। वचनरूप की बात है न यहाँ? यहाँ तो यह वचन बोलना नहीं - ऐसा कहते हैं न? जिस वचन से निन्दा के शब्द कहना.. भाषा तो ऐसी ही आवे न? तब भाषा के वचन कर सके? यहाँ तो उसका भाव है कि ऐसा बोलता है इस अपेक्षा से कथन करना है।

मुमुक्षु : ऐसा बोलना, ऐसा न बोलना।

पूज्य गुरुदेवश्री : बोलना न बोलना, यह कुछ वचन का अधिकार नहीं। बोलने के काल में उसका भाव, असत्य ऐसा था, सत्य ऐसा था। ऐसा वर्णन करते हैं। बोलने की क्रिया तो स्वतन्त्र जड़ की है। वह कहाँ और... तो फिर यहाँ बोलने की पर्याय की यहाँ राग का भाव और उसके कारण वाणी की पर्याय हुई, भाषा हुई तो फिर एक की एक पर्याय दूसरे में डाली। आहा..हा..! गजब भाई! विकट मार्ग। ऐसा सरल मार्ग। आहा..हा..!

सत् सरल है, सहज है, सर्वत्र है - ऐसा श्रीमद् का एक पत्र है। श्रीमद् का एक पत्र है। सत् सर्वत्र है, सहज है, सरल है। है न? नवीनभाई! श्रीमद् में है न? नवलभाई! उसमें नहीं? श्रीमद् का एक पत्र है।

यहाँ कहते हैं, देखो! भाषा ऐसी है या नहीं? वचनरूप ऐसा शब्द है न? भाषा तो क्या? कहे तब। सब **'वचनरूपं' 'वचनरूपं'** ऐसा भाषा में है। इसलिए जिस वचन में- ऐसा लिखा है न वापस? अर्थ में तो ऐसा है न मूल तो? जिस वचन में - ऐसा है, स्वक्षेत्र, काल, भाव से। स्व में द्रव्य लिया। समझे न? वह स्व शब्द है न? ९२, स्वक्षेत्र, काल, भाव से। तब स्वक्षेत्र, काल, भाव, तो द्रव्य कहाँ गया? परन्तु स्व अर्थात् द्रव्य और क्षेत्र, काल, भाव। **'वस्तु निषिध्यते'** वस्तु निषिध आया न वचन? वचन से निषेध। **'वस्तु निषिध्यते'** वहाँ आया, देखो! है न? कहो, लो! प्रगट करने में आवे। भाषा तो भी समझाना व्यवहार से किस प्रकार आवे? वचन ऐसे बोलना अर्थात् उसका झूठा भाव है, वह वचन झूठ बोलता है, वह प्रसिद्ध करते हैं। समझ में आया?

टीका : यह चौथा असत्य का भेद तीन प्रकार का है। 'तुरीयं'.. है न अन्तिम शब्द? **चौथा असत्य का भेद तीन प्रकार का है। (१) वचन से निन्दा के शब्द कहना,..** भाव में उसे द्वेष है न? इस अपेक्षा से। वचन तो वचनरूप से उनकी

पर्याय निकलती है। समझ में आया? निन्दा के वचन, इसका भाव निन्दा का है, ऐसा प्रसिद्ध करते हैं, इतनी बात है। भारी कथन! शास्त्र में तो ऐसा ही आवे न? **(२) हिंसा सहित वचन बोलना,..** लो! हिंसावाले वचन बोलना। इसे मारो, इसे ऐसा करो इत्यादि। बोलना, वह पाप है, कहते हैं, लो! वह कहे बोल सकता नहीं। लो!

समयसार में तो कहते हैं कि जैसा हिंसा असत्य, दत्त, अब्रह्मचर्य / अब्रह्म और परिग्रह, पाप, वैसे अहिंसा, सत्य, दत्त, वह भी पुण्य, दोनों एक सरीखे बन्ध के कारण हैं। हिंसा का भाव-अहिंसा का भाव, झूठ का भाव - सत्य का भाव, चोरी का भाव - अचोरी का भाव, विषय का-अविषय का, परिग्रह की ममता का - परिग्रह की ममता छोड़ने का विकल्प, हों! दोनों बन्ध के कारण हैं, दोनों समान हैं। परन्तु यहाँ बन्ध के कारण में ऐसा भाव जो आया है, उसकी योग्यता प्रमाण में ऐसा होवे, इससे विशेष विरुद्ध होवे नहीं - ऐसा बतलाने के लिये यह बात ली है। समझ में आया?

(३) अप्रिय वचन अर्थात् दूसरे को बुरे लगें ऐसे वचन बोलना। चौथे के चौथे झूठ के तीन भेद हैं।

गाथा - ९६

आगे तीन भेदों में प्रथम ही गर्हित का स्वरूप कहते हैं :-

पैशून्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम्।।९६।।

पैशून्य निन्दायुत हँसी, कर्कश प्रलाप सुसंशयी।
उत्सूत्रवाणी अन्य भी यों कहें गर्हित ये सभी।।९६।।

अन्वयार्थ : (पैशून्यहासगर्भं) दुष्टता अथवा निन्दारूप हास्यवाला (कर्कशं) कठोर (असमञ्जसं) मिथ्या-श्रद्धानवाला (च) और (प्रलपितं) प्रलापरूप (बकवाद) तथा (अन्यदपि) और भी (यत्) जो (उत्सूत्रं) शास्त्रविरुद्ध वचन है (तत्सर्वं) वह सभी (गर्हितं) निन्द्यवचन (गदितम्) कहा गया है।

टीका : 'यत् वचन पैशून्यहासगर्भं कर्कशं असमंजसम् प्रलपितं च अन्यत् अपि उत्सूत्रं तत् गहितं गदितम्' – जिस वचन में दुष्टता हो, अन्य जीव का बुरा करनेवाला हो, अपने को रौद्रध्यान करानेवाला हो, तथा हास्यमिश्रित हो, दूसरे जीव का मर्मछेदक हो, स्वयं को प्रमादकारक हो, कर्कश-कठोर हो अर्थात् सुनने में बुरा लगे, असमंजस-मिथ्याश्रद्धा करानेवाला हो, और अप्रमाणरूप हो, तथा अन्य भी शास्त्र-विरुद्ध वचन गर्हित वचन में गर्भित समझना।

गाथा ९६ पर प्रवचन

आगे तीनों भेदों का अलग-अलग वर्णन करते हैं। **आगे तीन भेदों में प्रथम ही गर्हित का स्वरूप कहते हैं :-**

पैशून्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम्।।९६।।

कहा है। **'पैशून्यहासगर्भं' दुष्टता अथवा निन्दारूप हास्यवाला..** जिसमें गर्भ में अर्थात् दुष्टता और निन्दारूप हास्य जिसमें भरा हुआ है भाव। **कठोर 'असमञ्जसं' मिथ्या-श्रद्धानवाला..** लो! ठीक। और पाँचवें गुणस्थानवाले को मिथ्या श्रद्धानवाला कहाँ आया वापस? ये तो पाँचवें गुणस्थानवाले हैं। परन्तु समुच्चय बात सब करते हैं कि उसे ऐसा होता नहीं। **और प्रलापरूप (बकवाद)..** कोई मेल नहीं। बकवाद करे उल्टी-सीधी, उल्टी-सीधी। ऐसे वचन जिसे गर्हित कहते हैं। यह गर्हित की व्याख्या है। **तथा और भी जो शास्त्रविरुद्ध वचन है..** देखो! भगवान ने कहे हुए सिद्धान्त शास्त्र से विरुद्ध (होवे), वह सब गर्हित में, निन्दा करनेयोग्य में जाते हैं। **वह सभी निन्द्यवचन कहा गया है।** ओहो..! शास्त्र विरुद्ध वाक्य।

टीका : 'यत् वचन पैशून्यहासगर्भं कर्कशं असमंजसम् प्रलपितं च अन्यत् अपि उत्सूत्रं तत् गहितं गदितम्' – जिस वचन में दुष्टता हो,.. दुष्टभाव अन्दर भरा हो। आहा..हा..! सज्जनता का जहाँ अन्त हो, छेड़ो (अन्त)। दुष्टता का भाव, अरे! तू कुछ

सत्य तो बोल! - ऐसा लोग नहीं कहते ? ऐ..! कुछ सज्जनता तो रख, क्या तू कहता है ? - ऐसा लोग कहते हैं, हों! आहा..हा..! कुछ विचार करके बोल, भाई! विचार करके बोल। तू क्या कहता है ? वचन दुष्टतासहित हो। निष्ठुर वचन अन्दर में ठिकाना (नहीं), वह गर्हित है, निन्दायोग्य है। वे वचन सम्यक्त्वी श्रावक को नहीं होते। समझ में आया ?

अन्य जीव का बुरा करनेवाला हो,.. जिस वचन से दूसरा का बुरा हो, हैरान हो, वे गर्हित वचन हैं। **अपने को रौद्रध्यान करानेवाला हो,..** स्वयं भी रौद्रध्यान। बोला गया ऐसा फिर कि हाय.. हाय..! अब ? राजा बैठा था, यह माँ-बाप बैठे थे और ऐसा बोला गया ? हाय.. हाय..! जिन्दगी में क्या होगा ? ऐसा वचन रौद्र, रौद्र। ये सब गर्हित वचन कहलाते हैं, गर्हित भाव कहलाते हैं। भाव गर्हने योग्य है और बाद में वचन कहलायेंगे न ? समझ में आया ? आहा..हा..!

देखो न! इन टोडरमलजी को। इनका दोष नहीं था। खुला (स्पष्ट) नहीं किया। आहा..हा..! हे राजन! यह प्रतिमा मैंने जेब में नहीं रखी, किसी ने डाली थी, इतना नहीं बोले। अरे! दूसरे के सिर आयेगा और राजा ऐसा ही दण्ड उसे देगा। सहन कर लेना, यह मेरा काम है। यह कहना, वह मेरा काम नहीं। आहा..हा..! गृहस्थाश्रम में देह का दण्ड होता है, उस काल में भी,... यह तो साहेब! अन्याय होता है। जेब में प्रतिमा मैंने नहीं रखी। इतना ही कहे, किसने रखी - ऐसा नहीं, मैंने नहीं रखी। बोले नहीं। मैंने नहीं रखी, इतना कहे तो दूसरे ने डाली है - यह हो गया, ऐसा अर्थ तो आ गया। दूसरे ने डाली तो किसने डाली ? उसकी खोज करे। जो उसका माननेवाला हो, उसकी प्रतिमा है इसमें। इसलिए उसने डाली होगी। आहा..हा..! *अट्ठाईस वर्ष का युवा। कहो, ऐसे वचन को भी शोभता नहीं, शोभे नहीं। आहा..हा..! समझ में आया ?

अन्य जीव का बुरा करनेवाला हो, अपने को रौद्रध्यान करानेवाला हो, तथा हास्यमिश्रित हो,.. मजाक-मजाक में बात-बात में छोड़ दे बात। होते हैं न ऐसे ? मजाक में छोड़ दे। देखा ? तुम्हें नहीं चिपकाते ? ऐसी बेकार बात करे न, कि बाहर में ऐसा

---

* जब पूज्य गुरुदेवश्री का यह प्रवचन हुआ, तब तक पण्डित टोडरमलजी की आयु 27-28 वर्ष मानी जाती थी, किन्तु बाद में डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा शोध करके उनकी आयु 47 वर्ष प्रमाणित की गयी है।

- सम्पादक

हो और यह कुछ इसने गुनाह किया लगता है। ऐसा होता है या नहीं? **दूसरे जीव का मर्मछेदक हो,..** अन्य की गुप्त बात हो, वह प्रगट हो जाती हो, कुटुम्ब में, जाति में, हैरान हो जाये बेचारा। समझ में आया? ऐसे सब वचन निन्दनीय हैं, निन्दायोग्य हैं।

स्वयं को प्रमादकारक हो,.. देखो! कोई ऐसे शब्द हों, प्रमाद से... जाये, ऐसा कहे। **कर्कश-कठोर हो..** तलवार की धार, बाण लगता हो न, बाण। कान में लोहे का बाण (लगता हो), ऐसे बिच्छु के डंक जैसे कर्कश वचन। एक, दूसरी महिलाएँ झगड़ती हों और फिर ऐसे एक दूसरे - एक दूसरे ताना मारे, एक के बाद एक। पहली थोड़ा कहे तो (दूसरी) अधिक, उससे अधिक.. अधिक.. और होशियार हो तो अधिक ताना मारे तो बहुत अधिक होशियार कहलाये। **असमंजस-मिथ्याश्रद्धा करानेवाला हो,..** लो! ठीक। जैसा सत्य का स्वरूप है, उससे विपरीत श्रद्धा करानेवाले उन वचनों को भगवान ने निंद्य कहा है। वे वचन श्रावक को नहीं हो सकते हैं। आहा..हा..!

धार तलवारनी सोह्यली दोह्यली चौदमां जिनतणी चरण सेवा,
धार पर नाचता देख बाजीगरा सेवना धार पर रहे न देवा।

हे नाथ! आपकी आज्ञा को धारण कर रहना, वह तलवार पर नाचनेवाले जादूगर से भी महान पुरुषार्थ का मार्ग है। 'धार पर नाचता देख बाजीगरा' यह तो होता है, कहते हैं। 'सेवना धार पर रहे न देवा' यथार्थ धीरज और दृष्टि तथा ज्ञान न हो, तो वह सेवना भगवान की आज्ञा-प्रमाण रह नहीं सकती। अथवा 'सेवना धार पर रहे न देवा।' देव, इस संयम को पाल नहीं सकते। आहा..हा..! स्वयं की बात थोड़ी प्रगट होती हो, उसके बदले उसे दबाने के लिये दूसरे की बहुत प्रगट कर डाले, बहुत प्रगट कर डाले। समझ में आया? यह शोभा नहीं देता।

कहते हैं **असमंजस-मिथ्याश्रद्धा करानेवाला हो, और अप्रमाणरूप हो,..** अन्दर प्रमाण का कुछ न्याय न हो। यह तो उल्टा-सीधा जकड़े रखे। सत्य का कुछ प्रमाण है? न्याय से कहता है या ऐसे का ऐसा जड़के रखता है? **अप्रमाणरूप हो, तथा अन्य भी शास्त्र-विरुद्ध वचन गर्हित..** अन्तिम वापस डाला न? इतना कहकर असमंजस में मिथ्या-श्रद्धान का कहकर, अन्त में कहा कि '**अन्यदपि यदुत्सूत्रं**' दूसरे भी सर्वज्ञ कथित

शास्त्र से विरुद्ध। परमात्मा त्रिलोकनाथ वीतरागदेव ने जो शास्त्र कहे, उनसे विरुद्ध कहना, **तथा अन्य भी शास्त्र-विरुद्ध वचन गर्हित वचन में गर्भित समझना।** लो! गर्भ डाला, सब उसमें वहाँ डाला। ये सब वचन गर्भित। उसमें सब गर्भ में समा जाते हैं अथवा उसमें गर्भित हैं - वे सब उसमें आ जाते हैं। आहा..हा..!

श्वेताम्बर में कहीं आता है। अर्णिक श्रावक है और जहाज में जाता है। यह चर्चा हमारे दूसरे के साथ बहुत हुई। वह दृढ़ श्रावक है और फिर उसे डिगाने के लिये देव आता है। देव ऊपर लेता है, उसे ऊपर। देख, इस पानी में डुबो देता हूँ। कह - तेरा जैनधर्म झूठा है। ऐसा जैनधर्म होगा? अरिहन्त देव और गुरु ऐसे और मार्ग ऐसा और अहिंसा धर्म तथा अमुक-अमुक, झूठा कह, नहीं तो तुझे डुबो देता हूँ। जहाज का दृष्टान्त आता है। ज्ञातासूत्र में आता है। अर्णिक कुछ नाम है। भूल जाते हैं, बहुत वर्ष हुए।

मुमुक्षु : अर्णिक श्रावक।

पूज्य गुरुदेवश्री : अर्णिक श्रावक। हमारे ऐसे धन्धा तो जहाज का करते, ऐसा कहे। समझ में आया न? यह सब चलता था। फिर चर्चा करते न सब कि, यह तो श्रावक है न? जहाज का धन्धा करता है और उसकें वह देव उसे डिगाने आता है। तुझे करना हो वह कर, दूसरा होगा ऐसा नहीं, कहे। मार, समुद्र में शरीर फेंक दे। कौन कहता है तुझे? किसने तुझे कहा? वह देव कहता है - यह तो जोरदार भाई लगता है। हाथ ऊपर उठाया नहीं। गृहस्थों को बड़े जहाज हों, करोड़ों रुपये के जहाज लेकर बेचने निकले। एक देश से दूसरे देश लेने जाए और वापस उसके बदले दूसरा माल लावे, इसलिए आमदनी बहुत हो, दुगनी आमदनी। यहाँ का माल वहाँ हो और वहाँ का ऐसे लावे। बीच में से ऊँचा किया ऐसे उठाकर हाथ में, देख, यह डुबोऊँ; इतनी देर है। कहे - कौन तुझे पूछता है? किसे पूछता है तू? हाय.. हाय..! यह जोरदार लगता है। देव ने महिमा की थी कि अर्णिक श्रावक श्रद्धा में बलवान है। नहीं.. नहीं.. नहीं.. दूसरा यहाँ हो - ऐसा नहीं है। तुझे करना हो, वह कर न! समझ में आया? शास्त्र से विरुद्ध, तत्त्व से विरुद्ध, न्याय से विरुद्ध; मर जाए प्राण तो भी ज्ञानी दूसरा नहीं बोलते। ऐसे गर्हित वचनों का उसे त्याग होता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - ९७

आगे अवद्यसंयुक्त असत्य का स्वरूप लिखते हैं :-

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाया: प्रवर्त्तन्ते।।९७।।

छेदन भेदन मारने के, खीचने व्यापार के।
नित चौर्य आदि के वचन, हिंसादिकर सावद्य हैं।।९७।।

अन्वयार्थ : (यत्) जो (छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि) छेदन, भेदन, मारण, शोषण, व्यापार या चोरी आदि के वचन हैं (तत्) वे सब (सावद्यं) पापयुक्त वचन हैं (यस्मात्) क्योंकि यह (प्राणिवधाद्या:) प्राणी हिंसा आदि पापरूप (प्रवर्तन्ते) प्रवर्तन करते हैं।

टीका : 'यत् छेदन भेदन, मारण कर्षण वाणिज्य चौर्य वचनादि तत् सर्वं सावद्यं अस्ति यस्मात् प्राणिवधाद्या: प्रवर्तन्ते' - जो नाक आदि छेदने के, काटने के, मारने के, खींचने के, (हिंसक) व्यापार करने के अथवा परवस्तु की चोरी करने आदि के वचन कहने में आवें, वे सभी सावद्य (पाप) सहित झूठ का स्वरूप हैं क्योंकि इनसे प्राणियों का घात होता है।

भावार्थ : अवद्य का अर्थ पाप है, अत: जिस वचन से पाप की प्रवृत्ति हो, उसे सावद्य कहते हैं।।९७।।

प्रवचन नं. ४७ गाथा-९७ से १०१ मंगलवार, ज्येष्ठ कृष्ण ५, दिनांक २७.०६.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, ९६ गाथा पूरी हुई। ९७, (गाथा) क्या चलता है? कि आत्मा का शुद्धस्वभाव, उसकी दृष्टि और ज्ञान करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन और ज्ञान है और पश्चात् शुद्धोपयोगरूप परिणमन करना, वह चारित्र है। शुद्धोपयोगरूप परिणमन

करना। उसमें जितना शुभ-अशुभभाव होता है, वह सब हिंसा है, परन्तु श्रावक की दशा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित शुद्धोपयोग न हो, उसे देशविरतिपना है; इसलिए उसे एकदेश से हिंसा और झूठ का त्याग (होता है)। सर्वदेश से हिंसा का और झूठ का त्याग मुनि को होता है। महा अहिंसारूप परिणमन जिन्हें शुद्धोपयोगरूप परिणमन है जिनका, उन्हें तो महा अहिंसा है। इसे (श्रावक को) देश से (एकदेश) अहिंसा है। यह आ गया है। कर्कश आदि वचन, ये बहुत हिंसावाले हैं। ऐसे वचन श्रावक को नहीं हो सकते हैं। समझ में आया? अब ९७ (गाथा)।

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधायाः प्रवर्त्तन्ते।।९७।।

जिसने पर प्राणी का छेदन हो, वे सावद्यवचन हैं। समझ में आया? यहाँ कहेंगे। श्रावक सावद्यवचन का सर्वथा त्याग न कर सके, परन्तु देश से (एकदेश) तो त्याग कर सकता है। अपने भोग-उपभोग के साधन में, ऐसे जो पाप के परिणाम होते हैं, उनका वह त्याग नहीं कर सकता, परन्तु बिना प्रयोजन के सावद्यवचन का उसे त्याग होता है। किसी को **छेदन, भेदन,..** छेदना-टुकड़े करना, भेदन, टुकड़ा / चूरा करना **मारण,..** मारना **शोषण,..** उसका शोषण करना अथवा **व्यापार या चोरी आदि के वचन हैं, वे सब पापयुक्त वचन हैं..** परन्तु गृहस्थाश्रम में उसे देश (एकदेश) से त्याग कहेंगे। उसे सर्वथा सावद्य से त्याग नहीं। आगे कहेंगे। **क्योंकि यह प्राणी हिंसा आदि पापरूप प्रवर्तन करते हैं।** कहो, ये सब परिणाम छेदन, भेदन, व्यापार का भाव, वह भी हिंसा है।

मुमुक्षु : ... चोरी के भाव...

पूज्य गुरुदेवश्री : वे सब हिंसा ही हैं। रागमात्र। यहाँ तो अशुभ की हिंसा की अपेक्षा से बात है। बाकी तो पहले कह गये हैं कि शुभराग भी हिंसा है, परन्तु यहाँ तो उसे इतना त्याग न कर सके तो अशुभ में भी तीव्र सावद्य का भाव पंचम गुणस्थान में नहीं होता। समझ में आया?

मुनि को तो सर्वथा वह सावद्यवचन नहीं होता। मुनि को सावद्यवचन, जिसमें पाप, कुछ दूसरे को दुःख हो, आरम्भ हो, वह वचन मुनि को तो सर्वथा नहीं होता। श्रद्धा में तो

कोई भी पाप का विकल्प या शुभराग भी आदरयोग्य नहीं - ऐसा धर्मी को तो पहले सम्यग्दर्शन में ही होता है, परन्तु यहाँ त्याग की अपेक्षा से अभी बात चलती है। समझ में आया? श्रद्धा अपेक्षा से तो अशुभ-सावद्य परिणाम छोड़ने योग्य हैं और शुभभाव भी हिंसा है; इसलिए छोड़ने योग्य है। अब, यहाँ इसके अतिरिक्त अस्थिरता के जो सावद्यपरिणाम हैं, उन्हें भी मुनि सर्वथा सावद्य के त्यागी हैं। गृहस्थाश्रम में सर्वथा सावद्य का त्याग नहीं हो सकता क्योंकि भोग-उपभोग में उसके भाव, सावद्य के वचन भी होते हैं। ऐसा भोगना, ऐसा करना.. परन्तु इसके अतिरिक्त विशेष सावद्य के परिणाम उसे नहीं होते।

क्योंकि यह प्राणी हिंसा आदि पापरूप प्रवर्तन करते हैं।.. आहा..हा..! जैन वीतरागमार्ग! **जो नाक आदि छेदने के वचन,..** वचन है न? मूल में शब्द है **'चौर्यवचनादि'** अन्तिम पद है। वचन तो वचन के कारण से (होते हैं परन्तु) ऐसा उसका भाव बताने को वचन ऐसा नहीं होता, ऐसा बताते हैं। **काटने के, मारने के, खींचने के,..** है न? शोषण करते हैं उसमें यह? शोषण का अर्थ यह किया। शोषण करना, खींचना, घसीटना और उसमें से **व्यापार करने के अथवा परवस्तु की चोरी करने आदि के वचन कहने में आवें वे सभी सावद्य (पाप) सहित झूठ का स्वरूप हैं..** लो! ये पापसहित हैं। **क्योंकि इनसे प्राणियों का घात होता है।** अपने प्राण का घात होता है और दूसरे के प्राण को भी घात में निमित्त होते हैं, ऐसा कहते हैं।

अहो! मार्ग वीतराग का! वीतराग का अर्थात् आत्मा के स्वभाव का। आत्मा अत्यन्त वीतराग.. वीतराग.. वीतराग.. जिसमें जिस भाव से सर्वार्थसिद्धि का बन्ध पड़े, तीर्थंकर गोत्र का बन्ध पड़े, वह भाव भी जहाँ वीतरागभाव नहीं। आहा..हा..! ऐसा जो निर्वद्य, निर्दोष आत्मस्वभाव, उसकी श्रद्धा-ज्ञान भी ऐसा ही निर्दोष और सावद्यरहित भाव होता है। सावद्य अर्थात् रागरहित। ऐसा चारित्र भी उतने अंश में जितना राग का अभाव होकर अरागरूप जितनी दशा हुई, वही वास्तविक वीतरागस्वरूप का-मार्ग का चारित्र है। समझ में आया? परन्तु इतना सब पूर्ण त्याग न कर सके तो श्रावक को देशविरति, तीव्र राग के सावद्य वचन का त्याग है। मन्द राग ऐसे जो उस प्रकार के; है भले अशुभ, परन्तु उस प्रकार का त्याग उसे नहीं होता तो उतनी हिंसा है परन्तु इस सावद्य तीव्र का त्याग है, इसलिए उसे पंचम गुणस्थान की परिणति को विघ्न करनेवाला नहीं है। समझ में आया?

गाथा - ९८

आगे अप्रिय असत्य का स्वरूप कहते हैं :-

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम्।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम्।।९८।।

नित अरति भीति खेदकारक, वैर शोक कलह करें।
हों और भी संतापकारक, आदि सब अप्रिय कहें।।९८।।

अन्वयार्थ : (यत्) जो वचन (परस्य) दूसरे जीव को (अरतिकरं) अप्रीतिकारक (भीतिकरं) भयकारक (खेदकरं) खेदकारक (वैरशोककलहकरं) वैर, शोक तथा कलहकारक हो और तो (अपरमपि) अन्य जो भी सन्तापकारक हो (तत्) वह (सर्वं) सर्व ही (अप्रियं) अप्रिय (ज्ञेयम्) जानना चाहिए।

टीका : 'यत् वचनं परस्य अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरं तथा अपरमपि तपकरं तत्सर्वं अप्रियं ज्ञेयम्' - जो वचन दूसरों को अरति करनेवाला अर्थात् बुरा लगनेवाला हो, भय उत्पन्न करनेवाला हो, खेद उत्पन्न करनेवाला हो, तथा वैर शौक और कलह करनेवाला हो तथा और भी अनेक प्रकार के दुःख उत्पन्न करनेवाला हो, वह सभी वचन अप्रिय झूठ का भेद है।।९८।।

गाथा ९८ पर प्रवचन

आगे अप्रिय असत्य का स्वरूप कहते हैं :- यह अवद्य-सावद्य का कहा। तीन आये थे न? तीन भेद आये थे या नहीं? सावद्य वचन, गर्हित वचन, अप्रिय वचन। गर्हित का पहले कह गये। गर्हित पहला ही था। पहले में है, देखो न? **'गर्हितमवद्यसंयुतम-प्रियमपि'** तीन ही है ९५ में। गर्हित में पहले आ गया था, यह अवद्य में आया। ओहो..हो..! देखो! मुनिमार्ग! उनके वचन में, श्रद्धा में तो उसे होता है कि एक भी विकल्प उठाना, वह हिंसा और सावद्य है परन्तु स्थिरता की अपेक्षा में मुनिपने में कितनी स्थिरता

होती है ? उसे यह सावद्यवचन, अंश भी जिसमें हिंसादि दोष, उसे कहे नहीं, बोले नहीं अर्थात् ऐसा भाव करे नहीं। देखो! गर्हित कहा और सावद्य कहा। समझ में आया ?

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम्।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम्।।९८।।

जो वचन दूसरे जीव को अप्रीतिकारक.. द्वेष, **भयकारक..** ये सब परिणाम हिंसा के हैं। **खेदकारक, वैर, शोक, तथा कलहकारक हो..** कलह खड़ा करे, ऐसे वचन। समझ में आया ? आया था न ? नारद का आया था, नहीं इसमें ? अमुक जगह मोक्ष गये और इसमें तो कलह करनेवाला नरक में गया है। इसलिए मोक्ष जो गये हैं, वह बात सत्य नहीं है। वह नारद की बात आयी थी। यह निबन्ध.. बात सच्ची। आता है न ? 'मैं ब्रह्मपुत्र मैं नारद कहाऊँ जहाँ हो सम्प वहाँ कुसम्प कराऊँ' ऐसा आता है। यह तो हमने नाटक में देखा है, हों! नाटक में वह वेष लेकर आता है।

इसमें भी आता है कलह करावे। लड़ाई दो करे और खड़ा-खड़ा देखे, प्रसन्न हो। ऐसे ब्रह्मचारी और ऐसे क्लेश में, लड़ाई दो व्यक्ति करे और यह प्रसन्न हो। ये परिणाम तो बहुत बुरे हैं। इसलिए भाई ने कहा है न कि उसमें लिखा है कि मोक्ष गये हैं, वह मिलता नहीं, नरक में गये हैं, यह बराबर सुसंगत लगता है। ठीक, परन्तु छनावट बहुत की है, हों! बाहर की, बाहर की भी भले। समझ में आया या नहीं ? ऐसा करके वह मान्य नहीं है, ऐसा सिद्ध करने के लिये वचन कहे हैं। बराबर है। यहाँ कहा न ? देखो न ? कलह करानेवाला, जहाँ हो वहाँ क्लेश ही करावे। द्रौपदी के बहाने, सीता के बहाने, क्लेश, क्लेश और क्लेश। कजीया (क्लेश का गुजराती शब्द) समझते हो झगड़ा.. झगड़ा.. झगड़ा..

मुमुक्षु : नारद सम्यग्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन जाने उसमें क्या कहते हैं। वह तो कहते हैं ऐसा, और कोई सम्यग्दृष्टि कहते हैं - ऐसा कहे, परन्तु वापस और ऐसे झगड़े करे तथा नरक में जाये।

मुमुक्षु : सम्यग्दृष्टि नरक में जाये नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : जाये नहीं, सम्यग्दर्शन में नरक में नहीं जाये। ऐसे एक जगह अणुव्रत धारण करके उन दो लेख में मिथ्या पड़ा न ? पहला कहे, नरक में जाये, तो नरक

में जानेवाले को सम्यग्दर्शन नहीं होता। महा क्लेश, बड़ा झगड़ा करे। क्लेश.. क्लेश बड़ा क्लेश, झगड़ा करावे, वह कषाय है, पाप है। वह भाव श्रावक को नहीं होता।

और तो अन्य जो भी सन्तापकारक हो... सन्ताप। दूसरे के कलेजे में तेल डाले ऐसा, ऐसे वचन पाप के करे कि दूसरे को खड़ा करे, दूसरे को दाह हो। यह सब हिंसा है, ये सब सावद्य, झूठ, अप्रिय वचनों को श्रावक नहीं कहे। आहा..हा..! कितनी धीरज चाहिए, भाई! आहा..हा..! दुनिया की अनुकूलता रखने के लिए या बाहर के बढ़प्पन और मान पाने के लिये अन्तर का मन्थन चले और फिर भी बाहर का मान रहे, वह तो पुण्य के कारण रहे। इसकी तो यह दृष्टि ही विपरीत है। यह सब ऐसे करेगा न तो ऐसा मेरा मान रहेगा, मेरा मान रहेगा, दुनिया मुझे गिनेगी। परन्तु गिने तो इसका अर्थ क्या? वह तो गिने, भाई! बाहर की बातें अमुक करे, इसलिए अच्छा लगे। ऐसे राहत देना, पैसा सब छुपा-छुपा कर पड़े हो तो ऐसे दुष्काल में खर्च करना चाहिए, उसे ऐसे देना चाहिए, सबको जाकर अमुक.. अच्छा लगता है या नहीं? जिसे चाहिए हो, उसे अच्छा लगे कि, आहा..! गजब बात करते हैं। परन्तु भाई! साधु को यह नहीं होता, साधु को तो निवद्य वीतरागभाव का ही उपदेश होता है, देखा? आया है या नहीं?

साधु हैं वे तो वीतरागभाव का ही उपदेश करते हैं.. वीतराग.. वीतराग.. वीतराग.. राग, पुण्य-पाप के रागरहित आत्मा की श्रद्धा, आत्मा का ज्ञान और आत्मा का आचरण, बस! वीतरागभाव का ही उपयोग करे। वाह! और साधुपना, वह शुद्धोपयोग वीतराग परिणमनरूप ही साधुपना है। शुद्धोपयोगरूप ही चारित्र है और वीतराग है। शुभराग, वह तो हिंसा है। पंच महाव्रत आदि विकल्प उठें, वह तो हिंसा है। अरे भगवान! वे कहे उसे क्षयोपशमभाव कहो। भाई! स्थिरता का अंश जो स्वभाव के आश्रय से प्रगट हुआ, वह तो वास्तविक व्रत है। यह ऐसे दूसरे को दुःख न दूँ, ऐसा करूँ, यह तो विकल्प है, राग है। समझ में आया?

शुद्धस्वरूप की अन्तर्दृष्टि करके अन्तर में निर्वद्य निर्दोष / शुद्धोपयोगरूप से स्थिर होने का नाम भगवान ने चारित्र कहा है। बाकी तो राग का भाग आवे, वह सब हिंसा है। आहा..हा..! शुभपरिणाम हिंसा तो अशुभपरिणाम की तो क्या बात! न्यालभाई! गजब बातें, भाई! तेरा स्वभाव ही अहिंसक है न, प्रभु! आहा..हा..! वह तो ज्ञान और शुद्ध चैतन्यस्वरूप

है। अहिंसक कहो, वीतराग कहो, समरसभाव कहो, ज्ञायक की मूर्ति कहो, यह सब एक ही स्वरूप है। ऐसा समरसी प्रभु, विज्ञान समरस का घन, विज्ञान और समरस का घन, वह अहिंसकस्वरूप ही उसका त्रिकाल है। उसका आश्रय और अवलम्बन लेकर जो शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और शुद्धोपयोग प्रगट हो, वह भी वीतराग भाव ही है। समझ में आया? वह वीतरागभाव ही एक मोक्ष का मार्ग है। आहा..हा..! राग है, वह मोक्ष का मार्ग होगा?

यहाँ तो कहते हैं कि ऐसे क्लेश करानेवाले शब्द अर्थात् ऐसा भाव। यहाँ वाणी तो वाणी कहे न? वाणी में भाव है न पीछे? दूसरे भी सन्ताप करानेवाले, दूसरों को दुःख हो, ऐसे अपने परिणाम। दूसरों को दुःख हो - न हो, उनके कारण से परन्तु इसके परिणाम में इसे कुछ दरकार नहीं, उसे क्या होगा? मर जाये, मरना पड़े। ऐसे वे शब्द हिंसा है। भाई! ऐसी भाषा सम्यग्दृष्टि श्रावक को भाव ऐसे नहीं होते। **वह सर्व ही अप्रिय जानना चाहिए।**

जो वचन दूसरों को अरति करनेवाला अर्थात् बुरा लगनेवाला हो, भय उत्पन्न करनेवाला हो, खेद उत्पन्न करनेवाला हो, तथा वैर, शौक और कलह करनेवाला हो.. एक दूसरे को बैर उपजावे। यह तो तुझे वह मार डालनेवाला, तुझे ऐसा था.. ऐसा था, ऐसे बैर और शोक उपजावे। **तथा और भी अनेक प्रकार के दुःख उत्पन्न करनेवाला हो, वह सभी वचन अप्रिय झूठ का भेद है।**

गाथा - ९९

आगे असत्य वचन में हिंसा का सद्भाव दिखलाते हैं :-

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति।।९९।।

नित है प्रमादी योग हेतु, मात्र ही इन सभी में।
इससे सतत हिंसा हुई, है मान अनृत वचन में।।९९।।

अन्वयार्थ : (यत्) चूँकि (अस्मिन्) इन (सर्वस्मिन्नपि) सभी वचनों में (प्रमत्त-

योगैकहेतुकथनं) प्रमाद सहित योग ही एक हेतु कहने में आया है (तस्मात्) इसलिए (अनृतवचने) असत्य वचन में (अपि) भी (हिंसा) हिंसा (नियतं) निश्चितरूप से (समवतरति) आती है।

टीका : 'यत् अस्मिन् सर्वस्मिन् अपि अनृतवचने प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं अस्ति तस्मात् अनृतवचने हिंसा नियतं समवतरति' – अर्थ :– सभी प्रकार के झूठ वचनों में प्रमादयोग ही कारण है, इसलिए झूठ वचन बोलने में हिंसा अवश्य ही होती है। कारण कि हिंसा प्रमाद से ही होती है। प्रमाद के विना हिंसा नहीं होती। जहाँ प्रमाद नहीं होता, वहाँ हिंसा भी नहीं होती और जहाँ प्रमाद है, वहाँ हिंसा अवश्य होती है। तत्त्वार्थसूत्र में हिंसा का कारण 'प्रमत्तयोग प्राणव्यपरोपणं हिंसा' – ऐसा कहा है अर्थात् प्रमाद के योग से प्राणों का घात करना हिंसा है।।९९।।

गाथा ९९ पर प्रवचन

आगे असत्य वचन में हिंसा का सद्भाव दिखलाते हैं :– लो! यह गाथा कल आ गयी थी न पहले? पन्ना बदले। झूठ वचन का भाव, वही हिंसा है। आहा..हा..! अमृतचन्द्राचार्य महाराज वीतरागी सन्त मुनि-दिगम्बर। महा अन्तर दशा वीतराग की लवलीनता में स्थित। अन्दर में वीतरागभाव है, ऐसी दिगम्बर दशा अन्तर की! बाहर की तो नग्नदशा सहज हो जाती है। यह अन्तर का जो वीतरागभाव श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति के उपयोग का, बस! यही मोक्ष का मार्ग है। बाकी जितने वचन उसमें राग से बोला जाये,... वह तो झूठ वचन की बात है, झूठ वचन बोलने का भाव भी हिंसा है। दूसरा प्राणी न मरे, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। '**प्रमत्योगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा**' प्रमाद का योग हुआ, भाव वही हिंसा है। दुनिया से हटकर, दुनिया प्रसन्न रहे न रहे, उसके साथ वीतरागमार्ग को सम्बन्ध नहीं है। कहो, समझ में आया?

श्रीमद् ने कहा है न? अरे! जगत् को अच्छा दिखाने के लिये बहुत किया परन्तु अच्छा हुआ नहीं। आहा..हा..! अच्छा, अच्छा किया नहीं। रूढू समझे न? भला, रूढू अर्थात् भला, भला किया नहीं परन्तु दुनिया को भला दिखाने का भाव किया है, प्रयत्न

किया है। भला किया नहीं, भला तो स्वरूप भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य वीतराग की दृष्टि, ज्ञान और रमणता, वह भला है, बाकी कुछ भला नहीं। भला कहो या रूढा कहो, अच्छा, रूढू अर्थात् अच्छा।

आगे असत्य वचन में हिंसा का सद्भाव:-

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति।।९९।।

लो! ठीक। **'सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्तयोगैकहेतु'** एक ही प्रमाद का एक हेतु वह हिंसा है, यहाँ तो सिद्धान्त है। **'अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति'** लो! समवसरण में लोग उतरते हैं न? यह हिंसा उतरती है, कहते हैं। देव आवे विमानों में, समझे न? जंघाचारण, विद्याचारण सन्त आवे। समवसरण में।

चूँकि इन सभी वचनों में प्रमाद सहित योग ही एक हेतु कहने में आया है.. यहाँ महा सिद्धान्त है। जिसमें प्रमादसहित योग ही एक हेतु है, उसे हिंसा कहने में आता है। **इसलिए असत्य वचन में भी हिंसा निश्चितरूप से आती है।** झूठ बोलने के भाव ही स्वयं हिंसारूप है। सत्य, असत्य की खबर नहीं, उसे तो क्या, परन्तु कहते हैं कि खबरवाले को भी, यदि झूठ बोले तो भी उसे हिंसा लगती है। चारित्रदोष।

मुमुक्षु : प्रमाद का अर्थ क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रमाद का अर्थ है राग का होना। ऊँघना वह प्रमाद का अर्थ, झोला खाना वह। आत्मा के शुद्धोपयोग में से झोला खाना - हट जाना, राग में आना वह (प्रमाद है)। यह भाव झोला। आहा..हा..! विज्ञान चैतन्यस्वरूप का जागृत स्वभाव है, उसमें से बाहर निकलना वह राग, वह सब प्रमाद है। प्रमाद का योग सम्बन्ध, वही एक हिंसा का एक हेतु कहने में आया है। प्रमादयोग, प्रमाद का जहाँ सम्बन्ध है, वही हिंसा एक ही उसे कहने में आया है।

वाह! चरणानुयोग के अधिकार में कितनी सरस बातें हैं! समझ में आया? भगवान आत्मा निवृत्तस्वरूप है न! पर से तो रहित है, राग से रहित निवृत्तस्वरूप है। ऐसे

निवृत्तस्वरूप में जितनी रागसहित की प्रवृत्ति होना, वह सब हिंसा है। शास्त्र बनाने का विकल्प उठा, कहते हैं कि वह भी शुद्धोपयोग में से हट गया है। समझ में आया?

प्रमाद सहित योग ही एक हेतु कहने में आया है.. देखा? योग ही, ऐसा है न? **'प्रमत्तयोगैकहेतुकथन'** ही कैसे निकाला? **'प्रमत्तयोगैक'** एक तो शब्द पड़ा ही है, योग ही एक हेतु कहने में आया है। यहाँ तो ऐसा ही कहते हैं, अनेकान्त दूसरा नहीं कि ऐसा कि ऐसे भी होता और ऐसे भी होता है। प्रमादयोग का हेतु एक। प्रमाद का सम्बन्ध एक ही हेतु हिंसा में कहने में आया है। **इसलिए असत्य वचन में भी हिंसा निश्चितरूप से आती है।**

टीका : 'यत् अस्मिन् सर्वस्मिन् अपि अनृतवचने प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं अस्ति तस्मात् अनृतवचने हिंसा नियतं समवतरति'-अर्थः-सभी प्रकार के झूठ वचनों में प्रमादयोग ही कारण है.. यह प्रमाद, प्रमाद-राग। राग का सम्बन्ध होना, यही प्रमाद और यही प्रमाद हिंसा है। **इसलिए झूठ वचन बोलने में हिंसा अवश्य ही होती है।** झूठ बोलने में अवश्य हिंसा होती है। आहा..हा..! कहो, समझ में आया? झूठ बोलकर बाहर का ठीक से सम्हले ऐसा भाव। अब यहाँ कहते हैं कि तू तुझे घात डालता है। उस हिंसा को हिंसा माने नहीं। समझ में आया?

कहते हैं, **झूठ वचनों में प्रमादयोग ही कारण है, इसलिए झूठ वचन बोलने में हिंसा अवश्य ही होती है। कारण कि हिंसा प्रमाद से ही होती है। प्रमाद के विना हिंसा नहीं होती। जहाँ प्रमाद नहीं होता, वहाँ हिंसा भी नहीं होती और जहाँ प्रमाद है वहाँ हिंसा अवश्य होती है। तत्त्वार्थसूत्र में हिंसा का कारण 'प्रमत्तयोग प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इति वचनात्'.....** लो! आधार दिया उमास्वामी का। **प्रमाद के योग से प्राणों का घात करना हिंसा है।** इस वचन प्रमाण यह है। अब विशेष।

गाथा - १००

प्रमादसहित योग हिंसा का कारण :-

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम्।
हेयानुष्ठानदेरनुवदनं भवति नासत्यम्।।१००।।

कहते प्रमादी योग हेतु, सभी मिथ्या वचन का।
यों नहीं कहते असत् हैं, वचनादि हेयादेय का।।१००।।

अन्वयार्थ : (सकलवितथवचनानाम्) समस्त झूठ वचनों का (प्रमत्तयोगे) प्रामद-सहित योग (हेतौ) हेतु (निर्दिष्टे सति) निर्दिष्ट करने में आया होने से (हेयानुष्ठानादे:) हेय-उपादेय आदि अनुष्ठानों का (अनुवदनं) कहना (असत्यं) झूठ (न भवति) नहीं है।

टीका : 'सकलवितथ वचनानाम् प्रमत्तयोगे हेतौ निर्दिष्टे सति हेयानुष्ठानादे: अनुवदनं असत्यं न भवति' - अर्थ :- समस्त झूठ वचनों का कारण प्रमादसहित योग को बताकर हेय और उपादेय का बारम्बार कथन करना झूठ नहीं है।

भावार्थ : असत्य वचन के त्यागी महामुनि हेय और उपादेय का बारम्बार उपदेश करते हैं। वहाँ पाप की निन्दा करने पर पापी जीवों को उनका उपदेश अप्रिय लगता है अथवा कोई जीव अपने लिये दिये गये धर्मोपदेश को सुनकर दु:ख पाते हैं परन्तु उन आचार्यों को असत्य का दोष नहीं लगता क्योंकि उनके वचन प्रमाद (कषाय) गर्भित नहीं हैं। प्रमादपूर्वक वचन में ही हिंसा है, इसलिए कहा है कि प्रमादसहित योग से वचन बोलना वही झूठ है, अन्यथा नहीं।।१००।।

गाथा १०० पर प्रवचन

प्रमादसहित योग हिंसा का कारण :- परन्तु मुनि धर्मात्मा हेय-उपादेय के अनुष्ठान की बात करे, उसमें किसी को दु:ख लगे, उसका क्या करना? तो उन्हें पाप

लगता है या नहीं ? प्रमत्तयोग का जब कहा, तब धर्मात्मा...

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम्।
हेयानुष्ठानदेरनुवदनं भवति नासत्यम्।।१००।।

समस्त झूठ वचनों का प्रामद-सहित योग हेतु.. समस्त झूठ वचनों के प्रमादसहित सम्बन्ध का हेतु कहने में आया होने से। बस! अब न्याय देते हैं, देखो न! कितनी बात (करते हैं)। **हेय-उपादेय आदि अनुष्ठानों का कहना झूठ नहीं है।** तुम पाप करना नहीं, अमुक करना नहीं, ऐसा कहने से उसे दुःख हो, दूसरे सुननेवाले को दुःख लगे। अर र..! यह मेरे लड़के को ऐसा करते हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : सामनेवाले के प्राण का व्यपरोपण तो होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नहीं होता, उसे यहाँ प्रमाद नहीं - ऐसा कहते हैं, उसके हेतु में प्रमाद नहीं, इसलिए उसे हिंसा नहीं ऐसा कहते हैं। हेय-उपादेय आदि अनुष्ठान आचरण.. कहेंगे देखो।

समस्त झूठ वचनों का 'सकलवितथ वचनानाम् प्रमत्तयोगे हेतौ निर्दिष्टे सति हेयानुष्ठानादेः अनुवदनं असत्यं न भवति'... कितना स्पष्ट किया है! **समस्त झूठ वचनों का कारण प्रमादसहित योग को बताकर हेय और उपादेय का बारम्बार कथन करना-उपदेश करना झूठ नहीं है।** ठीक। बारम्बार कहाँ से निकाला यह? **'अनुवदनं'** अनु अर्थात् अनुसरण कर, वदनं, बोलना। समझ में आया?

असत्य वचन के त्यागी महामुनि हेय और उपादेय का बारम्बार उपदेश करते हैं। देखा? सन्त महामुनि धर्मात्मा दिगम्बर आत्मा के ध्यानी, ज्ञानी महात्मा सन्त भी हेय-उपादेय का उपदेश करते हैं। **वहाँ पाप की निन्दा करने पर पापी जीवों को उनका उपदेश अप्रिय लगता है..** कहो, क्या कहा? पाप की निन्दा करने पर, झूठे भाव की निन्दा करने पर, हिंसा के भाव की निन्दा करने पर, विषयभोग की निन्दा करने पर, चोरी के भाव की निन्दा करने पर, पाप की निन्दा करने पर अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, मिथ्या श्रद्धा के पाप की निन्दा करने पर.. लो न, समझ में आया? यह मिथ्याश्रद्धा कहलाये, यह सच्ची श्रद्धा है नहीं तो वह कहे लो! यह तो हमारी बात मिथ्या करते हैं। समझ में आया?

वह पुण्य से धर्म मनावे, निमित्त से उपादान में यथार्थरूप से कार्य हो, उसके कारण हो, ऐसा मनावे, वह मिथ्याश्रद्धा है। यह मिथ्याश्रद्धा, वह हिंसा है। ऐसा बतलाने पर मिथ्याश्रद्धावाले को दु:ख हो तो श्रद्धा कहनेवाले को उसका कुछ पाप है नहीं, क्योंकि प्रमादयोग नहीं है। कहो, समझ में आया इसमें?

बालक के हाथ में जहर हो तो छीन लेना, है न एक शब्द? श्रीमद् में है, भाई! बालक के हाथ में जहर हो तो (छीन लेना) उसका हेतु है। उसे स्वयं दु:ख देने का भाव नहीं न! आहा..हा..! गजब बात की है, भाई! प्रमत्तयोग हिंसा में डाला और फिर झूठ में प्रमत्तयोग, बोलना पड़े तो उसके अन्दर में यह डाला कि ऐसा कहना पड़े न? पाप की निन्दा, मिथ्याश्रद्धा की निन्दा। तब जिसे मिथ्याश्रद्धा हो, वह तो मानता है कि हमारी (श्रद्धा) सच्ची है। परन्तु यह कहे कि भाई! यह मिथ्याश्रद्धा कहलाती है, वीतराग के मार्ग की सच्ची श्रद्धा नहीं है। समझ में आया? कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को माने वह मिथ्यात्व है और कुगुरु को ऐसा कहलाये। तब उसको दु:ख हो। अरे! हमें कुगुरु (कहते हैं और) हमारे शास्त्र को कुशास्त्र कहते हैं। समझ में आया? श्रीमद् ने कहा है, नहीं? उसमें 'विचरे उदयप्रयोग', विचरे समदृष्टि, समदृष्टि की व्याख्या की है। लाओ, लाओ न देखते हैं। कुगुरु को कुगुरु कहे, सुगुरु को सुगुरु कहे, धर्म को धर्म कहे, अधर्म को अधर्म कहे, अधर्म को अधर्म प्ररूपित करे, धर्म को धर्म कहकर प्ररूपित करे तो वह समदृष्टिपना है, विषमदृष्टि नहीं। समझ में आया? आत्मसिद्धि में होगा। इसमें नहीं, मेरे में नहीं, यह बड़े में, इसमें नहीं, बड़ा है न, उसमें पीछे है। यह बात हो गयी है पहले।

आत्मज्ञान समदर्शीता विचरे उदय प्रयोग,
अपूर्व वाणी परमश्रुत सद्गुरु लक्षणयोग।

बड़ा उल्लेख है। फिर अपने यहाँ समदर्शिता। 'समदर्शिता हो तो अहिंसा आदि व्रत हों, समदर्शिता न हो तो अहिंसा आदि व्रत नहीं हों, बोल रखे हैं। अहिंसा आदि व्रत नहीं हों तो समदर्शिता नहीं होती, अहिंसा आदि व्रत हों तो समदर्शिता होती है। जितने अंश में समदर्शिता, उतने अंश में अहिंसा आदि व्रत बने और जितने अंश में अहिंसा आदि व्रत, उतने अंश में समदर्शिता। सद्गुरु योग्य, लक्षणरूप समदर्शिता मुख्यता से सर्वविरति

गुणस्थान में होती है। बाद के गुणस्थान में वह उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता जाता है, विशेष प्रगट होता जाता है। क्षीणमोह गुणस्थान में उसकी पराकाष्ठा और फिर सम्पूर्ण वीतरागता -समदर्शीपना अर्थात् लौकिक भाव का समानपना, अभेदभाव, एक सरीखी बुद्धि / निर्विशेषपना नहीं।' समदर्शीपना अर्थात् लौकिकभाव का समान भाव, सभी समान - ऐसा नहीं। अभेदभाव सभी होकर एक ऐसा नहीं, एक सरीखी बुद्धि सबको मान्य, ऐसा नहीं। निर्विशेषपना, सामान्यपना सब ऐसा नहीं। काँच और हीरा दो समान गिनना, ऐसा नहीं। सत्श्रुत और असत्श्रुत में समपना गिनना - ऐसा समान नहीं। देखो! यहाँ शब्द पड़े हैं। सत्श्रुत को-असत्श्रुत को सम गिनना, समपना गिनना (यह समदर्शीपना नहीं है) लो! समझ में आया? ३१ वें वर्ष में है, लो!

सत्धर्म और असत्धर्म में अभेद मानना.. ऊपर स्पष्टीकरण किया है। सत्यधर्म और मिथ्याधर्म दोनों एक सरीखे मानना, वह समदृष्टि नहीं, वह तो मिथ्यादृष्टि है। सद्गुरु और असद्गुरु में एक सरीखी बुद्धि रखना, वह समदृष्टिपना नहीं है। अपने समदृष्टि रखो, भाई! सब समान हैं—सत्देव और असत्देव को निर्विशेषपना दर्शाना, निर्विशेष अर्थात् सामान्य अथवा दोनों को एक सरीखा मानना, वहाँ यह समान वृत्ति से समदृष्टिता नहीं है। यह तो आत्मा की मूढ़ता, विवेक शून्यता है। समझ में आया? 'ता' शब्द लेते हैं न एकसाथ? अध्यात्म है न? कवि हैं न वापस? आत्मा की मूढ़ता विवेक शून्यता, विवेक विकलता, 'ता' सर्वत्र आना चाहिए न? समझ में आया?

कहते हैं देव और कुदेव, सद्गुरु और असद्गुरु, सत्शास्त्र और अशास्त्र देखो! समझ में आया? सत्धर्म और असत्धर्म, इन सबको समान मानना, यह तो आत्मा की मूढ़ता है, विवेकशून्यता है। इतना तो यहाँ स्पष्टीकरण करते हैं। समझ में आया? कहो, कानजीभाई! क्या होगा? इतने सब फिरके क्यों हैं? एक बार बोलते थे। कठिनाई से निकले हैं, वहाँ यह क्या और? मानो यह नया लगता हो इसे। ऐ.. त्रिभुवनभाई! तुम्हारे में चतुर ये कहलाते थे। वे कहते हैं इतने सब फिरके हैं। परन्तु फिरके तो अनादि के हैं। समझ में आया? फिरके तो निकला ही करते हैं। आहा..! आत्मा की मूढ़ता।

समदृष्टि सत् को सत् जाने, बोधे। समदृष्टि सत् को सत् जाने और बोधे। असत् को असत् जाने और निषेध करे। वापस निषेध करे।

मुमुक्षु : विषमपना आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : विषमपना आया नहीं। समपना आया है। यह समदर्शी की व्याख्या होती है। कहो, समझ में आया? सत्श्रुत को सत्श्रुत जाने, सत्श्रुत को सत्श्रुत जाने। देखो! सत्श्रुत नाम आये थे उसमें। १९ और २० सत्श्रुत कहे थे, वे अर्थ करते हैं कि यह आगम तो सही परन्तु इसके उपरान्त यह सत्श्रुत भी सही। वहाँ ऐसा है ही नहीं। समझ में आया? वहाँ तो स्पष्ट कर दिया है। सत्श्रुत यह है। सत्श्रुत को सत्श्रुत जाने, उसे बोधे, कहे कि यह सत्श्रुत है। कुश्रुत को कुश्रुत जाने, निषेध करे, यह समदर्शीपना है। सत्धर्म को सत्धर्म जाने, बोध करे; असत्धर्म को असत्धर्म जाने, हिंसा और रागादि, हिंसा और रागादि हिंसा असत् धर्म असत् है, निषेध करे। सद्गुरु को सद्गुरु जाने, बोधे-प्ररूपणा करे। असद्गुरु को असद्गुरु जाने, निषेध करे। कहो, सत्देव को सत्देव जाने, बोधे। असत्देव को असत्देव जाने, निषेध करे - इत्यादि जो जैसा हो, उसे वैसा देखे। इत्यादि जो-जो जैसे हो, उसे वैसे देखे, जाने, प्ररूपण करे। उसमें राग-द्वेष, इष्ट-अनिष्ट बुद्धि न करे; इस प्रकार समदर्शीपना समझना। फिर ॐ रखा है। राग-द्वेष अर्थात् जरा निषेध में जरा विकल्प आवे न? वह भाव न करे। निषेध में छद्मस्थ है, इसलिए विकल्प तो आता है न यह? इतना तो अंश है परन्तु अन्दर में ज्ञान, दर्शन में उसका ऐसा समभाव नहीं। समझ में आया? समभाव उसका इतना है।

देखो! यहाँ अहिंसादिव्रत की बात करते हैं न यहाँ तो? तथापि उसका विकल्प है, उतना निषेध में वह है परन्तु उसकी भूमिका के प्रमाण में जो चाहिए वह; नहीं तो विरोध नहीं। ॐ शब्द रखा है, हों! इतना कहकर। ३१ वाँ (वर्ष) है। समझे न? ३१ वें वर्ष में इसका स्पष्टीकरण किया है। प्रश्न ऐसा करके किया है, आत्मज्ञान का यहाँ प्रश्न बाँधा है, हों! बड़ा लेख कर-करके ठेठ प्रश्न पूरा किया है। ३१ वाँ वर्ष है। समदर्शिता का ऐसा अर्थ नहीं कि सबको समान माने। भाई! समभाव करो, समभाव करो.. आता है या नहीं?.. यह समभाव रखे। यह समभाव नहीं होता, ऐसा कहते हैं यहाँ। आहा..!...श्लोक है। इसमें है। उसमें... श्वेताम्बर हो या दिगम्बर हो, बौद्ध हो या अन्य हो। ऐसा नहीं। बराबर जाने दोनों को। विरुद्ध हो, उसे विरुद्ध जाने। समझ में आया? भाई! बात तो ऐसी है।

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग सनातन वीतराग ने कहा हुआ, उसके साथ कुछ मिलान न खाये तो उसे कहते हैं कि यह खोटा है, समान नहीं। यह कोई विषमभाव नहीं। चौथे में इतना तो बराबर है, यह तो जरा चारित्रदोष है न। उसकी बात नहीं। समझे न? परन्तु उसकी भूमिका के योग्य ऐसा कहे तो उस प्रकार का उसकी भूमिका को विरोध नहीं है। समझ में आया?

वहाँ पाप की निन्दा करने पर पापी जीवों को उनका उपदेश अप्रिय लगता है... शराब नहीं पीना - ऐसा कहने पर उस शराब के बेचनेवाले को कैसा लगे? अर.र.! यह तो हमारा धन्धा बन्द हो जायेगा, यह तो ऐसे कहाँ से जगे? शराब पीनेवाले को ऐसा लगे। शराब पीनेवाले हम प्रसिद्ध हो जायेंगे, हम पाप करते हैं तब यह शराब पीकर? ऐसे को दु:ख लगे। उससे क्या? कहनेवाले का भाव वह नहीं है। समझ में आया? टोडरमलजी ने यह कहा न? भाई! देखो! धर्मी जीव का अभिप्राय सुधारने का भाव है, इसलिए वह शुभभाव का भी निषेध करेगा। शुभभाव, वह धर्म नहीं, ऐसे निषेध करेगा। उसमें से तुम विपरीत लोगे या शुभ छोड़कर अशुभ करोगे तो वह तुम्हार स्वच्छन्द की बात है। कहनेवाले का अभिप्राय तो शुभ और अशुभ दोनों पाप हैं अथवा छोड़ने योग्य हैं, यह अभिप्राय दर्शनशुद्धि करने के लिये बात करते हैं।

मुमुक्षु : ....तड़फड़े उसका क्या करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : तड़फड़े वह तो उसके कारण है, इसे क्या है?

पाप की निन्दा करते हैं अर्थात् मिथ्यात्व वह पाप। है या नहीं? अव्रत वह पाप; प्रमाद वह पाप; कषाय वह पाप; हिंसा वह पाप; झूठ वह पाप; चोरी वह पाप; विषय वह पाप; परिग्रह वह पाप—क्रोध-मान-माया-लोभ वह पाप। अब इनकी निन्दा करने पर, जो यह करते हों, उन्हें दु:ख लगे, इससे कहीं कहनेवाले को दोष नहीं है। समझ में आया? कहो, न्यालभाई! आहा..हा..! गजब वीतरागमार्ग। प्रमत्तयोग को सिद्ध करते हैं। प्रमादयोग है या नहीं? उसका हेतु क्या है? समझ में आया?

कोई जीव अपने लिये दिये गये धर्मोपदेश को सुनकर दु:ख पाते हैं.. लो! देखो, हमें धर्मोपदेश यह देने बैठा। अभी हम कहाँ पड़े हैं, कितनी जगह, उसका हमें

ठिकाना नहीं और यह धर्मोपदेश देने लगा। उसका दु:ख लगता है। इसमें उसे कुछ है नहीं, ऐसा कहते हैं। धर्मोपदेश देने से दूसरे को बुरा लगे। **दु:ख पाते हैं परन्तु उन आचार्यों को असत्य का दोष नहीं लगता..** समझ में आया? कितना स्पष्टीकरण किया है! देखो न! अमृतचन्द्राचार्य ने। हिंसा में शुभ उपयोग भी हिंसा; शुद्धोपयोग वह स्व की दया, ऐसा आ गया था न? शुद्धोपयोग वह स्व की दया। इसमें आया कि भाई! झूठ बोलने में भाषा है न, इसलिए ऐसी त्याग-ग्रहण, त्याग-ग्रहण की बात तो होगी। समझ में आया? तो उसके योग्य विकल्प भले हो। निषेध करता है तब रागी है न? इसलिए जरा राग (आता है) परन्तु उसे तीव्र प्रमाद नहीं, इसलिए उसे झूठ और हिंसा का दोष नहीं लगता।

प्रमादपूर्वक वचन में ही हिंसा है.. हेतु यह है प्रमादभाव में, रागभाव में जुड़ता है, वही हिंसा है। बाहर के वचन बोले या न बोले, वह कुछ नहीं। दूसरे को दु:ख लगे, वह कुछ नहीं। इसका भाव ही जो है, वही हिंसा है, लो! प्रमाद। **इसलिए कहा है कि प्रमादसहित योग से..** प्रमादसहित योग से ऐसा शब्द है न मूल? **'प्रमत्तयोगे संबंध' प्रमादसहित योग से वचन बोलना वही झूठ है, अन्यथा नहीं।** झूठ कहने में आता नहीं। १०० वीं गाथा में आया, १०० पूरी हुई उसमें आया। सहज रचना रचती है न! **'हेयानुष्ठानदेरनुवदनं भवति नासत्यम्'** वह झूठ से कहने में नहीं आता। भाई ने कहा है न? टोडरमलजी ने, कि भाई! ऐसा कोई उपदेश नहीं है कि सबको ठीक लगे। किसी को बुरा लगे, किसी को ऐसा लगे, शराब पीनेवाले को शराब की बात करने पर बुरा लगे तो इससे क्या किन्हीं सत् का उपदेश छोड़ना? दुनिया सत्यधर्म को समझे कब? सत्यधर्म की बात न कहे और झूठे का उत्थापन न करे तो जगत को सत् समझने का (अवसर) कब मिले? सबको अच्छा लगे ऐसा तो कहाँ से होगा? आहा..!

गाथा - १०१

इसके त्याग का प्रकार :-

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम्।
ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु।।१०१।।

भोगोपभोग-निमित्त सावद्य, वचन तज सकते नहीं।
तो शेष अनृत वचन को तो, तजो नित सर्वत्र ही।।१०१।।

अन्वयार्थ : (ये) जो जीव (भोगोपभोगसाधनमात्रं) भोग-उपभोग के साधन मात्र (सावद्यम्) सावद्यवचन (मोक्तुम्) छोड़ने में (अक्षमाः) असमर्थ हैं (ते अपि) वे भी (शेषम्) बाकी के (समस्तमपि) सभी (अनृतं) असत्य भाषण का (नित्यमेव) निरन्तर (मुञ्चन्तु) त्याग करें।

टीका : 'ये अपि भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यम् मोक्तुम् अक्षमाः (सन्ति) ते अपि शेषं समस्तम् अपि अनृतं नित्यं एव मुञ्चन्तु' - अर्थ :- जो प्राणी अपने न्यायपूर्वक भोगोपभोग के कारणभूत सावद्य (हिंसासहित) वचन त्यागने में असमर्थ हैं, उन्हें भी अन्य समस्त झूठ वचनों का सदाकाल त्याग करना चाहिए।

भावार्थ : झूठ का त्याग दो प्रकार का है। एक सर्वथा त्याग, दूसरा एकदेश त्याग। सर्वथा त्याग तो मुनिधर्म में ही बनता है तथा एकदेश त्याग श्रावकधर्म में होता है। जो सर्वथा त्याग बन सके, तब तो बहुत ही उत्तम है; यदि कदाचित् कषाय के उदय से (अर्थात् कषायवश) सर्वथा त्याग न बन सके तो एकदेश त्याग तो अवश्य ही करना चाहिए। कारण कि श्रावक अवस्था में झूठ के अन्य सर्व भेदों का त्याग करता है परन्तु सावद्य झूठ का त्याग नहीं हो सकता, किन्तु वहाँ भी अपने भोग-उपभोग निमित्त ही झूठ वचन-सावद्यवचन हो परन्तु बिना प्रयोजन न बोले।।१०१।।

गाथा १०१ पर प्रवचन

इसके त्याग का प्रकार :- अब इसके त्याग का प्रकार उसकी मर्यादा प्रमाण होता है वह बताते हैं। पाँचवें गुणस्थान में सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित, आंशिक शान्ति, स्थिरतासहित उसे ऐसे सावद्ययोग का उसे भोग-उपभोग के साधन में कहना पड़े, इसके अतिरिक्त के भाव का पाप का त्याग। पाँचवें गुणस्थान की उसकी त्याग की मर्यादा कितनी है, उसकी बात करते हैं।

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम्।
ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु।।१०१।।

जो जीव भोग-उपभोग के साधन मात्र... यह स्पष्टीकरण फिर आगे करेंगे, हों! एक बार भोगने में आवे और बारम्बार भोगने में आवे, आगे आयेगा। समझ में आया? वस्त्र आदि बारम्बार भोगने में आते हैं, दाल-भात एक बार (भोगने में आते हैं)। ऐसे साधन में **सावद्यवचन छोड़ने में असमर्थ हैं...** श्रावक ऐसे भोग-उपभोग के साधन में सावद्यवचन छोड़ने को असमर्थ है। क्योंकि पड़ा है न उसमें? भोग-उपभोग में श्रावक पड़ा है। मुनि हैं, वे तो छूट गये हैं। समझ में आया? इस सम्बन्धी तो उसे सावद्यवचन होते हैं, वह छोड़ने को समर्थ नहीं हो सकता।

वे भी बाकी के सभी असत्य भाषण का निरन्तर त्याग करें। लो! उसे जो भोग-उपभोग है और सगे-प्रिय सम्बन्धी में जो है, उसके अतिरिक्त बाकी के समस्त असत्य भाषण का अर्थात् तीव्र ऐसे पाप का त्याग करे तो भाषण का त्याग हुआ कहने में आता है। समझ में आया? पाठ तो ऐसा है न? **'अनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु'** ऐसा ही कहे न? झूठा सब थोड़ा, भाषा तो ऐसी ही होवे न? श्रावक को सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित भोग-उपभोग साधन के परिणाम तो उसे होते हैं। उतने सावद्य के। वह दोष तो है परन्तु उसका त्याग करने को समर्थ नहीं है। इसके अतिरिक्त विशेष भोग-उपभोग, प्रयोजन बिना, बिना कारण ऐसे सावद्य के वचन नहीं कहना। उनका त्याग (करे)।

'ये अपि भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यम् मोक्तुम् अक्षमाः (सन्ति) ते अपि

शेषं समस्तम् अपि अनृतं नित्यं एव मुञ्चन्तु'-अर्थः-जो प्राणी अपने न्यायपूर्वक भोगोपभोग.. न्यायपूर्वक अर्थात्? इसे जैसे कि - स्त्री हो, पुत्र-पुत्री होवे, उनके विवाह या उनके प्रसंग में होता है न? निश्चय की अपेक्षा से अन्याय है, परन्तु व्यवहार की, पर्याय की इसकी योग्यता की अपेक्षा से उसे न्याय कहा जाता है। **अपने न्यायपूर्वक भोगोपभोग के कारणभूत सावद्य (हिंसासहित) वचन त्यागने में असमर्थ हैं..** समझ में आया? अपने स्त्री, पुत्र-पुत्री, व्यापार, मकान, गाय, भैंस आदि हो, उसमें ऐसा कहे कि भाई! यह डालो चारा इन्हें, अमुक करो। समझ में आया? यह भाव तो हिंसा है, परन्तु उसकी भूमिका प्रमाण में उसे वह हिंसा होने पर भी उसकी भूमिका को विघ्न नहीं है। तीव्र हिंसा का त्याग होता है। समझ में आया?

उन्हें भी अन्य समस्त झूठ वचनों का सदाकाल त्याग करना चाहिए। यह तो विवेक पाँचवें गुणस्थान की दशा में दृष्टि में-श्रद्धा में रागमात्र हेय है - ऐसा अन्दर बैठा है, तथापि अस्थिरता में-स्थिरता की कमजोरी के कारण अस्थिरता में अपने भोग-उपभोग के साधन में इतने परिणाम उसे होते हैं। इससे विशेष तीव्र परिणाम उसे नहीं होते। यह बात यहाँ सिद्ध करते हैं।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हाँ; उसकी भूमिका में ऐसा ही होता है, इससे अधिक पाप के परिणाम नहीं होते - ऐसा कहते हैं। पंचम गुणस्थान में उसकी दशा प्रमाण परिणाम हिंसा आदि के होते हैं। श्रद्धा निर्वद्य है, ज्ञान निर्वद्य है, कितने ही परिणाम शुद्ध हुए हैं, वे निर्वद्य है, परन्तु कितने ही परिणामों में सावद्यपना होने पर भी उनका त्याग कर रुकने को असमर्थ है; अतः तीव्र पाप के परिणाम छोड़ना - ऐसा यहाँ कहा गया है। समझ में आया? यह चरणानुयोग पढ़ा जाता है। कहो, किसी दिन श्रावक का पढ़ा नहीं। पद्मनन्दि पंचविंशति में से पढ़ा था, परन्तु वह तो थोड़ा-थोड़ा होवे न?! उपासक संस्कार, श्रावक देशव्रतोद्योतन। यह तो पूरी पुस्तक (ग्रन्थ) हो इसकी (श्रावकाचार की) है, चरणानुयोग की है। बहुत गाथायें ये ही हैं।

मुमुक्षु : श्रावक का प्रयोजन तो सिद्ध होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या सिद्ध होता है ? क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ? परन्तु यह तो इसके परिणाम इतने व्यापार के त्याग के भाव नहीं। इससे पैसा मिलता है या नहीं मिलता है - यह प्रश्न यहाँ नहीं है। इसे इतना व्यापारादि के परिणाम में सावद्य का भाव नहीं छोड़ सकता है। इतना छोड़ सके, तब तो मुनि हो जाये। तब तो मुनि हो जाये। सच्चे मुनि की बात है न ? अन्दर आत्मा के दर्शन-ज्ञान के भानसहित। समझ में आया ?

प्रयोजन सिद्ध होता है, क्या कहते हैं - कहा यह ? ऐसा कहे - पैसा-बैसा मिलता है न ! वह तो सिद्ध होता है और व्यापार-धन्धा तो चले न ! वह तो उसके चलने के काल में चले, उसका प्रश्न यहाँ है नहीं, परन्तु उसे पाप के परिणाम में, तीव्र पाप के परिणाम छोड़ सकता है। थोड़े पाप के प्रसंग में उस भूमिका को वह तोड़ने को असमर्थ है। भोग के परिणाम हों, व्यापार के परिणाम हों, लड़के का विवाह हो। कहो, समझ में आया ? मरने आदि में दान के परिणाम हों, दाड़ा (मरण भोज) के परिणाम हों, दाडो करते हैं न ? दाड़ो। न्यालभाई ! यह बड़ा-बूढ़ा मर जाये तो, तुम्हारा बाद में सब एकत्रित होकर करेंगे। यह तो इनकी इज्जत (है), इसलिए करेंगे। आहा..हा.. ! कहते हैं कि ऐसे भाव उसे इतने तो होते हैं। इतना सब छूट जाये, तब तो मुनि हो जाये। उसे तो फिर उस प्रकार का कोई विकल्प ही नहीं, परन्तु इसे इस प्रकार के भाव होते हैं। इसके उपरान्त विशेष के भाव नहीं होते - ऐसा कहना है।

झूठ का त्याग दो प्रकार का है। देखो ! है न ? **एक सर्वथा त्याग,..** मुनि को - उन्हें बिल्कुल सावद्य वचन का शब्द ही नहीं होता। समझ में आया ? कल एक व्यक्ति आया था। यों ही बात करते निकली बात। उसने कहा - मैंने अमुक के साथ सम्बन्ध तोड़ दिया। आठ महीने पहिले यहाँ नहीं कहा ? परन्तु आप उसमें प्रसन्न नहीं दिखते थे। अर..रर ! इसलिए उसने वह तोड़ा न.. उस समय आप ऐसे (प्रसन्न नहीं दिखते थे)। परन्तु तब क्या अच्छा किया - ऐसा कहा ? कहा - परन्तु हमारे क्या ? तुमने सम्बन्ध किया, उसमें मुझे क्या ? ऐसी कुछ भाषा बोला, प्रसन्नता नहीं थी तुम्हारी। ले ! मैंने कहा - यह क्या कहता है ? मुझे तो खबर भी नहीं। अपने बचाव के लिये कितना करे ! कहो।

कहते हैं, मुनि को सर्वथा सावद्य का त्याग होता है। वे किसी का विवाह करे और

यह अच्छी कन्या है और यह तुम्हारे ठीक है, ऐसा वचन उन्हें नहीं होता। गृहस्थाश्रम में इतना सब त्याग उसे (श्रावक को) नहीं होता। **दूसरा एकदेश त्याग। सर्वथा त्याग तो मुनिधर्म में ही बनता है...** अन्दर में स्थिरता की बात है, हों! दृष्टि और ज्ञान तो दोनों के शुद्ध ही हैं। स्थिरता में श्रावक को कम स्थिरता है; इसलिए विशेष हिंसा के त्याग के परिणाम उसे नहीं हैं। सामान्य हिंसा के परिणाम तो है, सावद्य, झूठ बोलने के भी परिणाम तो हैं। समझ में आया?

सर्वथा त्याग तो मुनिधर्म में ही बनता है तथा एकदेश त्याग श्रावकधर्म में होता है। जो सर्वथा त्याग बन सके, तब तो बहुत ही उत्तम है, यदि कदाचित् कषाय के उदय से (अर्थात् कषायवश) सर्वथा त्याग न बन सके तो एकदेश त्याग तो अवश्य ही करना चाहिए। कहो, समझ में आया? **कारण कि श्रावक अवस्था में झूठ के अन्य सर्व भेदों का त्याग करता है परन्तु सावद्य झूठ का त्याग नहीं हो सकता,...** क्योंकि इतना तो उसे व्यापार-धन्धा, स्त्री-कुटुम्ब आदि है न? जहाज का धन्धा हो बड़ा, अनेक प्रकार का। **किन्तु वहाँ भी अपने भोग-उपभोग निमित्त ही झूठ वचन-सावद्यवचन हो...** बोले अर्थात् वहाँ होता है, बोलने की छूट देते हैं - ऐसा नहीं है। उसे ऐसा भाव होता है। (झूठ बोलना) ऐसा नहीं वहाँ कोई। **बिना प्रयोजन न बोले।** बिना कारण ऐसे हिंसा के झूठ वचन नहीं होते, इतनी मर्यादा पंचम गुणस्थान में स्थिरता के विवेक के अन्दर में इतना विवेक उसे होता है। दृष्टि में तो सर्वथा बिल्कुल त्याग है। सर्वथा। जब से दृष्टि हुई तब से विकल्पमात्र का त्याग है। यह आता है न? प्रवचनसार में चरणानुयोग (चूलिका) में शुरुआत में, नहीं? वह आज्ञा माँगता है उसमें। उसमें पण्डित जयचन्दजी ने लिखा है कि दृष्टि की अपेक्षा से तो सर्वथा त्याग पहले से है। यह तो स्थिरता के त्याग की अपेक्षा से बात चलती है। इसलिए श्रावक को तीव्र पाप के परिणाम नहीं हो सकते, तो उसका पंचम गुणस्थान रह सकता है। यह बात लेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - १०२

तीसरे स्तेय (चौर्य) पाप का वर्णन :-

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्।
तत्प्रत्येयं स्तयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात्।।१०२।।

जो नित प्रमादी योग से, बिन दिए वस्तु का ग्रहण।
है जान चोरी मान हिंसा, घात कारण जिन वचन।।१०२।।

अन्वयार्थ : (यत्) जो (प्रमत्तयोगात्) प्रमादकषाय के योग से (अवितीर्णस्य) बिना दिये (परिग्रहस्य) स्वर्ण, वस्त्रादि परिग्रह का (ग्रहणं) ग्रहण करना है (तत्) उसे (स्तेयं) चोरी (प्रत्येयं) जानना चाहिए (च) और (सा एव) वही (वधस्य) वध का (हेतुत्वात्) कारण होने से (हिंसा) हिंसा है।

टीका : 'यत् प्रमत्तयोगात् अवितीर्णस्य परिग्रहस्य ग्रहणं तत् स्तेयं प्रत्येयं, च सैव हिंसा (भवति) वधस्य हेतुत्वात्' - अर्थ :- प्रमाद के योग से बिना दिये हुए स्वर्ण, वस्त्रादि परिग्रह का ग्रहण करना चोरी कहलाता है। (स्वर्णादिक वस्तु को स्वामी की आज्ञा के बिना चुरा लेना, भुला लेना, पड़ी हुई उठा लेना, जबरदस्ती ले लेना अथवा जिस-तिस प्रकार बिना दिये ले लेना चोरी है।) और वही चोरी हिंसा है क्योंकि अपने तथा परजीव के प्राणघात का कारण है।

भावार्थ : अपने को चारी करने का भाव हुआ, वह भावहिंसा है और जो कोई अपने को चोर जान ले तो प्राणों का वियोग करे, वही द्रव्यहिंसा है तथा जिस जीव की वस्तु चोरी गई, उसे जो अन्तरंग पीड़ा हुई, वही उसकी भावहिंसा है और उस वस्तु के निमित्त से उस जीव के द्रव्यप्राण पुष्ट थे, उन पुष्ट प्राणों के नाश होने से उसके द्रव्यप्राण पीड़ित हुए, वही उसकी द्रव्यहिंसा है। इस प्रकार चोरी करने से चोरी करनेवाले की, तथा जिसकी चोरी हुई है उसकी, द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की हिंसायें होती हैं।।१०२।।

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय। १०१ गाथा पूरी हुई। सत्य, सत्यव्रत की। सम्यग्दर्शनसहित अहिंसा और सत्यव्रत कैसे होते हैं, उनका वर्णन किया। **तीसरे स्तेय (चौर्य) पाप का वर्णन :-**

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्।
तत्प्रत्येयं स्तयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात्।।१०२।।

जो प्रमादकषाय के योग से बिना दिये स्वर्ण, वस्त्रादि परिग्रह का ग्रहण करना है.. सोना, वस्त्रादि। **उसे चोरी जानना चाहिए और वही वध का कारण होने से हिंसा है।** यहाँ तो पाँचों में हिंसा सिद्ध करते हैं। झूठ बोलने में भी हिंसा है, हिंसा में तो हिंसा है, चोरी में भी हिंसा है।

'यत् प्रमत्तयोगात् अवितीर्णस्य परिग्रहस्य ग्रहणं तत् स्तेयं प्रत्येयं, च सैव हिंसा (भवति) वधस्य हेतुत्वात्'-अर्थ :- प्रमाद के योग से बिना दिये हुए स्वर्ण, वस्त्रादि परिग्रह का ग्रहण करना चोरी कहलाता है। वही चोरी हिंसा है। वह चोरी का भाव ही हिंसा है। **अपने तथा परजीव के प्राणघात का कारण है।** चोरी ही अपने और पर के प्राणघात का कारण है। चोरी में हिंसा है, भाव और द्रव्य हिंसा है, यह बात सिद्ध करते हैं।

अपने को चारी करने का भाव हुआ, वह भावहिंसा है... कषाय हुई, वही आत्मा में भावहिंसा हुई **और जो कोई अपने को चोर जान ले तो प्राणों का वियोग करे, वही द्रव्यहिंसा है..** कोई चोर जानकर मारे, प्राण का घात हो, वह द्रव्यहिंसा हुई। **तथा जिस जीव की वस्तु चोरी गई, उसे जो अन्तरंग पीड़ा हुई..** उसकी वस्तु ले ली, उसे अन्तर में पीड़ा हुई। **वही उसकी भावहिंसा है...** वह सामनेवाले की भावहिंसा है, उसमें निमित्त हुआ, ऐसी यहाँ तो बात है। यहाँ तो ऐसा कहते हैं, भावहिंसा करे - ऐसी भाषा आती है न व्यवहार से? यहाँ ऐसा नहीं लेना कि उस राग का त्यागकर्ता भी नहीं, ऐसा आत्मा। ऐई! यहाँ तो उसका पर्याय का परिणमन चोरी का, हिंसा का, झूठ का होता

है, वह उसकी पर्याय में उसके प्राण की हिंसा (होती है), ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया? पर्यायनय में क्या होता है, यह सिद्ध करना है न?

वस्तु तो वस्तु है, वस्तु की दृष्टि जो हुई है, उसमें तो राग का करना भी नहीं और राग का टालना, वह वस्तु में नहीं। अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी, पर्याय में होती है, वह द्रव्यस्वभाव नहीं, तथा उसका त्याग, वह भी द्रव्यस्वभाव नहीं। समझ में आया? वस्तु का स्वभाव चैतन्य आनन्द और ज्ञानमूर्ति है। यह हिंसा, झूठ का परिणमना, वह भी उसका स्वभाव नहीं है अर्थात् राग का करना कहो या हिंसा का करना कहो, वह कोई उसका स्वभाव नहीं है तथा हिंसादि के परिणाम का त्याग करना, वह भी कोई उसका स्वभाव नहीं है। वस्तु में है वह? ऐसी दृष्टि होने पर भी पर्याय में अस्थिरता और स्थिरता कैसे होती है, उसका यह वर्णन है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं.. नहीं गाने गाना, जैसा है वैसा है, गाना क्या गाये? पर्यायनय से बात की है न? पर्याय में, पर्याय में हो वह व्यवहारनय का विषय है। निश्चय है, वह द्रव्यविषय है। पर्याय में हिंसा हो, हिंसा का त्याग हो, वह सब पर्याय व्यवहारनय का विषय है, त्रिकाल की अपेक्षा से। परन्तु पर के त्याग की अपेक्षा से उसका निश्चय का विषय है। इसकी पर्याय है न इसमें? हिंसा भी इसकी पर्याय में है और हिंसा का त्याग भी इसकी पर्याय में होता है, इस अपेक्षा से पर की अपेक्षा से तो यह निश्चय है। नयचक्र भारी कठिन, कहा था न पहले?

कहते हैं कि चोरी करने में अपने प्राणघात हुए और दूसरे को पता पड़ा कि इसने चोरी की है तो इसे मारे, आँखें फोड़े, कान तोड़े और मार डाले, तो वह भी द्रव्यप्राण घात हुए न? और दूसरे के प्राण भी घात हुए। अन्तरंग में पीड़ा हुई, सामनेवाले की भावहिंसा हुई। **और उस वस्तु के निमित्त से उस जीव के द्रव्यप्राण पुष्ट थे...** देखो! **पुष्ट थे उन पुष्ट प्राणों के नाश होने से...** उसके पास कोई पैसा था, समझ में आया न? धन, धान्य, सम्पत्ति आदि वस्तु थी, वह ली तो उसे मान था, पुष्ट था द्रव्यप्राण। समझ में आया?

मुमुक्षु : शरीर कमजोर पड़ जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर कमजोर पड़ जाये और यह लकड़ी हाथ में लेनी पड़े। **द्रव्यप्राण पुष्ट थे, उन पुष्ट प्राणों के नाश होने से..** अर्थात् उसे वे प्राण मिले न? वस्तु आदि। उसे राग का आघात हो गया और बाह्यप्राण जो है, वे बाह्यप्राण हैं न सब? लक्ष्मी आदि वे बाह्यप्राण हैं, वे पुष्ट कम हो गये। यह भी बाह्यप्राण का नाश हुआ। समझ में आया? हिंसा और अहिंसा पर बहुत सरस बात है। समझ में आया?

उसके द्रव्यप्राण पीड़ित हुए, वही उसकी द्रव्यहिंसा है। इस प्रकार चोरी करने से चोरी करनेवाले की, तथा जिसकी चोरी हुई है उसकी, द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की हिंसायें होती हैं। कहो, समझ में आया इसमें? चोरी के भाव करनेवाले को भावप्राण की हिंसा हुई। ज्ञान, शान्ति, आनन्द की पर्याय प्रगट न होकर, उतना चोरी का राग (हुआ), वह भाव हिंसा हुई। उसके शरीर को भी कोई नुकसान करे द्रव्यप्राण। स्वयं भी कदाचित् नुकसान करे, खबर पड़ी कि दूसरे को मारूँ, बहुत अभी नहीं करते? यहाँ थप्पड़ मारते हैं और ऐसा करते हैं। उसे नुकसान हुआ बाह्य-द्रव्यप्राण को। सामने जिसकी चोरी हुई उसके भावप्राण की हिंसा हुई और उसके द्रव्यप्राण पुष्ट थे, वे कमजोर पड़ गये। इतने बाह्यप्राण का पुष्ट था साधन, वह घटा। कहो, समझ में आया? चार प्रकार की हिंसा सिद्ध की है। चोरी करनेवाले को अपने भावप्राण, द्रव्यप्राण, दूसरे के भावप्राण, द्रव्यप्राण। इस प्रकार चोरी है, वह हिंसा है।

गाथा - १०३

चोरी प्रगटरूप से हिंसा है :-

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान्।।१०३।।

जो धन पदार्थों को हरे, वह प्राण ही उसके हरे।
हैं क्योंकि बाहिज प्राण, अर्थादि नरों के यों कहें।।१०३।।

अन्वयार्थ : (यः) जो (जनः) मनुष्य (यस्य) जिस जीव के (अर्थात्) पदार्थों

अथवा धन को (हरति) हर लेता है (सः) वह मनुष्य (तस्य) उस जीव के (प्राणान्) प्राणों को (हरति) हर लेता है, क्योंकि जगत में (ये) जो (एते) यह (अर्थानाम) धनादि पदार्थ प्रसिद्ध हैं (एते) वे सभी (पुंसां) मनुष्यों के (बहिश्चराः प्राणाः) बाह्य प्राण (सन्ति) हैं।

टीका : 'ये एते अर्थानाम एते पुंसाम् बहिश्चराः प्राणाः सन्ति यस्मात् यः जनः यस्य अर्थान् हरति स तस्य प्राणान् हरति'- यह जो भी पदार्थ हैं, वह मनुष्य के बाह्य प्राण हैं, इसलिए जो जीव जिस किसी का धन हरण कर लेता है, चुरा लेता है, वह उसके प्राणों का ही हरण कर लेता है।

भावार्थ : धन, धान्य, सम्पत्ति, बैल, घोड़ा, दास, दासी, घर, जमीन, पुत्र, स्त्री, वस्त्रादि जितने भी पदार्थ जिस जीव के पास हैं, उतने ही उसके बाह्यप्राण हैं। उन पदार्थों में से किसी एक भी पदार्थ का नाश होने पर अपने प्राणघात जैसा दुःख उत्पन्न होता है; इसीलिए पदार्थों को ही प्राण कहा जाता है। जैसे, 'अन्नं वै प्राणाः' इति वचनात् - अन्न ही प्राण हैं, इस वचन के अनुसार।।१०३।।

गाथा १०३ पर प्रवचन

अब, **चोरी प्रगटरूप से हिंसा है :-** इसे सिद्ध करते हैं। **'अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्'** लो, प्राण कहा प्राण इसे। सबको—धन को, धान्य को, सम्पत्ति को, बैल, घोड़ा, दास, दासी, घर, जमीन, पुत्री, स्त्री, वस्त्र, गहने, ये सब इसके प्राण हैं, बाह्य प्राण हैं। व्यवहारप्राण, बाह्यप्राण।

मुमुक्षु : अर्थप्राण कहते होंगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : अर्थप्राण अर्थात् पैसा।

मुमुक्षु : दस प्राण से ये कीमती हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इन दस प्राण की कीमत अधिक... धूल की नहीं, मानी है। भावप्राण यहाँ है, द्रव्यप्राण शरीर के हैं, बाह्य-द्रव्यप्राण हैं ये सब। लक्ष्मी आदि भी सब द्रव्यप्राण हैं।

मुमुक्षु : प्राण जाते हों तो जाने दे परन्तु पैसा नहीं जाने दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं जाने दे। देखो!

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान्।।१०३।।

अन्वयार्थ : जो मनुष्य जिस जीव के पदार्थों अथवा धन को हर लेता है.. इसकी व्याख्या बड़ी करेंगे। **वह मनुष्य उस जीव के प्राणों को हर लेता है,..** लो! वे पदार्थ ले, उसका गहना ले ले, वस्त्र ले ले, उसकी स्त्री ले ले, कोई मकान ले ले इत्यादि। तो उसके प्राण हरता है। **क्योंकि जगत में जो यह धनादि पदार्थ प्रसिद्ध हैं, वे सभी मनुष्यों के 'बहिश्चराः प्राणाः' बाह्य प्राण हैं।** मलूपचन्दभाई! अधिक प्राण हो गये, इसलिए बहुत प्राण हो गये इसके पास। पैसे के प्राण।

'ये एते अर्थानाम एते पुंसाम् बहिश्चराः प्राणाः सन्ति यस्मात् यः जनः यस्य अर्थान् हरति स तस्य प्राणान् हरति' लो! **यह जो भी पदार्थ हैं, वह मनुष्य के बाह्यप्राण हैं,..** आघात लग जाता है, जरा ऐसे पाँच हजार चोरी हो जायें तो ऐसा हो जाता है अन्दर। भाव को धक्का लगता है, शरीर कमजोर पड़ जाता है। पाँच-पचास लाख हो जाये, वहाँ शरीर ऐसा हो जाता है। बाह्यप्राण हैं न ये? अन्दर तो हिंसा होती है, हों! प्रत्येक प्राण पुष्ट होते हैं। उसे जहाँ घात करे दूसरा तो उसके भावप्राण भी घात होते हैं और द्रव्यप्राण भी कमजोर होते हैं, कम होते हैं, कम होते हैं, हीन होते हैं। बहुत था और कम हुआ, वह भी द्रव्यप्राण की हिंसा हुई कहलाती है।

मुमुक्षु : इन मलूपचन्दभाई को.... इससे आधा था।

पूज्य गुरुदेवश्री : तो यह इसे पैसे के कारण हुआ है? यह तो हमने देखा नहीं। पहले सामने रहते, खत्री के सामने कमरा, वहाँ अन्दर में। खबर है न सब। इस ओर पेटी-बेटी रहती वह कपड़े की और अमुक-अमुक सब खबर है, तब शरीर आधा था, बात सच्ची। इसके कारण नहीं हुआ, वे तो रजकण उसके आनेवाले हों तो हो, बहुत पैसेवाले पतले रहते हैं, लो!

यह जो भी पदार्थ हैं, वह मनुष्य के बाह्य प्राण हैं,.. आहा..! मकान, पाँच-

पाँच लाख का मकान, पच्चीस लाख पैसे, आठ-आठ लड़के बड़े लम्बे घोड़े जैसे, छह हाथ के लम्बे और एक-एक करोड़-करोड़ की आमदनी करता हो तो कैसा इसे ऐसे पुष्टि.. पुष्टि.. पुष्टि.. आहा..हा..! **इसलिए जो जीव जिस किसी का धन हरण कर लेता है,..** जो सामनेवाले की लक्ष्मी लूटता है **चुरा लेता है, वह उसके प्राणों का ही हरण कर लेता है।** गजब व्याख्या! ऐसी व्याख्यास अन्यत्र इतनी स्पष्ट नहीं। भावप्राण स्पष्ट कहे। अन्न, प्राण में आता है न? दृष्टान्त देंगे। आता है न अन्नप्राण, समयसार में आता है। आयुष्य का भाग निकाल डाला।

भावार्थ : धन,.. यह लक्ष्मी जीव के बाह्यप्राण हैं। जैसे बाह्य दस प्राण हैं, वे नजदीक के हैं। बाह्य आगे, लक्ष्मी, लक्ष्मी, मनुष्य के बाह्यप्राण हैं पैसा। **धान्य,..** अनाज के ढेर, लो न! उसमें से ले लेवे तो उसको नुकसान होता है न कि अरे! मुश्किल से इकट्ठा किया था, उसमें अभी और फिर उस किसान ने बेचारे ने एक... इकट्ठा किया उसमें से कोई दियासलाई लगावे। बारह महीने की मेहनत.. तिल का बड़ा ढेर जला दिया। दो-दो हजार का तिल, हों! तैयार, बहुत वर्ष पहले की बात है। 'समढियाला' नागरभाई, उस दिन दो हजार के तिल अर्थात् अभी बीस हजार के होते हैं, बहुत वर्ष की बात है। किसी ने दियासलाई लगा दी। तैयार हो गये, वे सब सुलगा दिये। नागरभाई बात करते हैं। नागरभाई, यह तो बहुत वर्ष की बात है, हों! चालीस-पैंतालीस वर्ष की बात है। कहो, **धान्य,..** धान्य। तिल, गेहूँ, बाजरा आदि हो, उसे घटावे, लूट ले जाये, चोरी जाये, जला डाले, सामनेवाले के बाह्यप्राण को घात करता है न? इतने बाह्यप्राण घटते हैं न?

सम्पत्ति,.. लो! सब। घर का फर्नीचर। कितना रखा, सोने की वे थालियाँ, कटोरियाँ, और सब कितना हो। ठीक से रखा हो, उसमें ले जाये कोई। **बैल,..** अच्छा बैल हो, लो! यह बैल, वह इसका बाह्यप्राण है। अच्छा बैल होता है हजार का और अभी इसमें से चुराकर कोई उठा ले जाये। ऐसा हो जाये, विचार आ जाये, मेरा बैल उठा था अपने घर से, कितना खिलाकर बड़ा (किया), उचित समय में काम लेने के समय ले गये। कहो, माणिकचन्दभाई! खेतवाले को बैल की अधिक खबर पड़ती है। मलूपचन्दभाई को कहाँ बैल था? ऊँचा बैल होता है। राजा का बड़ा ऊँचा बैल, बहुत ऊँचा होता है। पाँच-पाँच हजार का। बड़ा पुष्ट हुआ हो।

घोड़ा,.. ये घोड़ा, लो! बैल के बाद घोड़ा। नहीं था घोड़ा ऊँचा? खबर नहीं? 'पालीयाद' में दीक्षा हुई। दो घोड़े सुलगे। बड़े घोड़े ऊँचे। समझ में आया? बहुत ऊँचे घोड़े थे उसके। नीचे घास डाला हुआ था। ऊँचे घोड़े इसलिए नीचे.. ऐसे पड़े तो वह नुकसान न हो। घास की पथारी। बाँधे हुए उसमें कहीं दियासलाई आ गयी कहीं से, नीचे जला, खड़े-खड़े घोड़े जले। दीक्षा का था, 'पालीयाद' में। घोड़े ऐसे जोरदार कि बैठे नहीं। अन्तिम स्थिति ऐसी हुई, सब जल गया। फिर पता पड़ा, वहाँ तो जल गये थे। अन्तिम स्थिति में गिर गये, वहाँ तक खड़े-खड़े जले। जिसके थे, उसे (लगा) अरे! हमारे पाले हुए-पोसे हुए। उन लोगों को बहुत आघात हो गया कि अरे! दीक्षा का प्रसंग और यह क्या हुआ? बड़े बहुत कीमत के घोड़े थे। बहुत ऊँचे। तब! यह तो बहुत वर्ष हुए उसे, हों! उसे बीस-पच्चीस वर्ष हुए होंगे। ऊँचे घोड़े होते हैं न? दो-दो लाख के घोड़े, देखो न! अमेरिका में वह शर्त के घोड़े। उसमें जरा कुछ कान टूट गया हो और कुछ हो गया हो तो उसे ऐसा हो जाता है। उसका हो उसे... क्या कहलाता है? डॉक्टर तो हो परन्तु वह... क्या कहते हैं उसे? उसे पैसा दे न? चालीस हजार और पचास हजार। बीमा, बीमा, उसका बीमा किया हो। घोड़े का बीमा किया हो, दो-दो लाख के। आहा..! उसका अन्दर जरा फेरफार हो तो दु:ख हो जाये। बाह्यप्राण है।

दास,.. लो नौकर, नौकर। नटी ऐसी हो न... समझे न? नाचती हो न? तुम्हारी पार्टी-वार्टी में। वह महिला ऐसी हो तो उसे दो-दो लाख देना पड़े। बहुत ऊँचा हो तो बहुत देना पड़े और उसका बीमा किया हो। उसे जो शोभा में जरा कुछ नाक में अन्तर पड़े तो उस वाले को देना पड़े, डॉक्टर उसका ध्यान रखे। पोपटभाई! ऐसा सुना है, अपने को कहाँ खबर है। दो-दो लाख रुपये का उसने बीमा किया हो। आमदनी जिसे बड़ी हो, बस बीमा, कण्ठ का, आवाज का, आवाज ढीली क्यों पड़ी, यह क्यों हुआ, नाक की अणी फेरफार क्यों हुई? ऐसे उसके पैसे उपजते हों तो उसका सब बीमा (करे)। जरा सा कुछ शिथिल पड़े तो नाचनेवाले की कीमत न रहे। ऐसा क्यों हुआ? बीमावाले को देना पड़े।

दास, दासी,.. दास मनुष्य लो! बड़े ऊँचे नौकर। यह तो तुम्हें पता है या नहीं? दो लाख खड़े-खड़े भरना पड़े थे। तुम्हारे उसमें फिल्म में कि भाई! नया है, दो लाख दो। तो यहाँ तुम्हारे में आऊँ, तुरन्त खड़े-खड़े बैठे और दो लाख उसे अहमदाबाद में देना

मुश्किल पड़ेंगे। उसको दो लाख भरना पड़े, एकदम। उसके ऊपर आजीविका हो, करना क्या? यह इनकार करते हैं। एक-दो लाख तुरन्त (दिये)। ऐसे दास, दासी। अब उसे कोई बहुत छंछेड़ना और पहला हो तो कितना हो जाये, लो! समझ में आया?

यह भाई कहते थे न? पूनमचन्द गोदिका के यहाँ एक मुसलमान है बीस वर्ष का। पन्ना का बहुत होशियार है। यह उसे पन्ना का बादशाह ही कहा जाता है, हों! सब उसकी महिमा करते हैं। उसे पन्ना की परीक्षा है। पूनमचन्द को। उसे घड़िक में लाखों पैदा होते हैं। परीक्षा बहुत है। उस मुसलमान को एक महीने में दो-तीन हजार देना पड़ते हैं। अब उसे भी कुछ हो तो उसको-सेठ को आघात लगता है, क्योंकि वापस ऐसा व्यक्ति मिलता नहीं। ऐसा दूसरा माँगता है उसे कहते हैं, भाई! मेरे यहाँ आओ तो मैं तुम्हें महीने में पाँच हजार दूँगा। नहीं, मैं तो यही रहनेवाला हूँ, मुझे छोटी उम्र में से पोषण किया है। महीने में दो-तीन हजार, तीन हजार मिलते हैं इसके। कहो, ऐसे जरा से में फेरफार हो तो उसको ऐसा धक्का लग जाये। **घर,..** मकान, मकान। मकान का भी बड़ा बीमा होता है न! पाँच-पाँच लाख, दस लाख का बीमा। उसका.. क्या कहलाता है? प्लास्टर, पक्का प्लास्टर है या नहीं? अमुक है या नहीं? उसका बड़ा बीमा होता है। बड़ा दस-दस लाख का, बीस-बीस लाख का मकान का और साधारण मकान हो तो हिल गया था न? देखो न नाराणभाई का मकान वहाँ हिला था, उस पालियाद में। हुआ था न ऐसा? वहाँ धक्का लगा। भाई! बीमा करो, बीमावाला कहे अभी नहीं होगा। अभी बीमा होगा? पालियाद में सात गाँव दूर तेरा रामपुर। धक्का लगता है, टूट जाता है, उसका बीमा नहीं होता। गये थे बीमा कराने, खबर है। तीस हजार का मकान, अभी साठ हजार का न हो। यह जो दरार पड़ी। पालियाद में दरार पड़ गयी थी, बहुत बड़े-बड़े मकान में। पालियाद में पड़ी थी। हिला था न अन्दर नीचे से। एक मील दूर से। कई मकान टूट गये थे। ऐसे बीच में टुकड़े पड़े, हो गया। वह घर भी एक बाह्यप्राण है, द्रव्यप्राण कहो ऐसा बाह्य, यह द्रव्यप्राण वह है परन्तु वह बाह्य का है न? धक्का लगे, वहाँ अन्दर हो जाये। लेखन में कैसा किया कि द्रव्यप्राण पुष्ट थे, उन पुष्ट प्राणों का नाश हुआ। अधिक थे और उसमें घटाया, यह द्रव्यप्राण का नाश किया।

जमीन,.. जमीन, यह बोने की जमीन ली हो, लो न! पचास, सौ बीघा, पाँच सौ, हजार, दो लाख, लाख, दो लाख की जमीन (ली हो) उसमें से कोई... जमीन बाह्यप्राण

है। **पुत्र,...** लो, पुत्र भी आया, वह बाह्यप्राण है, उस पर जीवन है। कहो, पुत्र अच्छा हो, लड़का अच्छा हो तो ऐसा हो और अपनी शोभा बढ़े, अमुक हो। उसमें कुछ उसका ढीला पड़े तो हाय.. हाय..! बाह्यप्राण है, बाह्यप्राण। समझ में आया? कहाँ गया? जीतू!

मुमुक्षु : भावनगर।

पूज्य गुरुदेवश्री : भावनगर, पढ़ने। समझ में आया?

स्त्री,.. स्त्री द्रव्यप्राण, बाह्यप्राण, उसे कुछ हो तो इसे ऐसा धक्का लग जाये। अब उसे कुछ हो, बीमारी जो चली आठ दिन और उसमें लगे कि यह बुखार घटता क्यों नहीं? बताओ भाई! यहाँ, 'जिथरी' उसमें छिद्र पड़े हों ऐसे देखे, घर में कोई न हो, हाय..हाय..! अब क्या करना? देखो, भावप्राण घात होते हैं, कोई स्त्री को ले जाये, लो न। **वस्त्रादि...** लो! वस्त्र, वस्त्र। अच्छे वस्त्र हों उन्हें उठा ले जाये। द्रव्यप्राण हैं न? उसके बाह्यप्राण हैं वे। गहने ऐसे ले लेना।

जितने भी पदार्थ जिस जीव के पास हैं,... फिर अब सब। जितनी जो वस्तु (हो वह सब) बर्तन-फर्तन इसका समझे न? सब प्रकार के। अनेक प्रकार। मोटर आयी, मोटर तब कहाँ थी? मोटर, लो! यह जेब में डालते हैं वह क्या कहलाता है तुम्हारे? इंडियन पेन ऊँची। पचास-पचास, सौ-सौ दो सौ रुपये की। कोई (साथ में) बात करते हों और उठा ले जाये.. अरे! कहाँ गयी? धक्का लग जाये एकदम। मोटर और वह कहाँ था सब? अभी होते हैं, ऐसा ले लेना। **जितने भी पदार्थ जिस जीव के पास हैं, उतने ही उसके बाह्यप्राण हैं।** देखा? उतने ही बाह्यप्राण, जितने बाह्य पदार्थ हैं, उतने उसके बाह्यप्राण हैं। क्योंकि सबकी इसे ममता है।

मुमुक्षु : एकदम बैठती बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बैठती बात है न! परन्तु कहते हैं दुःख होता है, ऐसा कहना है यहाँ तो। बैठती बात है अर्थात्? ऐसी कि अधिक पैसा हो तो बाह्यप्राण बहुत। बैठती बात है। धूल में भी.. माना है न? मैं ऐसा हूँ, मैं पाँच लाखवाला, दस लाखवाला, बीस लाखवाला। उसमें से कुछ धक्का लग जाये थोड़ा तो कहे—हाय.. हाय..! मुझे धक्का लगाया, ऐसा किया।

कहते हैं, भाई! **उन पदार्थों में से किसी एक भी पदार्थ का नाश होने पर...** उन पदार्थों में से किसी भी पदार्थ... समझे न? धन, धान्य, अनाज, तिल, गेहूँ बोये हुए हों वे, घर में हों वे, सम्पत्ति सब लक्ष्मी, हीरा, माणिक, मोती, पन्ना सब लो न। अपने प्राणघात जितना दु:ख होता है। इसलिए पदार्थों को ही प्राण कहने में आया है, ठीक। पाठ में लिया है न **'बहिश्चरा: पुंसाम्'** देखो! **'प्राणा: एते बहिश्चरा:'** अमृतचन्द्राचार्य ने पाठ में लिया है। ये बाह्य चलनेवाले, सब बाहर रहनेवाले प्राण हैं इसके। आहा..हा..! गजब अधिकार है। उन पदार्थों का नाश होने पर, कोई ले जाने पर, कुछ बिगड़ने पर, फूटने-टूटने पर इसके प्राण का घात जितना दु:ख होता है, अपने प्राणघात जितना दु:ख होता है। **इसीलिए पदार्थों को ही प्राण कहा जाता है। जैसे, 'अन्नं वै प्राणा:' इति वचनात्...** अन्न है, वही प्राण है। **अन्न ही प्राण हैं इस वचन के अनुसार।** अन्न, वह प्राण है, वह प्राण का निमित्त है न, इसलिए व्यवहार से उसे प्राण कहने में आया है।

गाथा - १०४

हिंसा और चोरी में अव्यापकता नहीं, किन्तु व्यापकता है :-

हिंसाया: स्तेयस्य च नाव्याप्ति: सुघटमेव वा यस्मात्।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यै:।।१०४।।

स्तेय में हिंसा नहीं, अव्याप्ति, अपितु सुघट ही।
क्योंकि पराए द्रव्य की, चोरी प्रमादी योग ही।।१०४।।

अन्वयार्थ : (हिंसाया:) हिंसा में (च) और (स्तेयस्य) चोरी में (अव्याप्ति:) अव्याप्तिदोष (न) नहीं है (सा सुघटमेव) वह हिंसा बराबर घटित होती है (यस्मात्) कारण कि (अन्यै:) दूसरे के द्वारा (स्वीकृतस्य) स्वीकृत की हुई (द्रव्यस्य) द्रव्य के (ग्रहणे) ग्रहण में (प्रमत्तयोग:) प्रमाद का योग है।

टीका : 'हिंसाया: स्तेयस्य अव्याप्ति: न सा सुघटमेव यस्मात् अन्यै: स्वीकृतस्य द्रव्यस्य ग्रहणे प्रमत्तयोग: भवति' - हिंसा और चोरी में अव्याप्तिपना नहीं है, बल्कि

भले प्रकार व्यापकपना है क्योंकि दूसरे जीव ने प्राप्त किये पदार्थों में अपनेपन की कल्पना करने में प्रमादयोग ही मुख्य कारण है।

भावार्थ : यदि किसी जीव को किसी काल में (जिस समय) जहाँ चोरी है, वहाँ हिंसा न हो तो अव्याप्तिदूषण हो सकता है किन्तु प्रमाद बिना चोरी बनती नहीं। प्रमाद का नाम ही हिंसा है और चोरी में प्रमाद अवश्य है ही, इसलिए ऐसा सिद्ध हुआ कि जहाँ जहाँ चोरी है, वहाँ वहाँ अवश्य ही हिंसा है।।१०४।।

गाथा १०४ पर प्रवचन

हिंसा और चोरी में अव्यापकता नहीं, किन्तु व्यापकता है :- लो, आया यह। अव्याप्ति नहीं, समझे न ? अव्याप्ति नहीं। उसमें अव्याप्ति पहले आयी थी। समझे न ? यह दोष सिद्ध करते हैं, उसमें आयी थी न ? पहले हिंसा में। अतिव्याप्ति पहले स्थापित की है, ४५ गाथा। अतिव्याप्ति, समझे न ? ४६ में अव्याप्ति, वहाँ हिंसा में। यहाँ पहले अव्याप्ति स्थापित करते हैं, फिर अतिव्याप्ति। यह दोनों में आता है इतना, दूसरे में नहीं आता।

हिंसाया: स्तेयस्य च नाव्याप्ति: सुघटमेव वा यस्मात्।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यै:।।१०४।।

हिंसा में और चोरी में अव्याप्तिदोष नहीं है.. अर्थात् कि जहाँ-जहाँ हिंसा, वहाँ-वहाँ चोरी, जहाँ-जहाँ चोरी, वहाँ-वहाँ हिंसा। ऐसा कहते हैं, चोरी और हिंसा को अव्याप्ति नहीं, सम्बन्ध नहीं - ऐसा नहीं। वह हिंसा बराबर घटित होती है। चोरी **वह हिंसा बराबर घटित होती है कारण कि दूसरे के द्वारा स्वीकृत की हुई द्रव्य के ग्रहण में प्रमाद का योग है।** लो ! दूसरे के स्वीकार किये हुए सब। ऊपर कहे थे न ? धन, धान्य, सम्पत्ति, बैल, घोड़ा इत्यादि। उसके माने हुए, स्वीकार किये हुए उस द्रव्य के ग्रहण में प्रमाद का योग है। प्रमाद के योग बिना वह ग्रहण नहीं हो सकता; इसलिए हिंसा **प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपण हिंसा—** उसका वहाँ व्यापना नहीं ऐसा नहीं। व्याप्ति बराबर है, ऐसा कहते हैं। जहाँ-जहाँ चोरी, वहाँ-वहाँ हिंसा यह बराबर बैठती है। सब हिंसा पर उतारा है, पाँचों पाप। आहा..हा.. ! पहले से उतारा है न, देखो न !...

मिथ्यात्व वह हिंसा, महाहिंसा। मिथ्यात्व वह हिंसा, भावप्राण घात होते हैं, सम्यग्दर्शन। आहा..हा..! वस्तुस्वभाव त्रिकाल का स्वीकार न करके, एक रागादि विकल्प का स्वीकार, वह मिथ्यात्वभाव है। चैतन्य सम्यग्दर्शन के भावप्राण की उत्पत्ति सम्यक् की होना चाहिए, उसे वह घातता है। ओहो..हो..! मूल बात, मूल बात यह। समझ में आया? भगवान आत्मा पूर्ण चैतन्यस्वभाव, परिपूर्ण वस्तुस्वभाव का स्वीकार न करके, यहाँ परपदार्थ का स्वीकार आता है न? ऐसे पदार्थ का (स्वभाव का) स्वीकार न करके एक रागभाव का स्वीकार करके रहा, वह भावप्राण की हिंसा है। समझ में आया?

यहाँ तो सम्यग्दर्शन ज्ञान हुआ, पश्चात् भी अस्थिरता के भावप्राण की हिंसा क्या है, उसका वर्णन करते हैं। ज्ञानी को भी जितना चोरी का विकल्प होता है, वह भी भावप्राण है, हिंसा है। पहले महाप्राण की हिंसा है, यह अल्प अस्थिरता के प्राण की हिंसा है।

पहली जीवत्वशक्ति कही है न? ४७ शक्ति में पहली जीवत्वशक्ति ली है। जीव की जीवत्वशक्ति। भावप्राण-दर्शन, ज्ञान, आनन्द, सत्ता - ऐसे भावप्राण की स्वीकारता उत्पन्न नहीं करता और अकेले रागादि को उत्पन्न करता है, वह मूल जीवन का नाश करता है और उसके पश्चात् भी जितना यह हिंसा, झूठ, चोरी आदि का भाव होता है, उतनी भी अस्थिरता भावहिंसा की है। ज्ञानी को है, ऐसा यहाँ सिद्ध करते हैं। पश्चात् जितना राग का त्याग होकर स्थिरता हुई, हिंसा का त्याग, चोरी का त्याग, झूठ का जितनी राग की अस्थिरता मिटी, स्थिरता अंश हुई, उतनी उसे भावदया हुई। भावदया हुई, भाव अहिंसा हुई, लो! पर्याय पर्याय की यहाँ तो खतौनी की है। द्रव्य की तो की है और पर्याय पर्याय में जितने अंश में हिंसा झूठ, चोरी का भाव (होवे), उतनी पर्याय में शुद्धि की उत्पत्ति नहीं होती, उतनी उसे हिंसा कही जाती है। समझ में आया? जितनी शुद्धि की उत्पत्ति हुई और अशुद्धता का त्याग (हुआ), उसे भावदया और भावअहिंसा कहने में आता है। कहो, **दूसरे के द्वारा स्वीकृत की हुई द्रव्य के ग्रहण में प्रमाद का योग है।**

टीका : 'हिंसायाः स्तेयस्य अव्याप्तिः न सा सुघटमेव यस्मात् अन्यैः स्वीकृतस्य द्रव्यस्य ग्रहणे प्रमत्तयोगः भवति'-हिंसा और चोरी में अव्याप्तिपना नहीं है.. अर्थात् दो को सम्बन्ध नहीं है, ऐसा नहीं है। **बल्कि भले प्रकार व्यापकपना है...** मेल है।

जहाँ-जहाँ चोरी का भाव, वहाँ-वहाँ हिंसा; जहाँ-जहाँ हिंसा, वहाँ चोरी का भाव। **क्योंकि दूसरे जीव ने प्राप्त किये पदार्थों में..** लो! भाषा क्या है यहाँ? लो! यहाँ तो परन्तु व्यवहार समझाना है तो क्या कहे? उसे आये थे, यहाँ राग था और पूर्व के पुण्य से आये, इसलिए इसने प्राप्त किये हुए - ऐसा कथन करके बात (करते हैं)। उसे हरते हैं, वह नुकसान करते हैं, ऐसा कहना है। क्या हो? कथन की बात क्या? प्राप्त कर सकता है, यह प्रश्न ही कहाँ है? समझ में आया? व्यवहार से कथन (ऐसा आवे कि) इसके पास है, इसके पुण्य से प्राप्त हुए और इसे भाव था कि मैं प्राप्त करूँ, इसलिए इसे मिले हैं - ऐसा कहने में आया है।

क्योंकि दूसरे जीव ने प्राप्त किये पदार्थों में अपनेपन की कल्पना करने में.. यह बस! दूसरे ने प्राप्त किये हुए पदार्थ में अपनेपने की कल्पना (करना कि) ये मेरे हैं, ये मेरे हैं। **प्रमादयोग ही मुख्य कारण है।** लो! दूसरे ने प्राप्त की हुई इज्जत, पैसा, सब, हों!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे की इज्जत कि, यह नहीं, यह मेरे कारण कमा खाता है, ऐसा बोले। मेरे नाम से कमा-खाता है, हमारी दुकान थी, वह दुकान इसे मिल गयी है, उस नाम से कमा-खाता है, ऐसा करके उसे ऊँचा नहीं आने दे। घात करता है न? कितने ही नौकर होते हैं न, देखो न! यह बराबर दस, पन्द्रह वर्ष से दुकान पर बैठा हो। फिर कुछ मेल नहीं खाया। भाई! मुझे तुम दो हजार नौकरी (वेतन) दो तो नहीं, तीन हजार दो। फिर वह कहे नहीं, सामने दुकान लगावे। मोहनभाई! खबर है या नहीं? सब बहुत जगह होता है। समझ में आया? सामने लगावे तो उसके परिचित ग्राहक वहाँ जाये। यहाँ सामने मुनीमरूप से काम करता हो। उगाही के जो ग्राहक हों, वे ग्राहक वहाँ जायें। यहाँ कम हो जाये। ऐसा है न? जगत में चलता है न!

दूसरे जीव ने प्राप्त किये पदार्थों में अपनेपन की कल्पना करना... किसी की चीज़ को यह मेरी है, मेरी है, ऐसी कल्पना करना। यह नीचे की जमीन लो। जमीन आयी थी या नहीं? किसी की प्राप्त की हुई जमीन हो और मेरी है, ऐसा कहना, वह भी प्राणहिंसा है। कहो, समझ में आया या नहीं? सौ वार में मकान बनाना हो और होवे यह पिच्यानवें वार; इसलिए पाँच वार अन्य की दबा ले पूछे बिना। अब दूसरा क्या हो? मकान तो बना

लिया, लो! ठीक। महाजन, माँ-बाप सच्चे परन्तु मेरी कील हटे ऐसी नहीं। किसी की जमीन मिला ले, वह चोरी है।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : मिला डाले न अपने में! उठाकर कहाँ टुकड़ा ले जाता है कहीं? कितने ही खेत में मिलाते हैं, खेत में देखो न! ऐसे बराबर थोड़ा.. थोड़ा.. थोड़ा.. थोड़ा. वाड़ को दो-दो तीन-तीन हाथ दूर डालता जाये। ऐसे करते कोई मालिक न हो तो सब मिला ले। यह जमीन की चोरी है। किसी की जमीन अपने में डाल देना, वह भी बड़ी चोरी है। उसका कुछ भान नहीं होता और चोरी क्या है, इसकी तो खबर भी नहीं होती और कहे कि हम बहुत अहिंसक हैं और हम बहुत परोपकारी हैं। कहो, समझ में आया?

दूसरे को देने के लिये किसी का पैसा ले ले, किसी का अनाज ले ले। हमने कहाँ हमारे लिये (लिया है)? हमने तो दूसरों को देने के लिये दिया है न! गरीबों को खिलाने के लिये। परन्तु यह किसी का लूटकर? कपड़ा-बपड़ा पैंकिंग में दो चार ले जाये। ले गया तो भी कुछ मेरे घर में ले गया हूँ? गरीबों को बाँटने के लिये ले गया। परन्तु यह किसी का मारकर ले गया तू, तेरे घर के पैसे खर्च कर न! यह सब चोरी है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

अपनेपन की कल्पना करने में प्रमादयोग ही मुख्य कारण है। प्रमाद है उसमें उसका। कषाय शामिल है, इसलिए हिंसा है। उस आत्मा को स्वयं को हिंसा होती है और दूसरे के प्राण की भी हिंसा होती है।

भावार्थ : यदि किसी जीव को किसी काल में (जिस समय) जहाँ चोरी है, वहाँ हिंसा न हो तो अव्याप्तिदूषण हो सकता है... ऐसा कहते हैं। अव्याप्ति को सिद्ध करते हैं। **यदि किसी जीव को किसी काल में (जिस समय) जहाँ चोरी है, वहाँ हिंसा न हो तो अव्याप्तिदूषण हो सकता है...** अर्थात् चोरी और हिंसा न हो तो अव्याप्ति मेल नहीं खाता। **किन्तु प्रमाद बिना चोरी बनती नहीं।** किसी की चीज़ अपनी कर लेना, उसमें प्रमाद बिना नहीं हो सकता। प्रमाद स्वयं चोरी है और वह चोरी स्वयं ही हिंसा है।

प्रमाद का नाम ही हिंसा है... यह कषाय आयी न? किसी को मिलाने का—

किसी चीज़ को अपने में ले, वही स्वयं चोरी है और वह चोरी ही हिंसा है। अभी तो हिंसा की खबर नहीं होती और (कहे) हम अहिंसा के पालनेवाले। आहा..! फिर उसमें कहा था, भाई! सत् की सत्य बात करे और जिसे विपरीत बैठी हो, उसे दुःख होता है परन्तु इसका हेतु प्रमाद का नहीं। आया था न? **हेय-उपादेय अनुष्ठानं** - इसमें प्रमादयोग नहीं। वह तो सत्यवस्तु है, बापू! ऐसा है। वस्तु के स्वभाव की विपरीत दृष्टि तेरी है। तेरी भले उसे व्यक्तिगत न करे परन्तु कहे, ऐसा माने वह मिथ्यात्व है।

मुमुक्षु : अपने को मिथ्यात्वी कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यात्वी कहते हैं, मूढ़ कहते हैं। अज्ञानी मूढ़ो - आता है न? बोल में आता है, बन्ध अधिकार। पर को जिला सकूँ, मार सकूँ—ऐसा माननेवाला अज्ञानी मूढ़ है। कहो, मैं दूसरों को पैसा दे सकता हूँ, संयोग दे सकता हूँ, सुख-दुःख के साधन दे सकता हूँ - ऐसा माननेवाला अज्ञानी मूढ़ है। उसे उसके पुण्य-पाप के उदय से संयोग मिलें, उसमें तूने क्या दिया? तेरा मिथ्यात्वभाव है। आहा..हा..! और वह मिथ्यात्व बड़ा पाप और बड़ी हिंसा है। इसकी खबर नहीं होती और हम दया पालनेवाले, हम अहिंसा पालनेवाले। समझ में आया? कहो, प्रवीणभाई! ऐसी व्याख्या कहीं सुनी नहीं होगी जिन्दगी में। आहा..हा..! न्यालभाई! ऐसी हिंसा की व्याख्या भी कहीं अन्यत्र नहीं है। आहा..!

धर्मी को भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान होने पर भी जितनी प्रमादभाव आता है, कषायभाव आता है, उतनी हिंसा है। आहा..हा..! एक ओर कहे कि समकिती को आस्रव-बन्ध नहीं होता। पोपटभाई! आस्रव और बन्ध नहीं होता। वह तो दृष्टि के जोर और द्रव्य के आश्रय की अपेक्षा से बात है परन्तु पर्याय का विवेक जहाँ बताते हैं और पर्याय में जितना राग उतनी हिंसा। जितना राग घटे स्वरूप के आश्रय से, उतनी अहिंसा। जितना राग उतना झूठ, जितना राग का अभाव होकर स्थिरता, उतना सत्य। आहा..हा..! स्थिरता की बात है। मुनि को भी पंच महाव्रत के विकल्प, उतनी हिंसा। शुभयोग है न उतना। आहा..हा..! वीतरागमार्ग में यह हिंसा और अहिंसा का स्वरूप कहीं तीन काल में अन्यत्र (है नहीं)। वस्तु की स्थिति जैसी है, वैसी है, उसमें कुछ दूसरी कल्पना करके कहाँ है? वस्तु ही ऐसी है वहाँ।

कहते हैं, **प्रमाद का नाम ही हिंसा है और चोरी में प्रमाद अवश्य है ही,**

इसलिए ऐसा सिद्ध हुआ कि जहाँ जहाँ चोरी है, वहाँ वहाँ अवश्य ही हिंसा है। अव्याप्ति निकाल दिया, निकाल दिया। अब, अतिव्याप्ति। हिंसा में पहले अतिव्याप्ति आयी थी, फिर अव्याप्ति (लिया था)। हिंसा में तो बहुत गाथायें आयीं।

गाथा - १०५

हिंसा और चोरी में अतिव्याप्तिपना भी नहीं है :-

नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्।
अपि कर्म्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात्।।१०५।।

नित वीतरागी के प्रमादी, योग नहिं अतिव्याप्ति नहिं।
कर्मादि का है ग्रहण उनके, पर न हिंसा स्तेय नहिं।।१०५।।

अन्वयार्थ : (च) और (नीरागाणाम्) वीतरागी पुरुषों के (प्रमत्तयोगैकारण-विरोधात्) प्रमत्तयोगरूप एक कारण के विरोध में (कर्म्मानुग्रहणे) द्रव्यकर्म नोकर्म की कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करने में (अपि) निश्चय से (स्तेयस्य) चोरी की (अविद्यमानत्वात्) अनुपस्थिति से (तयोः) उन दोनों में अर्थात् हिंसा और चोरी में (अतिव्याप्तिः) अतिव्याप्ति भी (न) नहीं है।

टीका : 'च तयोः (हिंसा स्तेययोः) अतिव्याप्तिः च न अस्ति यतः नीरागाणां प्रमत्तयोगैककारण विरोधात् कर्मानुग्रहणे अपि हिंसायाः अविद्यमानत्वात्' - अर्थ :- हिंसा और चोरी में अतिव्याप्तिपना भी नहीं है अर्थात् चोरी हो और हिंसा न हो, ऐसा नहीं है, तथा हिंसा हो और चोरी न हो, ऐसा भी नहीं है क्योंकि वीतरागी महापुरुषों के प्रमादसहित योग का कारण नहीं है, इसीलिए द्रव्यकर्म-नोकर्म की वर्गणाओं का ग्रहण होते हुए भी, प्रमाद न होने से, चोरी का सद्भाव नहीं है।

भावार्थ : बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण चोरी है। वीतरागी अरहन्त भगवान के कर्म-नोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण होता है और वे वर्गणायें किसी की दी हुई नहीं हैं, वहाँ उनके चोरी का प्रसंग आता, परन्तु प्रमाद और योग बिना चोरी नहीं कहलाती। प्रमादयोग है, वही हिंसा है, इसलिए अतिव्याप्तिपना नहीं है। यदि हिंसा, प्रमाद बिना

चोरी हो सकती हो तो अतिव्याप्ति दोष आता, परन्तु वह तो वहाँ है नहीं। अत: यह बात सिद्ध हुई कि जहाँ चोरी है, वहाँ हिंसा है; इसलिए अव्याप्ति नहीं और जहाँ हिंसा नहीं, वहाँ चोरी भी नहीं तथा जहाँ चोरी नहीं, वहाँ हिंसा भी नहीं, इस वास्ते अतिव्याप्ति नहीं; इसलिए चोरी हिंसारूप ही है।।१०५।।

गाथा १०५ पर प्रवचन

अब हिंसा और चोरी में अतिव्याप्ति अर्थात् अधिक हो जाता है, अतिरेक हो जाता है - ऐसा भी नहीं है। लागू नहीं पड़ता - ऐसा नहीं है। लागू पड़ता ही है। आगे दूसरे को लागू पड़ जाये, इसे न पड़े, ऐसा नहीं है।

नातिव्याप्तिश्च तयो: प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्।
अपि कर्म्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात्।।१०५।।

देखो! यहाँ डाला, देखा? उसमें हेय-उपादेय में डाला था। समझ में आया न? सत्य में। यहाँ **कर्मानुग्रहणे,** पहले केवली को जरा कर्म ग्रहण होते हैं न? कितनी बात रखते हैं। सत्य में सत्य बात स्थापित करते हैं और असत्य का निषेध करते हैं। इससे किसी को दु:ख लगे, वह प्रमत्तयोग नहीं है; इसलिए उसे झूठ नहीं कहा जाता, इसलिए हिंसा नहीं है।

यहाँ चोरी में '**अपि कर्म्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात्**' लो! कहते हैं, चोरी के दृष्टान्त में क्या देते हैं? कि **वीतरागी पुरुषों के प्रमत्तयोगरूप एक कारण के विरोध में...** केवली को प्रमादयोग नहीं है। केवलज्ञानी परमात्मा को प्रमादयोग नहीं है। **द्रव्यकर्म-नोकर्म की कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करने में...** केवली को भी कर्म के रजकण आते हैं। नोकर्म शरीर के, औदारिक के भी आते हैं। कहाँ डाला, देखा? केवलज्ञानी परमात्मा को भी सातावेदनीय आदि कर्म के रजकण आते हैं न? आज्ञा बिना लिये हैं न? कहते हैं। परन्तु वे कहाँ लेते हैं? परन्तु इतना सम्बन्ध होता है, उतना भी यहाँ प्रमादयोग नहीं है, इसलिए उसे चोरी नहीं कहा जाता। **ग्रहण करने में...** भाषा देखो न? लो! केवली

को भी द्रव्यकर्म का और नोकर्म का ग्रहण करते हैं। वे कहते हैं पहले समय भाषा ग्रहण करते हैं, दूसरे समय बोलते हैं, ठीक। अरे! भगवान! क्या अपेक्षा? यहाँ तो ग्रहण अर्थात् इतना आता है ऐसा। कम्पन है, रजकण आते हैं। शरीर के रजकण भी नामकर्म का उदय है, इसलिए शरीर में परमऔदारिक के रजकण आते हैं, आहार बिना (आते हैं)। इतना आता है, उसमें आज्ञा नहीं। यह आया तो उसे चोरी कहलाये? नहीं; प्रमादयोग नहीं है, लो!

मुमुक्षु : इसका अर्थ कि दूसरे का चोर ले तो चले।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे का लगे। दूसरे का अर्थात्? जिसे भाव का प्रमादयोग है। इस प्रकार ले तो वह चोरी है। प्रमादयोग कारण है न? दूसरे को आवे। वह दूसरे को आवे परन्तु प्रमादयोग है, इसलिए चोरी कहने में आता है। मूल तो प्रमादयोग चोरी है। समझ में आया? कारण तो एक ही है। गजब! दिगम्बर मुनियों की कथनी! चीर-चीर कर बात!! एक समय-समय का भी दोष कैसा है, उसे वर्णन करते हैं।

'कर्म्मानुग्रहणे' ऐसा शब्द है न? कर्म अनुग्रहणे, लो! **ग्रहण करने में निश्चय से चोरी की अनुपस्थिति से.. 'स्तेयस्य अविद्यमानत्वात् तयोः' उन दोनों में अर्थात् हिंसा और चोरी में अतिव्याप्ति भी नहीं है।** लो! हिंसा और चोरी में अतिव्याप्ति भी नहीं अर्थात् यहाँ गयी वहाँ हिंसा हुई, उसे ऐसा है नहीं। चोरी हुई न उसे? कि, नहीं; प्रमत्तयोग नहीं, इसलिए चोरी नहीं, इसलिए हिंसा भी नहीं। प्रमत्तयोग जहाँ हो, वहाँ हिंसा को चोरी कहने में आता है। पानी.. देखो न! गृहस्थ अवस्था में पानी या यह पत्थर, यह धूल या जगत की चीज़ पड़ी हो, ले तो उसे चोरी गिनने में नहीं आता। गृहस्थ की अपेक्षा से (यह बात है)। परन्तु मुनि ले तो चोरी कहने में आता है क्योंकि सर्वविरति हैं। किसी की अनावश्यक धूल पड़ी हो तो भी आज्ञा बिना नहीं ली जाती। गृहस्थ तो धूल, तालाब का पानी लेता है न? इतना प्रमत्तभाव तो है परन्तु पहला तीव्र जो प्रमाद है, ऐसा उसे नहीं है, इसलिए उसे चोरी नहीं कहा जाता, ऐसा कहते हैं। इतना भाव यदि मुनि को हो तो चोरी कहलाये, उसे हिंसा कहलाये। मुनि, आज्ञा के बिना तो कुछ नहीं लेते। ओहो..हो..!

'च तयोः (हिंसा स्तेययोः)' हिंसा और स्तय अर्थात् चोरी। **'अतिव्याप्तिः च न अस्ति यतः नीरागाणां प्रमत्तयोगैककारण विरोधात् कर्मानुग्रहणे अपि हिंसायाः**

अविद्यमानत्वात्' सिद्धान्त रखा। **हिंसा और चोरी में अतिव्याप्तिपना भी नहीं है..** कि वहाँ लागू पड़ जायेगा। **अर्थात् चोरी हो और हिंसा न हो, ऐसा नहीं है, तथा हिंसा हो और चोरी न हो ऐसा भी नहीं है क्योंकि वीतरागी महापुरुषों के प्रमादसहित योग का कारण नहीं है...** लो! प्रमादसहित योग का कारण नहीं है। योग लिया परन्तु योग के कारण आता है न? प्रमाद नहीं साथ में। समझ में आया?

प्रमाद और योग के बिना... वापिस भाषा ऐसी करेंगे, हों! दो पड़े हैं न साथ में? वह योग है, समझे न? भाई! योग है परन्तु प्रमाद नहीं - ऐसा सिद्ध करना है। योग है अर्थात् कम्पन है और रजकण आते हैं परन्तु प्रमाद नहीं है, इसलिए नहीं है। समझ में आया? दो है, डालेंगे न, अर्थ में डालेंगे। परन्तु प्रमाद और योग के बिना चोरी नहीं होती। उस ओर आयेगा, उस ओर दूसरी लाईन, दूसरी लाईन। प्रमाद और योग के बिना। ये दो सिद्ध करना है न? योग / कम्पन तो है, इसलिए रजकण आते हैं परन्तु प्रमाद नहीं है; इसलिए चोरी नहीं है और हिंसा नहीं है। गजब बात है! क्योंकि वीतरागी महापुरुषों को प्रमादसहित योग का कारण नहीं है। यही आया है न? प्रमादसहित योग का कारण नहीं है। योग-कम्पन है, रजकण आते हैं परन्तु प्रमादपना नहीं है।

इसीलिए द्रव्यकर्म-नोकर्म की वर्गणाओं का ग्रहण होते हुए भी,.. लो! वह योग निमित्त है न? उसके कारण द्रव्यकर्म, नोकर्म हैं। **चोरी का सद्भाव नहीं है..** चोरी नहीं है। 'प्रमत्तयोगात्' 'योगात्' का अर्थ सम्बन्ध। प्रमाद के सम्बन्ध से, प्रमाद के योग से-ऐसे दो अर्थ किये हैं। दो किये हैं। 'प्रमत्तयोगात्' प्रमत्त के सम्बन्ध से, ऐसा नहीं, ऐसा अर्थ नहीं। प्रमाद और योग ऐसे दो अर्थ किये, दो अर्थ किये। 'प्रमत्तयोगात्' प्रमाद के सम्बन्ध से। परन्तु इन्होंने ऐसा किया, 'प्रमत्तयोगात्' प्रमाद के सम्बन्धवाला जो योग, इस प्रकार से। प्रमाद और योग, ऐसा दो कहा भाई ने, टोडरमलजी ने स्पष्टीकरण किया। इसलिए ऐसी बात 'प्रमत्तयोगात्' प्रमाद के योग से, सम्बन्ध से प्राण की हिंसा है।

क्योंकि वीतरागी महापुरुषों के प्रमादसहित योग का कारण नहीं है.. प्रमादसहित योग का कारण नहीं, ऐसा डाला, भिन्न किया, भिन्न किया। **इसीलिए द्रव्यकर्म-नोकर्म की वर्गणाओं का ग्रहण होते हुए भी, (चोरी का सद्भाव नहीं..)** देखो! योग

भी है और वह भी है परन्तु प्रमाद नहीं है, तथापि **चोरी का सद्भाव नहीं...** आहा..हा..! **प्रमाद न होने से,..** देखो! **प्रमाद न होने से बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण चोरी है।** पहले तो कहा कि सद्भाव नहीं है, प्रमाद न होने से। **बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण चोरी है। वीतरागी अरहन्त भगवान के कर्म-नोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण होता है और वे वर्गणायें किसी की दी हुई नहीं हैं, वहाँ उनके चोरी का प्रसंग आता, परन्तु प्रमाद और योग बिना चोरी नहीं कहलाती।** ऐसा कहा। टोडरमलजी की टीका भी धीरज से कितनी की, देखो!

प्रमादयोग है, वही हिंसा है... लो! कषायवाला योग है, वही हिंसा है। **इसलिए अतिव्याप्तिपना नहीं है।** वहाँ हिंसा लागू पड़ जाती है, ऐसा नहीं है। **यदि हिंसा प्रमाद बिना चोरी हो सकती हो तो अतिव्याप्ति दोष आता,..** हिंसा, प्रमाद के बिना चोरी हो सकती हो तो अतिव्याप्ति (दोष आवे)। **परन्तु वह तो वहाँ है नहीं। अतः यह बात सिद्ध हुई कि जहाँ हिंसा नहीं, वहाँ चोरी भी नहीं ...** वहाँ हिंसा नहीं वहाँ। और जहाँ चोरी नहीं, वहाँ हिंसा भी नहीं है। लो! अतिव्याप्ति दोष का निषेध है।

गाथा - १०६

चोरी के त्याग का प्रकार :-

असमर्था ये कर्त्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम्।।१०६।।

नित अन्य के कूपादि से, बिन दत्त नीरादि ग्रहण।
यदि नहीं छोड़ सको तो छोड़ो, शेष सब बिन दे ग्रहण।।१०६।।

अन्वयार्थ : (ये) जो जीव (निपानतोयादिहरणविनिवृत्तम्) दूसरे के कुआँ, बावड़ी आदि जलाशयों का जल इत्यादि ग्रहण करने के त्याग (कर्त्तुम्) करने में (असमर्था) असमर्थ हैं (तैः) उन्हें (अपि) भी (अपरं) अन्य (समस्तं) सर्व (अदत्तं) बिना दी हुई वस्तुओं के ग्रहण करने का (नित्यम्) हमेशा (परित्याज्यम्) त्याग करना योग्य है।

टीका : 'ये (जीवा:) निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम् कर्त्तुम् असमर्था: तै: (जीवै:) अपि नित्यं समस्तं अपरं अदत्तं परित्याज्यम्' - जो जीव, पीनेरूप कुआँ, नदी, बावड़ी आदि के जल से लेकर मिट्टी आदि वस्तुओं जो सामान्य जनता के उपयोग के लिए होती हैं, के ग्रहण का त्याग करने में अशक्त हैं, उन्हें भी हमेशा दूसरे के द्वारा दी हुई वस्तुओं के अलावा अन्य समस्त वस्तुओं के ग्रहण का त्याग करना चाहिए।

भावार्थ : चोरी का त्याग भी दो प्रकार से है। एक सर्वथा त्याग और दूसरा एकदेश त्याग। सर्वथा त्याग तो मुनिधर्म में ही होता है, अत: वह बन सके तो अवश्य करना। यदि कदाचित् न बने तो एकदेश त्याग तो अवश्य ही करना चाहिए। श्रावक कुआँ नदी आदि का पानी-खान की मिट्टी इत्यादि किसी के बिना पूछे भी ग्रहण कर ले तो उसका नाम चोरी नहीं है, और यदि मुनि उन्हें ग्रहण कर ले तो चोरी कहलायेगी।।१०६।।

गाथा १०६ पर प्रवचन

अब चोरी के त्याग का प्रकार :- चोरी के त्याग का वर्णन।

असमर्था ये कर्त्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम्।।१०६।।

देखो! आया, हों! जो जीव 'निपानतोयादिहरणविनिवृत्तम्' दूसरे के कुआँ, बावड़ी आदि जलाशयों का जल इत्यादि ग्रहण करने के त्याग करने में असमर्थ हैं.. गृहस्थ इतना त्याग नहीं कर सकता। समझ में आया? मार्ग में धोरिये का पानी आता है, धोरिया, तालाब, कुएँ का पानी, नहाने-धोने को ले। दूसरे के कुआँ, बावड़ी आदि जलाशयों का जल इत्यादि ग्रहण करने के त्याग करने में असमर्थ हैं, उन्हें भी अन्य सर्व बिना दी हुई वस्तुओं के ग्रहण करने का 'नित्यम' हमेशा त्याग करना योग्य है। लो श्रावक की बात है। पंचम गुणस्थान में बावड़ी आदि पानी का त्याग नहीं हो सकता परन्तु दूसरा चोरी का तो उसे त्याग करना चाहिए।

टीका : जो जीव पीनेरूप कुआँ नदी बावड़ी आदि के जल से लेकर मिट्टी..

लो! मिट्टी होती है न? जगत में पड़ी है वह। मिट्टी लें थोड़ी हाथ में, मिट्टी खुली पड़ी है। यह जंगल जाते हैं न? जंगल। मिट्टी ले धोने के लिये। उसका त्याग नहीं कर सकते। गृहस्थ उसका त्याग नहीं कर सकता। **मिट्टी आदि वस्तुओं जो सामान्य जनता के उपयोग के लिए होती हैं..** लो! बीच में तिनका पड़ा हो और कोई दाँत के लिये लेना पड़ा, उसका त्याग नहीं कर सकता। दाँत में कुछ फँस गया, लो न उसे खबर पड़ी। ग्वार-ग्वार खाया हो, उसका रेशा फँस गया हो। मार्ग में तिनका पड़ा और उसमें सली लेने का मन हो तो सली ले ले, कुदरते हैं न कुदरते हैं न? कितने ही तो लोहे की सली साथ में रखते हैं। समझ में आया?

उनके ग्रहण का त्याग करने में अशक्त हैं.. अर्थात् क्या? सामान्य जनता के लिए मिट्टी, पानी, सली इत्यादि होते हैं न? उनके ग्रहण का त्याग करने को गृहस्थ असक्त है। **उन्हें भी हमेशा दूसरे के द्वारा दी हुई वस्तुओं के अलावा अन्य समस्त वस्तुओं के ग्रहण का त्याग करना चाहिए।** इसके अतिरिक्त दूसरी चीज़ें बिना दिये लेने का तो त्याग करना चाहिए। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

जिसे धर्मरुचि है, उसे....

जिसे धर्मरुचि है, उसे परिपूर्ण स्वभाव की रुचि है। उसे अन्य धर्मात्माओं के प्रति उपेक्षा, अनादर या ईर्ष्या नहीं हो सकती। यदि अपने से पहले कोई दूसरा केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध हो जाये तो उसे खेद नहीं होगा, किन्तु अन्तर से प्रमोद जागृत होगा कि अहो! धन्य है इस धर्मात्मा को! जो मुझे इष्ट है, वह इसने प्रगट किया है। मुझे इसकी रुचि है, आदर है, भाव है, चाह है। इस प्रकार अन्य जीवों की धर्मवृद्धि देखकर धर्मात्मा अपने धर्म की पूर्णता की भावना भाता है। इसलिए उसे अन्य धर्मात्माओं को देखकर हर्ष होता है, उल्लास होता है और इस प्रकार धर्म के प्रति आदरभाव होने से वह अपने धर्म की वृद्धि करके पूर्ण धर्म प्रगट करके सिद्ध हो जायेगा।

(—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

चोरी का (वर्णन) पूरा होता है, भावार्थ १०६ गाथा। **चोरी का त्याग भी दो प्रकार से है।** आत्मा के भानसहित की भूमिका में जो चारित्रदोष है, उसमें एक चोरी का दोष, उसके तयाग के दो प्रकार हैं। **एक सर्वथा त्याग और दूसरा एकदेश त्याग। सर्वथा त्याग तो मुनिधर्म में ही होता है, अतः वह बन सके तो अवश्य करना।** मुनिपना, चोरी का सर्वथा त्याग हो, करने योग्य तो यही है। बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रहरहित, भाव आनन्द के अनुभव का प्रचुर स्वसंवेदन - ऐसा जो भाव, वह अचौर्यभाव पहले करना चाहिए।

यदि कदाचित् न बने तो एकदेश त्याग तो अवश्य ही करना चाहिए। कदाचित् अपने पुरुषार्थ की कमी के कारण वह सर्वथा त्याग न बने तो एकदेश त्याग तो अवश्य करना। देशविरती की व्याख्या है न? **श्रावक कुआँ नदी आदि का पानी, खान की मिट्टी इत्यादि किसी के बिना पूछे भी ग्रहण कर ले तो उसका नाम चोरी नहीं है,...** वह चोरी नाम नहीं पाता, दुनिया के हिसाब से। दुनिया के हिसाब से - बाह्य के हिसाब से चोरी नाम नहीं पाता। **और यदि मुनि उन्हें ग्रहण कर ले तो चोरी कहलायेगी।** आभ्यन्तर लोकोत्तर दृष्टि की अपेक्षा से। समझ में आया? पानी और मिट्टी भी आज्ञा बिना नहीं ले।

गाथा - १०७

कुशील (अब्रह्म) का स्वरूप :-

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात्।।१०७।।

जो राग वेद संयोग से, मैथुन कहा अब्रम्ह वह।
सर्वत्र वध सद्भाव से, हिंसा वहाँ होती सतत।।१०७।।

अन्वयार्थ : (यत्) जो (वेदरागयोगात्) वेद के रागरूप योग से (मैथुनं) स्त्री-पुरुषों का सहवास (अभिधीयते) कहा जाता है (तत्) वह (अब्रह्म) अब्रह्म है और (तत्र) उस सहवास में (वधस्य) प्राणिवध का (सर्वत्र) सर्व स्थान में (सद्भावात्) सद्भाव होने से (हिंसा) हिंसा (अवतरति) होती है।

टीका : 'यत् वेदरागयोगात् मैथुनं अभिधीयते तत् अब्रह्म भवति तत्र हिंसा अवतरति (यत:) सर्वत्र वधस्य सद्भावात्'-स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद के परिणमनरूप रागभावसहित योग से मैथुन अर्थात् स्त्री-पुरुष का मिलकर कामसेवन करना कुशील है - (अब्रह्म है)। उस कुशील में हिंसा उत्पन्न होती है। कारण कि कुशील करने और करवानेवाले के सर्वत्र हिंसा का सद्भाव है।

भावार्थ : स्त्री की योनि, नाभि, कुच और काँख में मनुष्याकार संमूर्च्छन पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं; इसलिए स्त्री के साथ सहवास करने में द्रव्यहिंसा होती है तथा स्त्री और पुरुष दोनों के कामरूप परिणाम होते हैं, जिससे भावहिंसा होती है। शरीर की शिथिलतादि के निमित्त से अपने द्रव्यप्राण का घात होता है। परजीव स्त्री या पुरुष के विकारी परिणाम का कारण है अथवा उसको पीड़ा उत्पन्न होती है, उसके परिणाम विकारी होते हैं, इससे अन्य जीव के भावप्राण का घात होता है तथा मैथुन में बहुत जीव मरते हैं; इस तरह अन्य जीवों के द्रव्यप्राण का घात होता है।

गाथा १०७ पर प्रवचन

अब, **कुशील का स्वरूप...** तीन बोल हुए। हिंसा का त्याग, झूठ का त्याग और चोरी का त्याग। देशविरतीरूप से। अब कुशील।

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात्।।१०७।।

लो! सर्वत्र। यहाँ ऐसा शब्द प्रयोग किया। समझे न? हिंसा वहाँ सर्वत्र है। **जो वेद के रागरूप योग से..** विषय-वासना के राग के भाग से **स्त्री-पुरुषों का सहवास..** सहवास, साथ में बसना **कहा जाता है वह अब्रह्म है..** विषय की व्याख्या की। मैथुन,

जुड़ान, सहवास। **और उस सहवास में प्राणिवध का सर्व स्थान में..** सर्वत्र। **सद्भाव होने से हिंसा होती है।** सर्वत्र जहाँ-जहाँ विषय-वासना से सहवास हो, (वहाँ) सर्वत्र हिंसा होती है। हिंसा बिना हो नहीं सकता।

'यत् वेदरागयोगात् मैथुनं अभिधीयते तत् अब्रह्म भवति तत्र हिंसा अवतरति (यतः) सर्वत्र वधस्य सद्भावात्' - स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद के परिणमनरूप रागभाव सहित योग से मैथुन अर्थात् स्त्री-पुरुष का मिलकर कामसेवन करना कुशील है। रागभाव से वह राग ही होता है, उसमें और न हो - ऐसा नहीं - रागभाव के बिना हो - ऐसा नहीं है। इसलिए इसमें सर्वत्र शब्द प्रयोग करके ...निकाल दिया। **रागभाव सहित योग से मैथुन अर्थात् स्त्री-पुरुष का मिलकर कामसेवन करना कुशील है। (अब्रह्म है) उस कुशील में हिंसा उत्पन्न होती है।** भाव और द्रव्य दोनों हिंसा है। **कारण कि कुशील करने और करवानेवाले के सर्वत्र हिंसा का सद्भाव है।** सर्वत्र विषय में हिंसा होती है।

भावार्थ : स्त्री की योनि,... उत्पत्ति स्थान **नाभि,...** सर्वत्र जीवों का स्थान है - ऐसा कहते हैं। समझे न? **कुच और काँख में मनुष्याकार संमूर्च्छन पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं..** जहाँ हरित और चिकनाई का भाग है, वहाँ सब जगह असंज्ञी, मनुष्य के आकार के पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं। वीतराग के अतिरिक्त यह बात (अन्यत्र नहीं होती)। असंज्ञी। वे थोड़े उत्पन्न हों, वह अलग बात है, यह तो गर्भ के, गर्भज। ये तो असंज्ञी सम्मूर्च्छन उत्पन्न होते हैं, उनकी बात है। **इसलिए स्त्री के साथ सहवास करने में द्रव्यहिंसा होती है..** वे असंज्ञी सम्मूर्च्छन मनुष्याकार जीव होते हैं, उन सबका वहाँ संहार हो जाता है।

तथा स्त्री और पुरुष दोनों के कामरूप परिणाम होते हैं.. पहली द्रव्यहिंसा कही थी। **जिससे भावहिंसा होती है।** दोनों को वासना की तीव्रता आसक्ति (होती है), वही हिंसा है। राग की तीव्रता है वहाँ भोग में, वही हिंसा है। उसने अपनी हिंसा की। आहा..हा..! ब्रह्मानन्द भगवान आत्मा, उस ब्रह्म का जो आनन्द उत्पन्न होना चाहिए, वह आनन्द उत्पन्न न करके ऐसे राग की उत्पत्ति की, वही भावहिंसा है। कहो, समझ में आया?

शरीर की शिथिलतादि के निमित्त से अपने द्रव्यप्राण का घात होता है।

शरीर नरम पड़ जाये, वीर्यहीन हो जाये - इत्यादि हो जाता है न ? फीका शरीर हो जाता है। बहुत वीर्यपात आदि होने से शरीर की शिथिलता के निमित्त से अपने द्रव्यप्राण का भी घात होता है। वह प्राण मन्द / शिथिल हो जाता है। वह भी द्रव्यप्राण का घात होता है। अपना भावप्राण और द्रव्यप्राण, दोनों अपने।

परजीव स्त्री या पुरुष के विकारी परिणाम का कारण है... लो! विकार परिणाम का कारण है न ? अपने और पर के दोनों के परस्पर। **अथवा उसको पीड़ा उत्पन्न होती है, उसके परिणाम विकारी होते हैं, इससे अन्य जीव के भावप्राण का घात होता है तथा मैथुन में बहुत जीव मरते हैं, इस तरह अन्य जीवों के द्रव्यप्राण का घात होता है।** सामने के। सम्मूर्च्छन प्राणी मरते हैं न ? द्रव्यप्राण भी घात होते हैं। अपना भाव घात होता है और उसका द्रव्यप्राण भी घात होता है।

गाथा - १०८

मैथुन में प्रगटरूप हिंसा है :-

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत्।।१०८।।

तिलयुत नली में शलाका, अति तप्त डालें ज्यों भुनें।
त्यों योनि में स्थित अनेकों, जीव मैथुन में मरें।।१०८।।

अन्वयार्थ : (यद्वत्) जैसे (तिलनाल्यां) तिल से भरी हुई नली में (तप्तायसि विनिहिते) गरम लोहे की शलाका डालने से (तिलाः) तिल (हिंस्यन्ते) भुन जाते हैं (तद्वत्) वैसे ही (मैथुने) मैथुन के समय (योनौ) योनि में भी (बहवो जीवाः) बहुत से जीव (हिंस्यन्ते) मर जाते हैं।

टीका : 'यद्वत् तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते (सति) तिलाः हिंस्यन्ते तद्वत् योनौ मैथुने (कृते सति) बहवो जीवाः हिंस्यन्ते'-जैसे तिलों से भरी हुई बाँस की नली में अत्यन्त गरम की हुई लोहे की शलाका डाली जाय तो सब तिल भुन जाते हैं, उसी

प्रकार स्त्री के अंग में पुरुष के अंग से मैथुन करने पर योनिगत सर्व जीव तुरन्त ही मरण को प्राप्त होते हैं। यहीं प्रगटरूप से द्रव्यहिंसा है।।१०८।।

गाथा १०८ पर प्रवचन

मैथुन में प्रगटरूप हिंसा है :-

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत्।।१०८।।

जैसे तिल से भरी हुई नली में... तिल भरे हों नली में। **गरम लोहे की शलाका डालने से तिल भुन जाते हैं वैसे ही मैथुन के समय योनि में भी बहुत से जीव...** लाखों-करोड़ों उत्पन्न हुए हों, वे **मर जाते हैं।** उसमें गीलेपन के कारण जीव उत्पन्न होते हैं वे मर जाते हैं।

'यद्वत् तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते (सति) तिला: हिंस्यन्ते तद्वत् योनौ मैथुने (कृते सति) बहवो जीवा: हिंस्यन्ते' - जैसे तिलों से भरी हुई बाँस की नली में अत्यन्त गरम की हुई लोहे की शलाका डाली जाय तो सब तिल भुन जाते हैं उसी प्रकार स्त्री के अंग में पुरुष के अंग से मैथुन करने पर योनिगत सर्व जीव.. रहे हुए, उत्पन्न हुए **तुरन्त ही मरण को प्राप्त होते हैं। यहीं प्रगटरूप से द्रव्यहिंसा है।** इन सर्वज्ञ परमात्मा के अतिरिक्त यह बात अन्यत्र नहीं है। सर्वज्ञ ने देखा है कि जहाँ-जहाँ यह चिकनाई का भाग, वहाँ-वहाँ मनुष्याकार सम्मूर्छन जीव उत्पन्न होते हैं। तद्वर्णा। उनकी हिंसा विषय में होती है। इसलिए विषय में पाप ही है, हिंसा ही है। उसमें कहीं अपवाद नहीं है। समझ में आया ?

गाथा - १०९

कोई कहे कि अनंगक्रीड़ा में तो हिंसा नहीं होती। उससे कहते हैं :-

यदपि क्रियते किंचिन्मदनोद्रेकादनंगरमणादि।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्।।१०९।।

वर्तें अनंग क्रीड़ादि में, जो वासना आधिक्य से।
होती सदा हिंसा वहाँ, रागादि की उत्पत्ति से।।१०९।।

अन्वयार्थ : और (अपि) तदुपरान्त (मदनोद्रेकात्) काम की उत्कटता से (यत् किञ्चित्) जो कुछ (अनंगरमणादि) अनंगक्रीड़ा (क्रियते) की जाती है (तत्रापि) उसमें भी (रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्) रागादि की उत्पत्ति के कारण (हिंसा) हिंसा (भवति) होती है।

टीका : 'यत् अपि मदनोद्रेकात् अनंगरमणादि किंचित् क्रियते तत्रापि हिंसा भवति रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्'-जो जीव तीव्र चारित्रमोहकर्म के उदय से (उदय में संयुक्त होने से) तीव्र कामविकार होने के कारण अनंगक्रीड़ा (कामसेवन करने योग्य अंगों को छोड़कर अन्य अंगों द्वारा क्रीड़ा) करता है, वहाँ भी हिंसा होती है। कारण कि हिंसा का होना रागादि की उत्पत्ति के आधीन है। यदि रागादि न हों तो हिंसा कभी नहीं हो सकती। राग तीव्र न हो तो कामक्रीड़ा क्यों करे? इससे सिद्ध हुआ कि अनंगक्रीड़ा में भी हिंसा होती है।।१०९।।

गाथा १०९ पर प्रवचन

कोई कहे कि अनंगक्रीड़ा में तो हिंसा नहीं होती। जीवों की विशेष उत्पत्ति हो, वहाँ भले सहवास करने से पाप लगे, परन्तु यह दूसरे अंगों में कहाँ है ? तो कहते हैं, भाई! दूसरे अंगों में (क्रीड़ा) करने से राग की उत्पत्ति होती है; इसलिए राग की उत्पत्ति, वही हिंसा है।

यदपि क्रियते किंचिन्मदनोद्रेकादनंगरमणादि।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्।।१०९।।

लो! **और तदुपरान्त काम की उत्कटता से..** विषय की, राग की उत्कटता से **जो कुछ अनंगक्रीड़ा...** शरीर का वह अवयव छोड़कर दूसरे अवयव के साथ अनंगक्रीड़ा-रमणता की जावे, उसमें भी रागादि की उत्पत्ति के कारण - तीव प्रेम / राग के कारण हिंसा, हर्ष, रति ऐसी तीव्रता होने से हिंसा होती है। आत्मा की पर्याय में हिंसा होती है। कहो, समझ में आया? सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को भी यदि इस प्रकार रागादि हो तो उतनी हिंसा है - ऐसा कहते हैं। वह छुड़ाते हैं। समझ में आया? सम्यग्दृष्टि को भी, देशविरतिरूप से अपने स्त्री को न छोड़ सके (तो भी) अन्य दूसरी स्त्री आदि का त्याग करे - ऐसा अन्दर राग का भाव घटावे, उसका नाम विषय के त्याग की देशविरति कहने में आता है। कहो, समझ में आया?

टीका : जो जीव तीव्र चारित्रमोह कर्म के उदय से (उदय में संयुक्त होने से)... अर्थात् उदय से - इसका अर्थ यह है न, **'मोहोदयादुदीर्णो'** ऐसा है न? इस ओर १११ **'मोहोदयादुदीर्णो'** ऐसा कहा है। अर्थ ऐसा किया है, कर्म के उदय से उदय को प्राप्त होकर - ऐसी भाषा प्रयोग की है। देखो? कर्म के उदय से उदय प्राप्त। वहाँ उदय निमित्त है और उदय प्राप्त इस ओर है - ऐसा वहाँ लिया है। परिग्रह की १११ गाथा (में लिया है)। क्योंकि **'मोहोदयादुदीर्णो'** ऐसा है न? क्योंकि मोह का उदय तो है, परन्तु यहाँ उदीरणा उल्टा पुरुषार्थ किया, तब उसे भाव हुआ है। समझ में आया? ऐसे प्रत्येक में ऐसा लेना। यह शब्द यहाँ भले लागू किया। **'मोहोदयादुदीर्णो'** ऐसे मोह का भले वहाँ उदय हो, परन्तु यहाँ उल्टा पुरुषार्थ करके उदीरणा करता है, तब उसे राग-द्वेषादि होते हैं। कोई कर्म का उदय है, इसलिए राग-द्वेषादि होते हैं - ऐसा नहीं। देखो! पाठ ही इस प्रकार का है, हों! वैसा यहाँ ले लेना।

तीव्र चारित्रमोह के उदय में उदीरणा से अर्थात् अपने उल्टे पुरुषार्थ से। **तीव्र कामविकार होने के कारण...** यह तो है वह है, अब यहाँ उदीरणा स्वयं पुरुषार्थ की विपरीतता से करता है। राग, राग, राग, रति, हास्य इत्यादि भाव को अनंगक्रीड़ा में भी उत्पन्न करता है, ऐसा कहते हैं **अनंगक्रीड़ा (कामसेवन करने योग्य अंगों को छोड़कर**

अन्य अंगों द्वारा क्रीड़ा) करता है, वहाँ भी हिंसा होती है। ओहो..हो..! यहाँ तो राग की उत्पत्ति को ही हिंसा (कहकर) एक ही सिद्धान्त सर्वत्र सिद्ध करते हैं। भगवान आत्मा ज्ञानमूर्ति चैतन्य आनन्द और शुद्धस्वभाव, बस! उसके अन्तर में उत्पत्ति शुद्ध आनन्द आदि की होना, उसे भी अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहपना उसे ही कहते हैं। समझ में आया? उससे विरुद्ध रागादिभाव, उसे ही हिंसा, उसे झूठ, उसे चोरी, उसे कुशील, और उसे मूर्च्छा और उसे परिग्रह (कहते हैं)। आहा..हा..! बाह्य कहेंगे...

यह तो अब आयेगा। छोड़कर आया था।... बाह्यप्राण है। बाह्यप्राण है। निमित्त है न? निमित्त लेना है। परिग्रह में भी लेंगे, बाह्यनिमित्त है न, निमित्त है, निमित्त के आश्रय से ममता होती है, निमित्त के आश्रय से राग होता है। निमित्त कराता नहीं परन्तु उसके आश्रय से होता है। समझ में आया?

कारण कि हिंसा का होना रागादि की उत्पत्ति के आधीन है। आत्मा का स्वभाव अत्यन्त वीतरागस्वरूप है। उसमें राग की उत्पत्ति होना, वही हिंसा है। आहा..! कहाँ जगत को क्या करना है अभी? मकान बनाना, पैसे इकट्ठे करना, ऐसा करना... कहते हैं कि भाव कर सकता है। वह पाप है, हिंसा है। पैसा-वैसा कोई इकट्ठा नहीं कर सकता। **हिंसा का होना रागादि की उत्पत्ति के आधीन है।** है न? **'रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्' 'तन्त्रत्वात्'** का क्या किया? तारने तन्त्र, स्वतन्त्र, स्व के कारण से, राग के कारण से। **इससे सिद्ध हुआ कि अनंगक्रीड़ा में भी हिंसा होती है।** दूसरे अवयव के साथ भी सहवास, संग, रमण, करने से राग ही होता है और राग वह हिंसा है। आहा..हा..!

दृष्टि में तो जब से हुआ तब से सब त्याग ही किया है कि यह राग मेरा नहीं, आदरणीय नहीं, आचरण करनेयोग्य नहीं। समझ में आया? विकल्पमात्र मेरा स्वरूप नहीं। इस दृष्टि में तो उसका त्याग ही है। यह स्थिरता-अस्थिरता के बीच की बात चलती है। समझ में आया? दृष्टि में तो इन पाँचों पाप के परिणाम आदि का त्याग ही है, वे मेरे स्वरूप में नहीं और मुझे वे आश्रय करनेयोग्य नहीं, आश्रय करनेयोग्य वस्तु द्रव्य ध्रुव है। एक ही मेरे लिये आत्मा ध्रुव है, बाकी सब अध्रुव है। आता है न? प्रवचनसार। बहुत बातें कह गये हैं आचार्य तो। ओहो..हो..!

एक ही ध्रुव.. ध्रुव.. ध्रुव.. वज्र का स्तम्भ जैसे होता है, वैसे मैं चैतन्य ध्रुव सत्, जगत के किसी पदार्थ के आधार बिना आकाश में अद्धर रहा हुआ। कहो, यह.. चाहे जहाँ रहा हुआ वह अनाधार से रहा है। ऐसा सत्त्व, चैतन्य सत्त्व, ऐसे अन्तर बाह्य किसी भी आधार बिना रहा हुआ, जहाँ रहा वहाँ अपने आधार से वहाँ रहा हुआ है। कहो, शरीर के कारण नहीं, राग के कारण नहीं, कर्म के कारण नहीं। आकाश तो कहीं रह गया। यह तो निकट में लोग ऐसा देखते हैं न? आकाश के कारण नहीं।

मुमुक्षु : आकाश तो सबको (स्थान) देता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : अवगाहन देता है, यह तो निमित्त से बात है। स्वयं ही अपने अवगाहन को प्राप्त करता है, वही इसका स्वभाव है। निमित्तरूप से रहा, परन्तु निमित्त अर्थात् वह तो पृथक्पने को बतलाता है। स्वयं जहाँ हो, वहाँ ज्ञानमूर्ति वस्तु सत् अपने स्वभावरूप से निराधार, पर के आधार बिना अपना तत्त्व रहा है। ऐसा ध्रुव एक ही वस्तु है, बाकी दूसरा सब अध्रुव। राग-द्वेष के परिणाम भी अध्रुव। कहो समझ में आया? ऐसे ध्रुव का आश्रय लेकर जो अहिंसा, अरागी दशा आदि प्रगट होते हैं। वही अहिंसा, सत्य, दत्त आदि कहने में आते हैं। उसके लिये यह बात की है। समझ में आया?

रागादि न हों तो हिंसा कभी नहीं हो सकती। इससे सिद्ध हुआ कि अनंगक्रीड़ा में भी हिंसा होती है। अहो! भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप है—ऐसी दृष्टि, अनुभव, भान होने पर भी, कहते हैं कि आनन्द में से हटकर जितना रागादि उत्पन्न करता है, वह सब हिंसा है। कहो, समझ में आया? आहा..हा..! हिंसा तो रागादि की उत्पत्ति के आधीन है, रागादि न हो तो हिंसा नहीं हो सकती, अस्ति-नास्ति की है। रागादि हो वहाँ हिंसा है और रागादि न हो वहाँ हिंसा नहीं है। यह पूरा सिद्धान्त है। स्वयं शुभराग करे और दूसरा जीव बचे, यह बात तो कहीं रही। शुभराग हुआ, वही हिंसा है, शुद्धोपयोग की हिंसा हुई। परम फलदायक मार्ग तो ऐसा ही होता है। परम आनन्द का दाता, परम आनन्द का दाता धर्म.. शुद्ध स्वभाव को अवलम्बन करके जितनी निर्मलदशा होती है, वही मोक्ष का मार्ग है, वही वास्तव में अहिंसा आदि है। समझ में आया? **इससे सिद्ध हुआ कि अनंगक्रीड़ा में भी हिंसा होती है।**

गाथा - ११०

कुशील के त्याग का क्रम

ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात्।
नि:शेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम्।।११०।।

जो मोहवश स्व स्त्री के, त्याग में असमर्थ हैं।
वे शेष सब स्त्रिओं का, सेवन सदा ही त्याग दें।।११०।।

अन्वयार्थ : (ये) जो जीव (मोहात्) मोह के कारण (निजकलत्रमात्रं) अपनी विवाहिता स्त्री को ही (परिहर्तुं) छोड़ने में (हि) निश्चय से (न शक्नुवन्ति) समर्थ नहीं है (तै:) उन्हें (नि:शेषशेषयोषिन्निवेषणं अपि) बाकी की समस्त स्त्रियों का सेवन तो कदापि (न) नहीं (कार्यम्) करना चाहिए।

टीका : 'ये (जीवा:) हि मोहात् निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं हि न शक्नुवन्ति तैरपि नि:शेषशेषयोषिन्निषेवणं न कार्यम्' - जो जीव अप्रत्याख्यानावरण चारित्रमोहनीय के उदय से (उदयवश) अपनी विवाहिता स्त्री को छोड़ने में समर्थ नहीं हैं, उन्हें भी (अपनी विवाहिता स्त्री के अलावा) संसार की अन्य समस्त स्त्रियों के साथ कामसेवन नहीं करना चाहिए और अपनी विवाहिता स्त्री में ही सन्तोष रखना चाहिए। यह एकदेश ब्रह्मचर्यव्रत है। सर्वथा त्याग तो मुनिधर्म में है। स्त्री मात्र के साथ कामसेवन करने का त्याग करना महाव्रत है।।११०।।

गाथा ११० पर प्रवचन

कुशील के त्याग का क्रम

ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात्।
नि:शेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम्।।११०।।

जो जीव मोह के कारण... अपनी ममता के कारण समकितदृष्टि को भी। ममता

मेरा स्वरूप नहीं, ममता में मैं नहीं, ममता से विरक्त हुई दृष्टि भी, पर्याय में ममता के कारण, **अपनी विवाहिता स्त्री को ही छोड़ने में निश्चय से समर्थ नहीं है...** अपनी विवाहित स्त्री को छोड़ने में समर्थ नहीं। उसे **'निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं' उन्हें बाकी की समस्त स्त्रियों का सेवन तो कदापि 'न' 'कार्यम्' नहीं करना चाहिए।** समझ में आया?

'ये (जीवाः) हि मोहात् निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं हि न शक्नुवन्ति तैरपि निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं न कार्यम्'-जो जीव अप्रत्याख्यानावरण चारित्रमोहनीय के उदय से... उदय का अर्थ यह, उदय का अर्थ किया कि उदय है, वहाँ जुड़ता है, पुरुषार्थ उल्टा करता है। उदय से, उदय को प्राप्त। उदय उसे प्राप्त हुआ है, जुड़ गया है। कर्म से होता है, कर्म से होता है... वापस वे कहें कि सोनगढ़वाले अर्थ बदलते हैं। भाई, भगवान! अर्थ नहीं बदलते। कर्म का उदयमात्र बन्ध का कारण हो तब तो हो गया.. उदय तो सबको है और कर्म का उदयमात्र विकार करावे तो फिर सबको उदय से विकार हुआ ही करे। उसे टालने का कुछ रहे नहीं।

कर्म का उदय तो अजीव पर्याय हुई, अजीव पर्याय के कारण आस्रव पर्याय होती है? अजीव तत्त्व के कारण आस्रवतत्त्व होता है? तब तो दो तत्त्व एक हो गये। यह तो अजीव तत्त्व है, कर्म का उदय तो अजीव की पर्याय, अजीवतत्त्व है। यहाँ उसके वश होकर-आधीन होता है, एकाग्र (होता है) समझ में आया? यह बड़ा विवाद वे निकालते हैं। कर्म से विकार मानते नहीं, शास्त्रकार कर्म से विकार कहते हैं - ऐसा कहते हैं, लो! मूल में से भूल है उनकी। गिनती की भूल, पहले से गिनती की भूल। आत्मा ज्ञायकतत्त्व है, कर्म अजीवतत्त्व है और बीच में आस्रवतत्त्व खड़ा होता है, वह अपने स्वरूप में से हटकर निमित्त के आधीन होता है, तब बीच का तत्त्व खड़ा होता है। स्वभाव के आश्रय में हो तो यह खड़ा नहीं होता, हो गया, सीधी बात है। समझ में आया?

अपनी विवाहिता स्त्री को छोड़ने में समर्थ नहीं हैं... क्या? ममता के परिणाम हैं इतने, चारित्रमोह के उदय में उसके वश हो गयी इतनी ममता, दशा आस्रवतत्त्व की है। वह छोड़ने की शक्ति नहीं है। **उन्हें भी (अपनी विवाहिता स्त्री के अलावा) संसार की अन्य समस्त स्त्रियों के साथ कामसेवन नहीं करना चाहिए...** सहवास नहीं करना **और अपनी विवाहिता स्त्री में ही सन्तोष रखना चाहिए।** यहाँ देशविरति

की व्याख्या है न! **यह एकदेश ब्रह्मचर्यव्रत है,..** देखा? एकदेश ब्रह्मचर्यव्रत है। ब्रह्म अर्थात् भगवान आनन्दस्वरूप है, ऐसी दृष्टि होने पर भी ब्रह्मानन्द में स्थिर न रह सके और अमुक देश का त्याग हो, अमुक का न हो तो उसे देशविरति कहा जाता है। **स्त्री मात्र के साथ कामसेवन करने का त्याग करना महाव्रत है।**

मुनि को नौ-नौ कोटि से उसका विकलप नहीं हो सकता। भानसहित, हों! आनन्दस्वरूप मैं हूँ - ऐसे भानसहित आनन्द में स्थिरता होना और दु:ख के राग की उत्पत्ति सर्वथा न होना, उसे सर्वविरति मुनिपना कहते हैं। उसे सर्वविरति मुनिपना कहते हैं। समझ में आया?

बाह्य से त्याग किया परन्तु अन्दर वस्तु है, मिथ्यात्व का त्याग हुआ नहीं। अब मिथ्यात्व वह मूल हिंसा, झूठ, विषय, चोरी, परिग्रह तो वह है। समझ में आया? जो तत्त्व इसमें नहीं, ऐसा रागतत्त्व / आस्रवतत्त्व को जिसने पकड़ा है, उसने तो सब मिथ्यात्व आदि तत्त्व सब उसके पास खड़े हैं। कहो, वह फिर बाह्य का त्याग कहाँ है? वह तो बाह्य का त्याग ही था। यहाँ स्वभाव के आश्रय से राग घटे और जितना घटा, उतना निमित्त का अवलम्बन जाये, उतना बाह्यत्याग किया, ऐसा असद्भूतव्यवहार से कहा जाता है। इसे तो कुछ नहीं होता और बाह्यत्याग हुआ तो क्या त्याग हुआ? मूल आदर तो स्वभाव का हुआ नहीं और मिथ्यात्व का त्याग हुआ नहीं। समझ में आया? गजब बात!

अणुव्रत.. परन्तु अणुव्रत किसे? यह देशविरति आया न यह? समझ में आया? पाँच अणुव्रत लेता है न? अणुव्रत आन्दोलन, अणुव्रत अणुशिक्षा। किसका अणुव्रत परन्तु? अणुव्रत उसे होते हैं कि जिसमें से दु:ख की उत्पत्ति और राग की उत्पत्ति न हो, ऐसा जो द्रव्य, ऐसा जो द्रव्य, ऐसे द्रव्य की जिसे दृष्टि हुई है, उसे अब अधिक आनन्द और शान्ति शक्ति में से प्रगट करने के लिये.. समझ में आया? जो राग का आंशिक त्याग और आंशिकस्वरूप में स्थिरता (होवे), उसे अणुव्रत कहा जाता है। कहो, दीपचन्दजी! यह अणुव्रत की व्याख्या। वे कहें अणुव्रत ले लो, ले लो अणुव्रत सब। अणुव्रत विहार।

मुमुक्षु : वे मिथ्यादृष्टि के अणुव्रत।

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यादृष्टि के अणुव्रत कैसे? यह तो पहले कहा, कि जो वस्तु

है, उसमें आनन्द है, ऐसा भान हुआ नहीं; और फिर स्थिरता करता है उसमें। अणुव्रत का अर्थ है कि उसमें स्थिरता करता है - ऐसा हुआ न? अणुव्रत की व्याख्या क्या? कुछ स्थिरता है और कुछ स्थिरता नहीं, परन्तु कहाँ? अणुव्रत की व्याख्या कि थोड़ा राग का त्याग और थोड़ा त्याग नहीं। तब किसमें त्याग करके किसमें स्थिर हुआ है? राग का आंशिक त्याग-ऐसा कहने से स्थिरता हुई थोड़ी सी। तो वह स्थिरता होने की चीज़ देखी नहीं, उसमें स्थिरता कहाँ से आयेगी? श्रद्धा में चीज ही देखी नहीं, देखी नहीं, श्रद्धा नहीं की, मानी नहीं, आयी नहीं, प्राप्त नहीं हुई। बराबर होगा? मोहनभाई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु कहाँ इसके बिना निभाया है, इसके अभाव में तो निभाया है। कहो, इसके अभाव में तो अनादि के निभाया है। अब इसमें इसके थोड़े से निभावे यह बात ही कहाँ है, इसके अन्दर? राग के अभाव के बिना निभाया नहीं, उसे राग के भाव के बिना निभावे, तब इसकी दृष्टि हो। समझ में आया? फिर राग का, अस्थिरता का भाग छोड़कर निभावे, तब इसे स्थिरता चारित्र हो। क्या कहा? आत्मा ने परद्रव्य के अभाव से ही अनादि से निभाया है। अर्थात् क्या? कि टिकाया है, लो! रोडव्यूं काठियावाड़ी भाषा है। अनादि से परद्रव्य के अभाव से ही आत्मा निभ, टिक, अस्तित्वरूप रहा है। अब इसे परद्रव्य के अभाव से निभाना, यह बात कहाँ है इसमें?

मुमुक्षु : ... ९० लाख छोड़ दिये।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु लाख कहाँ इसके थे? एक भी लाख कभी था? उसके अभाव से ही स्वयं है। अब यह तो ठीक, परन्तु राग के अभाव से त्रिकाल है। राग के अभाव से त्रिकाल है, उसकी जब दृष्टि हो, तब उस राग के अभावरूप है, ऐसा अनुभव हुआ, तब फिर जो राग बाकी रहा, उसमें स्थिरता के अंश से राग जरा घटाया, तब उसे अणुव्रत कहने में आता है। स्थिरता करके, विशेष स्थिरता करके राग सर्वथा घटावे, (वह) सर्वविरति मुनि कहलाता है।

मुमुक्षु : तुमने... ली और हमने बाहर से ली।

पूज्य गुरुदेवश्री : तुम अन्तर में लो, यह कहे बाहर से ली। विपरीत माप से मापा

एक व्यक्ति ने, उल्टा नहीं आड़ा। वह कहे सुल्टे माप से मापो और तुम आड़े माप से (मापते हो), अन्तर इतना। आड़े माप में दाना भी नहीं आवे। माणा समझते हो? माप होता है न? माप, दाने का। पाली, पाली जो है न? ऐसे आड़ी रखे तो? तिरछी, तिरछी। एक दाना भी न रहे। अणुव्रत का अर्थ यह है न, कुछ छोड़ना है न? थोड़ा छोड़ना है? पररहित हो तो पररहित रह सके। राग और पररहित है, ऐसी दृष्टि हो तो फिर राग आंशिक घटा कर स्थिरता में आकर आंशिक राग बिना रह सकता है। वस्तु का तो कुछ भान नहीं होता और राग छोड़कर रहे हैं... परन्तु तू कहाँ रहा? रहा कहाँ?

मुमुक्षु : राग में।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग छोड़कर राग में रहा तो वस्तु कहाँ हुई?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें कहाँ है? कुछ नहीं, विकल्प नहीं। उदयभाव कहाँ है? पारिणामिकभाव तत्त्व में उदयभाव कहाँ आया? समझ में आया? ऐसा जो भाव जो उदयभावरहित तत्त्व है, ऐसा अन्दर अनुभव दृष्टि उससे भिन्न पड़कर हुए बिना, अस्थिरता छोड़कर स्थिरता इसमें आये बिना अस्थिरता छूटे किस प्रकार? अद्धर और अद्धर अणुव्रत तथा अद्धर और अद्धर महाव्रत। इसका अर्थ किया?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे वस्तु वहाँ है ही नहीं।

मुमुक्षु : हम क्या कर सकते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या करे क्या? दृष्टि करना। यह करना अन्दर में। बारम्बार विचार, मन्थन। आत्मा ऐसा है, ध्रुव है, चैतन्य है। उस वीर्य को बारम्बार इस ओर झुकाना, शास्त्र में से वाँचन करते हुए, प्रवचन करते हुए, तर्क करते हुए, प्रश्न करते हुए, इस वस्तु की ओर झुकाव को मोड़ना, यह करना नहीं है? यह करना सूझता नहीं। कुछ करना है अभी। आहा..! ये राग घटाने का करना और यह करना - यह सब करना वस्तु में कहाँ है? समझ में आया? प्रभु का मार्ग है शूरों का नहीं कायर का काम। ऐसा मार्ग है, भाई! समझ में आया?

परन्तु वस्तु है वह वस्तु है, उसमें जहाँ स्थिर होना है। तो वस्तु है—ऐसी दृष्टि हुए बिना स्थिर होना किस प्रकार? अथवा वस्तु है, उसके भान बिना अस्थिरता मिटेगी किसके आश्रय से? समझ में आया? कहीं पैर रखने का हो तो यहाँ से पैर उठे; इसी प्रकार राग से अस्थिरता छोड़नी है तो कुछ वस्तु है, ध्रुव चैतन्य आनन्दकन्द वस्तु है, ऐसी ध्रुवता के भान बिना स्थिर कहाँ हो? कहो, न्यालचन्दभाई!

राग में स्थिर हुआ है। वस्तु जो स्थिर होने का स्थान है, वह तो देखा और जाना नहीं, माना नहीं। क्यों, जगजीवनभाई! ये सब थे न उसमें। वह गया, उसकी बात नहीं, कहाँ गया? धर्मचन्दभाई! यह तो एक पूर्व की मात्र यादगिरि की बात है। वे पहले पक्के थे, हों! सामायिक और चतुर्विध रात्रि-आहार का त्याग और इन सब क्रियाकाण्ड में। छोटी उम्र से। पूर्व में आये तब सुनते थे, मैं वहाँ था। आये हैं वे तो ऐसे हैं और ऐसे हैं और... चतुर्विध रात्रि-आहार का त्याग करते हैं ऐसा सुना था तब, (संवत्) १९६८ के साल, नहीं? १९६९। तब वहाँ मैं था न? आठ महीने 'गडढा'। वधु का जो वर आता है, ये ऐसे हैं सब। कि रात्रि चतुर्विध आहार का त्याग करते हैं। विवाह करे उस दिन चतुर्विध रात्रि-आहार का त्याग करे, ऐसा सुना है।

मुमुक्षु : कीमत हो गयी न! वर की कितनी हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह बात तो की थी, बात हुई थी। फिर जीमने का तो सबके साथ, मुझे भी कहे न साथ में। मैं तो जीमने गया था। आहा..! वह भी आत्मा कहाँ? आत्मा में यह छोड़कर, छोड़कर कहीं टिकना है या नहीं? छोड़कर कहीं टिकना, परन्तु छोड़कर कहाँ टिकना, उस चीज़ की तो कुछ खबर नहीं होती। कहाँ टिकना और कहाँ छोड़ना, यह तो कुछ खबर, भान नहीं होता। कहो, भगवानभाई! इन भगवानभाई ने अभी तक यह ७०-७५ वर्ष उसमें निकाले हैं। यह तो दृष्टान्त है। आहा..हा..!

यहाँ पहली चीज़ वस्तु, जिसमें टिकने से.. राग में टिकता था, उसे यहाँ टिकने से वह राग मुझमें नहीं है। इस प्रकार भ्रान्ति का नाश हो और फिर यहाँ टिकने से राग की अस्थिरता मिटे, तब राग का त्याग ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। तब इसके अवलम्बनवाले पदार्थों का लक्ष्य छूट गया तो इसने ऐसा त्याग किया, यह असद्भूतव्यवहार-

झूठे नय से कहने में आता है। कहो, प्रवीणभाई! आहा..हा..! यह तो 'दया वह सुख की बेलड़ी, दया वह सुख की खान' - तुम्हारे लिखा था न? 'अनन्त जीव मुक्ति गये...' परन्तु कौन सी दया? शुद्धोपयोगरूपी दया। अपने आ गया है इसमें? पहली तो सम्यग्दर्शनरूपी दया, कि आत्मा को जीवता जैसा है, ऐसा भान में लिया। वरना तो मार डाला था। मैं रागवाला और पुण्यवाला और अल्पज्ञ.. समझ में आया? जैसा इसका जीवन अर्थात् टिकना जिस प्रकार से है, उस प्रकार से अनुभव में, प्रतीति में लिया, तब सम्यग्दर्शन ने जीवित रखा। समझ में आया? मिथ्यादर्शन ने तो जीव को मार डाला था। यह ऐसा मैं नहीं, यह मैं नहीं, यह मैं नहीं, राग हूँ वह मैं हूँ, अल्पज्ञता वह मैं हूँ, पर का कर्ता वह मैं हूँ— इस मिथ्या श्रद्धा ने जीव को मार डाला था। आहा..हा..! कहो, पोपटभाई! ऐसी व्याख्या है भाई! यह। आहा..!

दुनिया से निकलने का मार्ग ही अलग होता है न! और वह सादि-अनन्त.. आहा..हा..! 'सादि अनन्त, अनन्त समाधि सुख में; अनन्त दर्शनज्ञानसहित...' ऐसी जो दशा, जिसमें से निकलती है, उसके-मोक्ष के कारणरूप भी पर्याय उसमें से निकले - ऐसे द्रव्य के अन्तर के भान बिना उसे त्याग क्या? उसे व्रत क्या? वस्तु तो यह है। यह देखो न! यहाँ हिंसा, हिंसा करके सब बात स्थापित करते हैं। आहा..हा..!

अहिंसा का फल तो मोक्ष है, अहिंसा तो संवर-निर्जरा है। समझ में आया? वह अहिंसा, इस आत्मा के स्वभाव की पहली ध्रुव.. ध्रुव.. ध्रुव.. ध्रुव.. ध्रुव.. वस्तु शाश्वत्, शाश्वत् उसका अवलम्बन लिया (तो) दर्शन ने शाश्वत् जीवित किया। समझ में आया? पश्चात् स्थिरता में। अन्दर में स्थिरता होने से जितना राग को घटाकर यहाँ स्थिर हुआ, उतना उसे अणुव्रत कहा जाता है, विशेष स्थिर हुआ तो सर्वविरति हुआ। शुक्लध्यान की दशा जम गयी (तो) केवलज्ञान (हुआ)। ज्ञान के आश्रय के हीनाधिकतारूप स्थिरता के अंश हैं न! यहाँ कम आश्रय तो अस्थिरता अधिक। अधिक आश्रय तो स्थिरता कम, अधिक आश्रय तो स्थिरता थोड़ी - ऐसे जहाँ आश्रय पूर्ण हुआ और शुक्लध्यान आदि किया तो एकदम स्थिरता हुई, एकदम केवल (ज्ञान प्रगट हुआ)। समझ में आया?

अब यह बात सुने नहीं। सुनना (मिले), उसे ऐसा लगता है कि यह तो बहुत ऊँची बात है। ऊँची है नहीं। जो है, उस सत्य की (बात) यह है। आहा..हा..! इस प्रकार से होता

नहीं, तो फिर किस प्रकार से होता है तब ? दूसरे प्रकार से कुछ बैठना चाहिए न मस्तिष्क में ? वस्तु तो यहाँ कहते हैं, देखो न ! यदि तू अपनी स्त्री का त्याग न कर सके तो इस प्रकार से इतना राग-द्वेष विरतिपने तो छोड़ना चाहिए।

दोपहर की व्याख्या में (ऐसा आवे कि) सम्यक्त्वी को आस्रव और बन्ध है नहीं। एकदम दृष्टि के विषय का जोर बताकर (कहते हैं)। यहाँ समय-समय की स्थिरता.. स्थिरता.. स्थिरता.. स्थिरता.. स्थिरता.. स्थिरता का यहाँ ज्ञान कराते हैं। समझ में आया ? अविरतीभाव होवे तो उसे स्थिरता नहीं। अनन्तानुबन्धी है न, अनन्तानुबन्धी के राग-द्वेष हैं न, अनन्तानुबन्धी का कल कहा था, और अनन्तानुबन्धी का चालीस कोड़ाकोड़ी... उसका (दर्शनमोह का) सत्तर कोड़ाकोड़ी, दोनों का समान कहाँ से आया ?

मुमुक्षु : अन्दर फिर सार क्या, यह खबर नहीं पड़ी।

पूज्य गुरुदेवश्री : उस सार का अर्थ यह कि स्वरूप की दृष्टि जो महा विपरीत थी, वह टली, तो उसकी स्थिति लम्बी थी तो यहाँ महा भगवान पूरा बड़ा दर्शन में प्राप्त हुआ।... टूट गयी स्थिति तो.. तो उसके साथ सामान्य अंश के साथ दृष्टि के साथ थोड़े अंश में स्थिर हुआ। स्थिर हुआ, वह स्वरूप का चारित्र है। पच्चीस प्रकृतियाँ चारित्र की हैं, उसमें वे चार टली, उतना चारित्र प्रगट हुआ है। चारित्र होता ही है अन्दर।

सामान्य वस्तु के आश्रय दृष्टि जो सामान्य है, उसका विषय सामान्य है तो उसके साथ विशेष स्वयं दृष्टि पर्याय है भले, परन्तु वह निर्विकल्प है, उसका विषय अखण्ड अभेद है, उसकी जब दृष्टि हुई तो तब कुछ टिका, तब हुई या नहीं ? टिके बिना हुई थोड़ी ? टिका वह स्थिरता है साथ में। वह स्वरूपाचरण है, इसमें आयेगा आगे। लिखा है स्वयं, हों ! अपने को स्वरूपाचरण। अनन्तानुबन्धी के अभाव से स्वरूपाचरणचारित्र। कहीं है अवश्य, लिखा है कहीं, हों ! आगे, आया टलते, टलते। ९८ देखो।

सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरणचारित्र का घात करता है। देखो ! यह ९८ वें में है। १२६ गाथा में है, देखो ! है। अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का अभाव होने से स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होता है, देखो ! किये हैं, चिह्न किये हैं अन्दर। भावार्थ में है। मोहनीयकर्म के दो भेद हैं... १७१ पृष्ठ पर है। दर्शनमोह, चारित्रमोह। दर्शनमोह के उदय से मिथ्यादर्शन होता है, चारित्रमोह के उदय से मिथ्याचारित्र होता है। देखा ! जितना उस कषाय का अभाव होता

जाता है, उतना-उतना उसे सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का विकास होता जाता है। जैसे कि सम्यग्दर्शनमोहनीय का अभाव होने से सम्यग्दर्शन होता है और अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का अभाव होने से स्वरूपाचरणचारित्र होता है। प्रत्याख्यान चौकड़ी का अभाव होने से देशचारित्र प्रगट होता है। देखो! सब भेद रखे हैं। अरे! मार डाला। पढ़े का(ज्ञान का) अभिमान अन्दर मार्ग होने नहीं देता। कुछ जाना, कुछ याद भी रह गया बहुत, धवल दस-दस घण्टे पड़े तो याद रहे। निगोद का निकला ग्यारह अंग, नौ पूर्व नहीं पढ़ता? नया पठन करता है। उससे क्या हुआ? उससे क्या हुआ? चैतन्यवस्तु भगवान वह ज्ञानस्वभाव, उसके अन्तर अनुभव बिना, उसकी दृष्टि बिना ज्ञान ही कहाँ कहा जाता है? समझ में आया? यह ११०। सर्वथा त्याग करे तो ब्रह्मचर्य महाव्रत कहलाता है, एक अंश त्याग करे तो अणुव्रत कहलाता है। लो! यह कुशील की बात पूरी हुई।

गाथा - १११

परिग्रह पाप का स्वरूप

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः।।१११।।

जो मूर्छा मय भाव यह ही, परिग्रह यों जानना।
नित मोहोदय से व्यक्त, ममता भाव मूर्छा मानना।।१११।।

अन्वयार्थ : (इयं) यह (या) जो (मूर्च्छा नाम) मूर्च्छा है (एषः) इसे ही (हि) निश्चय से (परिग्रहः) परिग्रह (विज्ञातव्यः) जानना चाहिए (तु) और (मोहोदयात्) मोह के उदय से (उदीर्णः) उत्पन्न हुआ (ममत्वपरिणामः) ममत्वरूप परिणाम ही (मूर्च्छा) मूर्च्छा है।

टीका : 'या इयं मूर्च्छा नाम हि एषः परिग्रहः विज्ञातव्यः तु (पुनः) मोहोदयात् उदीर्णः ममत्वपरिणाम मूर्च्छा (अस्ति)' - हे भव्य जीवों! इस मूर्च्छा को ही निश्चय से परिग्रह जानो। मूर्च्छा किसे कहते हैं? चारित्रमोहनीयकर्म के उदय से उदय को प्राप्त हुआ जो ममत्वपरिणाम (अर्थात् यह मेरा है, ऐसा परिणाम) है, वही मूर्च्छा है।।१११।।

गाथा १११ पर प्रवचन

परिग्रह पाप का स्वरूप। अब पाँचवाँ, पाँचवाँ पाप।

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः।।१११।।

यह जो मूर्च्छा है, इसे ही निश्चय से परिग्रह जानना चाहिए.. यह जो मूर्च्छा है, यह मूर्च्छा कहो या ममता कहो, उसे परिग्रह जानना चाहिए। **और मोह के उदय से..** देखो **'उदीर्णः' उत्पन्न हुआ...** वह निमित्त है, उत्पन्न हुआ आत्मा में भाव, उदय प्राप्त **ममत्वरूप परिणाम ही मूर्च्छा है।** लो, यह ममत्व परिणाम ही मूर्च्छा है।

मुमुक्षु : वस्तु रखे परन्तु ममत्व न हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा होता ही नहीं तीन काल में। ममता न हो, उसे वस्त्र हों, - (ऐसा) होता नहीं। वस्त्र है, उनकी ममता है, तब वे वस्त्र यहाँ खड़े होते हैं। समझ में आया? वहाँ इतना मूर्च्छा है। वस्त्र, पात्र रखने की मूर्च्छा है और परिग्रह है, वे अपरिग्रही मुनि नहीं हो सकते। अस्थिरता की बात है न? ऐसे तो अपरिग्रह वस्तु ही है। राग की जहाँ पकड़ नहीं, वह तो दृष्टि में से सब छूट गया है, अब स्थिरता में? समझ में आया? पहले तो उस विकल्प से भी छूट गया है सब, वस्तु है ही नहीं, अकेला परिग्रहरहित निष्परिग्रह आत्मा ही वस्तु है परन्तु अब पर्याय में स्थिरता-अस्थिरता की अपेक्षा से? चारित्र की रमणता जितनी उग्रता हो तो उसे वह वस्त्र-पात्र लेने का भी ममत्वभाव नहीं होता, तब मुनिपना सच्चा होता है; नहीं तो मुनिपना नहीं हो सकता। यहाँ तो ऐसा लिया है कि मुनिपने में ही वस्त्र रखकर मुनिपना मनावे, माने, माननेवाले को भला जाने, वह गति को-निगोद को साधता है।

मुमुक्षु : फिर भले वहाँ से देव में जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भले जाये, वहाँ से जाकर भी वहाँ निगोद में जानेवाला है। वह तो बीच में धर्मशाला हुई। स्थान वहाँ है - लम्बा काल वहाँ रहेगा। अरे! इसे विचार

नहीं, भाई! जहाँ अवस्था की हीन दशा। एक यहाँ थोड़ा जानना न हो तो उलझे। उसके बदले एकदम.. एकदम पर्याय (हीन हो जाती है)।

मुमुक्षु : दीक्षा तो चारित्र है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : दीक्षा कहाँ थी? दखिया है। मिथ्यात्व को पोषता है। भाई! बात तो ऐसी है। समय-समय मिथ्यात्व के पोषण की दीक्षा है वह। आहा..हा..! वहाँ कोई पोपाबाई का राज नहीं, वह कुछ दे दे ऐसा है। यह वस्तु भगवान आत्मा, अभी तो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र किसे कहना, इसकी खबर नहीं होती, उसकी व्यवहार-श्रद्धा का ठिकाना नहीं होता, निश्चय का तो है ही कहाँ? उसे दीक्षा कैसी? दुःख का भार उठाता है। समझ में आया?

वस्तु ऐसी है, भाई! व्यक्तिगत की बात कहाँ है! उसे स्वयं को जिस भाव से मिथ्यात्व आदि होते हैं, वह तो जीव की हिंसा करता है न! उसे स्वयं को दुःख होता है, इसकी उसे खबर नहीं। उसके फल में बाहर आयेगा तो उसके फल की उसे खबर नहीं। खबर नहीं, इसलिए करता है तो अज्ञानरूप से किया हुआ दोष, उसका बचाव हो सकेगा? हमको ऐसा पता नहीं था, (तो) ऐसी खबर नहीं थी - इसका अर्थ क्या? जगत में एक-एक कंकड़ ऐसा मुँह में आवे, जरा कंकड़ आवे तो ऐसा निकाल डाले। दाने में-उड़द के दाने में... कठोर निकाल डाले, वहाँ पता नहीं था? इसी प्रकार विपरीत मान्यता क्या, राग-द्वेष क्या, इसकी खबर नहीं, इससे कहीं कोई विपरीत मान्यता का दोष टल जायेगा?

यहाँ तो कहते हैं **हे भव्य जीवों! इस मूर्च्छा को ही निश्चय से परिग्रह जानो।** इस परिग्रह के भेद में आगे तो मिथ्यात्व लेंगे, हों! यह मिथ्यात्व की मूर्च्छा मिटी है, उसे अब दूसरी आसक्ति की मूर्च्छा आंशिक घटाना, उसे देशविरतिपना कहते हैं। वे कहें - इस श्रावक के व्रत को पढ़ते नहीं। यह सब आया या नहीं? ऐसा अवसर आवे तब आवे न?

मुमुक्षु : मुनि का पढ़ा।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुनि का सब पढ़ा है। मुनि के नियमसार के, व्यवहार के, प्रवचनसार के, पद्मनन्दि का श्रावकव्रतोद्योतन नहीं पढ़ा था? थोड़ा-थोड़ा पढ़ा। यह तो पुस्तक है परन्तु इसका तो लेख आता है, अध्यात्म सन्देश। श्रावक के व्रत का कुछ आता

है। अच्छी-अच्छी बातें, ऐसा कुछ आता है। सब आया परन्तु अब... अरे रे! मूल की बात की समझ आयी, तब समझ करे नहीं। यह नहीं, वह लाओ, वह लाओ। परन्तु क्या वह लाओ? मूल तो नींव सुदृढ़ के बिना? गिर जायेगा बड़ा ढाई करोड़ का मकान बनाया था वह भी गिर गया मुम्बई में। किसी का मकान था नहीं? चार लोग थे बेचारे, सीमेंट, कंकरी कच्ची होगी परन्तु हवा-ववा लगी होगी तो गांगड़ा डालकर सीमेंट। सरकार ने खोज की, यह किसने बनाया? कौन इंजीनियर था? सीमेंट कहाँ से आयी थी? क्या हुआ? सब खोज करते हैं यह। यह सीधी सीमेंट हो तो ऐसा नहीं होता। कहीं हवा लगी हुई सीमेंट ढेलेवाली होगी, सस्ती मिली होगी तो लाये होंगे। यह एक साथ परन्तु करोड़ का मकान बड़ा करोड़ का, हों! रात्रि में, शाम को बराबर दोपहर में खाकर चार लोग सोये। सबेरे से काम करते हों.. उसमें पूरा गिरा। चारों मर गये, चार-छह लोग मर गये। तुमने सुना था? सुना नहीं, तुम गाँव के मुम्बई रहो वह? हम यहाँ दूर से सुनते हैं न। कहो,.. काम बहुत है न इसे? यहाँ समाचार-पत्र में आया था, आया था। यहाँ हम कहाँ वहाँ मुम्बई रहते हैं? यह तो मुम्बई रहता है। इसे दूसरे काम होते हैं न! इसे दूसरे बहुत काम होते हैं। आहा..हा..!

कहते हैं **मूर्च्छा किसे कहते हैं?** अब यह व्याख्या करते हैं। ममता में लेना है न? **चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से उदय को प्राप्त हुआ..** चारित्रमोह का जिसमें निमित्त है और उसमें प्राप्त हुआ- उस काल में अपना भाव। **जो ममत्वपरिणाम...** स्वरूप में दृष्टि होने पर भी, चारित्रमोह के उदय में वर्तमान पर्याय रुकने से जो परिणाम होते हैं, उसे ममत्वपरिणाम कहते हैं। **(अर्थात् यह मेरा है, ऐसा परिणाम) है, वही मूर्च्छा है।** यह वास्तविक ममता, वही मूर्च्छा है और मूर्च्छा, वही वास्तविक परिग्रह है। उसे अन्दर में घटाना। मूर्च्छारहित चीज़ आत्मा है, उसकी दृष्टि की हो, फिर उसका आश्रय लेकर मूर्च्छा घटे, उसे देशविरतिपना हो सकता है, दूसरे को देशविरतिपना नहीं हो सकता। विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - ११२

ममत्वपरिणाम ही वास्तविक परिग्रह है, इस बात को दृढ़ करते हैं :-

मूर्च्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।
सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनापि किल शेषसंगेभ्यः।।११२।।

नित परिग्रहता का सुलक्षण, मूर्छा विधिवत् घटित।
यों अन्य संग बिना भी मूर्छावान नित परिग्रह सहित।।११२।।

अन्वयार्थ : (परिग्रहत्वस्य) परिग्रहपने का (मूर्च्छालक्षणकरणात्) मूर्च्छा लक्षण करने से (व्याप्तिः) व्याप्ति (सुघटा) भले प्रकार से घटित होती है क्योंकि (शेषसंगेभ्यः) अन्य परिग्रह (विना अपि) बिना भी (मूर्च्छावान्) मूर्च्छा करनेवाला पुरुष (किल) निश्चय से (सग्रन्थः) बाह्य परिग्रहसहित है।

टीका : 'परिग्रहत्वस्य मूर्च्छालक्षणकरणात् व्याप्तिः सुघटा (यतः) किल शेषसंगेभ्यः विना अपि मूर्च्छावान् सग्रन्थ भवति' - परिग्रहभाव का लक्षण मूर्च्छा किया उसमें व्याप्ति भले प्रकार बनती है क्योंकि धन, धान्यादि बाह्य परिग्रह बिना भी ममत्व परिणामवाला जीव परिग्रह सहित होता है।

भावार्थ : साहचर्य के नियम को व्याप्ति कहते हैं अर्थात् जहाँ लक्षण हो, वहाँ लक्ष्य भी हो उसका नाम व्याप्ति है। इसलिए जहाँ जहाँ मूर्च्छा है, वहाँ वहाँ परिग्रह अवश्य है और जहाँ मूर्च्छा नहीं है, वहाँ परिग्रह भी नहीं है। मूर्च्छा की परिग्रह के साथ व्याप्ति है। कोई जीव नग्न है, बाह्य परिग्रह से रहित है, परन्तु यदि अन्तरंग में मूर्च्छा अर्थात् ममत्वपरिणाम है तो वह परिग्रहवान ही है और एक ममत्व के त्यागी दिगम्बर मुनि के पींछी, कमण्डलरूप बाह्य परिग्रह होने पर भी अन्तरंग में ममत्व नहीं है, इसलिए वह वास्तविक परिग्रह से रहित ही है।।११२।।

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, ११२ गाथा। परिग्रह की व्याख्या है। आत्मा में ममत्व, वह परिग्रह है और ममत्वरहित, वह अपरिग्रह है। ममत्व है, वह हिंसा है और अममत्व है- निर्ममत्व है, वह अहिंसा है। वह व्याख्या यहाँ करते हैं, देखो! ११२ (गाथा)।

ममत्वपरिणाम ही वास्तविक परिग्रह है, इस बात को दृढ़ करते हैं :-

मूर्च्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।
सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनापि किल शेषसंगेभ्यः।।११२।।

परिग्रहपने का मूर्च्छा लक्षण करने से... परिग्रह अर्थात् मूर्च्छा, वही परिग्रह है। अपने स्वभाव को भूलकर परपदार्थ में, पुण्य-पाप के परिणाम में या पर में मूर्च्छा होना, वही पहला मिथ्यात्व परिग्रह है। समझ में आया? और राग-द्वेष के परिणाम, ममत्व मिथ्यात्व तथा राग-द्वेष परिणाम, वह मूर्च्छा है और वह मूर्च्छा, वह परिग्रह है। **परिग्रहपने का मूर्च्छा लक्षण करने से व्याप्ति भले प्रकार से घटित होती है...** अर्थात् मिलान खाता है। व्याप्ति अर्थात् समुचित, व्याप्ति अर्थात् समुचित बात है - ऐसा यहाँ कहते हैं।

क्योंकि अन्य परिग्रह बिना भी... कुछ बाहर की चीज़ न हो तो **भी मूर्च्छा करनेवाला पुरुष...** अन्तर में स्वभाव-चैतन्य ज्ञानानन्दस्वभाव को भूलकर या उसमें अस्थिर होकर जो कुछ मूर्च्छा करता है, **निश्चय से...** वह मूर्च्छा ही... **'सग्रन्थः'** की व्याख्या की। **बाह्य परिग्रहसहित है।** ऐसा कहते हैं। अर्थात् वास्तव में तो मूर्च्छा, वह ग्रन्थ है। **'सग्रन्थः'** भाषा तो ऐसी है। मूर्च्छा अर्थात् ममता है, ग्रन्थ है। मूर्च्छा है, वही **'सग्रन्थः'** है। अभी यहाँ अधिक स्पष्टीकरण कर दिया। बाह्य पैसा, लक्ष्मी आदि न हो, परन्तु जिसे अन्दर में मूर्च्छा है, वह बाह्य परिग्रहसहित ही है। समझ में आया?

टीका : परिग्रहभाव का लक्षण मूर्च्छा किया... परिग्रहभाव का वास्तविक लक्षण ममता-मूर्च्छा किया। **उसमें व्याप्ति भले प्रकार बनती है...** उसमें समुचित बात है। **क्योंकि धन, धान्यादि बाह्य परिग्रह बिना भी...** लक्ष्मी न हो, बाह्य में कुछ न हो,

बिना भी ममत्व परिणामवाला जीव परिग्रहसहित होता है। अन्दर ममता बहुत हो, बाहर से तो कुछ नहीं हो।

मुमुक्षु : बाहर में तो त्यागी दिखे।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहते हैं, बाहर का त्याग कहाँ था? अन्दर में मूर्च्छा और ममता पड़ी है, इसलिए बाह्य का त्यागी है नहीं - ऐसा कहते हैं। बाह्य के परिग्रहवाला है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप, ज्ञानस्वभाव है। उसे छोड़कर जितना ममत्व होता है, वह बाह्य वस्तु न हो तो भी, उस ममतावाले को बाह्य वस्तुसहित ही कहने में आता है। समझ में आया? लक्ष्मी न हो, धान्य-अनाज आदि न हो, बाहर की इज्जत-कीर्ति न हो तो भी उसे ममत्वपरिणामवाला जीव....

ममत्व दो प्रकार के—एक, अपने स्वरूप को भूलकर पर में ममत्व और एक, स्वरूप को भूल बिना अस्थिरता का ममत्व। समझ में आया? चैतन्य वस्तु है, आनन्द और ज्ञान की मूर्ति पदार्थ अस्ति, अस्ति तत्त्व को भूलकर राग और विकल्प या पर मेरे, ऐसी मूर्च्छा, वह मिथ्यात्व परिग्रह है। समझ में आया? और उसे भूले बिना भी जितने अस्थिरता के परिणाम हों, राग-द्वेष, विषय-वासना, क्रोध-मान-विकल्प आदि, वह सब ममता ही है और वह सब हिंसा ही है। ओहो..हो..! भगवान आत्मा ज्ञान शुद्ध चैतन्यस्वभाव अस्तिरूप पदार्थ है; उसमें जितने प्रकार का विकल्प उत्पन्न हो, वह सब भगवान आत्मा के स्वभाव की हिंसा है। चन्दुभाई! वह हिंसा कैसी होगी? कहो, मलूपचन्दभाई! क्या कहते हैं? वह हिंसा, बैठा हो, पड़े-पड़े अकेला विचारा एकेन्द्रिय को छूता न हो, परन्तु दोकला होता है। दोकला अर्थात्? ज्ञानमूर्ति चिदानन्द सच्चिदानन्द प्रभु, जिसका स्वरूप अनाकुल ब्रह्मानन्द ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उसका अनादर करके जितना ममत्व (अर्थात्) पर मेरा है - ऐसा मानता है, वह तो मिथ्यात्वरूपी मूर्च्छा परिग्रह है, महापाप हिंसा है।

मुमुक्षु : बनिये हिंसा करते होंगे?

पूज्य गुरुदेवश्री : बनिया कब? बनिया तो किसे कहना? बनिया कहना किसे? व्यापार करे, वह बनिया - ऐसा कहो तो राग-द्वेष का व्यापार करे, वह बनिया। क्यों इस खोजा-बोझा को व्यापारी नहीं कहते?

मुमुक्षु : परन्तु बनिया नहीं कहलाता, व्यापारी कहलाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु व्यापारी कहलाता है न! व्यापार करे, वह बनिया। वणिज करे वह बनिया - ठीक लो! चलो, इनकी भाषा लो! पोपटभाई! लुहार भी करे, *खोजा भी करे, मुसलमान भी करे तो सब वणिज नहीं करते? वणिज, वणिज करे, वह बनिया। दूसरा क्या? इस अपेक्षा से। इसी प्रकार यहाँ ममता करे, वह मूर्च्छावाला। भगवान आत्मा - जिसमें राग का, दया, दान की वृत्ति का भी जहाँ विकल्प का अभाव है - ऐसे स्वभाव के साथ विकल्प को एकरूप मानना, वह महामूर्च्छा, मिथ्यात्व की महाहिंसा है। स्वरूप का अस्तिरूप से चैतन्य का जो अस्तित्व है, उसका अनादर किया और राग की एकताबुद्धि करके चैतन्य के जीवन का जीवितव्य जिसने घात किया है। समझ में आया?

मुमुक्षु : हमारे तो छह काय की हिंसा हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह इस छह काय में स्वयं आत्मा आया या नहीं? हमारे यहाँ दलाल कहता है, भगवान ने छह काय की हिंसा कही है। उसमें आत्मा छह काय में आया या नहीं? आत्मा आया नहीं कहीं? हो गया तब। आत्मा स्वयं अपनी निज सम्पदा ज्ञान और आनन्द के स्वभाव को भूलकर पर में कहीं राग में, पुण्य में, पाप में, पर में सुखबुद्धि करे, वह मिथ्यात्व की (मिथ्यात्व सम्बन्धी) महाहिंसा दशा कही जाती है।

मुमुक्षु : तब तो परद्रव्य....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह परिग्रह। पश्चात् कहा न? मिथ्यात्व, वह परिग्रह (है) और परिग्रह, वह हिंसा। अभी आयेगा, अभी यही कहेंगे, ११४ में कहेंगे हिंसा-अहिंसा की व्याख्या। यहाँ तो परिग्रह से बात उठाकर फिर उसमें हिंसा को रखेंगे। यह बारहवीं (११२ वीं) चलती है न? चौदहवीं में आता है। समझ में आया? एकदम हिंसा-अहिंसा की व्याख्या ११८ में आयेगी। **जिनप्रवचनज्ञाः** जिन प्रवचन से जाननेवाले, सर्वज्ञ भगवान की वाणी के जाननेवाले मिथ्यात्व आदि राग-द्वेष को हिंसा कहते हैं और सम्यग्दर्शन आदि ज्ञान की स्थिरता के आनन्द को अहिंसा कहते हैं। आहा..! समझ में आया? प्रवीणभाई आये हैं? कौने में बैठते हैं। यह हिंसा-अहिंसा की व्याख्या है। आये होंगे कुछ काटकूट

** खोजा - इस नाम की एक मुसलमान जाति।*

के लिये। डॉक्टर है न? राजकोट। सर्जन, सर्जन हैं। ऐई! समझ में आया इसमें? आहा..हा..!

कहते हैं कि वे बाह्यपरिग्रह सहित ही है। **क्योंकि धन, धान्यादि बाह्य परिग्रह बिना भी ममत्व परिणामवाला जीव परिग्रहसहित होता है।** भावार्थ देखो! अब व्याप्ति की व्याख्या करते हैं।

भावार्थ : साहचर्य के नियम को व्याप्ति कहते हैं... साथ में सम्बन्धरूप से रहे, उसे व्याप्ति कहते हैं। **अर्थात् जहाँ लक्षण हो, वहाँ लक्ष्य भी हो...** समझ में आया? जैसे ज्ञान, लक्षण है तो आत्मा, लक्ष्य है। ज्ञान, लक्षण है तो आत्मा, लक्ष्य है तो लक्षण है, वहाँ लक्ष्य (होता ही है)। **उसका नाम व्याप्ति है। इसलिए जहाँ जहाँ मूर्च्छा है, वहाँ वहाँ परिग्रह अवश्य है...** लो! जहाँ-जहाँ ममत्व है, अन्दर में भगवान आत्मा के शुद्ध निर्ममत्व समभावी वीतरागस्वरूप आत्मा के। उसका वर्तमान त्रिकाल वीतरागस्वरूप ही है; उसमें से हटकर जितना मिथ्यात्व और रागादि मूर्च्छाभाव करे, वहाँ अवश्य परिग्रह है। परिग्रह अर्थात् पकड़ है। परिग्रह है न? समझ में आया?

जहाँ मूर्च्छा नहीं है, वहाँ परिग्रह भी नहीं है। जहाँ मूर्च्छा है, वहाँ परिग्रह है; जहाँ मूर्च्छा नहीं, वहाँ परिग्रह नहीं। मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा जाता है। स्वरूप शुद्ध चैतन्यमूर्ति को छोड़कर विकल्प को पकड़ता है -परि, परि। परि उपसर्ग है। पकड़ता है, वही परिग्रह है, मूर्च्छा ही परिग्रह है। समझ में आया? **मूर्च्छा की परिग्रह के साथ व्याप्ति है।** घटित होती है। मूर्च्छा को और परिग्रह को - दोनों को मेल है, दो को घटित होता है। **कोई जीव नग्न है,...** लो! दृष्टान्त दिया। ऐ देवानुप्रिया! दृष्टान्त दिया। क्या? कोई नग्न है, नग्न है। **बाह्य परिग्रह से रहित है,...** एक वस्त्र का ताना भी नहीं रखता, नग्नमुनि जंगल में बसता है। **परन्तु यदि अन्तरंग में मूर्च्छा अर्थात् ममत्वपरिणाम है तो वह परिग्रहवान ही है..** अन्तर में पुण्य-पाप के राग को अपना मानता है, वही उसे बड़ा परिग्रह है।

मुमुक्षु : जितना बाहर का छूटा, उतना...

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर का जरा भी नहीं छूटा - यह कहते हैं। छूटा कहाँ से कहलाये? बाहर का छूटना असद्भूत-झूठे नय से तब कहलाये कि अन्तर में राग की

एकता छूटकर स्थिरता प्रगटे, तब राग छूटा, तब उसे बाहर का उतना लक्ष्य निमित्त छूटा - ऐसा असद्भूत-झूठे व्यवहार से कहने में आता है। बाह्य चीज़ अन्दर में कहाँ घुस गयी थी। ऐ.. देवानुप्रिया! है?

नगन दिगम्बर हो, हजारों रानियों का त्याग करके जंगल में बैठा हो, परन्तु अन्तर में भगवान ज्ञानानन्दस्वयप की जिसे अन्तर पकड़ नहीं, चैतन्य का परिग्रह किया नहीं। समझ में आया? आता है न परिग्रह? निर्जरा (अधिकार) में, समयसार में आता है। आता है, शास्त्र में तो बहुत सब भरा है। कितना स्पष्ट किया है! अपना परिग्रह-शुद्ध चैतन्यस्वभाव को पकड़कर एकाग्र स्थिर होना, वही आत्मा है। रागमात्र का एक विकल्प उठे; दया, दान, व्रत, भक्ति, काम-क्रोध, विषय-वासना—उस विकल्प को अपने स्वभाव के साथ मिलाना, जोड़ना - वह मेरा है, यह ममत्व, यही मूर्च्छा, यही मिथ्यात्व है। बाह्य का त्याग होने पर (भी) यह मूर्च्छारूपी मिथ्यात्व तो नग्न मुनि को भी लागू पड़ता है।

मुमुक्षु : वह बड़ा परिग्रह है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वही परिग्रह है। बाहर की वस्तु तो निमित्त है तो उसे उपचार से कहने में आता है और अन्दर में वास्तविक ममता है, वह अनुपचार / यथार्थ परिग्रह कहा जाता है। कहो, समझ में आया?

नग्न है, बाह्य परिग्रह से रहित है, परन्तु यदि अन्तरंग में मूर्च्छा अर्थात् ममत्वपरिणाम है तो वह परिग्रहवान ही है... देखो! सग्रन्थ कहा न? तो वह सग्रन्थी ही है, तो वह परिग्रहवान ही है क्योंकि निमित्त के कारण अथवा यहाँ कार्य जो आत्मा का उत्पन्न होता है, वह कार्य तो है; कार्य है, फिर निमित्त छूटा उसे ऐसा कैसे कहा जाये? ऐसा कहते हैं। समझ में आया? भगवान को समवसरण होता है, वह आयेगा। तीर्थंकर को समवसरण होता है, सौ इन्द्र पूजते हैं, चौंसठ इन्द्र चँवर ढोरते हैं, परिग्रह नहीं क्योंकि अन्दर मूर्च्छा नहीं है। मूर्च्छा, वही परिग्रहपने को प्राप्त होती है। समवसरण इतना बड़ा है कि दुनिया में किसी को नहीं होता, ऐसी विभूति का वैभव बाह्य का, तथापि वीतराग है, उन्हें मूर्च्छा नहीं, उस समवसरण को परिग्रहपने को, निमित्तपने को भी पाता नहीं होता। निमित्तपना, यहाँ कार्य करे तो निमित्तपना पावे न? समझ में आया?

मुमुक्षु : वस्त्र है, परन्तु हमारे मूर्च्छा नहीं है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मिथ्या बात है - ऐसा कहते हैं। वस्त्र रखते हैं और हमें राग नहीं, वह मूढ़ है, कहते हैं। कहो, कपड़े रखने का भाव (आवे) और ऐसा कहे कि हमें मूर्च्छा नहीं। मिथ्यात्व की मूर्च्छा अलग, वह भले न हो। समझ में आया ? परन्तु अस्थिरता की मूर्च्छा नहीं और वस्त्र रखते हैं, इन दोनों का मेल (नहीं खाता)। भगवान का मार्ग अहिंसक है। वस्त्र-पात्र का रखने का भाव, वह भी हिंसा है। उसका त्याग और ममत्व का अभाव, वह अहिंसा, ऐसा भगवान का अहिंसा मार्ग है। वह अहिंसा। समझ में आया ?

समन्तभद्राचार्य कहते हैं, प्रभु ! आपने तो अहिंसा मार्ग स्थापित किया है। अर्थात् वस्त्र मुनिमार्ग, वस्त्र लेने का परिणाम है, वह हिंसा है। उसके अभाव का अहिंसा का मार्ग, मुनिमार्ग आपने कहा है। चौबीस तीर्थंकर स्तुति है न ? उसमें कहा है। समझ में आया ? जितने अंश में बाह्य परिग्रह है, रखने का भाव है, वह भाव, हिंसा है। ओहो ! कहो, यह लाखों-करोड़ों रुपये रखते हैं, शरीर मेरा है, ऐसा मानते हैं, वह सब भावहिंसा है। वह स्वयं अपनी हिंसा करता है, ऐसा कहते हैं। पर की तो कौन करे ? वह तो उसके होने के काल में इसका निमित्त हो तो व्यवहार से कहलाती है। वीतरागमार्ग परम सत्य नितरता अलग प्रकार का है। जिसे इसने कभी लक्ष्य में लिया ही नहीं। ऐसे ननूर होकर ही अनादि से घूमा है। ननूर... ननूर... समझ में आया ? नूररहित, तेजरहित। क्या वस्तु है, उसका तेज क्या, उसका स्वरूप क्या ? ख्याल में लिया ही नहीं। ऐसा का ऐसा आँधले-आँधले चला। नग्न हुआ, नग्न, स्त्री, पुत्र छोड़े, अन्दर में मूर्च्छा पड़ी है। कहो, समझ में आया ? मिथ्यात्व का नाश किये बिना अपरिग्रहपना दृष्टि में भी प्रगट नहीं होता तो अस्थिरता का नाश किये बिना स्थिरपने का भी अपरिग्रहपना प्रगट नहीं होता। समझ में आया ?

और एक ममत्व के त्यागी दिगम्बर मुनि के... अब सुलटा दृष्टान्त लेते हैं। नग्न मुनि हैं, बाह्य में कुछ नहीं। अन्तर में चिदानन्दस्वभाव को भूलकर राग को एकत्वरूप मानकर बैठा है तो कहते हैं कि मूर्च्छावाला है, मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया ? एक गृहस्थाश्रम में छह खण्ड का राज्य चक्रवर्ती का हो, छियानवें हजार स्त्रियाँ हों परन्तु मिथ्यात्व परिग्रह छूटा है, उतनी समकित / अपरिग्रहदशा उसे प्रगट हुई है। कहो, समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं, एक नग्न-दिगम्बर मुनि हो, **पींछी, कमण्डलरूप बाह्य परिग्रह होने पर भी अन्तरंग में ममत्व नहीं है, इसलिए वह वास्तविक परिग्रह से रहित ही है।** लो! अन्दर ममता नहीं न! उस वस्तु की ममता नहीं। वह मेरी है और मुझे रखने जैसी है, ऐसा नहीं; मात्र विकल्प उठता है कि इस अस्थिरता के निमित्त में, यत्न में निमित्त है, इससे एक शुभभाव है परन्तु वह जो मेरा है, ऐसा ममत्व अन्दर में नहीं है। एक मुनि है, ध्यान में बैठे हैं, लो! ममत्वरहित, आनन्द में (बैठे हैं), उन पर कोई कम्बल डाल दे सौ रुपये की। है ममता? ऐसे ऊपर कम्बल पड़ी है। वह परिग्रह नहीं है। मूर्च्छारहित ध्यान में, आनन्द में वर्तते हैं। किसी ने ऊपर से कम्बल डाली तो उन्हें परिग्रह नहीं है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ख्याल आवे तब तो उतर जाये वह, रहे किसका फिर तो? जागृत हुआ, उतर जाये। यह तो पड़ा है, अभी सिद्धान्त सिद्ध करना है न! बाह्य पड़ा है, तथापि अन्तर आनन्द के ध्यान में मस्त है। नौ-नौ कोटि से सब छोड़ा है। समझ में आया? और एक सब बाहर का छोड़कर बैठा और अन्दर ममत्व है, इसलिए अन्दर के परिणाम पर मूर्च्छा और परिग्रह का माप है; बाह्य के संयोग पर नहीं। ऐसा कहेंगे। आगे बहुत बात लिखी है।

तथापि **अन्तरंग में ममत्व नहीं है इसलिए वह वास्तविक परिग्रह से रहित ही है।** ११३ वीं

गाथा - ११३

शंकाकार की शंका

यद्येयं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरंगः।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्त्वम्।।११३।।

यदि मूर्छा ही परिग्रह तो, बाह्य परिग्रह कुछ नहीं।
पर नहीं ऐसा क्योंकि वह, नित मूर्छा हेतु सभी।।११३।।

अन्वयार्थ : (यदि) जो (एवं) ऐसा है अर्थात् मूर्च्छा ही परिग्रह होवे (तदा)तो (खलु) निश्चय से (बहिरंग परिग्रहः) बाह्य परिग्रह (कः अपि) कुछ भी नहीं सिद्ध होता, तो ऐसा नहीं है (यतः) क्योंकि (असौ) यह बाह्य परिग्रह (मूर्च्छानिमित्तत्त्वम्) मूर्च्छा के निमित्तपने को (नितरां) अतिशयरूप से (धत्ते) धारण करता है।

टीका : प्रश्न – खलु यदि एवं भवति तदा बहिरंगः कोऽपि परिग्रहः न (स्यात्) उत्तर – यः असौ (बहिरंग) नितरां मूर्च्छानिमित्तत्वं धत्ते – यहाँ कोई तर्क करता है कि यदि निश्चय से मूर्च्छा का नाम ही परिग्रह है तो फिर धन-धान्यादि बाह्य वस्तु परिग्रह नहीं ठहरी। इनको परिग्रह किसलिए कहते हो? श्रीगुरु उत्तर देते हैं :- यह धन-धान्यादि तो अत्यन्तरूप से परिग्रह हैं क्योंकि बाह्यवस्तु ही मूर्च्छा का कारण है।

भावार्थ : परिग्रह का लक्षण तो मूर्च्छा ही है। परन्तु बाह्य धन-धान्यादि वस्तु मूर्च्छा उत्पन्न करने के लिए (निमित्त) कारण है, इसलिए उसे भी परिग्रह कहा जाता है।।११३।।

गाथा ११३ पर प्रवचन

शंकाकार की शंका आपने तो बाह्यवस्तु को परिग्रह से उड़ा दिया, परिग्रह है ही नहीं। बस! बाहर का कुछ वजन ही नहीं? **'नितरां'** अर्थ क्या होता है? **'नितरां'** इन्होंने किया नहीं, तुम्हारे क्या होता है? बराबर घटित होता है। उन्होंने सदा शब्द प्रयोग किया है। सदा धारण करता है, मूर्च्छा के निमित्तपने को सदा धारण करता है। घटित होता है। **'नितरां'** है न, **'नितरां'**?

यद्येयं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरंगः।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्त्वम्।।११३।।

शिष्य का प्रश्न है, महाराज! आपने तो अन्तर की मूर्च्छा पर परिग्रह का माप कहा, बाह्य की किसी चीज़ को परिग्रह तो आपने सिद्ध नहीं किया। **जो ऐसा है अर्थात् मूर्च्छा ही परिग्रह होवे तो निश्चय से बाह्य परिग्रह कुछ भी नहीं सिद्ध होता...** तो यह स्त्री, कुटुम्ब, शरीर, पैसा, इज्जत, मकान, यह परिग्रह सिद्ध ही नहीं होगा। तुमने तो मूर्च्छा

को परिग्रह सिद्ध किया। समझ में आया? तो बाह्य की वस्तु सिद्ध नहीं होगी। **तो ऐसा नहीं है..** इसका उत्तर अब कहते हैं। आधे में प्रश्न है और आधे में उत्तर है। **क्योंकि यह बाह्य परिग्रह, मूर्च्छा के निमित्तपने को...** देखो? मूर्च्छा का वह बाह्य (पदार्थ) निमित्त है; इसलिए उसे उपचार से परिग्रह कहा गया है। वास्तविक परिग्रह मूर्च्छा है। बाहर का निमित्त है, इसलिए उसे उपचार से-व्यवहार से परिग्रह कहने में आता है। निश्चय से ममता परिग्रह है। समझ में आया?

मुमुक्षु : निमित्त बलवान हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त बलवान किसने कहा? यहाँ उपचार है, उसकी ममता करता है, तब उसे निमित्त कहने में आता है। मूर्च्छा का निमित्त है - ऐसा सिद्ध करते हैं। वह वस्तु बन्ध का कारण है - ऐसा नहीं परन्तु मूर्च्छा का निमित्त है। यह तो आता है न अपने? बन्ध अधिकार में। अध्यवसाय वस्तु के आश्रय से होते हैं परन्तु वस्तु बन्ध का कारण नहीं है; भाव होता है, वह पर के आश्रय से होता है, परन्तु स्वयं करे, तब आश्रय कहलाये न? परन्तु वह वस्तु बन्ध का कारण नहीं; बन्ध का कारण इसके जो ममत्वपरिणाम हैं, वे हैं। गजब सूक्ष्म बातें, भाई! परिग्रह की व्याख्या में भी ऐसा सूक्ष्म। आहा..हा..!

मुमुक्षु : टोडरमलजी ने कितने तक अर्थ किये है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह खबर नहीं, मुझे खबर नहीं। कहाँ किये हैं, कहाँ तक किये हैं, खबर है? आते-आते आयेगा। अब यहाँ स्पष्ट होता जाता है, और उसमें से आयेगा। मात्र पढ़ते हों तो न आवे परन्तु स्पष्ट होता जाता है और ऐसी भाषा का ढंग कैसा है, वह आयेगा। समझ में आया?

कहते हैं कि मूर्च्छा, वही ममत्व और वही हिंसा है परन्तु उसके पदार्थ को निमित्तपने के कारण उसे भी उपचार से परिग्रह कहने में आता है, बाह्य चीज़ को। क्योंकि बाह्य चीज़ के अवलम्बन से मूर्च्छा होती है, अवलम्बन से मूर्च्छा होती है। स्वभाव के अवलम्बन से मूर्च्छा नहीं होती, चैतन्य के अवलम्बन से (नहीं होती)। वह तो शुद्ध आनन्द है। ऐसा (बाह्य) अवलम्बन जाता है, तब मूर्च्छा (उत्पन्न होती है)। इसलिए बाह्य परिग्रह भी उपचार से परिग्रहपने को प्राप्त होता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : बाह्य परिग्रह...

पूज्य गुरुदेवश्री : उपचार। वह वास्तविक परिग्रह है ? ले!

मुमुक्षु : बड़ा होवे तो भी ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़े का कहा न ? समवसरण है तो क्या हुआ ? समवसरण जैसी रिद्धि तो किसी को नहीं, इन्द्र को भी नहीं। मूर्च्छा नहीं तो परिग्रह नहीं और नग्नपना (लेकर) वस्त्र का एक ताना रखता नहीं, जंगल में रहता है, निर्दोष आहार की भिक्षा लेता है, तो भी अन्तर में भगवान आत्मा अनाकुल आनन्द की पकड़ अनुभवदृष्टि नहीं हुई तो उसे राग की पकड़ अन्दर में पड़ी है तो उसे मूर्च्छावान मिथ्यादृष्टि कहने में आता है। पोपटभाई! गजब भाई! गजब माप अलग प्रकार का।

मुमुक्षु : बहुत सरस!

पूज्य गुरुदेवश्री : सीधी बात है। इसमें कहीं फेरफार है नहीं कुछ। न्याय से- लॉजिक युक्ति से, न्याय से तो बात कही जाती है। समझ में आया ? व्याप्ति घटित है-ऐसा नहीं कहा ? घटित होती है।

भगवान आत्मा अपना वीतरागीस्वभाव चैतन्यमूर्ति प्रभु के अस्तित्व का स्वीकार न हो और उसके अस्तित्व का अनादर होकर राग का, पुण्य का, दया, दान की कषाय मन्दता के विकल्प का स्वीकार हो, बस! वही मिथ्यात्वरूपी मूर्च्छा संसार का बीज है। बाह्य में कुछ नहीं होता, नग्न मुनि हो जाये... भगवान आत्मा राग की क्रियारहित निष्क्रिय प्रभु की अन्तर्दृष्टि किये बिना, उसकी बहिर्दृष्टि, बहिर्दृष्टि, बहिरात्मदृष्टि, स्वभाव में नहीं ऐसे राग को और पर को अपनी क्रिया, शरीर की क्रिया मुझसे होती है, राग वह मैं हूँ, बस! यह मिथ्यात्व की मूर्च्छा बाह्य की चीज़ के अभाव में भी वहाँ वर्तती है। वह परिग्रहवान है। करो न्याय।

मुमुक्षु : अजब है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अजब है ? ले! अजब है, कहते हैं। यह दिगम्बर में जन्मे इतने वर्षों से। इसे दिगम्बर साधु होना था, नग्न। हो गया और, किसी को हैरान करता। इसके आत्मा को हैरान करता और किसी को करता। समझे ? खबर नहीं होती, लो! नग्न होकर

वस्त्र छोड़ दे, हो गया साधु, नग्न-दिगम्बर। आहा..हा..! दीपचन्दजी! हैरान होता... हैरान, हों!

यहाँ तो कहते हैं, भगवान! भगवान आत्मा को भगवान कहते हैं, हों! भाई! बाह्य परिग्रह न होने पर भी, नग्न-मुनि होने पर भी, जिसे वस्त्र का ताना न होने पर भी.. समझ में आया? मूर्च्छा कही। और बाह्य परिग्रह का ढेर होने पर भी मूर्च्छा नहीं। मूर्च्छा होवे तो बाह्य परिग्रह का निमित्तपना प्राप्त हो। कहो, समझ में आया? मूर्च्छा के निमित्तपने को वास्तव में धारण करता है, उसे। निमित्त से, ऐसा! टीका, प्रश्न देखो! आधे में प्रश्न और आधे में उत्तर।

टीका : प्रश्न - खलु यदि एवं भवति तदा बहिरंगः कोऽपि परिग्रहः न (स्यात्).. महाराज! आपने तो मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा तो बाह्य के परिग्रह का... **यहाँ कोई तर्क करता है कि यदि निश्चय से मूर्च्छा का नाम ही परिग्रह है तो फिर धन-धान्यादि बाह्य वस्तु परिग्रह नहीं ठहरी। इनको परिग्रह किसलिए कहते हो? श्रीगुरु उत्तर देते हैं :- यः असौ (बहिरंग) नितरां मूर्च्छानिमित्तत्वं धत्ते। यह धन-धान्यादि तो अत्यन्तरूप से परिग्रह हैं...** यह **'नितरां'** का अर्थ क्या? अतिशय किया, अत्यन्तरूप से कहो, उसमें सदापने। बाह्यवस्तु ही मूर्च्छा का कारण है। बाह्यवस्तु है, उसमें यह मूर्च्छा करता है तो उसे कारण कहा जाता है। मूर्च्छा का कारण कोई आत्मद्रव्य नहीं। समझ में आया?

यह धन-धान्यादि तो अत्यन्तरूप से परिग्रह हैं क्योंकि बाह्यवस्तु ही मूर्च्छा का कारण है। बाह्यपदार्थ ही ममता का निमित्त है। भगवान आत्मा में ममता नहीं और वह ममता, आत्मा के अवलम्बन से होती नहीं। वह ममता, पर के लक्ष्य से होती है; इसलिए ममता का अवलम्बन पर है, इसलिए परवस्तु को व्यवहार से परिग्रह कहने में आता है। निश्चय से परिग्रह मूर्च्छा है। समझ में आया? वीतराग का मार्ग समझना, भाई! पूरा कठिन! समझ में आया?

पच्चीस वर्ष का राजा का कुँवर हो, करोड़ों मनुष्यों के संहार में हाथी के हौदे हजारों बाण तोड़ता हो, डालता है, तथापि सम्यग्दृष्टि हो तो उसे मिथ्यात्व की मूर्च्छा नहीं है। कहो, उसे मिथ्यात्व का कोई निमित्त ही नहीं और जितनी अस्थिरता का भाग है, उतना परिग्रह और उतना पाप / हिंसा है, सम्यग्दृष्टि को भी।

भगवान आत्मा अत्यन्त रागरहित चीज़, उसे जिसने अनुभव में, दृष्टि में लिया, ऐसा राजकुमार हो, उसे छियानवें हजार स्त्रियाँ हों, और छियानवें करोड़ सैनिकों में घूमता हो युद्ध में, तथापि उसे मिथ्यात्व की मूर्च्छा नहीं है। आहा..हा..! और बाह्यपरिग्रह का एक ताना-बाना नहीं और नग्न मुनि है, उसे मिथ्यात्व का परिग्रह अन्दर अनन्त पड़ा है। समझ में आया? क्योंकि राग की क्रिया, विकल्प की क्रिया, मेल की क्रिया है; उसे निर्मल के साथ एकत्वबुद्धि में मानता है। मानता है, वह मिथ्यादृष्टि की मूर्च्छा, आत्मा की हिंसा है। समझ में आया?

भावार्थ : परिग्रह का लक्षण तो मूर्च्छा ही है। परन्तु बाह्य धन-धान्यादि वस्तु, मूर्च्छा उत्पन्न करने के लिए (निमित्त) कारण है, इसलिए उसे भी परिग्रह कहा जाता है। यहाँ निमित्तवाले स्थापित करते हैं। देखो, उसके कारण होता है या नहीं? ऐसा कहाँ प्रश्न है, उसके कारण होता है? करता है, तब उसे निमित्त कहने में आता है - ऐसी बात है। उससे ममता होती है, ऐसा नहीं। उससे होती हो तो सबको समान होना चाहिए। चक्रवर्ती का राज और ममता थोड़ी, नग्नपना और ममता बहुत। बाह्य के प्रमाण में हो, तब तो बाह्य प्रमाण में ममता का माप आना चाहिए। ऐसा तो है नहीं। आगे कहेंगे, दृष्टान्त देंगे। बिल्ली और हिरण का। बिल्ली खाती है माँस और हिरण खाता है घास को। हिरण खाता है, हिरण का बच्चा खाता है कच्ची घास को और बिल्ली खाती है चूहे को। कहो, दोनों खाते हैं तो क्रिया, परन्तु ममता के (भाव में) अन्तर है। चूहे को खानेवाले की ममता तीव्र है। हिरण का बच्चा बेचारा कच्ची घास खाता है, ममता कम है। दोनों की ममता में अन्तर डालेंगे, दृष्टान्त देकर, आगे दृष्टान्त देंगे।

'पकड़-पकड़ में फेर है।' (ऐसा) हमारे एक लड़की कहती थी। बोटाद में पचास वर्ष पहले की बात है। उसके दादा ने उसे सिखाया था। पकड़-पकड़ में फेर है। फिर भूल गये। बिल्ली, चूहे को पकड़े ऐसे और अपने बच्चे को पकड़े। एक घर से दूसरे (स्थान पर) ले जाती है न तब? बच्चे को पकड़े मुँह में और चूहे को पकड़े, पकड़-पकड़ में अन्तर है। चूहे को पकड़े ऐसे दबोच कर पकड़े, बच्चे को पकड़े तो दो दाँत के बीच पोल रखकर पकड़े।

मुमुक्षु : वह (चूहा) तो पकड़ने के साथ ही अधमरा हो जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : पकड़ने के साथ ही चूहा तो अधमरा (हो जाये) पकड़-पकड़ में अन्तर है, चूहे को बिल्ली पकड़े, यह दृष्टान्त है। गाथा (दोहा) भूल गये। एक गाथा आ गयी।

समझायो समझे नहीं, करे काँई का काँई,
फानस सलगायो कहा डाला भड़का मांहि।

- ऐसा लड़की बोलती थी। सात वर्ष की थी, सात वर्ष की। सात वर्ष की थी, टीबी हो गया सात वर्ष में। चपल थी। बहुत श्लोक ऐसे आते थे। सात वर्ष में टीबी हो गयी, लो! 'समझायो समझे नहीं, करे काँई का काँई, फानस सलगायो कहा' फानस सुलगाओ। तुमने कहा था न सुलगाओ। डाला आग में। परन्तु सुलगाओ कहा या दीपक करने को कहा, आग में डालने को कहा? तुम्हें क्या कहा था? मलूपचन्दभाई! फानस सुलगाने को कहा था या नहीं? सुलगाओ कहा था। ऐसे के ऐसे, बड़बोल जैसे हैं। वह लड़की कहती बेचारी। पोपटभाई थे न वे सायलावाले। 'समझायो समझे नहीं, करे काँई का काँई,' जिस आशय से समझाना है, वह आशय पकड़े नहीं और पकड़े विपरीत। सुलगाया दूसरा क्या? फानस को सुलगा दिया। सुलगाना अर्थात् दीपक जलाने को कहा था या सुलगा देने को कहा था?

यहाँ ऐसा कहते हैं कि मूर्च्छा में वह चीज निमित्त है परन्तु उससे मूर्च्छा होती है, ऐसा नहीं है वापिस। कोई कहे वहाँ (चिपटते हैं), उसमें निमित्त कहा न? देखो न! उत्पन्न करने में निमित्त कारण है, वहाँ वह कहे देखो! उससे ममता हुई। भाई! उससे-परद्रव्य से नहीं होती, सुन न! यह तो ममता करे, तब सामने निमित्त कहने में आता है। गजब बात, भाई! एकेन्द्रिय को कहाँ कुछ है? एक शरीर है। एकेन्द्रिय हरितकाय लो न, आलू, एक शरीर नहीं, वाणी नहीं, नहीं मन, नहीं स्त्री, नहीं पुत्र, नहीं मकान, नहीं कपड़ा, कुछ नहीं होता। नहीं मोटर, कुछ नहीं होती। नहीं अगरबत्ती। दीपक करनी की देखे रात्रि में अगरबत्ती, मोमबत्ती, मोमबत्ती, अगरबत्ती कुछ नहीं होती, मिथ्यात्व का परिग्रह बड़ा है। किसे? एकेन्द्रिय। स्वरूप को भूले हैं और राग में मूर्च्छित होकर पड़े हैं। स्वरूप को भूले हैं और राग में मूर्च्छित होकर पड़े हैं। उसे-एकेन्द्रिय को मिथ्यात्व का परिग्रह है। ऐ न्यालचन्दभाई! यह बाहर का माप गजब!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : सबमें। एकेन्द्रिय का तो दृष्टान्त दिया है। बाह्य में तो कुछ नहीं। एक शरीर है एकेन्द्रिय। कितनी अवस्था हीन हो गयी है कि जिसे दूसरा जीव तो जीव स्वीकार नहीं कर सकता। आलू में अनन्त जीव दूसरा स्वीकार नहीं कर सकता। क्योंकि उसने सत् का अनादर बहुत किया था, सत् को आड़ दी थी। अभी दूसरा आत्मा उसे स्वीकार कर सके, इतनी ताकत रही नहीं। स्वयं, स्वयं को स्वीकार कर सके, इतनी ताकत रही नहीं। हीन.. हीन.. हीन.. दशा एक टुकड़े में अनन्त जीव! अब उसे दूसरा कौन माने और वह का वह स्वयं को किस प्रकार माने? इतनी सत्ता की हीनता कर दी है। अस्तित्व की - सत्ता की हीनता। जिस प्रकार अस्तित्व है, उससे विरुद्ध बहुत माना है। समझ में आया? इससे सत्ता की दशा पर्याय में बहुत हीन हो गयी है। हीन दशा में अपनी सत्ता का स्वीकार तो रहा नहीं, दूसरे स्वीकार कर सकें कि ये अनन्त जीव हैं... चिल्लाने लगे। यह तो भगवान की आज्ञा माननेवाले और जैन में ऐसा माने। वह वास्तव में जीव का तो कब माना कहा जाये? कि अपने जीव के असंख्य प्रदेश के अनन्त गुण का परिणमन शुद्ध होकर जब स्व को जाने, तब उसे परद्रव्य का असंख्यपना अनन्त गुणवाला ऐसा है और भूला है, उसका ज्ञान तब उसे बराबर होता है। इसके बिना शंका, सन्देह से नि:सन्देह हो सकता ही नहीं। ऐई पण्डितजी! समझ में आया?

जो स्वसत्ता, इसकी जो शक्ति भगवान ने-केवली परमेश्वर ने कही, ऐसी शक्ति और ऐसा सत्व इसकी दृष्टि में भान (हुए) बिना, ऐसा आत्मा मैं हूँ और ऐसे ही आत्मा दूसरे हैं और ऐसे आत्मा भूले हुए हैं, उसका ज्ञान इसे यथार्थरूप से नहीं हो सकता। समझ में आया? गजब बात भाई!

मुमुक्षु : जीवतत्त्व।

पूज्य गुरुदेवश्री : जीवतत्त्व की श्रद्धा। आहा..हा..!

गाथा - ११४

शंकाकार की शंका

एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम्।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छास्ति।।११४।।

यदि बाह्य परिग्रह अतिव्याप्ति, कहो तो ऐसा नहीं।
है क्योंकि कर्मादि ग्रहण, अकषायी के मूर्छा नहीं।।११४।।

अन्वयार्थ : (एवं) इस प्रकार (परिग्रहस्य) बाह्य परिग्रह की (अतिव्याप्तिः) अतिव्याप्ति (स्यात्) होती है (इति चेत्) यदि ऐसा कहते हो तो (एवं) ऐसा (न भवेत्) नहीं होता (यस्मात्) कारण कि (अकषायाणां) कषायरहित अर्थात् वीतरागी पुरुषों को (कर्मग्रहणे) कार्मणवर्गणा के ग्रहण में (मूर्च्छा) मूर्च्छा (नास्ति) नहीं है।

टीका : 'एवं परिग्रहस्य अतिव्याप्तिः स्यात् इति चेत् न एवं भवेत् यस्मात् अकषायाणां कर्मग्रहणे मूर्च्छा नास्ति' -

अर्थ : यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जो परिग्रह को मूर्च्छा उत्पन्न करने का निश्चयकारण कहते हो तो (मूर्च्छा परिग्रहः) इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आता है। क्योंकि अरहन्त अवस्था में भी कार्मणवर्गणा तथा नोकर्मवर्गणा - इन दोनों के ग्रहणरूप परिग्रह है, वहाँ भी मूर्च्छा हो जायेगी। तो ऐसा नहीं है, कारण कि कषायरहित जीवों के कर्म-नोकर्म का ग्रहण होने पर भी मूर्च्छा अर्थात् ममत्वपरिणाम नहीं हैं।

भावार्थ : अतिव्याप्ति तो तब हो, जब निष्परिग्रही वीतरागी महापुरुषों के मूर्च्छा हो, किन्तु वह तो उनके होती नहीं, अतः अरहन्त वीतरागी भगवान के कर्म-नोकर्म का ग्रहण होने पर भी मूर्च्छा के अभाव से परिग्रह नहीं कहलाती, इसलिए अतिव्याप्ति दोष नहीं है। बाह्यवस्तु, मूर्च्छा उत्पन्न करने में कारणमात्र है; इसलिए उसको उपचार से परिग्रह कह दिया है। परमार्थ से तो परिग्रह का लक्षण मूर्च्छा ही है।।११४।।

गाथा ११४ पर प्रवचन

शंकाकार की शंका ११४।

एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम्।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छास्ति।।११४।।

लो! दृष्टान्त दिया। **इस प्रकार बाह्य परिग्रह की अतिव्याप्ति होती है - यदि ऐसा कहते हो तो ऐसा नहीं होता...** अर्थात् जहाँ मेल नहीं खाता परिग्रह मूर्च्छा का ऐसा भी नहीं है। **कारण कि कषायरहित अर्थात् वीतरागी पुरुषों को...** देखो! यह वीतरागी मुनि हैं, केवली, उन्हें **कार्मणवर्गणा के ग्रहण में मूर्च्छा नहीं है।** उन्हें कर्म के परमाणु आते हैं, योग का निमित्त है; इसलिए केवली को परमाणु आते हैं। कहो, समझ में आया? आत्मा में अन्दर मूर्च्छा नहीं, ममत्व नहीं। मिथ्यात्व भी नहीं और राग-द्वेष भी नहीं। ग्यारह, बारह, तेरह। तथापि उस कर्म के रजकण योग के कारण, कम्पन है न, (इसलिए) आते हैं। परन्तु कम्पन ही जहाँ मेरा नहीं, वहाँ और परमाणु उसका वह तो ममत्व का निमित्त भी नहीं है। इसलिए उसे मूर्च्छा है नहीं। समझ में आया? गजब मार्ग। दृष्टान्त देकर कितना स्पष्ट किया है।

कारण कि कषायरहित अर्थात् वीतरागी पुरुषों को कार्मणवर्गणा के ग्रहण में... है न? कर्मग्रहण यह शब्द पड़ा है न? ग्रहण शब्द से योग कम्पता है, इसलिए परमाणु वहाँ निमित्तरूप से आते हैं। ऐसा सम्बन्ध जो है, वह मूर्च्छा के बिना उसे परिग्रहपने को प्राप्त नहीं होता। वह ग्रहण करता है - ऐसा नहीं कहा जाता। योग ही जहाँ उसका नहीं। समझ में आया? सर्वज्ञ परमेश्वर को एक कम्पन तेरहवें में रहा। ग्यारह, बारह, तेरह आ गया। अकषायभाव हो गया, वीतरागभाव हुआ है। कम्पन है, परमाणु आते हैं, तथापि उसे मूर्च्छा नहीं; इसलिए ग्रहण करते हैं, इसलिए वहाँ मूर्च्छा है, ऐसा अतिव्याप्तिपना वहाँ लागू नहीं पड़ता। समझ में आया? देखो न! कितनी बात की है! ओहो..हो..! चरणानुयोग का ग्रन्थ। न्याय से इतनी बात को कसा, कसा, कसा है। समझ में आया?

'एवं परिग्रहस्य अतिव्याप्तिः स्यात् इति चेत् न एवं भवेत् यस्मात् अकषायाणां कर्मग्रहणे मूर्च्छा नास्ति' - यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जो परिग्रह को मूर्च्छा

उत्पन्न करने का निश्चयकारण कहते हो... तो कर्म ग्रहण तो उन्हें भी है। कहो, बाह्य परिग्रह स्थापित किया न यहाँ? वहाँ वापस उत्थापित करते हैं। वह तो यहाँ ममता हो तो उसे निमित्त परिग्रह कहा जाता है; ममता न हो तो ग्रहण-व्रहण परिग्रह है नहीं।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु कर्म के रजकण आते हैं या नहीं? जगत की बिना दी चीज़ आयी या नहीं वहाँ? परन्तु व्यवहार में उसे चोर नहीं कहा जाता, उस स्थिति का वर्णन यहाँ तो न्याय देकर करते हैं। कि कर्म ग्रहण होता है, यदि तुम बाह्य परिग्रह को मूर्च्छा का निमित्त कारण कहकर उसे बाह्य परिग्रह कहोगे तो इन्हें कर्म ग्रहण है और अभ्यन्तर परिग्रह नहीं तो उसका क्या हुआ? यह अतिव्याप्ति हो गयी। बाह्य परिग्रहपना ममता को प्राप्त नहीं हुआ और तुम कहते हो बाह्य परिग्रहपना ममता का कारण है। परन्तु जिसे ममता है, उसे बाह्य परिग्रह ममता का कारण है; नहीं है, उसे बाह्य परिग्रह ममता का कारण नहीं है। कितनी न्याय से बात करते हैं। समझ में आया? निश्चय भाषा प्रयोग की है न? वास्तव में है कारण?

तो (मूर्च्छा परिग्रहः) इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आता है। क्योंकि अरहन्त अवस्था में भी कार्मणवर्गणा तथा नोकर्मवर्गणा - इन दोनों के ग्रहणरूप परिग्रह है... लो! इस शरीर के रजकण भी आते हैं भगवान को और कर्म के रजकण आते हैं, दोनों आते हैं, देखो! तो उन्हें बाह्य आते हैं, उसे यदि ममता का वास्तविक कारण कहोगे तो वहाँ भी मूर्च्छा लागू पड़ेगी, अतिव्याप्ति हो जायेगा। कि नहीं, ऐसा नहीं है। बाह्य में आवे तथापि मूर्च्छा नहीं है, उसे मूर्च्छा का निमित्त कहने में नहीं आता, उसे परिग्रह कहने में नहीं आता। समझ में आया इसमें? कितने पहलुओं से बात करते हैं, अकेले न्याय से बात करते हैं।

वहाँ भी मूर्च्छा हो जायेगी। तो ऐसा नहीं है, कारण कि कषायरहित जीवों के कर्म-नोकर्म का ग्रहण होने पर भी मूर्च्छा अर्थात् ममत्वपरिणाम नहीं हैं। समझ में आया? इसलिए वहाँ परिग्रहपने को प्राप्त नहीं होता। कर्म का ग्रहण और शरीर के रजकण भगवान को आते हैं परन्तु वह उन्हें परिग्रहपना प्राप्त नहीं होता क्योंकि मूर्च्छा हो तो निमित्तपना प्राप्त हो, मूर्च्छा न हो तो प्राप्त नहीं होता - ऐसा सिद्ध करते हैं, भाई! क्या कहा? समझ में आया? मूर्च्छा हो तो निमित्तपने को प्राप्त हो, मूर्च्छा न हो तो निमित्तपने को

प्राप्त नहीं होता। इसलिए अतिव्याप्ति दोष नहीं लगता। आहा..हा..! **मूर्च्छा हो जायेगी। तो ऐसा नहीं है, कारण कि कषायरहित जीवों के कर्म-नोकर्म का ग्रहण होने पर भी मूर्च्छा अर्थात् ममत्वपरिणाम नहीं हैं।**

भावार्थ : अतिव्याप्ति तो तब हो जब निष्परिग्रही वीतरागी महापुरुषों के मूर्च्छा हो,... यह वस्तु आवे, उसमें इनकी मूर्च्छा हो। **किन्तु वह तो उनके होती नहीं, अतः अरहन्त वीतरागी भगवान के कर्म-नोकर्म का ग्रहण होने पर भी मूर्च्छा के अभाव से परिग्रह नहीं कहलाती...** मूर्च्छा हो तो परिग्रह नाम प्राप्त हो। उपादान में कार्य हो तो निमित्त कहने में आवे। यहाँ कार्य नहीं होता तो निमित्त ऐसा कहने में नहीं आता। गजब बात करते हैं। समझ में आया?

इसलिए अतिव्याप्ति दोष नहीं है। बाह्यवस्तु मूर्च्छा उत्पन्न करने में कारणमात्र है... बाह्यवस्तु मूर्च्छा उत्पन्न करने में कारणमात्र है, उत्पन्न हो उसे। **इसलिए उसको उपचार से परिग्रह कह दिया है। परमार्थ से तो परिग्रह का लक्षण मूर्च्छा ही है।** आहा..हा..! कितनी सरस बात है! उपादान, निमित्त का भी स्पष्ट कर डाला, लो! वे कहते हैं देखो, निमित्त था और आया, राग हुआ या नहीं? कि नहीं; राग हुआ, तब उसको निमित्त कहने में आता है। भगवान को कर्म और शरीर होते हैं, तथापि मूर्च्छा कहने में नहीं आती। मूर्च्छा नहीं होती। कहो, बराबर है।

गाथा - ११५

परिग्रह के भेद

अतिसंक्षेपाद् द्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु।।११५।।

वह परिग्रह संक्षेप में, अंतरंग बहिरंग है द्विविध।
है प्रथम चौदह भेदयुत, बहिरंग होता है द्विविध।।११५।।

अन्वयार्थ : (स) वह परिग्रह **(अतिसंक्षेपात्)** अत्यन्त संक्षेप से **(आभ्यन्तरः)**

अन्तरंग (च) और (बाह्यः) बहिरंग (द्विविधः) दो प्रकार का (भवेत्) है (च) और (प्रथमः) पहला अन्तरंग परिग्रह (चतुर्दशविधः) चौदह प्रकार का (तु) तथा (द्वितीयः) दूसरा बहिरंग परिग्रह (द्विविधः) दो प्रकार का (भवति) है।

टीका : 'स (परिग्रहः) अति संक्षेपात् द्विविधः आभ्यन्तरः बाह्यश्च प्रथमः (आभ्यन्तरः) चतुर्दशविधः भवति द्वितीयस्तु द्विविधः भवति' - अर्थ :- वह परिग्रह संक्षेप में दो प्रकार का है। पहला आभ्यन्तर, दूसरा बाह्य। अन्तरंग आत्मा के परिणाम को आभ्यन्तर परिग्रह कहते हैं और बाहर के सभी पदार्थों को बाह्य परिग्रह कहते हैं। पहला परिग्रह चौदह प्रकार का है तथा दूसरा बाह्य परिग्रह दो प्रकार का है।।११५।।

गाथा ११५ पर प्रवचन

परिग्रह के भेद (संक्षेप में) भेद। अब परिग्रह के संक्षिप्त में भेद (कहते हैं)

अतिसंक्षेपाद् द्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु।।११५।।

वह परिग्रह अत्यन्त संक्षेप से... सामान्य से कहें, अन्तरंग और बहिरंग दो प्रकार का है और पहला अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकार का तथा दूसरा बहिरंग परिग्रह दो प्रकार का है। चौदह प्रकार, दो प्रकार।

टीका : वह परिग्रह संक्षेप में दो प्रकार का है। पहला आभ्यन्तर, दूसरा बाह्य। अन्तरंग आत्मा के परिणाम को आभ्यन्तर परिग्रह कहते हैं और बाहर के सभी पदार्थों को बाह्य परिग्रह कहते हैं। बाह्य के सब पदार्थों को बाह्य परिग्रह कहते हैं। देखो, सब शब्द प्रयोग किया है, परन्तु यहाँ ममता हो तो। नहीं तो सबको उसमें आ गया। कर्म शरीर, ग्रहण वह आ गया, परन्तु यहाँ मूर्च्छा करे तो निमित्तपने को प्राप्त होता है, मूर्च्छा न करे तो निमित्तपने को प्राप्त नहीं होता। थोड़ा अन्तर लगे परन्तु अन्तर बड़ा पूर्व-पश्चिम का है। वह कहे कि यह बाह्यपरिग्रह.. न्यालचन्दभाई! वह कहे बाह्यपदार्थ वह ममता का कारण है। यह कहते हैं-नहीं, ममता करे तो उसे निमित्त और उपचारपरिग्रह कहने में आता है। वह कहे कि हम यहाँ से कहते हैं और तुम यहाँ से कहते हो। परन्तु पूरा बड़ा अन्तर है। सुन न!

गाथा - ११६

आभ्यन्तर परिग्रह के चौदह भेद

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड् दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः।।११६।।

मिथ्यात्व चारों कषायें, त्रय वेदराग रति अरति।
भय शोक हास्य रु जुगुप्सा, छह दोष चौदह प्रथम ही।।११६।।

अन्वयार्थ : (मिथ्यात्ववेदरागाः) मिथ्यात्व, स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेद का राग (तथैव च) इसी तरह (हास्यादयः) हास्यादि अर्थात् हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, यह (षड् दोषाः) छह दोष (च) और (चत्वारः) चार अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्यानावरणी और संज्वलन यह चार (कषायाः) कषायभाव - इस भाँति (आभ्यन्तराः ग्रन्थाः) अन्तरंग परिग्रह (चतुर्दश) चौदह हैं।

टीका : 'आभ्यन्तराः ग्रन्थाः मिथ्यात्ववेदरागाः तथैव हास्यादयः षट् दोषाः च चत्वारः कषायाः - चतुर्दश (भवन्ति)' - अर्थ :- आभ्यन्तर परिग्रह १४ प्रकार का है। (१) मिथ्यात्व (तत्त्वार्थ का अश्रद्धानरूप मिथ्यात्वभाव), (२) पुरुषवेद (स्त्री अभिलाषरूप परिणाम), (३) स्त्रीवेद (पुरुष के अभिलाषरूप परिणाम), (४) नपुंसकवेद (स्त्री-पुरुष दोनों के अभिलाषरूप परिणाम), (५) हास्य, (६) रति, (७) अरति, (८) शोक, (९) भय, (१०) जुगुप्सा, (११) क्रोध, (१२) मान, (१३) माया, (१४) लोभ यह १४ आभ्यन्तर परिग्रह हैं।।११६।।

गाथा ११६ पर प्रवचन

आभ्यन्तर परिग्रह के चौदह भेद लो! मिथ्यात्व पहला परिग्रह आया।

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड् दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः।।११६।।

आभ्यन्तर ग्रन्थ, आभ्यन्तर परिग्रह, आभ्यन्तर गाँठ। यह मिथ्यात्व परिग्रह की तो खबर नहीं होती। दीपचन्दजी! बस! वस्त्र-पात्र छोड़ दो, नग्न हो जाओ। यहाँ तो देखो, **मिथ्यात्व,..** यह पहले में पहला परिग्रह है। आहा..हा..! विपरीत मान्यता, वह पहला परिग्रह है, महापरिग्रह है। उस परिग्रह के माप की खबर नहीं होती और यह बाह्य परिग्रह इतना रखा और इतना छोड़ा, इतना रखा और इतना छोड़ा—यह बात ही—ग्रहण-त्याग की बात ही अत्यन्त झूठी है। समझ में आया? पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है, आया है या नहीं तुम्हारे? मोहनभाई! आया है वहाँ? ले जाना यहाँ से। दो भाई! है या नहीं अपने? भेंटरूप से तो दो! पढ़ेगा। दो लानेवाले थे शनिवार को, उसके बदले गुरुवार को आये, लो! आत्मसिद्धि के प्रवचन हैं? भाई! आत्मसिद्धि प्रवचन होंगे वहाँ, ले गये? इसे पहले देखा न, इसलिए कहा कि यह क्या है नाम? कहो, समझ में आया इसमें? आहा..हा..!

आचार्यों ने गजब काम किया है। इस मिथ्यात्व को हिंसा कहेंगे, हों! यहाँ आगे (कहेंगे)। हिंसा-अहिंसा का लक्षण ११८ में बाँधेंगे। यह मिथ्यात्व, वही महाहिंसा है और सम्यग्दर्शन, वह महा-अहिंसा है। उस हिंसा-अहिंसा की खबर नहीं होती। समझ में आया? छह काय की हिंसा छोड़ दो, छह काय की हिंसा छोड़ दो।

मुमुक्षु : परन्तु अपनी हिंसा करे, उसमें क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु पर की हिंसा कर कौन सकता है? तेरे राग को कर। वहाँ वे कहे, ऐई! पर का किया.. परन्तु पर का कर नहीं सकता, सुन न! उसमें ऐसा आया है। आता है न, बन्ध अधिकार में? वे घात करते हैं और उसे नहीं लगता, हिंसा जाती है—हिंसा जाती है पुद्गल में, ऐसा लिखा है। समझ में आया? कलश-टीका में होगा। पुद्गल में जाती है, ऐसा लिखा है, पुद्गल में, हों! हिंसा, वह पर की क्रिया में जाती है, आत्मा में नहीं, आत्मा ने तो उसका मूर्च्छाभाव किया, वह उसकी हिंसा है, उसमें पहली मिथ्यात्व नाम की महाहिंसा है। विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, गाथा ११६। परिग्रह की व्याख्या चलती है। परिग्रह, वह पाप है और परिग्रह, वह हिंसा है। दोनों, हिंसा कहो या परिग्रह कहो। परिग्रह कहो या हिंसा कहो।

मुमुक्षु : किसी हिंसा?

पूज्य गुरुदेवश्री : अपने शुद्धस्वरूप की सावधानी की हिंसा। शुद्धस्वभाव चैतन्य का (जो है), उसकी सावधानी नहीं रहकर, रागादि या बोलने आदि या हिलने आदि पर्याय में सावधानी हो जाये, वह मिथ्यात्वभाव है। उसे हिंसा कहते हैं।

फिर से - अपने कहाँ झट छोड़ देते हैं। पहला मिथ्यात्व परिग्रह है। आत्मा ज्ञान-शुद्ध चैतन्यस्वरूप की पकड़ छोड़कर कुछ भी बहिर्मुख वृत्ति उत्पन्न हो... अन्तर्मुख स्वभाव की सावधानी की दृष्टि छोड़कर बहिर्मुख की जितनी वृत्तियाँ / विकल्प - पुण्य-पाप, दया, दान, शरीर आदि की अवस्थायें (हों), उनमें सावधानपना होकर, उनकी पकड़ दशा होने का नाम मिथ्यात्व परिग्रह और उसका नाम मिथ्यात्व हिंसा कहने में आता है। कहो, समझ में आया? बहुत सूक्ष्म।

मुमुक्षु : आज तो भावनगर का दिन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, भावनगर का दिन है। ऐई! जयन्तीभाई! भावनगर का दिन है न? तब सूक्ष्म ही आता है - ऐसा कहते हैं।

यहाँ तो कहते हैं कि **'मिथ्यात्ववेदरागाः'** ऐसे तीन शब्द की व्याख्या है। मिथ्यात्व, वह आभ्यन्तर परिग्रह है। मिथ्यात्व अर्थात् शुद्धस्वभाव, ज्ञानस्वरूप ज्ञातादृष्टा की अन्तर में सावधानी छोड़कर आत्मा के अतिरिक्त पर छह द्रव्य या क्रोध, मान, रागादि, मान, लोभ आदि विकल्पों की पकड़ होना कि यह मैं हूँ और इसमें मुझे लाभ है—ऐसा मिथ्यात्वभाव,

जो असत्यभाव-सत्यस्वरूप से विपरीतभाव-उसे परिग्रह कहते हैं और उसे हिंसा कहते हैं। आहा..! दास! गजब बात, भाई! देवशीभाई! क्या हुआ?

वस्तु चिदानन्द ज्ञानस्वरूप ज्ञातादृष्टा, वही उसका स्वरूप है, उससे आगे जाकर किसी भी विकल्प की वृत्ति उठे, उसमें एकत्वबुद्धि और लाभबुद्धि (माने)—मैं कुछ लाभ के मार्ग में, लाभ के व्यापार में हूँ—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, (वह) मूल परिग्रह है। वह मूल परिग्रह है; दूसरा रागादि परिग्रह है, वह सामान्य है और बाह्य का परिग्रह तो यह ममत्व करे तो निमित्त कहलाता है, वह उपचार से परिग्रह है।

परिग्रह के तीन प्रकार—एक आभ्यन्तर परिग्रह; उसके दो प्रकार - एक मिथ्यात्व परिग्रह और उसके अतिरिक्त के राग-द्वेष, हास्य, वेदना आदि वेद का उदय आदि का राग वह। परन्तु वह परिग्रह, मन्द परिग्रह है। मिथ्यात्व परिग्रह तीव्र परिग्रह है। महा आरम्भी और महा परिग्रही कहने में जो आता है कि यह जीव महा आरम्भी और महा परिग्रही है। आगे जरा लेंगे। महा आरम्भ और महापरिग्रह होता है न, ऐसा कहे कि मुझे नहीं, वह तो भाव में नहीं ऐसा कहे, वह मिथ्या कहेंगे आगे। बिल्ली का दृष्टान्त देकर।

उन्दुरु, उन्दुरु किया **उन्दुरु** अर्थात् क्या? **उन्दुरुरिपु** चूहे का रिपु। है न कहीं? देखो १२० में है। **उन्दुरुरिपु** रिपु तो ठीक १२० है न? **उन्दुरु** ऐसा है चूहा ऐसा नहीं। उसका (अर्थ) उन्दर होता होगा? **उन्दुरु** शब्द है आगे फिर मन्थन कहेंगे। चूहे के टोले को मन्थन करे, ऐसी बिल्ली मारनेवाली और हिरण के बच्चे हरितकाय को खावें वे। **उन्दुरु** यह तो **उन्दुरु** शब्द क्यों है? इतना ही वह, संस्कृत अर्थ ऐसा होता होगा? चूहे का **उन्दुरु** होता होगा। वहाँ तो ऐसा कहेंगे कि माँस खानेवाली बिल्ली को महातीव्र परिणाम है और हिरण के बच्चे को हरीघास खाने में मन्द ममता है, ऐसा कहेंगे। दूध की मिठासवाले को मिठास की अल्पता, अल्प राग है। शक्कर की मिठासवाले को तीव्र राग है। मिठास में अन्तर है तो उसकी आसक्ति में अन्तर है, ऐसा जरा वहाँ इतनी बात थोड़ी करेंगे। समझ में आया?

यहाँ तो यह सिद्धान्त कि यह आत्मा ज्ञानमूर्ति सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वज्ञ परमेश्वर केवलज्ञानी परमात्मा ने जो आत्मा देखा असंख्य प्रदेश अनन्त गुण का रूप-स्वरूप, उसकी एकाग्रता सावधानी-वह मैं-ऐसा छोड़कर बहिर्मुख की जो वृत्ति होती है, विकल्प आदि वे मेरे, उनका मैं, वे मुझे लाभदायक - ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वह पहला महा

परिग्रह और हिंसा है। आहा..हा..! वीतराग का मार्ग.. कहो, समझ में आया? जीव अधिकार में आता है न? वे धर्मादि और क्रोधादि, नहीं? उसका अर्थ ही यह है कि वे मेरे नहीं। मोह आदि वे मेरे नहीं। मेरे नहीं; उन्हें मेरा मानता है, छह द्रव्य मेरे नहीं। मेरे नहीं का अर्थ क्या? मुझे उस ओर के विकल्प से कुछ लाभ होता है, ऐसी जो मान्यता, उसे यहाँ मिथ्यात्व कहते हैं। और उस मिथ्यात्व की पकड़ है, इसलिए उसे मिथ्यात्वपरिग्रह कहा जाता है और उसमें स्वरूप भगवान आत्मा अविकारी शुद्ध चैतन्यस्वरूप की सावधानी चूका है, इसलिए उसे हिंसा कहते हैं। पकड़ है, इसलिए परिग्रह है। समझ में आया?

मुमुक्षु : हिंस्यतिहिंसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : हिंस्यतिहिंसा। भगवान आत्मा ज्ञानानन्द शुद्धचैतन्यस्वभाव की ज्ञातादृष्टा की प्रतीति, अनुभव, आश्रय, अवलम्बन, एकाग्रता छोड़कर जितना उस राग के मन्दराग में भी एकाग्र होकर लाभबुद्धि से (प्रवर्तता है), कोई व्यापार करे तो लाभबुद्धि माने न? कि मैं कुछ करता हूँ, वह लाभ के लिये। रागादि, शुभ आदि की ओर के झुकाव का भाव वह मुझे लाभदायक है—ऐसी जो मान्यता है, उसे यहाँ प्रथम मिथ्यात्वरूपी परिग्रह आभ्यन्तर में पहले प्रकार का (परिग्रह) कहने में आता है। समझ में आया?

वीतराग का मार्ग अपूर्व अलौकिक है। ११८ में कहेंगे, हिंसा-अहिंसा की व्याख्या करते हुए (कहेंगे)। **सिद्धान्त को जाननेवाले आचार्यों ने...** आहा..हा..! शास्त्रों के जाननेवाले। शास्त्र में ऐसा कहा है - ऐसा कहेंगे। चार अनुयोगद्वार शास्त्र-भगवान की वाणी जो आयी है, उस वाणी के जाननेवाले शास्त्रज्ञ, वे **जिनप्रवचनज्ञाः** ऐसा कहेंगे। उन जिन परमात्मा के प्रवचन, शास्त्रों के जो जाननेवाले हैं, वे राग की उत्पत्ति को लाभदायक मानें, उसे मिथ्यात्व और उसे हिंसा, शास्त्र के जाननेवाले कहते हैं। कहो, जयन्तीभाई! आहा..हा..! गजब बात भाई! यह। ऐई! देवानुप्रिया! समझ में आया या नहीं?

कहते हैं कि मिथ्यात्व, वह पहला अभ्यन्तर परिग्रह है। यह क्या? दर्शनमोह का? यह नहीं, अपना शुद्ध चैतन्यस्वभाव, उसकी ओर की सन्मुखता छोड़कर परसन्मुखता होने पर विकल्पों की बहिर्बुद्धि में यह मुझे लाभदायक है, बस! यह मान्यता मिथ्यात्व है और वह परिग्रह है और वह ममता है, वह मूर्च्छा है, वह हिंसा है। आहा..हा..! मिथ्यात्व है, वह परिग्रह है, मूर्च्छा है, वह ममता है, वह हिंसा है - इतने बोल आये। वह झूठ है, वह चोरी

है, वह अब्रह्म है, वह परिग्रह है, वह क्रोध, मान, माया, जो कहो वह, वही है। समझ में आया? आहा..! यह पहला परिग्रह आभ्यन्तर।

स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेद का राग... राग का भाग है न तीनों? स्त्री के वेद का रागभाग, पुरुष का रागभाग, नपुंसक का राग, वह राग स्वयं परिग्रह है। वह पुरुषवेद की वासना होना, स्त्रीवेद की होना और नपुंसकवेद का राग, वह विकल्प है, वासना है, वह हिंसा है, वह परिग्रह है। समझ में आया? **इसी तरह हास्यादि...** छह दोष, ऐसा शब्द प्रयोग किया है। **षड् दोषाः** हास्यभाव, वह दोष है, वह पाप है, वह परिग्रह है, वह हिंसा है। भगवान ज्ञानस्वरूप में हास्य कैसा? वह तो ज्ञानस्वरूप भगवान जाननेवाला, जाननेवाला-देखनेवाला, उसमें कुतूहलता कैसी? कुतूहलता का-हास्य का विकल्प, वह परिग्रह है। वह आत्मा में हिंसा होती है। आहा..!

'केवलीपण्णत्तो धम्मो शरणं' वह यह। ऐसा राग और हिंसा छोड़कर आत्मा की दृष्टि और स्थिरता करना, वह अहिंसा, वह 'केवलीपण्णत्तो धम्मो शरणं' है। वापस बातें तो सब करे मांगलिक बोले तब। मांगलिक सुनाओ। अरिहंता मंगलम्, सिद्धा मंगलम्, साहू मंगलम्,... परन्तु क्या वस्तु? उसका वाच्यभाव क्या? भगवान जाने, हो गया।

कहते हैं, हास्यभाव, आहा..हा..! जहाँ अकेला ज्ञानभाव, अकेला ज्ञानभाव है, उसमें हास्यभाव परिग्रह है, वह हिंसा है। समझ में आया? इसलिए धर्मार्थी को आत्मा के लिये उसे छोड़ना। परिग्रह त्याग, ऐसा बतायेंगे न? मिथ्यात्व का त्याग, वेद-वासना का त्याग, हास्य की कल्पना का त्याग। समझ में आया?

रति,.. प्रसन्न होना। प्रसन्न, अन्दर में राग (हो), वह प्रसन्नता, राग का एक भाग है। रति, वह परिग्रह है, वह हिंसा है। भगवान आत्मा की अहिंसा जिसमें लुटती है। यह अहिंसा वह आत्मा का स्वभाव है। पहली पर की दया का भाव वह स्वभाव कहते हैं - अभी बहुत आती है यह बात। अरे भगवान! तुझे खबर नहीं भाई! समझ में आया? अपने जीवित / विद्यमान ज्ञान, दर्शन, आनन्द के विद्यमान भाव। लो! पहले जीवन्त ऊपर से आया। विद्यमान अर्थात् होनेवाला, सत्ता.. सत्ता... सत्ता... ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति... शान्ति अर्थात् चारित्र, ऐसे जो स्वभावरूप भाव, उनका होनेवाला जो पदार्थ, ऐसे पदार्थ का अन्तर में सत्स्वरूप से उसका स्वीकार नहीं और यह रति-अरति के विकल्प का स्वीकार

(होना, वह) परिग्रह है। समझ में आया? यह परिग्रह, वह पाप है; पाप, वह हिंसा है। अपने स्वरूप की हिंसा है। आहा..हा..!

सर्वज्ञ परमेश्वर के अतिरिक्त यह बात कहीं नहीं हो सकती, क्योंकि उन्हें जैसा सूक्ष्म स्वभाव अहिंसक चैतन्यमूर्ति, पूर्ण प्रत्यक्ष—वह वाणी में आया कि भाई! यह रति-अरति का विकल्प उठता है, खुशी-दिलगिरि, वह सब भाव परिग्रह है, ममता है, मूर्च्छा है, पाप है और हिंसा है। आहा..हा..! दया, धर्म का मूल है - आता है न? वह यह दया। ऐई! तुम्हारे आता है न? 'गढडा' में बहुत आता था। घड़ियाल के समीप बड़ा लिखा था। दया, धर्म की क्या कहा? 'दया वह सुख की बेलडी, दया वह सुख की खान' यह। पहला तो तुलसी का है। यह तो यहाँ स्थानकवासी में है। 'दया वह सुख की बेलड़ी, दया वह सुख की खान, अनन्त जीव मुक्ति गये...' देखो! हमारे भगवानभाई को वहाँ सब तैयार था, इसे सब याद था पहले। ये कल कहे - अरे रे! सब विपरीत रास्ते पर थे। अनन्त जीव मुक्ति में गये, परन्तु वह कौन सी दया? यह दया। आहा..हा..! भगवान आत्मा, राग के विकल्परहित शुद्ध उपयोगरूपी परिणति को भगवान दया और अहिंसा कहते हैं। उस दया द्वारा अनन्त (जीव) मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। समझ में आया? व्याख्या बहुत अलग, हों! प्रवीणभाई! सब बात भी अलग। बाहर में, अन्यमत में तो नहीं और जैन में भी ऐसा सुनने को मिला नहीं हो।

रति, अरति, शोक,... पुत्र आदि मरने से अन्दर शोक हो जाये, धक्का लग जाये। हाय.. हाय..! प्रिय चीज़ का वियोग, प्रिय चीज़ का वियोग, ऐसा जो शोक। आहा..हा..! कोई चीज़ अच्छी हो, खो गयी, गिर गयी, मर गया, शोक हो जाता है। पाँच लाख की पूँजी हो, उसमें एकदम सट्टा में पाँच लाख में से दो लाख, तीन लाख गये तो ऐसे दिलगिरी (शोक छा जाता है) शोक, शोक (हो जाता है) कहते हैं कि शोक परिग्रह है, पाप है, हिंसा है।

भय,.. भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप में भय कैसा? वह तो निर्भयस्वरूप भगवान है। उसमें भय, त्रास। कोई अपनी बात कुछ जान जायेगा, (उसका) भय, वह भय है, वह परिग्रह है। समझ में आया? बाह्य भले परिग्रह न हो, परन्तु यह अन्दर का भाव उसे परिग्रह है।

भय, जुगुप्सा... ग्लानि, ग्लानि। सड़ा हुआ कुत्ता, बिल्ली देखी, शरीर दुर्गन्ध दे रहा हो, बड़ा जख्म पड़े, जख्म। शरीर सड़ता है न? अपना शरीर ऐसा सड़े कि जिसे हलुवा खाना कठिन पड़े, ऐसी गन्ध मारे। दो मिनिट में हलुवा ऐसा हो जायेगा। एक सेठ था, उसे यह सड़ा, हमारे उमराला का था। वनमाली सेठ। यह सड़ा, कमरे पर पड़ा रहे। रोटी, दाल, खायी जाये नहीं, देर लगे, वह गन्ध ऐसी मारे, हलुवा मुश्किल से थोड़ा ले। एकदम डाल दे, नहीं तो दुर्गन्ध मारे। कमरे पर बैठा था। हम आहार लेने गये थे, दर्शन करने गये थे। सीढ़ियों में खड़ा रहा, सामने बैठा था। यह सड़े, यह सड़े। जख्म ऐसी गन्ध मारे, ऐसी गन्ध मारे। उसे एक मिनिट में ऐसे उतारना.. कहते हैं कि उसकी ग्लानि, वह तो पर्यायधर्म जड़ का है। समझ में आया?

एक बनिये को देखा था। ऐसे सड़ गया, गधा सड़े वैसे यह शरीर सड़ गया। ऐसे साथ में कहे मांगलिक सुनाओ, महाराज! ऐसे सुनाने गये तो दुर्गन्ध मारे, ऐसी गन्ध। स्त्री कहे, यह महाराज आये हैं। महाराज सबेरे चले जायेंगे, गाँव में आये हैं, अपने हाथ जोड़ कर लो अभी, अभी नहीं। रात्रि में मरना। गधे जैसा, यहाँ गन्ध ऐसी मारे, ऐसी मारे। महिलाओं को ऐसा कि अरे! मुश्किल से यह योग आया और स्थिति ऐसी हो गयी। शूरवीर का पुत्र कहे - अभी नहीं। कदाचित् इसमें अच्छा हो जाये तो और.. उम्र भी ६०-६५ वर्ष हो गयी थी। कौन जाने जीवित रहे तो। ममता, वह जगत को... कहते हैं कि ग्लानि की वृत्ति हो, वह परिग्रह है, पाप है, स्वरूप की शान्ति की हिंसा है। भगवान आत्मा शान्तस्वरूप है, उसकी एक हिंसा है।

यह छह दोष... छह दोष कहे ये। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा **और चार अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्यानावरणी और संज्वलन यह चार...** फिर इनके चार (चार) भेद सोलह होते हैं। **यह चार कषायभाव - इस भाँति अन्तरंग परिग्रह चौदह हैं।** लो! अनन्तानुबन्धीभाव, वह परिग्रह है। देखो! मिथ्यात्व का परिग्रह अलग लिया और अनन्तानुबन्धी का अलग। उसके अभाव का भी अलग भाव है।

मुमुक्षु : स्वरूपाचरण स्थिर करने के लिये है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, स्वरूपाचरण है न परन्तु उसका। कहो, समझ में आया?

मिथ्यात्व परिग्रह छूटे तो सम्यग्दर्शन हो। अनन्तानुबन्धी छूटे तो स्वरूपाचरण स्थिरता हो। समझ में आया? अरे! इसे मुश्किल से मनुष्यपने का अवसर मिला। चौरासी के अवतार में से कहाँ निगोद-नरक में था, उसमें कुछ आया यहाँ, वहाँ तो हो गया। इसे ऐसा ही हो गया, अब इसकी सब सम्हाल और इसकी व्यवस्था वर्तमान में जो मिला, उसकी व्यवस्था में दूसरी की अपेक्षा अधिक गिना जाऊँ अर्थात् हम बड़े हुए। मोहनभाई!

कहते हैं ये सब अनन्तानुबन्धी का क्रोध, मान, माया और लोभ, वह परिग्रह है। पश्चात् अप्रत्याख्यानावरणीय के चार, प्रत्याख्यानावरणीय, संज्वलन के चार (चार), यह सोलह परिग्रह है। कहो, समझ में आया? आभ्यन्तर परिग्रह चौदह हुए, लो! इस टीका के बोल चौदह हो गये। चौदह अभ्यन्तर ममत्वभाव हैं। उसमें मिथ्यात्व का ममत्व महातीव्र परिग्रह और पाप है। उस परिग्रह की तो कीमत नहीं। कपड़ा रखे तो कहे इसने... कपड़ा छोड़ा तो त्यागी हो गया और कपड़ा रखा तो परिग्रही हो गया। कपड़ा रखा तो परिग्रह (और) कपड़ा छोड़ा, (इसलिए) निष्परिग्रह (हो गया)। आहा..हा..!

कहते हैं कि भाई! भगवान आत्मा चैतन्यप्रभु! पूर्ण आनन्द का कन्द जहाँ स्वभाव शुद्ध प्रभु स्वयं है। अप्पा, परमप्पा - स्वयं ही परमात्मस्वरूप ही है इसका। उसमें से जरा भी हटकर रागादि के विकल्प को ही यहाँ परिग्रह कहा है और उसकी पकड़ को ही मिथ्यात्वभाव कहा है। समझ में आया? ये चौदह परिग्रह हैं। वे त्यागने योग्य हैं, यह बाद में कहेंगे।

गाथा - ११७

बाह्य परिग्रह के दो भेद कहकर उसे हिंसामय बताते हैं :-

अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ।
नैषः कदापि संगः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम्।।११७।।

नित बाह्य परिग्रह द्विविध, चेतन अचेतन के भेद से।
हैं सभी परिग्रह सर्वदा, सर्वत्र हिंसामय रहें।।११७।।

अन्वयार्थ : (अथ) इसके बाद (बाह्यस्य) बहिरंग (परिग्रहस्य) परिग्रह के (निश्चित्तसचित्तौ) अचित्त और सचित्त यह (द्वौ) दो (भेदो) भेद हैं (एषः) यह (सर्वः अपि) सभी (संग) परिग्रह (कदापि) किसी भी समय (हिंसाम्) हिंसा का (न अतिवर्तते) उल्लंघन नहीं करते अर्थात् कोई भी परिग्रह कभी भी हिंसा रहित नहीं है।

टीका : 'अथ बाह्यस्य परिग्रहस्य निश्चित्त सचित्तौ द्वौ भेदौ (भवतः) एषः सर्वोऽपि (परिग्रहः) संगः हिंसाम् कदापि न अतिवर्तते' - अर्थ :- बाह्य परिग्रह अचेतन और चेतन के भेद से दो प्रकार का है। सोना, चाँदी, मकान, वस्त्रादि चेतनारहित पदार्थ अचित्त तथा पुत्र, कुलत्र, दासी, दासादि चेतनासहित पदार्थ सचित्त कहे जाते हैं। यह दोनों ही प्रकार के परिग्रह हिंसा का उल्लंघन नहीं करते अर्थात् कोई परिग्रह हिंसा बिना नहीं है।।११७।।

गाथा ११७ पर प्रवचन

बाह्य परिग्रह के दो भेद कहकर उसे हिंसामय बताते हैं :- यह अभ्यन्तर की बात की।

अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ।
नैषः कदापि संगः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम्।।११७।।

लो! **इसके बाद बहिरंग परिग्रह के अचित्त और सचित्त यह दो भेद हैं...** जीव और जड़ दो भेद हैं। **यह सभी परिग्रह किसी भी समय हिंसा का उल्लंघन नहीं करते...** ये चौदह परिग्रह और सचित्त, अचित्त। जीव-स्त्री, कुटुम्ब का आत्मा और पैसा आदि अजीव। ये सब हिंसा का उल्लंघन नहीं करते। सब में हिंसा है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **दो भेद हैं यह सभी परिग्रह...** अर्थात् चौदह और दो ये। **किसी भी समय...** कदापि **हिंसा का 'न अतिवर्तते' उल्लंघन नहीं करते अर्थात् कोई भी परिग्रह कभी भी हिंसा रहित नहीं है।** कहो, राग है, और हिंसा न हो - ऐसा नहीं है। मिथ्यात्व है और हिंसा नहीं - ऐसा नहीं होता।

दोनों एक ही पृष्ठ पर है, ६५ पृष्ठ पर है उसमें कुछ है, इसमें लिखा है। ६५ पृष्ठ पर

है, उसमें है ११७ पृष्ठ पर। आत्म-अवलोकन में ११७ पृष्ठ पर, आत्म-अवलोकन ११७, इसमें ६५। दस प्रकार परिग्रह। यह खेत, वह पुद्गल है। बाग, नगर, कूप, बाढ़, तालाब, नदी जितने पुद्गल कहें वे सब जड़ हैं, अजीव हैं। यह माता-पिता, कलत्र, पुत्र-पुत्री, स्त्री जितने स्वजन आदि, उनके शरीर, हों! सर्प, सिंह, बाघ, गज, महिष आदि जितने ये सब पुद्गल हैं, अन्दर का आत्मा अलग। यह शरीर जो देखे वह नहीं, शरीर को ही मानता है न यह स्त्री? यह मेरी माँ। शरीर वह सब पुद्गल मिट्टी है। यह तो मिट्टी है, यह सब, इसे कहे, यह मेरा पुत्र, यह मेरी पुत्री। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : था कब पुत्र? ऐई! वह कहे बापूजी, बापूजी! ये कहे मेरा पुत्र। कौन था? कहते हैं, धूल में भी नहीं। धूल में भी नहीं अर्थात्? जड़ और आत्मा को जैसे कोई सम्बन्ध नहीं, वैसे इसे कुछ सम्बन्ध नहीं। कुछ सम्बन्ध नहीं, कुछ लेना-देना। उसके कारण वह परिणमता है, इसके कारण यह परिणमता है। वर्तमान दोनों की पर्याय के बीच अत्यन्त अभाव। आहा..हा..! 'किसका लड़का और किसका बछड़ा?' उसमें आता है न? 'किसकी माँ और बाप, मरण के समय अन्त में जाना अकेला, साथ में पुण्य और पाप।'

मुमुक्षु : किन्तु वह तो मरण के समय न!

पूज्य गुरुदेवश्री : मरण के समय जाये, अभी वे हैं, ऐसा कहता है। अभी वह है। पुण्य और पाप तेरे साथ भाव हैं, भाव, हों! वे रजकण तो भिन्न रहे।

मुमुक्षु : ऐसा सुनने के बाद कोई सेवा नहीं करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : सेवा कौन कर सकता है? इसमें एक हमारे तुम्हारे दलाल कहते हैं कि दो वर्ष में आये और प्रेम न हो, ऐसा हो? वह धीरे बोल गया, धीरे बोल गया। दो वर्ष में आये... हमारे यह दलाल है। आहा..हा..! कहाँ द्रव्य और कहाँ द्रव्य के साथ सम्बन्ध! ओहो!

सिद्ध भगवान केवलज्ञान से लोकालोक को उदासरूप से जानते हैं। जानते हैं उदासरूप से, हों! आहा..हा..! ऐसा जीव का स्वभाव है। उनमें नहीं, वह यहाँ नहीं; उनमें है, वह यहाँ है। समझ में आया? उनमें नहीं पुण्य-पाप, विकल्प, शरीर, वाणी, मन, पुत्र

है उन्हें ? इसे भी नहीं। उनमें अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द पड़े हैं। वे यहाँ आत्मा अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द है। समझ में आया ? देखो ! यहाँ।

जितने दुष्ट अक्षर, शब्द, ये शब्द, शब्द वह सब पुद्गल, मिट्टी-धूल है। यह उठती है, वह धूल है, वह आत्मा कहाँ है ? अनक्षर शब्द आदि। यह ध्वनि उठती है न ? आवाज। बाग, गवयव, स्नान, भोग, संयोग, वियोग, क्रिया। जितनी परिग्रह मिलाप वह बड़ा परिग्रह... दरिद्र आदि जितनी क्रिया। चलना, बैठना, हिलना, बोलना, कंपना, आदि जितनी क्रिया। लड़ना-भिड़ना, चढ़ना-उतरना, पढ़ना-खेलना, गाना-बजाना जितनी क्रिया, सर्व पुद्गल का खेल जान। परमाणु की पर्याय है, भाई !

मुमुक्षु : यह तो भगवान की भक्ति का भी इनकार किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : भक्ति जड़ की-परमाणु की है। वह पर्याय आत्मा की कहाँ है ? वह राग होता है, वह शुभभाव है। वह शुभ है, ऐसा ही है, निश्चय से शुभराग भी हिंसा और परिग्रह है। ऐई ! वस्तु, वस्तु की स्थिति से रहेगी, किसी की कल्पना से दूसरा रूप होगा ? जैसे जिसकी मर्यादा है, वैसे वह रहेगी। आहा.. ! समझ में आया ?

इसलिए पुद्गल का जान, बापू ! द्रव्यकर्म, नोकर्म, सर्व पुद्गल का अखाड़ा है। उसमें तू चिदानन्द रंजन होता है, अपना जानता है। अपने दर्शन, ज्ञान, अनन्त गुण के अखाड़े में नहीं आता, ऐसा कहते हैं। परिणति पात्र नाचते हैं, स्वरूपरस उपजाते हैं, उसकी तुझे खबर नहीं ऐसा कहते हैं। बहुत लिखा है, हों ! आत्मावलोकन में भी है। अनुभव प्रकाश, आत्मावलोकन में ११७। अनुभवप्रकाश में ६५, ६५ पृष्ठ। देखो ! यही शब्द हैं सब। परिग्रह, पुद्गल, ग्रह, खेड़, खेत, बाग, नगर... सब है। नाचना, खेलना, गाना, बजाना, बीच में सब रख दिया है। सर्व पुद्गल स्कन्धों का खेल जानो। इतना शब्द अधिक डाला है। उनको भी कब ही जीव को स्पर्शा भी नहीं है, इतना अधिक है। छुआ नहीं, छुआ नहीं। एक रजकण-शरीर, स्त्री, कुटुम्ब के शरीर को आत्मा ने कभी स्पर्श ही नहीं किया। तीन काल में स्पर्श नहीं किया। स्पर्श किस प्रकार करे ? भिन्न चीज़ को स्पर्श कैसे करे ? आहा..हा.. ! ऐसा तू निःसन्देह जान, ऐसा कहते हैं। परन्तु यह 'महासुख' आवे तो कितना प्रेम हो जाये अन्दर से, लो ! यह लो न पहला, हाथ ऐसे पीछे घुमावे, परन्तु लड़का तो लड़का हो, लड़का कहीं दुश्मन हो कभी ? लड़का भी नहीं और दुश्मन भी नहीं। अरे ! वह

तो ज्ञेय है, जगत की चीज़ है। जगत की चीज़ ज्ञेय, उसे मेरी मानना, इसका नाम मिथ्यादर्शन शल्य है। आहा..हा..! मानने के बाद आसक्ति का भाव हो, वह भी परिग्रह परिमित पाप है - मर्यादावाला पाप है; पहला (मिथ्यात्वसहित) बेहद पाप है।

सर्वज्ञ परमेश्वर ने इन्द्रों की उपस्थिति में अर्धलोक के स्वामी बड़े बत्तीस लाख विमान का धनी, ऐसे इन्द्र की उपस्थिति में भगवान की वाणी में ऐसा आया था। भगवान परमेश्वर ऐसा फरमाते थे, वह सन्त इस प्रकार कह गये हैं। यह कहीं किसी की घर की बात है नहीं। इस प्रकार से वस्तु है, भाई! जहाँ तू वहाँ वह नहीं, जहाँ वे, वहाँ तू नहीं। वह लिखा है न? तू, ते और ता। समझे बिना। मोतीलाल थे। भाई जानते नहीं होंगे। राजकोट में थे। दशाश्रीमाली है। रेल का बड़ा अधिकारी था, नौकर था, साढ़े सात सौ या बारह सौ का वेतन था, परन्तु बुद्धि समझने जैसी थी। बहुत प्रकार से बाहर की नौकरी मिल जाती है, हों! इससे कहीं नौकरी बड़ी मिले, इसलिए बुद्धिवाला है, ऐसा कुछ प्रमाण नहीं है।

मुमुक्षु : वह बुद्धि होवे तो भी काम की क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह होवे तो भी आत्मा को कहाँ, वह आत्मा की है ही नहीं। वह तो इन्द्रिय आदि का हुआ। इन्द्रियाँ जहाँ समाप्त होंगी, वह सब साथ में समाप्त।

एक व्यक्ति को कहा, शास्त्र का कितना जानपना, गृहस्थ व्यक्ति बाहर में बड़ी इज्जत, बाहर में बहुत जाने, मरने के समय ऐसा लगे कि मुझे कोई खींचता है, हों! मुझे कोई खींचता है, मरने का समय, क्योंकि इन्द्रियाँ शीतल पड़ने लगीं, जानपना इन्द्रियाधीन था, वह घटने लगा एकदम। मुझे कोई घसीटता है, ऐसा कहता। मरने की तैयारी, अन्तिम स्थिति। आहा..हा..! खींचे कौन? और इन्द्रियाँ ऐसी शिथिल पड़ने लगीं जहाँ, तो इन्द्रियाधीन ज्ञान था वह भी नाश होने लगा एकदम। आहा..हा..! और जहाँ जाना है, उस प्रकार की अवस्था हो गयी। यहाँ से देह छोड़ दी। अरे! कहाँ का तू, कहाँ का पिंजर?

कहते हैं, यह सब परिग्रह हिंसा है। **बाह्य परिग्रह अचेतन और चेतन के भेद से दो प्रकार का है। यह दोनों ही प्रकार के परिग्रह हिंसा का उल्लंघन नहीं करते अर्थात् कोई परिग्रह हिंसा बिना नहीं है।** ११८, पूरा सिद्धान्त।

गाथा - ११८

हिंसा-अहिंसा का लक्षण कहकर इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं :-

उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति।
द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः।।११८।।

दोनों परिग्रह रहित ही, है अहिंसा सूचित करें।
दोनों परिग्रह युक्त हिंसा, सूत्र ज्ञाता ऋषि कहें।।११८।।

अन्वयार्थ : (जिनप्रवचनज्ञाः) जैन सिद्धान्त के ज्ञाता (आचार्याः) आचार्य (उभय-परिग्रहवर्जनं) दोनों प्रकार के परिग्रह के त्याग को (अहिंसा) अहिंसा (इति) ऐसा और (द्विविध परिग्रहवहन) दोनों प्रकार के परिग्रह धारण करने को हिंसा ऐसा (सूचयन्ति) सूचित करते-कहते हैं।

टीका : 'जिनप्रवचनज्ञाः आचार्याः उभयपरिग्रहवर्जनं अहिंसा (भवति) इति सूचयन्ति तथा द्विविधपरिग्रहवचनं हिंसा (भवति) इति सूचयन्ति' - जैन सिद्धान्त के ज्ञाता आचार्य, 'दोनों प्रकार के अन्तरंग और बाह्य परिग्रह का त्याग करना ही अहिंसा है तथा दोनों प्रकार के परिग्रह का धारण करना ही हिंसा है' - ऐसा कहते हैं। परिग्रह के त्याग बिना अहिंसा की सिद्धि नहीं है।।११८।।

गाथा ११८ पर प्रवचन

हिंसा-अहिंसा का लक्षण कहकर इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं :- महासिद्धान्त, ११८।

उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति।
द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः।।११८।।

ओहो..हो..! पहला कहे शास्त्र तुमने जाना नहीं, धवल में ऐसा है, धवल में ऐसा

है, पर की दया वह स्वभाव है। परन्तु ऐसा नहीं, सुन न! यह **'जिनप्रवचनज्ञाः'** वीतराग सर्वज्ञ भगवान के कहे गये शास्त्र के जाननेवाले आचार्य ऐसा फरमाते हैं कि **जैन सिद्धान्त के ज्ञाता...** एक तो आचार्य का आत्मा लिया, उन्हें जैन के परमेश्वर के कथित सिद्धान्त के जाननेवाला कहा। समझ में आया? उस सिद्धान्त में यह कहा है, भगवान की आज्ञा में यह आया है, वाणी में यह आया है और आचार्य को यह बात बैठी है। कहो, समझ में आया?

जैन सिद्धान्त के ज्ञाता... इस भगवान की वाणी के जाननेवाले, भगवान ने जो कहा है, उसे जाननेवाले, भगवान को शास्त्र में क्या कहना है, भगवान के अन्तर अभिप्राय में क्या था-उसे जाननेवाले सन्त, आचार्यों ने **दोनों प्रकार के परिग्रह के त्याग को..** देखो! **अहिंसा ऐसा..** कहा है। **'सूचयन्ति'** है न? **'सूचयन्ति'** दोनों के साथ में लेंगे, दोनों के साथ में मिलायेंगे, **'सूचयन्ति'** ऐसा यहाँ एक लो न पहला। अहिंसा **'सूचयन्ति'**- ऐसा। जैन सिद्धान्त के जाननेवाले आचार्य महा कुन्दकुन्दाचार्य, वीरसेनाचार्य, सब आचार्य आते हैं या नहीं इसमें? वीरसेनाचार्य ने कुछ कहा होगा और कुन्दकुन्दाचार्य ने कुछ कहा होगा और समन्तभद्राचार्य ने कुछ कहा - ऐसा होगा? ऐसा होता ही नहीं, भाई! ऐसा कि व्यवहार के ग्रन्थ में कुछ हो, निश्चय के ग्रन्थ में कुछ हो, ऐसा नहीं होता। सर्वत्र एक ही प्रकार की बात होती है। पद्धति कोई निमित्त प्रधान कथन कहो, उपादान प्रधान कथन (हो) परन्तु वस्तु के सार में कुछ अन्तर नहीं होता। आहा..हा..! समझ में आया?

दोनों प्रकार के परिग्रह के त्याग को अहिंसा... कहते हैं। क्या कहते हैं? इस मिथ्यात्व के त्याग को अहिंसा कहते हैं, पहला बोल। जैन सिद्धान्त के जाननेवाले सन्त, आचार्यों ने सिद्धान्त में ऐसा था, ऐसा जाना है। भगवान की वाणी में ऐसा आया है, ऐसा जाना है। भगवान के अभिप्राय में ऐसा था, ऐसा जाना है, कि मिथ्यात्व के त्याग को अहिंसा कहते हैं। आहा..हा..! समझ में आया?

यह वस्तु 'तू क्यों भयंकर भावमरण प्रवाह में चकचूर है' देखो न! श्रीमद् सोलह वर्ष में कहते हैं। मोहनभाई! आता है न? 'बहु पुण्य पुंज प्रसंग से...' यह वहाँ कभी 'बहु पुण्य पुंज प्रसंग से..' स्मरण करते थे? नहीं। कभी-कभी याद अवश्य करते हैं। यह कहा, यह बोले इससे लगा, मैंने कहा वहाँ ऐसा कहा, मैंने कहा, याद करते लगते हैं कुछ। क्योंकि वह तुरन्त सीधा आया मस्तिष्क में। क्या कहा? यह क्षण-क्षण भयंकर 'क्षण-क्षण

भयंकर भावमरण प्रवाह में चकचूर है' वहाँ ऐसा कहा है। अरे! भगवान! तू चैतन्य आनन्द और ज्ञानमूर्ति है, उसमें राग को अपना मानकर क्षण-क्षण में तेरी भावमृत्यु हो रही है। कहो, सोलह वर्ष में कहा, सोलह वर्ष में, हों! यह वर्ष का क्या काम वहाँ? आत्मा को कहाँ वहाँ वर्ष थे? समझ में आया?

कहते हैं, भयंकर भावमरण, भाई! देह छूटती है, वह तो द्रव्य-प्राण छूटे, वहाँ दूसरे प्राण वापिस तैयार ही हैं। आहा..हा..! यह भावप्राण छूटे और भावप्राण दूसरे तैयार हों, ऐसा नहीं होता। कहते हैं, भगवान! तेरा स्वरूप ही सच्चिदानन्द निर्मल ज्ञानमूर्ति है, उसमें जितना विकल्प उठकर अपना मानना और एकाग्र होना, उसे भगवान आचार्य हिंसा कहते थे और उसके त्याग को भगवान अहिंसा कहते हैं। आहा..हा..! समझ में आया? इस मिथ्यात्व का त्याग, वह पहली अहिंसा है। उसकी इसे कीमत नहीं होती। छह काय के जीव को न मारता हो, घात न करता हो तो उनकी दया बहुत पालता है, उसकी इसे कीमत... आहा..हा..! समझ में आया? छियानवें हजार स्त्रियाँ और छियानवें करोड़ सैनिक हैं परन्तु चक्रवर्ती को मिथ्यात्व का परिग्रह नहीं। समझ में आया? अनन्तानुबन्धी का परिग्रह नहीं। समझ में आया? ११८।

जैन सिद्धान्त के ज्ञाता आचार्य दोनों प्रकार के परिग्रह के त्याग को अहिंसा 'सूचयन्ति' ऐसा लेना। सूचित करते हैं, कहते हैं, सूचित करते हैं, इशारा करके ऐसा बतलाते हैं। गजब... पुरुषार्थसिद्धि-उपाय। आचार्य दिगम्बर सन्त कोई चाहे जो छोटा ग्रन्थ बनावे परन्तु अलौकिक उनकी लाईन दृष्टि अलौकिक, स्थिरता अलौकिक, उनकी पूरी कथन की पद्धति ही अलौकिक। दुनिया के साथ कहीं मिलान नहीं खाता, अज्ञानी के साथ कुछ मेल नहीं खाता। महासत् के पुत्र थे न! सर्वज्ञ के पुत्र थे ये सब। समझ में आया? गौतम, सर्वज्ञ के पुत्र। यहाँ सन्त, मुनि सर्वज्ञ के पुत्र हैं। उन्हें केवलज्ञान का उत्तराधिकार मिलनेवाला है। आहा..हा..! समझ में आया?

कहते हैं, भगवान के सिद्धान्त के जाननेवाले, ये जैन, वापस जिन प्रवचन। दूसरे के प्रवचन में-अज्ञानी में तो होवे ही किसका? ऐसा कहते हैं। समझ में आया? परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतरागदेव के प्रवचनों के अतिरिक्त दूसरे प्रवचनों में कहीं माल नहीं होता। त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव वीतराग परमेश्वर केवलज्ञानी, ऐसे जिन, उनके प्रवचन, उनकी

दिव्यध्वनि का सार, उसके जाननेवाले ऐसा कहते हैं कि मिथ्यात्व के परिग्रह के त्याग को भगवान अहिंसा कहते थे। आहा..हा..!

तब कोई ऐसा कहे, परन्तु हमें पता नहीं पड़ता इसका। पता नहीं पड़ता, यही तेरा अज्ञान सूचित करता है। समझ में आया? अन्दर के सम्यग्दर्शन और मिथ्यात्व की खबर नहीं पड़े, अपने व्रत करो। परन्तु खबर नहीं पड़े उसका अर्थ ही तुझे अन्दर शंका है कि मैं सम्यक्त्वी हूँ या मिथ्यात्वी? इसका अर्थ ही (यह कि) तू मिथ्यात्वी है, परन्तु यह तो कहते हैं, बिना समझे किस प्रकार किया इसने? आहा..हा..! ज्ञान में अपने को ऐसी निःशंकता का भाष भासित हुए बिना उसे यह है, मिथ्यात्व का त्याग हुआ और अहिंसा प्रगट हुई, ऐसा भान कहाँ से होगा? उसे भान बिना? उसके बिना बाह्य का त्याग करके बैठे, उसे तो मिथ्यात्व की हिंसा तो क्षण-क्षण में लागू पड़ी है। अब तेरा त्याग कहाँ तौल में आवे ऐसा था। आहा..हा..! दुनिया के साथ भारी कठिन, भाई! आहा..!

अहिंसा और दूसरी, द्विविध परिग्रह। अभ्यन्तर परिग्रह को धारण करनेवाले, समझ में आया? और बाह्य परिग्रह को धारण करनेवाले, ऐसा अब इसमें लेना। पहला त्याग था न? दो को हिंसा **'वहन'** दो को बहती है, धारती है। मिथ्यात्व को धारती है, हास्य, रति आदि को धारती है। वासना को धारती है और निमित्तरूप से परिग्रह को व्यवहार से धारती है—ऐसा कहने में आता है, दो को हिंसा ऐसा सूचित करते हैं, उन्हें जैन प्रवचन के सिद्धान्त के रहस्यज्ञो, वह राग मिथ्यात्व और, वह बाह्य चीज़ को हिंसा ऐसा कहते हैं। धारण किया है न, धारण किया है न? वहंति, वहन करता है। भार उठाता है, बोझ उठाया है। आहा..हा..! कहो, समझ में आया इसमें? इसमें समझ में आये ऐसा है, हों! आज कोई बहुत ऐसा सूक्ष्म नहीं, बात अच्छी परन्तु बहुत सूक्ष्म नहीं। सूक्ष्म दोपहर में आयेगी। बात ऊँची और सरस है परन्तु यह पकड़ में आये ऐसी है, इसके ख्याल में आवे ऐसी है, यह कोई न आवे ऐसी नहीं है। समझ में आया?

जैन सिद्धान्त के ज्ञाता आचार्य... भाषा कैसी ली है, देखो न! आचार्यों। **'प्रवचनज्ञाः'** साधु, उपाध्याय तो ठीक परन्तु आचार्यों, गणधरों। कहो, आ गये न? उपाध्याय, साधु तो नीचे रह गये। समझ में आया? भगवान का कहा हुआ गणधर जानते हैं, गणधर का कहा हुआ आचार्य जानते हैं, आचार्यों का कहा हुआ उपाध्याय, साधु जानते

हैं। आहा..हा..! **जैन सिद्धान्त के ज्ञाता आचार्य, 'दोनों प्रकार के अन्तरंग और बाह्य परिग्रह का त्याग करना ही अहिंसा है...** उसे अहिंसा कहने में आता है। **तथा दोनों प्रकार के परिग्रह का धारण करना...** त्याग और धारण दो शब्द हैं। त्याग-वहन, वहन-त्याग। मिथ्यात्व का वहन करना अर्थात् पकड़ना, वह हिंसा है। मिथ्यात्व का त्याग वह अहिंसा है। राग, मन्द राग भी अस्थिरता होना, धार रखना हिंसा है। राग का अभाव करके अरागी होना, वह अहिंसा है। समझ में आया? कहो, बात बहुत अच्छी आयी है, हों! जयन्तीभाई! रामजीभाई कहते हैं, यह रविवार को भावनगरी आये हैं न! भावनगरवाले आवे तो अच्छा आता है। कभी आवे इसलिए, फिर कुछ आवे तो सही न! पुण्य लेकर आये हों न वे भी! आठ दिन में आना, वापस छह दिन धन्धा करना हो। कहो, समझ में आया? वे भाई तो आये नहीं। यह नहीं? शरीर में ठीक नहीं होगा। आहा..हा..! गजब गाथा, भाई!

जैन सिद्धान्त के सर्व-ज्ञ, सर्व अर्थात् उनके सबके जाननेवाले, सब पूरे शास्त्र के जाननेवाले। भगवान की वाणी को जाननेवाले, भगवान की वाणी में क्या आया? उसे जाननेवाले ऐसे आचार्यों ने इन चौदह प्रकार का अभ्यन्तर परिग्रह और बाह्य दोनों के त्याग को भगवान ने अहिंसा कहा है और उसे धार रखना, वहन करना, उठाना, उसे हिंसा कहा है। उसे (त्याग को) अहिंसा कहा है, इसे (ग्रहण को) हिंसा कहा है। कहो, समझ में आया?

तथा दोनों प्रकार के परिग्रह का धारण करना ही हिंसा है'-ऐसा कहते हैं। 'सूचयन्ति' परिग्रह के त्याग बिना अहिंसा की सिद्धि नहीं है। इस मिथ्यात्व के त्याग बिना, राग के त्याग बिना और निमित्त के त्याग बिना अहिंसा की सिद्धि नहीं है, ऐसा है, लो! समझ में आया? आहा..हा..! 'अहिंसा परमोधर्म', आता है या नहीं? वह यह अहिंसा। परजीव को न मारने का भाव, वह तो राग है, शुभ है। वह परमधर्म हो गया? उसे तो आत्मा का स्वभाव सिद्ध करना है। अरे! भगवान नहीं सिद्ध होगा, बापू! तू सिद्ध हो जायेगा मिथ्यात्व में। आहा..हा..! नहीं निकल सकेगा वहाँ से, कठिन पड़ेगा, भाई! प्रतिकूलता के संयोग देखेगा, तब इसे दुःख लगेगा। भाव इसे दुःख नहीं लगता। संयोग देखता है न? संयोग की दृष्टि है न तो संयोग देखे तो... हाय..हाय..! वास्तव में तो

प्रतिकूलता के विकारभाव ही दु:खरूप हैं। संयोग पर दृष्टिवाले को प्रतिकूल संयोग आयेंगे, तब मुझे दु:ख आया, ऐसा मानेगा। समझ में आया?

दु:ख तो उसे उस क्षण में विकारभाव किया, उसी क्षण आया है। आहा..हा..! मिथ्यात्व का भाव, वही दु:ख, परिग्रह और पाप है परन्तु उसके फलरूप से जहाँ निगोद आयेगा, उसके पहले उसे ऐसा हो जायेगा कि हाय.. हाय..! यह क्या? क्या होता है यह? यह मेरा उघाड़, मेरा उघाड़, विकास.. क्या हो जाता है यह? कुछ ख्याल नहीं रहता। दशा के उघाड़ का आवरण एकदम आ जाता है! मृत्यु के काल में ये सब पढ़े-गिने के भाव मूढ़पने के थे। हाय.. हाय..! फिर हो जाये असाध्य। यहाँ असाध्य हो गया, मैं कौन हूँ, उसका भान नहीं होता। जायेगा असाध्य में नीचे। समझ में आया? ११८ (गाथा पूरी) हुई।

परिग्रह के त्याग बिना... वापिस पहला क्या समझे? वस्त्र, पात्र छोड़े तो अहिंसा की सिद्धि हुई परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि मिथ्यात्व और राग छोड़े तथा उसके निमित्त, उसके उस प्रकार के छूटें तो अहिंसा की सिद्धि हुई। दोनों साथ में लिये हैं न! यह तो वे कहें दो पहला छोड़े, वस्त्र-पात्र छूटे, यह छूटे तो देखो! इतना परिग्रह छूट गया, ऐसा नहीं है। उसे पहले मिथ्यात्व का त्याग होने के बाद राग का त्याग होने पर उसके निमित्तों के प्रकार का त्याग होता है। तब उसे अहिंसा और अपरिग्रही कहने में आता है। गजब बात, भाई! अनन्त काल का भटकता, मार्ग का अनजान, उसे मार्ग की पगडण्डी पर लाना महाप्रयत्न अपेक्षित है। समझ में आया?

गाथा - ११९

दोनों परिग्रहों में हिंसा है, ऐसा बताते हैं:-

हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसान्तरंगसंगेषु।
बहिरंगेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम्।।११९।।

नित परिणति हिंसामयी, से सिद्ध हिंसा परिग्रह।
अन्तरंग मूर्छा बाह्य में, यों पूर्ण हिंसामयी यह।।११९।।

अन्वयार्थ : (हिंसापर्यायत्वात्) हिंसा की पर्यायरूप होने से (अन्तरंगसंगेषु) अन्तरंग परिग्रहों में (हिंसा) हिंसा (सिद्धा) स्वयंसिद्ध है (तु) और (बहिरंगेषु) बहिरंग परिग्रहों में (मूर्च्छा) ममत्वपरिणाम (एव) ही (हिंसात्वम्) हिंसाभाव को (नियतम्) निश्चय से (प्रयातु) प्राप्त होता है।

टीका : 'अन्तरंगसंगेषु हिंसापर्यायत्वात् हिंसा सिद्धा तु (पुनः) बहिरंगेषु नियतं मूर्च्छैव हिंसात्व प्रयातु' – अन्तरंग १४ प्रकार के परिग्रहों के सभी भेद हिंसा की पर्याय होने से हिंसा सिद्ध ही है। बहिरंग परिग्रह में निश्चय से ममत्वपरिणाम है, वह हिंसा को प्राप्त होता है।

भावार्थ : अन्तरंग परिग्रह जो मिथ्यात्वादि १४ प्रकार का है, वह सभी जीव का विभाव (विकारी) परिणाम है; इसलिए वह हिंसा ही है परन्तु बाह्यवस्तु में भी निश्चय से ममत्वपरिणाम है, वही हिंसा का कारण है। बाह्यवस्तु में जो ममत्वपरिणाम है, उसी का नाम परिग्रह है। केवली भगवान के समवसरणादि विभूति होती है परन्तु ममत्वपरिणाम बिना परिग्रह नहीं है। अथवा यदि कोई परिग्रह को अंगीकार करके कहे कि मेरे तो ममत्वपरिणाम नहीं है तो यह बात झूठ है, कारण कि ममत्व बिना अंगीकार होता ही नहीं।।११९।।

गाथा ११९ पर प्रवचन

दोनों परिग्रहों में हिंसा है, ऐसा बताते हैं:- लो!

हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसान्तरंगसंगेषु।
बहिरंगेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम्।।११९।।

'हिंसापर्यायत्वात्' हिंसा की पर्यायरूप होने से अन्तरंग परिग्रहों में... हिंसा की पर्याय है सब, कहते हैं। मिथ्यात्व, वेदना, रति, अरति, शोक, ये सब हिंसा की ही पर्यायें हैं। ये हिंसा के ही भेद हैं, पर्याय अर्थात् (भेद हैं)। समझ में आया? मिथ्यात्वभाव, राग, वासना, क्रोध, मान, रति-अरति - ये सब हिंसा के ही भेद हैं। परिग्रह के भेद कहे, वे सब हिंसा के ही भेद हैं, ऐसा कहते हैं। वाह! अकेला ज्ञानस्वरूप है, उसमें कहते हैं

फिर यह लप क्या ? सब हिंसा की पर्याय है। आहा..हा..! ये सब हिंसा के ही भाव हैं। समयसार में कहा, सम्यक् हुआ अर्थात् इसलिए आस्रव और बन्ध नहीं। यहाँ तो कहते हैं कि जब तक थोड़ा राग रहा, वह भी हिंसा का भाग है। आहा..हा..! इसकी पर्याय की क्षण-क्षण की कैसी निर्मलता और मलिनता (होती है), वह सब विवेक कराना है न! समझ में आया ? द्रव्य में नहीं परन्तु पर्याय में पूर्णता शुद्ध न हो, तब तक जितना राग है, वह सब हिंसा के ही भाग हैं, ऐसा कहते हैं।

अन्तरंग परिग्रहों में हिंसा स्वयंसिद्ध है और बहिरंग परिग्रहों में ममत्वपरिणाम.. ममता है न उसके ऊपर ? वह चीज़ मेरी, यह मुझे, यह मेरा पुत्र, मेरी स्त्री, मेरा शरीर, मेरा कर्म। **बहिरंग परिग्रहों में ममत्वपरिणाम ही हिंसाभाव को 'नियतम्' निश्चय से 'प्रयातु' प्राप्त होता है।** कहो, इसलिए दोनों हिंसा के ही भाग हैं। आभ्यन्तर परिग्रह और बाह्य परिग्रह की ममता में निमित्त है और ममता होती है, इसलिए हिंसा-पर्याय है।

विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

धर्म का उत्साह बढ़ जाता है।

देखो! इस जैनधर्म का चरणानुयोग भी कितना अलौकिक है! जैन श्रावक के आचरण किस प्रकार होवें - उसकी यह बात है। राग की मन्दता के आचरण बिना जैन श्रावकपना नहीं बनता। एक राग के अंश का कर्तृत्व भी जिसकी दृष्टि में रहा नहीं, ऐसे आचरण में भी राग कितना मन्द पड़ जाता है! पहले जैसे ही राग-द्वेष किया करे तो समझना कि उसकी दृष्टि में कोई अपूर्वता नहीं आयी, उसकी रुचि में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। रुचि और दृष्टि बदलते ही सारी परिणति में अपूर्वता आ जाती है, परिणाम की उथल-पुथल हो जाती है। इस प्रकार द्रव्यानुयोग के अध्यात्म का और चरणानुयोग के परिणाम का मेल होता है। दृष्टि सुधरे और परिणाम चाहे जैसे हुआ करें, ऐसा नहीं बनता। देव-गुरु के प्रति भक्ति, दान इत्यादि परिणाम की मन्दता का जिसका ठिकाना नहीं है, उसे तो दृष्टि सुधारने का प्रसङ्ग नहीं है। जिज्ञासु की भूमिका में भी संसार की तरफ के परिणामों की अत्यन्त ही मन्दता हो जाती है और धर्म का उत्साह बढ़ जाता है।

(—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, अमृतचन्द्राचार्यकृत है। ११९ वीं गाथा। ११९ का भावार्थ। परिग्रह की व्याख्या है, परिग्रह। **अन्तरंग परिग्रह जो मिथ्यात्वादि १४ प्रकार का है, वह सभी जीव का विभाव (विकारी) परिणाम है...** क्या कहा? आत्मा के स्वभाव को भूलकर पर को अपना माने - ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वह अन्तरंग परिग्रह है।

वह सभी जीव का विभाव (विकारी) परिणाम है इसलिए वह हिंसा ही है... इस कारण मिथ्यात्व और राग-द्वेष आदि के परिणाम, वे स्वरूप से-स्वभाव से विपरीत ऐसा विभाव / विकार होने के कारण परिग्रह है, ममता है, हिंसा है। समझ में आया? **परन्तु बाह्यवस्तु में भी निश्चय से ममत्वपरिणाम है, वही हिंसा का कारण है।** बाह्य चीज़ें, जो आत्मा के अतिरिक्त बाह्यपदार्थ हैं, उनमें जितने प्रमाण में ममत्व परिणाम है, वही हिंसा का कारण है। बाह्यपदार्थ, वह हिंसा नहीं, परन्तु इसे उनके प्रति ममता है न? वह हिंसा है। **केवली भगवान के समवसरणादि विभूति होती है परन्तु ममत्वपरिणाम बिना परिग्रह नहीं है।** भगवान सर्वज्ञपरमेश्वर को अरिहन्तरूप से बाह्य समवसरण की विभूति होती है, तथापि वह कहीं ममत्वपने का कारण नहीं है। ममता नहीं है, इसलिए कारण भी नहीं कहा जाता। **अथवा यदि कोई परिग्रह को अंगीकार करके कहे कि मेरे तो ममत्वपरिणाम नहीं है...** ऐसा कहा।

मुमुक्षु : पहले तो कहा कि अन्तर और बाह्य दो परिग्रह हिंसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ कहा न, कहा न! बाह्य परिग्रह का...

मुमुक्षु : बाह्य परिग्रह तो निकल गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ से निकला? बाह्य परिग्रह के प्रति ममत्व हुआ, वह हिंसा है - ऐसा कहा न?

मुमुक्षु : अन्तर में ऐसी भूल।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अन्तर में ऐसी भूल है। पहला (बाह्य) निमित्त है, उस निमित्त को निमित्तरूप परिग्रह कहा जाता है। उसे निमित्तरूप से हिंसा कहा जाता है परन्तु निमित्त अर्थात् बाह्य चीज़, यह तो परिणाम पर ही पूरा आधार है।

मुमुक्षु : दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करना चाहिए, ऐसा लिया था न!

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, इसलिए उन दोनों प्रकार का अर्थ यह। बाह्य परिग्रह की ममता होती है न कि 'यह मेरा', इसलिए वह भी परिग्रह है। जो कोई परिग्रह और पैसा आदि बाह्यपदार्थ, वस्त्र, पात्र आदि बाह्य चीज़ों को अंगीकार करे और कहे कि मुझे ममत्व परिणाम नहीं, वह मिथ्या बात है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

अथवा यदि कोई परिग्रह को अंगीकार करके कहे कि मेरे तो ममत्वपरिणाम नहीं है तो यह बात झूठ है... समझ में आया? भाई! हमारे तो लक्ष्मी रखते हैं, पाँच लाख, दस लाख परन्तु हमें कोई उसकी ममता नहीं है, वह झूठा है। ममता न हो तो रखने का भाव कहाँ से आया? ममता नहीं - ऐसा होता है? ममता है। वह तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी की नहीं, परन्तु दूसरी ममता तो उसे है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह किस अपेक्षा से? दृष्टि की अपेक्षा की बात है। यह तो अभी यहाँ अपेक्षा से अन्तर करेंगे। बिल्ली और चूहे की अपेक्षा से।

मुमुक्षु : तारतम्यता का।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, अपेक्षा है न! नहीं तो एकेन्द्रिय को क्या? मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी सब है, लो! समझ में आया? बिल्ली को और हिरण को दोनों को मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी है, तथापि उनके वर्तमान परिणाम में माँस खाने की अपेक्षा से और घास खाने की अपेक्षा का वर्तमान परिणाम की अपेक्षा से अन्तर है, इतना वहाँ सिद्ध करना है। नहीं तो ऐसा कहे, भाई! घास खाते समय भी उसे मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी तो है। माँस खाते समय उसे है परन्तु वह वस्तु अलग। उसे उसके निमित्त के प्रमाण में जो वर्तमान परिणाम होते हैं, उसकी व्याख्या करेंगे। समझ में आया?

इसलिए यहाँ कहते हैं, देखो! कि बाह्य परिग्रह रखे और कहे मुझे ममता नहीं। हम

वस्त्र रखते हैं परन्तु हमें ममता नहीं। (वह) मिथ्या है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **कारण कि ममत्व बिना अंगीकार होता ही नहीं।** ममता के बिना, ग्रहण की वृत्ति के बिना ग्रहण का भाव कैसे हुआ? ग्रहण कैसे हुआ? यह रखता हूँ, इसका अर्थ ही यह है कि ममता तो है ही। ममता में फिर मिथ्यात्व की ममता और एक साधारण ममता, इन दोनों में अन्तर है, वह अलग बात है, परन्तु परवस्तु रखे और ऐसा कहे कि हमें ममता नहीं, तो यह बात सत्य नहीं है। अब जरा इसका प्रश्न है।

गाथा - १२०

यदि बहिरंग पदार्थ में ममत्वपरिणाम का होना ही परिग्रह है तो सभी में समानरूप से ही परिग्रहजन्य पापबन्ध होना चाहिए:-

एवं न विशेषः स्यादुन्दुरुरिपुहरिणशावकादीनाम्।
नैवं भवति विशेषस्तेषां मूर्च्छाविशेषेण।।१२०।।

बिल्ली हरिण शिशु आदि में, यों कोई अन्तर न रहे।
पर सदा अन्तर है वहाँ, उनके ममत्व विशेष से।।१२०।।

अन्वयार्थ : (एवं) यदि ऐसा ही हो अर्थात् बहिरंग परिग्रह में ममत्वपरिणाम का नाम ही मूर्च्छा हो तो (उन्दुरुरिपुहरिणशावकादीनाम्) बिल्ली और हिरण के बच्चे वगैरह में (विशेषः) कोई विशेषता (न स्यात्) न रहे, परन्तु (एवं) ऐसा (न भवति) नहीं है, क्योंकि (मूर्च्छाविशेषेण) ममत्वपरिणामों को विशेषता से (तेषां) उस बिल्ली और हिरण के बच्चे इत्यादि जीवों में (विशेषः) विशेषता है, अर्थात् समानता नहीं है।

टीका :- प्रश्न :- 'यदि एवं तर्हि उन्दुरुरिपु-हरिणशावकादीनाम् विशेषः न'।

उत्तर :- 'एवं न भवति-तेषां मूर्च्छाविशेषेण विशेषः भवति' - यहाँ कोई शंका करता है कि जो बाह्यपदार्थ में ही ममत्वपरिणाम हिंसा का कारण है और वह ममत्वपरिणाम सामान्य रीति से सभी जीवों के होता है, अतः सभी जीवों के समान पाप होना चाहिए। जिस प्रकार माँसाहारी बिल्ली और घास खानेवाले हिरण के बच्चे में भोजन करने सम्बन्धी ममत्वपरिणाम सामान्यरूप से समान ही है, (बहिरंग का कुछ प्रयोजन

कहा नहीं) इसके उत्तर में आचार्य भगवान उससे कहते हैं कि बात वास्तव में ऐसी नहीं है। बिल्ली और हिरण के बच्चों की बाबत में भी विशेषता है, समानता नहीं है। क्योंकि बिल्ली के तो माँस खाने के परिणाम हैं और हिरण के बच्चे के घास खाने के परिणाम हैं। बस, ममत्व की विशेषता-अधिकता से ही विशेषता है।।१२०।।

गाथा १२० पर प्रवचन

यदि बहिरंग पदार्थ में ममत्वपरिणाम का होना ही परिग्रह है तो सभी में समानरूप से ही परिग्रहजन्य पापबन्ध होना चाहिए:- लो! ममत्व परिणाम में, वही पाप है तो फिर सब चीज़े बाह्य की चाहे जैसी हों, तो उसे समान ही पाप होना चाहिए - शिष्य का ऐसा प्रश्न है। क्या प्रश्न है? तुम तो बाह्यपदार्थ में ममत्व परिणाम होना, इसे ही परिग्रह कहते हो तो सब ही समान ही होते हैं परन्तु किसी को बाह्य अधिक हो और ममता थोड़ी हो, किसी को थोड़ा हो और ममता बहुत हो।

मुमुक्षु : ऐसे भेद किसलिए करते हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : तुम ऐसे भेद किसलिए करते हो? ऐसा (कहता है), समझ में आया? अपेक्षित बात है, हों! जरा। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी की अपेक्षा से छह खण्ड का राज्य हो और ममता थोड़ी है तथा एक को, एकेन्द्रिय को कुछ नहीं है, एक शरीर है, तथापि मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी की ममता अन्दर तीव्र है। समझ में आया? यहाँ तो बाह्य पदार्थ में जरा विशेष राग तो हो और ऐसा कहे कि मुझे इतने प्रमाण में ममता नहीं है। ऐसा नहीं है। यह दृष्टान्त देते हैं।

एवं न विशेषः स्यादुन्दुररिपुहरिणशावकादीनाम्।
नैवं भवति विशेषस्तेषां मूर्च्छाविशेषेण।।१२०।।

यदि ऐसा ही हो अर्थात् बहिरंग परिग्रह में ममत्वपरिणाम का नाम ही मूर्च्छा हो तो... 'उन्दुररिपु' चूहे की शत्रु बिल्ली। चूहे की शत्रु बिल्ली। **'रिपु'** है न? **बिल्ली और हरिण के बच्चे वगैरह में कोई विशेषता न रहे...** शिष्य का प्रश्न है। तुम तो बाह्यपदार्थ में ममता को परिग्रह कहते हो। तो बाह्यपदार्थ कम-ज्यादा या भिन्न-भिन्न

प्रकार के हों, उनके प्रमाण में ममता, यह सिद्ध नहीं होगा। बाह्य से ममता का सिद्ध नहीं होगा। कहते हैं, सुन, है।

परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि ममत्वपरिणामों को विशेषता से उस बिल्ली और हरिण के बच्चे इत्यादि जीवों में विशेषता है, अर्थात् समानता नहीं है। बिल्ली को माँस खाने का—चूहे को मारने का भाव, वह तीव्र परिणाम है और हिरण को घास खाने का भाव वह वर्तमान परिणाम की अपेक्षा से बात चलती है, हों! घास के समय हिरण को मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी है। वह यहाँ अपेक्षा नहीं लेनी है, भाई! समझ में आया? यहाँ बात में जरा इतना अन्तर करते हैं। कारण जैसा कार्य, ऐसा यहाँ सिद्ध करेंगे। ऐसा कि माँस हो और परिणाम कषाय मन्द हो, ऐसा नहीं होता और हरी घास हो और परिणाम तीव्र हों, ऐसा नहीं होता, इतना अन्तर डालेंगे। समझ में आया? !

टीका :- प्रश्न :- 'यदि एवं तर्हि उन्दुरुरिपु-हरिणशावकादीनाम् विशेषः न'।

उत्तर :- 'एवं न भवति-तेषां मूर्च्छाविशेषेण विशेषः भवति' - यहाँ कोई शंका करता है कि जो बाह्यपदार्थ में ही ममत्वपरिणाम हिंसा का कारण है और वह ममत्वपरिणाम सामान्य रीति से सभी जीवों के होता है, अतः सभी जीवों के समान पाप होना चाहिए। शिष्य का प्रश्न है। समझ में आया? ममत्वपरिणाम को आप परिग्रह कहते हो तो चाहे जो चीज़ बाह्य की, कम-ज्यादा, माँस क्रिया की या यहाँ घास क्रिया की बढ़ती हो तो उसे समान पाप आना चाहिए।

और वह ममत्वपरिणाम सामान्य रीति से सभी जीवों के होता है... देखो! यहाँ कोई शंका करे **जो बाह्यपदार्थ में ही ममत्वपरिणाम हिंसा का कारण है और वह ममत्वपरिणाम सामान्य रीति से सभी जीवों के होता है, अतः सभी जीवों के समान पाप होना चाहिए। जिस प्रकार माँसाहारी बिल्ली और घास खानेवाले हिरण के बच्चे में भोजन करने सम्बन्धी ममत्वपरिणाम सामान्यरूप से समान ही है,..** तुम तो भोजन करना है, ऐसे परिणाम को ममता कहते हो न? तो दोनों के परिणाम समान होंगे। माँस खानेवाले के और घास खानेवाले के दोनों के परिणाम (समान होंगे)। ममता को तुम यदि परिग्रह कहते हो, तो उस ममता के प्रमाण में बाह्य चीज़ आयी, इसलिए ममता अधिक और कम, इसलिए ममता कम - ऐसा कुछ होता नहीं, ऐसा पूछता है। समझ में आया?

इसके उत्तर में आचार्य भगवान उससे कहते हैं कि बात वास्तव में ऐसी नहीं है। बिल्ली और हिरन के बच्चों की बाबत में भी विशेषता है,... वर्तमान परिणाम में बिल्ली चूहे को मारे, उसमें मूर्च्छा तीव्र है। समझ में आया? और हिरण हरी घास खाये, उसकी मूर्च्छा मन्द है, थोड़ी है। ऐसा नहीं मान कि बाह्य पदार्थ में चाहे जो हो तो यहाँ परिणाम समान ही उसे पाप के हों - ऐसा नहीं है, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। समझ में आया? **क्योंकि बिल्ली के तो माँस खाने के परिणाम हैं और हिरन के बच्चे के घास खाने के परिणाम हैं। बस, ममत्व की विशेषता-अधिकता से ही विशेषता है।** दो के परिणाम में भी विशेषता है। कहो, समझ में आया?

गाथा - १२१

ममत्व-मूर्च्छा में विशेषता

हरिततृणांकुरचारिणिमन्दा मृगशावके भवति मूर्च्छा।
उन्दुरुनिकरोन्माथिनि माजारि सैव जायते तीव्रा।।१२१।।

नित हरे तृणभक्षी हरिण, शिशु में रहे मूर्छा कमी।
पर अनेकों उन्दुरुभक्षी, बिल्ली मूर्छा तीव्र ही।।१२१।।

अन्वयार्थ : (हरिततृणाङ्कुरचारिणि) हरी घास के अंकुर खानेवाले (मृगशावके) हिरण के बच्चे में (मूर्च्छा) मूर्च्छा (मन्दा) मन्द (भवति) होती है और (स एव) वही मूर्छा (उन्दुरुनिकरोन्माथिनि) चूहों के समूह का उन्मथन करनेवाली (माजरि) बिल्ली में (तीव्रा) तीव्र (जायते) होती है।

टीका : 'हरिततृणाङ्कुरचारिणि मगृशावके मन्दा मूर्च्छा भवति तथा सैव मूर्च्छा उन्दुरुनिकरोन्माथिनि माजरि तीव्रा जायते' - अर्थ :- हरी घास का खानेवाला हिरण का बच्चा है, उसे घास खाने में भी ममत्व बहुत थोड़ा है और चूहों के समूह को खानेवाली बिल्ली को चूहे खाने में बहुत तीव्र ममत्व है। बस, यही इन दोनों में विशेषता है।

भावार्थ : प्रथम तो हिरण के बच्चे को हरी घास में अधिक लालसा नहीं है, फिर

उसे खाने में बहुत सरागता भी नहीं है तथा खाते समय यदि किंचित् भी भय मालूम पड़े तो तत्काल छोड़कर भाग खड़ा होता है। इससे ज्ञात होता है कि उसके आसक्ति-ममत्व परिणाम बहुत तीव्र नहीं है। चूहों के समूह को मारनेवाली बिल्ली को चूहे खाने की लालसा बहुत है और चूहों को मारने के पश्चात् उन्हें खाने में सरागता भी विशेष है तथा जिस समय वह चूहों को खा रही हो, उस समय उसके ऊपर लाठी की चोटें भी पड़ें तो भी बड़ी मुश्किल से ही उसे छोड़ती है, इससे ज्ञात होता है कि हिरण के बच्चे और बिल्ली की मूर्च्छा में बहुत अन्तर है। इसी भाँति बहुत आरम्भ-परिग्रहवाले तथा अल्प आरम्भ-परिग्रहवाले जीवों में भी परिणामों का अन्तर जानना।।१२१।।

गाथा १२१ पर प्रवचन

अब, **ममत्व-मूर्च्छा में विशेषता..** ममत्व कहो या मूर्च्छा कहो। दोनों में अन्तर क्या है? दोनों अर्थात्? दो के भाव में (हिरण और बिल्ली के भाव में)। ममत्व और मूर्च्छा दो, ऐसा नहीं। ममत्व कहो या मूर्च्छा कहो। उन दोनों में अन्तर क्या है—बिल्ली को और हिरण के बच्चे को, दोनों में अन्तर क्या है?

हरिततृणांकुरचारिणिमन्दा मृगशावके भवति मूर्च्छा।
उन्दुरुनिकरोन्माथिनि मार्जारे सैव जायते तीव्रा।।१२१।।

हरी घास के अंकुर खानेवाले हरिण के बच्चे में मूर्च्छा मन्द होती है.. देखो! समझ में आया? उसमें वह लेख (लिखे), देखो! निमित्त ऐसा है तो मूर्च्छा भी मन्द है। कारण आगे लेंगे। कारण अनुसार कार्य होता है। समझ में आया? कारण विशेषात, कार्य विशेषः १२२ में लेंगे। यही है न व्यवहार उस प्रकार का? उसके वर्तमान परिणाम में तीव्रता है। माँस चीज़ तो भले पर है, घास वह पर है परन्तु यहाँ मन्दता है। पर, पररूप से होने पर भी अन्तर है। रोटियाँ हैं, वे अनाज की पर्याय हैं और माँस है, वह उसकी पर्याय है। ऐसे देखो तो ये दोनों वस्तु तो पुद्गल है परन्तु उसे माँस की पर्याय और बाजरे की रोटी की पर्याय में यहाँ ममत्व में उसे अन्तर है। वहाँ भी अन्तर है तो यहाँ अन्तर है। रोटी खाने

के भाव में ममत्व मन्द है, माँस खाने के भाव में तीव्र है। ऐसे तो पुद्गल की पर्याय एक सरीखी है। शशीभाई!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐई! इसलिए धीरे-धीरे तो कहते हैं। वह इस प्रकार अन्तर है। ऐसा उसके मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी भले हो परन्तु उसे अन्दर ऐसी माँस खाने की गृद्धि है। ऐसा दृष्टान्त देंगे। माँस खाने की इतनी गृद्धि है कि उसे लकड़ी मारे तो भी बिल्ली हटती नहीं। हिरण का बच्चा ऐसे खाता होगा और उसमें कुछ भी होगा तो एकदम भागेगा, इसलिए उसकी आसक्ति-आसक्ति में इस कारण से अन्तर है। समझ में आया?

मुमुक्षु : लौकी की सब्जी हो और आलू की खब्जी हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें - आलू में गृद्धि के परिणाम अधिक हैं।

मुमुक्षु : निमित्त का जोर आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त का जोर नहीं। खाने के भाव में अन्तर है। वह गृद्धि है। घी के उसमें ऐसी चिप्स उसकी सेककर आवे, आलू की ऐसी हो गोल चक्कर करके। क्या कहलाता है? चिप्स।

मुमुक्षु : वेफर।

पूज्य गुरुदेवश्री : वेफर, वेफर नहीं, हमारे चिप्स अच्छी।

मुमुक्षु : खडखडिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : गुजराती खडखडिया करते हैं न? ऐसे गोल चक्कर करके पतली करके घी में तले। रोटी के समीप डाले नवटाक ऐसे खाते-खाते गलगलिया बोले उसे। गृद्धि अधिक है। समझ में आया? प्रत्येक वनस्पति, उसके खाने के परिणाम और इस आलू के परिणाम में अन्तर है। वह यह वर्तमान परिणाम की अपेक्षा से बात लेनी है, हों!

मुमुक्षु : आपने दो, तीन, चार बार कहा, वर्तमान परिणाम।

पूज्य गुरुदेवश्री : वर्तमान परिणाम नहीं अर्थात् वह मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी साथ में है, ऐसा नहीं लेना। उस हिसाब से तो दोनों को मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी समान है। ऐसा

नहीं। वर्तमान खाने के परिणाम की व्यक्तता जो खड़ी हुई है, उसमें जरा अन्तर है, इतना यहाँ लेना है।

मुमुक्षु : वह अनन्तानुबन्धी की....

पूज्य गुरुदेवश्री : अनन्तानुबन्धी भले हो, परन्तु उसमें जरा अन्तर है दो में। साथ तो उसे चारों है। समझ में आया? लो यह...

मुमुक्षु : दस लाख रखने के भाव और एक लाख रखने के भाव में अन्तर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, ऐसा नहीं। हाँ, वह तो है न, यह सब ख्याल में है। यह कहेंगे आगे, १२३ गाथा में ऐसा कहेंगे, बहुत संग्रह करे, उसे बहुत ममता; थोड़ा संग्रह करे, उसे थोड़ी ममता - ऐसा कहेंगे। इसका अर्थ कि वह बहुत संग्रह करने का ममत्वभाव है, उस अपेक्षा से लेना। अधिक चीज़ है, इसलिए ममता अधिक है, ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : ममता अधिक है इसलिए...

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत संग्रह करने का भाव है, वह ममता विशेष है। न्याय से समझना। यह सब अन्तर है थोड़ा-थोड़ा। न समझ में आये तो जरा सा अन्तर पड़े, ऐसा है। इसलिए धीरे-धीरे कहते हैं। यह प्रश्न तो मस्तिष्क में सब खड़ा था। एक पच्चीस लाख रखे, एक, एक लाख रखे, दोनों में अन्तर है? कि नहीं, ऐसा नहीं। चक्रवर्ती का राज समकिती को है, तथापि अल्प ममता है और एक को पाँच ही रुपये हों और गोदड़ी हो, चारपाई थी उस बाबा को। वह बाबा नहीं था 'सायला' का। एक बाबा रख गया था, ऐसा कहते हैं कुछ रख गया था। अन्दर चीज़ थी चीज़। भाई! यह बाबा कैसे नहीं? बारह महीने हो गये न? उसकी डिब्बी में था, उसमें से एक चीज़ निकली। ऐसा दोहा आता है। 'सायला' में। कैसा? 'लालजी' नहीं 'लालोभगत' आता है। वहाँ गये थे न, 'सायला'। समझ में आया?

बाबा था। आधा रुपया रख गया होगा। तब तो था सवा रुपया। परन्तु तब सवा रुपया अर्थात्... रुपया तब तो ऐसा कहलाता बड़े गाड़ी के पहिये जैसा। ऐसा कहते बराबर सुना है, हों! वह बाघरण (निम्न जाति की महिला) एक थी, वह कहती थी। यहाँ वह बाघरण नहीं रहती थी। यहाँ कुएँ के पास। एक विधवा थी और उसकी एक लड़की

अखम थी। अन्धी थी। वह ऐसा बोलती जाती थी। हमने तो किसी का सुना हो। कि भाई! एक रुपया तो पहिये जैसा है, तोड़े तो वापस समाप्त हो जाये, तोड़ना नहीं। दो, चार पैसे घटते हों तो किसी का कर्ज करना परन्तु फिर ऐसा करना, किन्तु वह रुपया नहीं तोड़ना। अब अभी कहीं रुपये की कीमत रही नहीं।

मुमुक्षु : सौ रुपये की...

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी वह रुपया धूल... अब लाख, दो लाख की कुछ कीमत रही नहीं। अभी तो दस लाख और बीस लाख, पच्चीस लाख, करोड़ और दो करोड़ और ऐसे बड़े आँकड़े चले हैं। ऐई मलूपचन्दभाई!

मुमुक्षु : दो करोड़ तो कम कहलाते होंगे?

पूज्य गुरुदेवश्री : दो करोड़ उसे कहाँ, उसे तो बहुत कम हैं। अभी पाँच करोड़ होनेवाले हैं। समाचारपत्र में आया है। मैंने सुना है, पढ़ा है, हों! अंक। अरे! तुम्हारे चिरंजीवी का। यह मैंने पढ़ा है, राजकोट में थे न तब। वह अस्सी लाख की ली है न, आठ दिन में सात लाख और अठहत्तर पैदा करेगा। इसके पाँच करोड़ रुपये होनेवाले हैं। भले ही इसे न दे इसकी अलग बात है। मलूपचन्दभाई को।

मुमुक्षु : वे तो सब इनके ही हैं न, मलूपचन्दभाई के देनेवाले हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ धूल भी नहीं इसके। पुत्र इसका नहीं और फिर पैसा कहाँ से आया? यह तो पुत्र वह नहीं, वह किस प्रकार? भिन्न किया है, इस अपेक्षा से। भिन्न किया है, इस अपेक्षा से। ऐई! इस अपेक्षा से कहा। अर्थात् इसका सब हक उड़ गया परन्तु ऐसी बात सुनी थी, हों! अन्दर समाचार-पत्र में लिखी है, हों! मैंने अंक पढ़े हैं। नहीं तो अपने को कोई कुछ बोलता हो तो ख्याल में रहे। नहीं तो अद्धर से बात नहीं कही जाती। सच्चा-झूठा उस लेख पर जाता है। यहाँ कहते हैं कि देखो! दृष्टान्त देंगे, हों! दृष्टान्त शास्त्र में।

हरी घास के अंकुर खानेवाले हिरण के बच्चे में मूर्च्छा मन्द होती है... आचार्य की भाषा है या नहीं? ऐई! देखो! **'हरिततृणाङ्कुरचारिणि मगृशावके मन्दा मूर्च्छा भवति तथा सैव मूर्च्छा उन्दुरुनिकरोन्माथिनि मार्जारि तीव्रा जायते'** समझ

में आया? **अर्थः- हरी घास का खानेवाला हिरण का बच्चा है, उसे घास खाने में भी ममत्व बहुत थोड़ा है और चूहों के समूह को खानेवाली बिल्ली को चूहे खाने में बहुत तीव्र ममत्व है। बस, यही इन दोनों में विशेषता है।** पदार्थ बाह्य होने पर भी, उसके प्रति वर्तमान मूर्च्छा में अन्तर है, ऐसा कहते हैं। कारण के अन्तर से कार्य में अन्तर है। ऐसा कहते हैं

मुमुक्षु : ...मूर्च्छा का कारण तो माँस है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह माँस ऐसा है, उस प्रकार का, कि इसे ममता ही उस प्रकार की स्वयं के कारण से होती है, इसलिए इसे मूर्च्छा अधिक है। उसमें निमित्त वह है परन्तु यह मूर्च्छा अधिक है, ऐसा ही वह निमित्त है। पहले में मूर्च्छा थोड़ी है, ऐसा ही निमित्त है। चरणानुयोग का कथन है न, अब तो यह सब? संग्रह करे और ऐसा करे, ऐसा सब आयेगा। यह पाठ यहाँ अमृतचन्द्राचार्य का चलता है। ऐसा नहीं कोई कहे अमृतचन्द्राचार्य का दूसरा और फिर अर्थ में तीसरा आया, दूसरा आया। समझ में आया? १२३ में यह अर्थ आयेगा। संग्रह करता है और यह करता है। यह बात मूल पाठ अमृतचन्द्राचार्य ने ऐसी शैली से ली है।

मुमुक्षु : बराबर है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : बराबर है। क्या खोटा है? संग्रह करने का भाव है इसे, इस अपेक्षा से है। दस लाख हैं, इसलिए ममता बहुत है और एक लाख है, इसलिए थोड़ी है, उस प्रमाण में - ऐसा नहीं है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ममता करोड़ों-अरबों की हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : हो, बहुत हो। एक को थोड़ा हो और ममता बहुत हो, एक को बहुत हो तो ममता कम (हो)। अनेक अपेक्षा के वहाँ उस प्रकार के प्रवर्तमान वर्तमान परिणाम की बात लेनी है। निमित्त के सम्बन्धवाले परिणाम, हों! समझ में आया?

पाठ में है न? यहाँ से शुरु होता है न? देखो न! कि **'हरिततृणाङ्कुरचारिणि मगृशावके मन्दा मूर्च्छा भवति'** बस न, पाठ है स्वयं। हिरण के बच्चे को, हरी घास खानेवाले को मूर्च्छा कम है। ऐसा पूरा सिद्धान्त यहाँ से उठाया है। भाई! चरणानुयोग की

बात ऐसी है कि उसमें से निकालकर डालना हो उतना डाले। यह तो पर्याय-अन्तर है तो वह लेना तो चाहिए न? एक अध:कर्मी आहार लेता है और एक माँस लेता है, दोनों में अन्तर है या नहीं? एक रोटी है, वह पुद्गल की पर्याय है और माँस है, वह पुद्गल की पर्याय है, लो! अन्तर है या नहीं?

मुमुक्षु : जाति में अन्तर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जाति का अन्तर है। एक स्त्री का शरीर भी पुद्गल की पर्याय है और माँ का शरीर पुद्गल की पर्याय है, तो दो में पुद्गल की पर्याय में क्या अन्तर है? परन्तु उसके अन्दर ममत्व में अन्तर है, यह बात अभी सिद्ध करनी है। समझ में आया? नहीं तो यह बाजरा, रोटी, गेहूँ पुद्गल की पर्याय है और एक माँस, वह पुद्गल की पर्याय है। तो समान पुद्गल की पर्याय अपेक्षा से समान, परन्तु उसमें वर्तमान विकृत में अन्तर है तो उसके खानेवाले के भाव में भी अन्तर है, ऐसा लेना है। समझ में आया?

हरी घास का खानेवाला हिरण का बच्चा है, उसे घास खाने में भी ममत्व बहुत थोड़ा है और चूहों के समूह को खानेवाली बिल्ली को चूहे खाने में बहुत तीव्र ममत्व है। बस, यही इन दोनों में विशेषता है। प्रथम तो हिरण के बच्चे को हरी घास में अधिक लालसा नहीं है,... थोड़ा सा न्याय देते हैं। **फिर उसे खाने में बहुत सरागता भी नहीं है...** दो बातें। घास में अधिक लालसा नहीं। दूसरा, खाने में बहुत सरागता नहीं। दो का अन्तर डालकर उसकी ममता में अन्तर बतायेंगे।

मुमुक्षु : उपादान-निमित्त...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, अधिक लालसा नहीं और खाने में विशेष सरागता भी नहीं, ऐसी दो बातें। **तथा खाते समय यदि किंचित् भी भय मालूम पड़े...** देखो! घास खाता हो और उसमें जरा सा कुछ ऐसा आवे तो घास छोड़कर भागेगा। उसका अर्थ कि उसके ऊपर तीव्र (राग) होवे तो सिर पर लकड़ी पड़े तो भी न जाये। समझ में आया? शक्कर की डली... लड़के शक्कर खाते हैं न? थाली में डाले हो न चार, पाँच, छह डलियाँ दी हों न? एक, दो खाये हो और हाथ अभी हरे (गीले) हों, उसमें मक्खी छुई हो। लड़का डली लेने जाये तो मक्खी की पंख चिपक गयी हो तो उड़े नहीं। क्योंकि मिठास में उसकी गृद्धि बहुत है। पंख टूट जाये तो भी वह उड़ेगी नहीं (क्योंकि) उसकी गृद्धि है। समझ में

आया ? इसी प्रकार इसे जरा भी भय प्राप्त हो... किसे ? हिरण के बच्चे को। **तो तत्काल छोड़कर भाग खड़ा होता है।** इतना अन्तर किया। अधिक लालसा नहीं और खाने में बहुत सरागता भी नहीं। दो की अपेक्षा से अन्तर किया। **इससे ज्ञात होता है कि उसके आसक्ति-ममत्व परिणाम बहुत तीव्र नहीं है।** इस अपेक्षा से उसे (आसक्ति नहीं है)। समझ में आया ?

चूहों के समूह को मारनेवाली बिल्ली को चूहे खाने की लालसा बहुत है और चूहों को मारने के पश्चात् उन्हें खाने में सरागता भी विशेष है... देखा ! चूहों को मारने में, चूहों को मारनेवाली बिल्ली को चूहे खाने की लालसा बहुत है और चूहों को मारने के पश्चात् उसे खाने में सरागता भी बहुत है। उस समय इतना राग तीव्र है। **तथा जिस समय वह चूहों को खा रही हो, उस समय उसके ऊपर लाठी की चोटें भी पड़ें तो भी...** अरे ! उसे पकड़ने के लिये पीछे कुत्ता आया हो, तो भी चूहे को छोड़ती नहीं। भाग नहीं जाती। भाग नहीं सकेगी। उसके प्रति बहुत गृद्धि है न ? **उस समय उसके ऊपर लाठी की चोटें भी पड़ें तो भी बड़ी मुश्किल से ही उसे छोड़ती है,...** देखा ? समझ में आया ? छोड़े फिर... **इससे ज्ञात होता है कि हरिण के बच्चे और बिल्ली की मूर्च्छा में बहुत अन्तर है।** दोनों में विशेषता है।

इसी भाँति बहुत आरम्भ-परिग्रहवाले... लो ! आया तुम्हारा। **तथा अल्प आरम्भ-परिग्रहवाले (जीवों में भी परिणामों) का अन्तर जानना।** आरम्भ परिग्रह ऐसा करते हैं बहुत उसका यहाँ भाव (लेना है)। इस अपेक्षा से लेना है। समझ में आया ? वैसे तो छियानवें करोड़ सैनिकों का आरम्भ परिग्रह, लो ! परन्तु उस आरम्भ परिग्रह का अन्दर तीव्र आरम्भ परिग्रह नहीं है। समकिती को तो मिथ्यात्व का आरम्भ और परिग्रह नहीं है, अनन्तानुबन्धी का आरम्भ परिग्रह नहीं है। लो ! दो नहीं है।

चक्रवर्ती छह खण्ड के राज्य में हो, छियानवें हजार स्त्रियाँ हों तो भी वह आरम्भ परिग्रह यह तो नहीं ही उसे। मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी की हिंसा भी नहीं, आरम्भ नहीं, परिग्रह नहीं। एकेन्द्रिय को एक शरीर ही है, उसे दूसरा कुछ नहीं, तथापि मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी आदि कषाय परिग्रह भी है, हिंसा है। सामान्यरूप से बात है। परन्तु विशेष

में ऐसे जब ऐसे बाह्यपदार्थ की फेरफार की स्थिति से जो है, तो उसके ममत्व में अन्तर है, इतनी बात यहाँ सिद्ध करनी है।

मुमुक्षु : निमित्त उपादान को सिद्ध करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हाँ। निमित्त ऐसा होता है, तब उपादान ऐसा ही होता है। माँस खाने का निमित्त है तो परिणाम भी उसे ऐसे तीव्र होते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो होता है, उसके कारण से। यह उसके कारण से है, परन्तु इस कार्य-कारण में जरा अन्तर बतायेंगे। गाथा में कहेंगे। है न मूल गाथा। यहाँ से सीधा शुरु किया है। मन्द और तीव्र में से शुरु किया है अथवा **'मूर्च्छाविशेषेण विशेषः'** १२० से ही शुरु किया है। नय के भंग इतने सब हैं, उन्हें सब भलीभाँति समझना चाहिए, ऐसी बात है।

मुमुक्षु : थोड़ी गुरु की बात की।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसे समझना चाहिए। यह तो गुरु होते हैं न साथ में, कहाँ नहीं? समझना चाहिए, ऐसा कहा न मैंने तो? समझ में आया? इतने प्रकार हैं। ऐसे देखो तो माँ भी स्त्री, बहू भी स्त्री, पुत्री भी स्त्री, बहिन भी स्त्री। सब स्त्रियाँ हैं, लो! आत्मा पर, चार के आत्मा पर, पुद्गल की पर्याय पर, सब पर है। पर की अपेक्षा से सब पर है और पर्याय अपेक्षा से सब ऐसी एक जाति का दिखता है परन्तु उसमें ममत्व में अन्तर है न? अन्तर है। कोई कहे कि हमारे तो परवस्तु स्त्री हो, या माँ हो, या पुत्री हो। ऐसा नहीं है, अन्तर है, वह बात यहाँ सिद्ध करते हैं। समझ में आया? इसी प्रकार हमारे रोटी की पर्याय हो या माँस की या शराब की पर्याय हो, पानी की पर्याय हो या शराब की पर्याय हो। लो न, दोनों पुद्गल की है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं देते। मूर्ख होगा तो कहता होगा तुम्हें। इन्हें कहता था कोई। शराब पीवे तो बहुत ऊँचे विचार आते हैं। बड़ा मूर्ख होगा। ऐसा कुछ भान नहीं रहे और ऐसा रहे, उसे गहरे विचार कहें। पागल जैसा (है)। अन्दर कुछ सूक्ष्म विचार चलता नहीं न, तो शराब पीकर मस्त जैसा लगे। समझ में आया?

मुमुक्षु : एक घण्टे काम करता हो तो वह चौबीस घण्टे कर सके।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन ? शराब क्या धूल भी नहीं कर सकता। करे कहाँ ? शराब की गहल में क्या (करे) ? करता कहाँ है ? वहाँ भाव करता है। आहा..हा..! इस अपेक्षा से जरा अनाज की पर्याय, माँस की पर्याय, स्त्री की पर्याय में सब भेद समझने जैसा है। समझ में आया ? महा ध्वंस है न ?

इसी भाँति बहुत आरम्भ-परिग्रहवाले तथा अल्प आरम्भ-परिग्रहवाले जीवों में भी परिणामों का अन्तर जानना। इस प्रकार बहुत आरम्भ-परिग्रह का भाव करता है, वह करता है, उन दोनों में अन्तर है, ऐसा। अधिक चीज़ हो, उसे अधिक ममता हो - ऐसा कुछ प्रमाण नहीं है। समझ में आया ? ग्राहक ग्राहक को सम्हालने में अन्तर होता है। समझे न ? एक व्यक्ति को साधारण अनाज लेता हो और एक व्यक्ति कहे भाई! तुम्हारे यहाँ माँस है या नहीं डिब्बे ? तो हम दूसरी दस चीज़ें लेंगे, नहीं तो नहीं लेंगे। माँस रखे, डिब्बा रखे तब वे...

मुमुक्षु : रखना ही पड़े, बनिये रखते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यही कहता हूँ, बनिये रखते थे सब। अभी कितने ही व्यापारी रखते होंगे। पन्द्रह, बीस चीज़ का पर्चा लेकर आया हो कि इतनी चीज़ चाहिए है, उसमें यह चीज़ है ? वह कहे, यह चीज़ नहीं। एक चीज़ नहीं तो हम अन्यत्र जायेंगे।

वहाँ वे सब तैयार माँस के डिब्बे हों, उनके साथ दूसरी चीज़ ले, इसलिए इस बनिये को रखना पड़े। तीव्र ममता है। रखना पड़े अर्थात् ? तीव्र ममता है। अब चलना हो तो चलेगा। अब इतना मैं तो भाई! मेरे तीव्र पाप नहीं करना। अलसिया का कितने ही वे रखने पड़ते हैं। अलसिया की दवा आती है न ? वह एक कहता था। एक जीवणभाई था। '...' दीक्षा ली थी। यह '...' वाले नहीं यह ? मलूपचन्दभाई! उसमें नहीं वह 'जीवण' था ? मारवाड़ में दीक्षा ली थी। वह जब पहले नही ली थी, तब मेरे पास आया था। कहता था कि मेरी दुकान में अलसिया रखना पड़ता है। नहीं तो न चले क्या ? अरर्र! यह छोड़ दे। इसकी अपेक्षा दीक्षा लेना। मस्तिष्क साधारण था। सुविधायें नहीं थीं और ठीक इस साधु में सुविधायें तो होंगी। यहाँ कुटुम्बी कोई सेवा करे न करे, ये तो सेवा करेंगे। वह कहता था, जीवण कहता था। हमारे यहाँ आता था।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : खबर है वहाँ आता था, 'वींछिया'। आहा..! दुकान थी। खबर है न, हमारे तो सब बहुत आये हों और बहुत बातें करते हों, बहुत वर्ष की बात है, हों! यह तो चालीस-पैंतालीस वर्ष पहले की। वह तो दीक्षा ली और मर गया। वहाँ कहीं यह... आता था। किसी का रिश्तेदार था। वह कहे, हमारे अलसिया रखना पड़ता है। सूखा, सूखा, हों! सूखा पाउडर, बहुत होता है न चतुर्मास में? रखे इसलिए वह दवा लेने आया हो और पच्चीस, पचास चीज़ें (लेनी हों), उसमें वह चीज़ न हो तो कुछ न ले। और उसमें हमारे दस, पाँच, पच्चीस रुपये की उपज हो जाती हो। अरर! यह क्या? फिर उसने दुकान छोड़ दी। अब दीक्षा लेने का भाव है। समझ में आया?

गाथा - १२२

आगे इस प्रयोजन को सिद्ध करते हैं:-

निर्बाधं संसिध्येत् कार्यविशेषो हि कारणविशेषात्।
औधस्यखण्डयोरिह माधुर्य्यप्रीतिभेद इव।।१२२।।

माधुर्य प्रीति भेद ज्यों, पय खाण्ड में निर्बाध ही।
है स्वत: सिद्ध विशिष्ट कारण, से करम वैशिष्ट्य ही।।१२२।।

अन्वयार्थ : (औधस्यखण्डयो:) दूध और खांड में (माधुर्य्यप्रीतिभेद: इव) मधुरता के प्रीतिभेद की तरह (इह) इस लोक में (हि) निश्चय से (कारणविशेषात्) कारण की विशेषता से (कार्यविशेष:) कार्य की विशेषता (निर्बाध) बाधारहित (संसिध्येत्) भले प्रकार से सिद्ध होती है।

टीका : 'हि कारणविशेषात् कार्यविशेष: निर्बाधं संसिध्येत् यथा औधस्य-खण्डयो: इह माधुर्य्यप्रीतिभेद: इव भवति' - अर्थ :- निश्चय से कारण की विशेषता होने से कार्य की विशेषता होती है। जैसे गाय के दूध में और खाण्ड में कम-बढ़ मिठास होने के कारण कम-बढ़ प्रीति होती है। गाय के थन के ऊपर जो दूध रहने की थैली होती है उसे औध कहते हैं, उसमें उत्पन्न होनेवाली वस्तु को औधस अर्थात् दूध कहते हैं।

भावार्थ : ऐसा नियम है कि जैसा कारण हो वैसा ही कार्य उत्पन्न होता है। जैसे दूध में मिठास कम है और शक्कर में अधिक है इसलिए दूध में प्रीति कम होती है और शक्कर में विशेष होती है।।१२२।।

गाथा १२२ पर प्रवचन

आगे इस प्रयोजन को सिद्ध करते हैं:- बड़ा परिग्रह ममता, देखो! यह तुम्हारे समझे न? फिल्म-विल्म की ममता बड़ी है, ऐसा कहते हैं। कोई कहे फिल्म बड़ी तो हमारे ममता कम है। यहाँ इनकार करते हैं। कहा न, भाव है और ऐसा भाव हो, तब ऐसा सब होता है, ऐसा कहते हैं। हाँ, दो आरम्भ परिग्रह में तीव्र ममता है। कितनी अन्दर से ऐसे... आकुलता.. आकुलता.. आकुलता.. **आगे इस प्रयोजन को सिद्ध करते हैं:-** देखो! अब कारण डालेंगे।

निर्बाधं संसिध्येत् कार्यविशेषो हि कारणविशेषात्।
औधस्यखण्डयोरिह माधुर्य्यप्रीतिभेद इव।।१२२।।

ऐई! देवानुप्रिया! आया यहाँ। कारण विशेष, कार्य में विशेषता। प्रवचनसार में नहीं आता? चरणानुयोग में पीछे आता है या नहीं? यह भी आता है, दूसरा क्या? स्वयं ही आचार्य १२२ गाथा में डालते हैं। १२० से शुरु किया है।

'औधस्य' दूध और खांड में... दूध को **'औधस्य'** कहते हैं, ऐसा आया था।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उल्टा किया। दूध रहने की थैली है, उसे औध कहते हैं, उसमें से उत्पन्न हुए को **'औधस्य'** अर्थात् दूध कहते हैं। **दूध और खांड में...** देखो! मिठास में अन्तर है। दृष्टान्त देते हैं। **मधुरता के प्रीतिभेद की तरह इस लोक में निश्चय से कारण की विशेषता से कार्य की विशेषता बाधारहित भले प्रकार से सिद्ध होती है।**

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। कार्य नहीं भाव, वह निमित्त।—माधुर्य आदि का

निमित्त और यहाँ माधुर्य दूध की मिठास थोड़ी तो कार्य की गृद्धि थोड़ी। उस खाण्ड की मिठास बहुत तो कार्य में मिठास बहुत, गृद्धि बहुत, इस अपेक्षा से यहाँ सिद्ध करना है न यह बात। यहाँ तो इस निमित्त का ऐसा अन्तर है, वहाँ ऐसा भाववाला भाव अन्तरवाला होता है - ऐसा सिद्ध करना है।

मुमुक्षु : खाण्ड खाये उसे अधिक गृद्धि, दूध की।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दूध की मिठास थोड़ी, मिठास की अपेक्षा की बात है। दूध में मिठास थोड़ी है तो गृद्धि थोड़ी है। खाण्ड में मिठास बहुत है तो गृद्धि थोड़ी है, इतना सिद्ध करना है। ऐसे निमित्त निमित्त सम्बन्ध के परिणाम सिद्ध करना है। शशीभाई! फिर यह धीरे-धीरे तो चलता है।

मुमुक्षु : ... दृढ़ हो जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : दृढ़ हो जाये। यह तो अपेक्षा से बात करते हैं। ऐसे तो अन्तर है न व्यवहार से। निश्चय में अन्तर है न? इस प्रकार अन्तर स्वयं के कारण से है, उसके कारण यहाँ पर्याय होती है - ऐसा कुछ नहीं। ऐसा नहीं परन्तु निमित्त ऐसा होता है, तब इसके परिणाम की जाति ही ऐसी अलग प्रकार की होती है। माँस खाने की क्रिया होती हो और परिणाम घास खाने जैसे हों, ऐसा होता है? ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

विशेषता बाधारहित भले प्रकार से सिद्ध होती है। और फिर वापस देखा? कारण और कार्य की विशेषता। **'निर्बाधं संसिध्येत्'** इसमें .... डालना हो तो डाल सके। इस अपेक्षा से बात करते हैं, भाई!

टीका : 'हि कारणविशेषात् कार्यविशेषः निर्बाधं...' 'हि' शब्द है न? **'संसिध्येत् यथा औधस्य-खण्डयोः इह माधुर्य्यप्रीतिभेदः इव भवति' - निश्चय से कारण की विशेषता होने से कार्य की विशेषता होती है।** इसलिए फिर कहे न, भाई! जो पात्र विशेष से भाव विशेष, ऐसा कहलाये न? कहलाये न? भाव बताना है। मुनि को पड़गाहन का भाव, एक साधारण गरीब को देने का भाव। इन दो भाव-भाव में अन्तर है। वस्तु तो निमित्त एक ही प्रकार है परन्तु निमित्त के अन्तर से यहाँ भाव में उस प्रकार का अन्तर स्वयं के कारण से होता है। समझ में आया? पर के कारण पर्याय होती है - ऐसा

नहीं, हों! यह तो मात्र पर ऐसा होता है, तब यहाँ भाव भी इसी प्रकार के होते हैं। ऐसा कारण-कार्य का सम्बन्ध निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है, ऐसा सिद्ध करना है।

निश्चय से कारण की विशेषता होने से कार्य की विशेषता होती है। लो! वास्तव में कारण में अन्तर होने से कार्य में अन्तर पड़ता है, ऐसा कहते हैं। **जैसे गाय के दूध में और खाण्ड में कम-बढ़ मिठास होने के कारण वही कम-बढ़ प्रीति उत्पन्न करती है।** देखा? **वही कम-बढ़ प्रीति उत्पन्न करती है।** निमित्त से बात करते हैं, तब ऐसा कहे न? समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : इस मिठास की बहुत गृद्धि है न? इस अपेक्षा से बात है। मिठास की मिठास ऐसी। समझ में आया? एक गन्ने का तना खाता हो और एक ज्वार का तना खाता हो, ज्वार का तना होता है न? ज्वार का नहीं? एक गन्ना ऐसा ऊँचा सफेद अध मण तना एक होता है। ऐसे बीच का गांठदार खाता हो। रसवाला बीच का निकालकर (खाये)।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। सेठिया तो फिर ऐसे चबाये नहीं, इसलिए रस निकालकर खाये। घर में गन्ने की रस निकालने की मशीन रखते हों। मौसम्बी की मशीन रखते हैं न? ऐसी काँच की आती है या नहीं? ऐसी गोल होती है चारों ओर, ऊपर ऐसा होता है। ऐसे मौसम्बी दबावे तो नीचे रस निकले, थाल भर जाये। ऐ.. मोहनभाई! घर में रखते हैं या नहीं? गन्ने की मशीन घर में होती है। ऊँचा अच्छा कतला नीचे का कतला निकाल कर, छाल निकालकर (रस निकालते हैं)। उस प्रमाण में जैसी चीज़ है और वैसा गृद्धि का भाव है, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। ज्वार का तना खाता हो। ज्वार का तना भी मीठा होता है, हों! लड़के ज्वार का तना बहुत खाते हैं। मीठा होता है तब। कच्चा नहीं परन्तु पक गया हो, परन्तु फिर भी उसकी मिठास और इस मिठास में अन्तर है। उसमें जरा गृद्धि कम होती है और इसमें बहुत होती है। इतना यहाँ सिद्ध करना है। निमित्त की मुख्यता से यह बात बताते हैं, परन्तु भाव तो इसका ऐसा ही उसी प्रकार का होता है, तब ऐसा निमित्त सामने होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

गाय के थन के ऊपर जो दूध रहने की थैली होती है, उसे औध कहते हैं, उसमें उत्पन्न होनेवाली वस्तु को औधस अर्थात् दूध कहते हैं। लो! **ऐसा नियम है कि जैसा कारण हो, वैसा ही कार्य उत्पन्न होता है।** यहाँ से शुरुआत यह की है न? १२० से। **जैसे दूध में मिठास कम है और शक्कर में अधिक है, इसलिए दूध में प्रीति कम होती है और शक्कर में विशेष होती है।**

मुमुक्षु : निमित्त से होती है, यहाँ तो स्पष्ट स्थापित किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कहा न भाई! यहाँ से शुरु किया है। यहाँ कहा और यहाँ से शुरु किया। मूर्च्छा विशेषण विशेषः, बाहर की चीज़ की विशेषता, वह मूर्च्छा विशेषः (होती है) ऐसी बात की है। व्यवहार में अन्तर है, ऐसा इसे बतलाना है। बाकी कहीं पर के कारण परिणाम होते होंगे? उनके क्रम में परिणाम आनेवाले हों वे आवें। तब सामने फेरफारवाले निमित्त होते हैं। इस अपेक्षा से यहाँ जरा बतलाते हैं।

है, भाई! जैनदर्शन ऐसी चीज़ है। 'जिन प्रवचन दुर्गम्यता थाके अति मतिमान, अवलम्बन श्री सद्गुरु सुगम और सुखखाण।' एक ओर कहे, तीन काल में अपनी पर्याय क्रम से हो, उसका फेरफार नहीं होता। निमित्त की विशेषता से फेरफार नहीं होता। पर के कारण नहीं होता, यह निश्चय बात है और इस बात के सामने ऐसी चीज़ है, ऐसे यहाँ परिणाम होते हैं - ऐसा यहाँ होने योग्य है, ऐसा गिनकर उससे होते हैं, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया?

भावार्थ : ऐसा नियम है कि जैसा कारण हो, वैसा ही कार्य उत्पन्न होता है। जैसे दूध में मिठास कम है और शक्कर में अधिक है, इसलिए दूध में प्रीति कम होती है और शक्कर में विशेष होती है।

गाथा - १२३

आगे इसके उदाहरण को प्रगट करते हैं:-

माधुर्यप्रीतिः किल दुग्धे मन्दैव मन्दमाधुर्ये।
सैवोत्कटमाधुर्ये खण्डे व्यपदिश्यते तीव्रा।।१२३।।

हो अल्प मीठे दूध में नित, अल्प प्रीति जग कहे।
अत्यन्त मीठी खाण्ड में हो, अधिक प्रीति जान ले।।१२३।।

अन्वयार्थ : (किल) निश्चय से (मन्दमाधुर्ये) थोड़ी मिठासवाले (दुग्धे) दूध में (माधुर्यप्रीतिः) मिठास की रुचि (मन्दा) थोड़ी (एव) ही (व्यपदिश्यते) कहने में आती है और (स एव) वही मिठास की रुचि (उत्कटमाधुर्ये) अत्यन्त मिठासवाली (खण्डे) खाँड में (तीव्रा) अधिक कहने में आती है।

टीका : 'किल मन्दमाधुर्ये दुग्धे माधुर्यप्रीतिः मन्दा व्यपदिश्यते तथा सैव माधुर्यप्रीतिः उत्कटमाधुर्ये खण्डे तीव्रा व्यपदिश्यते' - अर्थ :- निश्चय से थोड़ी मिठासवाले दूध में मिष्ट रस की रुचिवाले पुरुष को रुचि बहुत थोड़ी होती है और अधिक मिठासवाले शक्कर में उसी पुरुष को रुचि अत्यधिक होती है।

भावार्थ : जैसे कोई मनुष्य मिष्टरस का अभिलाषी है तो उसको दूध में रुचि कम होती है और खाँड में रुचि अधिक होती है उसी प्रकार जिस पुरुष के जितना ही पदार्थों में ममत्वभाव होगा वह पुरुष उतना ही हिंसा का भागीदार होगा, अधिक का नहीं। भले उसके पास वह पदार्थ उपस्थित हो अथवा न हो। यहाँ कोई बहुत आरम्भ-परिग्रह करनेवाला जीव कहता है कि हमारे ममत्वभाव नहीं है, बाह्य में परिग्रह अधिक है तो क्या हुआ? तो ऐसा नहीं बन सकता। क्योंकि जो ममत्वभाव न होता तो बाह्य परिग्रह एकत्र ही किसलिए किया? और जो बाह्य परिग्रह होने पर भी कोई पुरुष यदि ममत्व का त्यागी हो तो वह उन बाह्य पदार्थों को क्षणमात्र छोड़ सकता है। इसलिए सिद्ध हुआ कि ममत्वभाव बिना बाह्य पदार्थों का संग्रह नहीं हो सकता। जैसे जैसे अपना ममत्वभाव बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे अपने लिये बाह्य पदार्थों का संग्रह भी करता जाता है। ऐसा

नहीं हो सकता कि बाह्य परिग्रह तो अंगीकार करता जाय और कहे कि मेरे अन्तरंग में ममत्वभाव नहीं है। हिंसा में तो ऐसा बनता है कि [१]बाह्य हिंसा हो जाय और अन्तरंग शुद्ध रहे अर्थात् किसी को भावहिंसा के बिना भी द्रव्यहिंसा तो हो सकती है परन्तु बाह्य पदार्थों का संगह अर्थात् परिग्रह का अंगीकार ममत्वभाव के बिना नहीं हो सकता।।१२३।।

गाथा १२३ पर प्रवचन

आगे इसके उदाहरण को प्रगट करते हैं:- लो! अधिक दृढ़ करते हैं।

माधुर्यप्रीतिः किल दुग्धे मन्दैव मन्दमाधुर्ये।
सैवोत्कटमाधुर्ये खण्डे व्यपदिश्यते तीव्रा।।१२३।।

लो! **'किल' निश्चय से थोड़ी मिठासवाले दूध में 'माधुर्यप्रीतिः' मिठास की रुचि थोड़ी..** देखा? **'माधुर्यप्रीतिः मन्दा'** ऐसा शब्द है। यहाँ कारण विशेष, कार्य विशेष बताना है न?

मुमुक्षु : यह कार्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह कार्य। यहाँ भाव, वह निमित्त हुआ कारण। निमित्त कारण और उपादान / नैमित्तिक कार्य। बात तो इसमें ऐसी स्पष्ट है। होवे ऐसा लेना चाहिए न? यह इसके भाव बताते हैं। इसके भाव की ऐसी स्थिति हो, तब ऐसा निमित्त होता है। चरणानुयोग की विधि है न? यह चरणानुयोग का शास्त्र है, इसलिए अब इस स्थिति से सब बातें उठायी हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : पूरी जिन्दगी मीठा न खाये, उसमें अन्तर तो सही न?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी अन्तर नहीं। पूरी जिन्दगी मीठा न खाये, उसमें अन्तर है या नहीं? ऐसा कहते हैं ये। मैंने यह खाया नहीं, जड़ की क्रिया मैंने की नहीं, करता था वह की नहीं, यह मान्यता ही मिथ्यात्व है।

---

१. जैसा कि हिंसा के प्रकरण में कहा गया है कि यदि किसी पुरुष से बाह्य हिंसा हो जाये और उसके परिणाम उस हिंसा करने के न हों तो वह पुरुष हिंसा का भागीदार नहीं होता।

मुमुक्षु : तो मिथ्यात्व की पहली बात एक ओर रखो।

पूज्य गुरुदेवश्री : हो गया। परन्तु मूल यह बात ले न! पहले में क्या खाये और उसमें। उसमें कुछ (नहीं)। राग की जरा मन्दता हो, उसकी गिनती ठीक। यदि राग मन्द किया हो तो, हों! छोड़ा था और मन्द है, ऐसा कुछ नहीं। ओहो...! अभिप्राय और अस्थिरता पर पूरा जोर है। बाह्य चीज़ें तो संयोग हैं।

वास्तव में कम मिठासवाले दूध में मिठास की प्रीति थोड़ी। अमृतचन्द्राचार्य का पाठ ही है, ऐसा बोलते हैं, देखो! समझ में आया! **ही 'व्यपदिश्यते' कहने में आती है और वही मिठास की रुचि 'उत्कटमाधुर्ये'** ऐसा लेना है न? माधुर्य प्रीति, वही प्रीति। **'उत्कटमाधुर्ये' अत्यन्त मिठासवाली खाँड में 'तीव्रा' अधिक कहने में आती है।**

टीका : 'किल मन्दमाधुर्ये दुग्धे माधुर्यप्रीतिः मन्दा व्यपदिश्यते तथा सैव माधुर्यप्रीतिः' ऐसा वापिस दोनों जगह लेना है न? **'उत्कटमाधुर्ये खण्डे'** स्वयं मिलाकर बात करते हैं न वापिस। **'तीव्रा व्यपदिश्यते'** लो! ठीक। **निश्चय से थोड़ी मिठासवाले दूध में मिष्ट रस की रुचिवाले पुरुष को...** मिष्ट रस की रुचिवाले पुरुष को। समझ में आया? उसे रुचि है। दूसरे को तो कुछ नहीं होता। कहाँ गये दोनों? चले गये? जीतू और ज्योति, गये? विद्यालय गये होंगे। एक व्यक्ति कहे मुझे रस भाता नहीं। आम का रस नहीं, मीठा हो तो नहीं, खट्टा हो तो भाता है। एक को चूरमे के लड्डू भाते नहीं, भुजिया हो तो भाते हैं। वह तुम्हारे जीतू को है, नहीं? परिणाम की विविधता है न! खट्टा रस, तुम्हारे दिलीप को कल पूछा था। मीठा रस नहीं खाना। खट्टा रस हो तो भावे, मीठा नहीं भाता। आम का मीठा रस था, तूने खाया था? तो कहा, नहीं। गजब! लड़के भी अलग-अलग प्रकार के होते हैं। आम का मीठा रस अच्छा नहीं लगता, वह तो कोई (ऐसा होता है)। चूरमा के लड्डू अच्छे नहीं लगते, भुजिया अच्छे लगते हैं। भुजिया हों, फरसाण हों, चूरमे के लड्डू नहीं। तुम्हारे जीतू को ऐसा है, नहीं? केला और श्रीखण्ड होवे तो भावे। श्रीखण्ड में थोड़ा मीठा और खट्टा होवे तो इकट्ठा हो न। अकेला मीठा नहीं। विविध प्रकार के परिणाम हैं, इसलिए यहाँ शब्द बदला है - ऐसा मेरा कहना है। मिष्टरस की रुचिवाला, उसके ऊपर यह जरा दृष्टान्त दिया है। जिसे मीठे रस का प्रेम बहुत है उसे। जिसे प्रेम नहीं,

उसे तो खाण्ड भी खाये तो उसे कुछ नहीं। वह तो कहे रोटी लाओ, रोटी। रोटी और सब्जी खाऊँगा। लड्डू नहीं, रस नहीं।

मुमुक्षु : यह तो रोटी और रस खाते हों उसे... लड्डू खानेवाले को...

पूज्य गुरुदेवश्री : अरबी हो वह खाये, उसमें गृद्धि अधिक हो, लो! एक को उसमें रस में रुचि कम हो और इसे अरबी में अधिक। इसे जिस प्रकार की रुचि है और उस प्रकार की बात है यहाँ। ऐसा, कितनों को अरबी बहुत भाती है। समझे न? एक व्यक्ति तो एक सब्जी ही एक सेर खाये। घिसोड़ा की सब्जी एक सेर बनाकर, एक सेर पूरी खाये।

मुमुक्षु : रोटी बिना अकेली?

पूज्य गुरुदेवश्री : अकेली खाये। रोटी एक-दो खाये। बहुत देखे हैं न। इतनी अधिक सब्जी। तुम अकेले हो न, इतनी सब सब्जी क्यों? कहे, मैं इतनी सब्जी खा जाता हूँ। गिरधर बनिया था न वह? बोटाद। लड़का पैसेवाला हुआ न, दस लाख, बहुत लाख, सवा-डेढ़ लाख तो आमदनी है। यह तो बहुत देखे हैं न। घर में अकेला हो। इतनी सब्जी खाते हो? उसे कुछ खबर नहीं होती कि हम आहार लेने आनेवाले हैं। हमारा तो अनजाना खाता होता है न। हमारे लिये बनाया, यह प्रश्न नहीं था। इतना अधिक क्यों यह? मैं सब्जी ज्यादा खाता हूँ, रोटी एकाध खाता हूँ, बाकी सब्जी। कितनों को यह रस होता है। उसमें गृद्धि बहुत होती है, कितनों को सब्जी में कम रुचि होती है, वे रोटी के साथ सब्जी थोड़ी-बहुत खाते हैं। उनकी प्रीति, रुचि यहाँ अन्तर है न? मिष्टरस की रुचिवाला, ऐसे खट्टे रस की रुचिवाला। समझ में आया? यह सब रस है या नहीं? खट्टा रस, मीठा रस, समझे न? तूरा रस, कड़वा रस, वह चरपरा रस।

मुमुक्षु : हमें सब लागू पड़े न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो पूरी दुनिया को लागू पड़ता है। यह दुनिया के लिये कहा जाता है न कि भाई! यह परिग्रह, वह ममता है, उस ममता के जैसे बाहर से जिसके प्रमाण में उसे ममता है, उसकी गृद्धि का विषय कितना हो, उस प्रमाण में उसकी गृद्धि होती है।

मुमुक्षु : अनाज... स्थिति हो तो तुरन्त छोड़ दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, नहीं खाये। लड्डू ही अकेला खाये। चावल, दाल किसलिए

खाये ? किसलिए परन्तु ? इसमें क्या खाता था ? घर में दाल, भात, रोटी हमेशा मिलते हों। समझे न ? चूरमा किसी दिन मिलता हो, वहाँ अकेला चूरमा ही खाये। दाल, चावल, सब्जी खाये नहीं। एक व्यक्ति ऐसा कहता था। मैं वहाँ तीन लड्डू चढ़ाऊँ। दाल, चावल को छूता भी नहीं। सब्जी को भी छूता नहीं। तीन लड्डू। अध सेर-अध सेर के - डेढ़ सेर। पानी पी ले। बहुत प्रकार के लोग पके होते हैं न! दाल बिना ? वह तो एकदम उतर जाता है। एकदम.. एकदम..। तुम्हारे यह पोपटभाई, नहीं ? पोपटभाई लड्डुओं को ही छूते हैं, सब्जी, चावल खाते नहीं। पोपटलाल नहीं अपने ? वढवाणवाले। सन्त कहते हैं वह। दो.. बड़े। खाने का नियम ले ले तो ले और तोड़ डाले तो फिर अकेले लड्डू ही खायें। यह ऐसी बात है।

यहाँ कहते हैं **मिष्ट रस की रुचिवाले...** मीठे रस की रुचिवाला, ऐसा। यहाँ अधिक वजन है देखो! चिह्न किया है यहाँ। **पुरुष को रुचि बहुत थोड़ी होती है...** समझ में आया ? **निश्चय से थोड़ी मिठासवाले दूध में मिष्ट रस की रुचिवाले पुरुष को रुचि बहुत थोड़ी होती है और अधिक मिठासवाले शक्कर में उसी पुरुष को रुचि अत्यधिक होती है।** इस भाव में अन्तर जरा सा मिठास ऐसे होकर उसे होती है इतना बताना है, हों! उसके कारण होती है, ऐसा नहीं परन्तु वह ऐसा है, इसलिए उसे भाव ही ऐसा होता है। रुचि है न मिठास की।

जैसे कोई मनुष्य मिष्टरस का अभिलाषी है... देखो! भाषा। आहा..हा..! **तो उसको दूध में रुचि कम होती है और खाँड में रुचि अधिक होती है...** मिठास की प्रीतिवाले की अपेक्षा बात करते हैं। **उसी प्रकार जिस पुरुष के जितना ही पदार्थों में ममत्वभाव होगा, वह पुरुष उतना ही हिंसा का भागीदार होगा,...** लो! बराबर है। **अधिक का नहीं।** अधिक नहीं, जितना भाव होगा, उतना होगा। **भले उसके पास वह पदार्थ उपस्थित हो अथवा न हो।** लो! यहाँ ऐसा लिया। समझे न ? उपस्थित हों या न हों, भाव के प्रमाण में (बन्ध है)। **यहाँ कोई बहुत आरम्भ-परिग्रह करनेवाला जीव कहता है कि हमारे ममत्वभाव नहीं है, बाह्य में परिग्रह अधिक है तो क्या हुआ? तो ऐसा नहीं बन सकता।** बहुत परिग्रह है, उसके प्रमाण की ममता है। मिथ्यात्व को..

अधिक भाव है, अधिक रुचि रखता है, संग्रहण का भाव है न अधिक? तो अधिक ममता है।

क्योंकि जो ममत्वभाव न होता तो बाह्य परिग्रह एकत्र ही किसलिए किया? समझे न? अर्थात् कि वह निमित्त-निमित्त सम्बन्ध बतलाना है। समझ में आया? **और जो बाह्य परिग्रह होने पर भी कोई पुरुष यदि ममत्व का त्यागी हो तो वह उन बाह्य पदार्थों को क्षणमात्र छोड़ सकता है। इसलिए सिद्ध हुआ कि ममत्वभाव बिना बाह्य पदार्थों का संग्रह नहीं हो सकता।** रख नहीं सकता, ऐसा कहना है। संग्रह अर्थात् ममत्व के बिना वस्तु को रख नहीं सकता।

जैसे जैसे अपना ममत्वभाव बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे अपने लिये बाह्य पदार्थों का संग्रह भी करता जाता है। भावहिंसा के बिना भी द्रव्यहिंसा तो हो सकती है... भावहिंसा बिना परप्राणी मरते हैं। **परन्तु बाह्य पदार्थों का संग्रह अर्थात् परिग्रह का अंगीकार ममत्वभाव के बिना नहीं हो सकता।** ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। बाह्यहिंसा हो और भाव न हो, परन्तु जिसे परिग्रह हो और ममता न हो - ऐसा नहीं होता। यह तो अमृतचन्द्राचार्य ने प्रवचनसार में कहा न? वस्त्र से तो परिग्रह है ही। वह तो मारने का भाव न हो और मरे भी सही। परन्तु कोई कहे वस्त्र रखते हैं और ममता नहीं है - ऐसा नहीं हो सकता। इतना अन्तर डालना है। समझ में आया?

बाह्य पदार्थों का संगह अर्थात् परिग्रह का अंगीकार ममत्वभाव के बिना नहीं हो सकता। वे कहते हैं - वस्त्र, पात्र हम रखते हैं, हमारे मूर्च्छा नहीं है, आसक्ति नहीं है, यह बात मिथ्या है, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। इतने ममत्वभाव के बिना नहीं हो सकता, इसलिए उसे मुनिपना नहीं हो सकता, ऐसा सिद्ध करना है। अब परिग्रह त्यागने का उपाय कहेंगे, लो! (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - १२४

परिग्रह त्याग करने का उपाय

तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम्।
सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्च चत्वारः।।१२४।।

तत्त्वार्थ की श्रद्धारहित, मिथ्यात्व पहला चार हैं।
क्रोधादि अनन्तानुबन्धि, कषाय समकित चोर हैं।।१२४।।

अन्वयार्थ : (प्रथमम्) पहले (एव) ही (तत्त्वार्थाश्रद्धाने) तत्त्वार्थ के अश्रद्धान में जिसने (निर्युक्तं) संयुक्त किया है ऐसा (मिथ्यात्वं) [१]मिथ्यात्व (च) और (सम्यग्दर्शनचौराः) सम्यग्दर्शन के चोर (चत्वारः) चार (प्रथमकषायाः) पहले कषाय और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ हैं।

टीका : 'प्रथमं तत्त्वार्थाश्रद्धाने मिथ्यात्वं निर्युक्तं-एवं मिथ्यात्वं च चत्वारः प्रथमकषायाः सम्यग्दर्शनचौराः सन्ति' - अर्थ :- पहले तत्त्वार्थ के मिथ्याश्रद्धान में जिसको संयुक्त किया है अर्थात् पहला मिथ्यात्व नाम का अन्तरंग परिग्रह है और पहली चौकड़ी अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ यह चार हैं। इस प्रकार सम्यग्दर्शन के यह पाँच चोर हैं। जब तक इनका नाश नहीं होता, तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता।

भावार्थ : यहाँ यह बताया जा रहा है कि इन १४ प्रकार के अन्तरंग परिग्रहों का त्याग किस रीति से किया जावे। प्रथम ही यह जीव जब सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, तब मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का नाश करता है। अनादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा तो पाँच का नाश होता है और सादि (मिथ्यादृष्टि) की अपेक्षा सात का नाश होता है। यह दो भेद अन्तरंग परिग्रह के हुए। भावार्थ :- यह कि पहले ही जीव मिथ्यात्व नामक परिग्रह का त्याग करता है, तत्त्वार्थ का श्रद्धान न होना ही मिथ्यात्व है। पश्चात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ को भी उसी तत्त्वार्थ के अश्रद्धान के साथ विदा

---

१. मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यग्प्रकृति मिथ्यात्व।

कर देता है, क्योंकि यह चारों ही सम्यक्त्व के चोर हैं, इनकी उपस्थिति में सम्यग्दर्शन रह नहीं सकता। इसी वास्ते अनन्त संसार का कारण जानकर इनका नाम अनन्तानुबन्धी रखा है। इनकी वासना भी अनन्त काल तक रहती है।।१२४।।

प्रवचन नं. ५३ गाथा-१२४ से १२५ मंगलवार, ज्येष्ठ कृष्ण १२, दिनांक ०४.०७.१९६७

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, १२४ गाथा चलती है। १२३ पूरी हुई। अब आभ्यन्तर परिग्रह त्यागने का उपाय कहते हैं। एक तो दो प्रकार के परिग्रह कहे न? आभ्यन्तर और बाह्य। उनमें **आभ्यन्तर परिग्रह के त्याग का उपाय,** उसका क्रम क्या? यह बात करते हैं।

तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम्।
सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्च चत्वारः।।१२४।।

पहले ही तत्त्वार्थ के अश्रद्धान में जिसने संयुक्त किया है, ऐसा मिथ्यात्व (भाव)... समझ में आया? यह भाव की बात है। आभ्यन्तर की बात है न? उसने फिर लिखा है, द्रव्यकर्म। यह मक्खनलालजी ने। जहाँ ऐसा कुछ आवे और वहाँ द्रव्यकर्म (लिखे), परन्तु यहाँ तो स्पष्ट बात (की है)। **'तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं'** है? किसने? दर्शनमोह ने। परन्तु वह यहाँ कहाँ है? परन्तु यहाँ अभ्यन्तर परिग्रह की बात है, तो कुछ रजकण कर्म, वह कहीं अभ्यन्तर परिग्रह नहीं है। इसका जो भाव है (उसकी बात है)। देखो! यह पहले में मुद्दे की रकम।

मिथ्यात्व, वह पहला परिग्रह है। आभ्यन्तर परिग्रह के चौदह भेद में पहला यह (भेद है)। फिर बाह्य में सचेत-अचेत के बाह्य में दो भेद हैं। पहले इस परिग्रह का त्याग चाहिए। कहाँ गये? नहीं आये? दीपचन्दजी नहीं आये। समझ में आया? पहले ही, पहला शब्द पड़ा है, प्रथम। पहले में पहला मिथ्यात्व परिग्रह का त्याग होना चाहिए। इसके बिना कोई भी परिग्रह का त्याग, अस्थिरता का और बाह्य का त्याग निमित्तरूप से भी इसे नहीं हो सकता। कहो, यह मुद्दे की रकम की बात है।

मुमुक्षु : त्याग की बात आयी न?

पूज्य गुरुदेवश्री : त्याग की बात है, परन्तु किसका त्याग ? अभ्यन्तर त्याग की बात है न यह ? बाह्यत्याग की बाद में लेंगे, १२७। (गाथा १२४-१२५-१२६) तीनों में अभ्यन्तर परिग्रह के त्याग की बात है। तत्त्वार्थअश्रद्धान में जिसने सहित किया है, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, मिथ्यात्वभाव। ज्ञायकस्वरूप अनुभूति-आत्मा की अनुभूति का विरोध का जो मिथ्यात्वभाव, वही पहला परिग्रह है। कहो, समझ में आया ? यह परिग्रहत्याग की बात करते हैं न ? परिग्रह छोड़ो.. परिग्रह छोड़ो.. परिग्रह कौन सा छोड़ना ? पहला कौन सा ? ऐसा शब्द पड़ा है न ? देखो न ? **'प्रथमं' पहले ही...** ऐसा है न ? **'प्रथमम् एव'** ऐसा है न ? पहले ही, 'ही' वजन है। लो, आये अब। क्यों दूरी होती है ? इतनी अधिक देर लगती है ? छह बजे दिन उगे और आठ-पाँच हो गये। इतनी अधिक देरी क्यों हुई ? स्नान में जाते हो ? यह बात आयी पहला परिग्रह कौन-सा छोड़ना, उसकी बात चलती है। पहले वस्त्र छोड़ना, ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : यह वस्त्र तो साथ ही छूट जाते हैं न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : छूटे। पहला परिग्रह तत्त्वार्थअश्रद्धान, तत्त्वार्थअश्रद्धान। वास्तव में तो आत्मा की जो अनुभूति है, वह तत्त्वार्थश्रद्धान है। उसकी अश्रद्धा, उससे विपरीत मिथ्यात्वभाव। कहो, समझ में आया ? रागादि का विकल्प जो है, वह मैं। यह १४वीं गाथा में आ गया है न ? इसमें स्वयं में ही (आ गया।) कर्म के निमित्त से हुआ भाव, उससे रहित होने पर भी सहित मानना, वह मिथ्यात्वभाव है। यह पहले १४ वीं गाथा में आ गया। संसार का बीज। १४ वीं, १४ वीं, बहुत बार वहाँ बाहर भी वाँचन में कही थी। वहाँ बहुत जगह कही थी। पण्डित होते हैं न बीच में ?

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्।।१४।।

इस संसार का बीज मिथ्यात्व है। यहाँ तो तत्त्वार्थअश्रद्धान किसे कहना ? कि आत्मा कर्म, शरीर और कर्म से उत्पन्न हुए पुण्य-पाप के भाव - दया, दान, व्रत, भक्ति आदि शुभ-अशुभ, उन भावों से रहित है, तथापि सहित मानना, वह मिथ्यात्व संसार का बीज है। कहो, समझ में आया ? यह अधर्म की शुरुआत और इसका अभाव, वह धर्म की शुरुआत। यह तत्त्वार्थश्रद्धान, वह धर्म की शुरुआत और तत्त्वार्थअश्रद्धान, वह अधर्म की

-परिग्रह की पहली शुरुआत। पहले में पहला परिग्रह यह है कि जो वस्तु में नहीं, ऐसा शुभ-अशुभविकल्प शरीर, कर्म और संयोग से आत्मतत्त्वरहित है। रहित है, तथापि सहित, सहित मानना, वह तत्त्वार्थअश्रद्धान है। तत्त्वार्थअश्रद्धान, यह मिथ्यात्व परिग्रह पहले में पहला परिग्रह यह है। कहो, समझ में आया? समझ में आता है? है इसमें? क्या कहा? भगवान जाने क्या कहते हैं! यह तो मुद्दे की गाथा है।

परिग्रह के दो प्रकार वर्णन किये। उसमें अपरिग्रह व्रत की व्याख्या चलती है। पाँचवें व्रत की। उसमें परिग्रह दो प्रकार का—आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर के चौदह प्रकार, बाह्य के सचेत-अचेत दो प्रकार। अब दो में व्रतधारी को पहले किस परिग्रह का त्याग करना? जिसे व्रत धारण करना है, उसे पहले किस परिग्रह का त्याग करना।

मुमुक्षु : जो जाना-देखा जा सके, उसका करना।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह जाना-देखा नहीं जा सकता, इसे तत्त्व की विपरीत मान्यता? भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूप चैतन्यबिम्ब...

मुमुक्षु : वह तो केवलज्ञान हो तब दिखे।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे..! केवलज्ञान की बात यहाँ कहाँ? केवलज्ञान की तो कहीं रह गयी। उसे संशय है कि यह ऐसे होगा, वैसे होगा, अमुक होगा, अज्ञान है। वह अज्ञान है, वहाँ मिथ्यात्व है ही। समझ में आया?

मुमुक्षु : आता है न पंचाध्यायी में?

पूज्य गुरुदेवश्री : पंचाध्यायी में क्या आता है?

मुमुक्षु : केवलज्ञान में...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह दूसरी बात है। वह तो प्रत्यक्ष एक की एक पर्याय के अंशों की बात है। अनुमान से अपना जो भाव है..

मुमुक्षु : केवली जान सकते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा होता है? मतिज्ञान, श्रुतज्ञान जानता है।

मुमुक्षु : ... सब लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह लिखा है, वह सब अपेक्षा की बात है। मति-श्रुतज्ञान जानता है। क्षण-क्षण में एक-एक श्लोक में आता है। अपनी अनुभूति होती है, उसे अपनी खबर न पड़े? अनुभूति आत्मा...

मुमुक्षु : खबर पड़े परन्तु कब पड़े केवलज्ञान हो...

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! यहाँ अनुभूति के काल में पड़े या फिर बाद में (खबर पड़े)? कहो, शक्कर का स्वाद आता होगा तो शक्कर का स्वाद अभी ख्याल में आता है या फिर शक्कर ऐसी नजर पड़े तब? अन्धा शक्कर खाये और स्वाद आवे, वह शक्कर नजर से देखे, तब उसे स्वाद आवे?

मुमुक्षु : यह भौतिक दृष्टान्त धर्म के काम में नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टान्त दिया है न! पाठ में दिया है। रहस्यपूर्ण चिट्ठी। रहस्यपूर्ण चिट्ठी में दृष्टान्त दिया है। अन्धा शक्कर खाता है और देखता (सूझता) शक्कर खाता है, स्वाद में कुछ अन्तर नहीं है। देख सकने का अन्तर है। नीचे पूर्ण असंख्य प्रदेश और एक-एक प्रदेश में अनन्त गुण और उनकी अनन्त पर्यायें, उनके अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद, वे नीचे ज्ञात नहीं होते। समझ में आया?

कहते हैं, पहले में पहले व्रतधारी को, व्रत धारण करने हों तो उसे पहले तत्त्वार्थ की अश्रद्धानरूप मिथ्यात्व से सहित हुआ भाव है, वह पहले में पहले अभ्यन्तर परिग्रह है। है न? पहले ही तत्त्वार्थ के अश्रद्धान में, जिसने निर्युक्त किया है - ऐसा मिथ्यात्वभाव। यह तो मिथ्यात्वभाव की बात है। यह मिथ्यात्वकर्म की बात भी कहाँ है?

मुमुक्षु : मिथ्यात्व लिखा है, भाव नहीं लिखा।

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यात्व क्या हुआ? मिथ्यात्वपना-कर्मपना, वह मिथ्यात्वपना है। निर्युक्त, संयुक्त गया है। तत्त्वार्थश्रद्धान, है उससे विरुद्ध अश्रद्धान-मिथ्यात्वभाव से सहित किया है। मिथ्यात्वभाव ने तत्त्वार्थ के अश्रद्धानसहित किया है। समझ में आया? वस्तु द्रव्यस्वभाव, भले उसे नवतत्त्व, सात तत्त्व की श्रद्धा में रखे, तो भी आत्मा, वह आस्रव के विकल्प से, शरीर कर्म से रहित है, उसे सहित मानना.. रहित मानने में फिर वे आस्रव आदि जीव में नहीं है, ऐसा ज्ञान होने पर उसकी श्रद्धा भी उसमें आ जाती है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ऐसा परिग्रह छोड़ने का क्या कारण?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह परिग्रह छूटे बिना दूसरा अस्थिरता का राग नहीं छूटेगा और निमित्त छूटा, ऐसा भी उसे असद्भूत लागू नहीं पड़ेगा। भाई ने नीचे फुटनोट में स्पष्टीकरण किया है न! फुटनोट में उस ओर किया है। इसमें ही है। नहीं, नहीं उस ओर है, सौ पृष्ठ पर है। तत्त्व निवृत्तिरूप है उसमें से। त्यागरूप है न, उसमें से लेना। तत्त्व निवृत्ति और निवृत्ति। स्वयं आत्मा निवृत्तस्वरूप ही है। विकल्प शरीर, कर्म आदि से निवृत्तस्वरूप ही है। वह तो १४ वीं गाथा में आया है न? वह तत्त्व ही निवृत्तस्वरूप है, इसलिए फिर स्पष्टीकरण किया है न? मोक्ष भी निवृत्तिस्वरूप है, ऐसा लिखा है न इसमें। उसमें है। मोक्ष को निवृत्ति कहते हैं न? निवृत्ति नाम भी मोक्ष का ही है। इसमें है इसमें। १२८ गाथा के अर्थ में। देखो! यह तो मूल बात है न, इसलिए जरा इसे सूक्ष्म पड़ेगी। यह मोक्ष है, वह निवृत्तस्वरूप है। निवृत्ति को ही मोक्ष कहते हैं और यह आत्मा निवृत्तस्वरूप है। निवृत्त अर्थात् शरीर, कर्म, और पुण्य-पाप का जो विकल्प / आस्रव, उससे रहित तत्त्व है। उससे रहित तत्त्व का रहितपने का अन्तर अनुभव, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। उससे विरुद्ध रहित को सहित मानना, वह तत्त्वार्थअश्रद्धानरूप मिथ्यात्वभाव है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : पहला छूटे बिना दूसरा छूटता ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यात्व परिग्रह छूटे बिना अस्थिरता का परिग्रह नहीं छूटता और बाह्य का परिग्रह इसने छोड़ा - ऐसा असद्भूत व्यवहार का वचन भी इसे लागू नहीं पड़ता। बाह्य का तो त्याग किया, जितना वस्त्र-पात्र छोड़ा और यह छोड़ा इतना त्याग (है या नहीं)? कहते हैं, नहीं, नहीं। ऐसा छोड़ा, वह भी असद्भूतनय का वचन है, क्योंकि आत्मा ने छोड़ा नहीं, आत्मा ने ग्रहण नहीं किया; मात्र राग छूटने पर उनका लक्ष्य छूटा, तब वह छोड़ा—ऐसा असद्भूतव्यवहारनय से, झूठे व्यवहारनय से कहने में आता है। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं पहले, शब्द तो पहला पड़ा है इसमें। देखो! समझ में आया? **'प्रथममेव मिथ्यात्वम्'** पहले ही मिथ्यात्व। कहो, कैसा है मिथ्यात्व? कि **'तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं'** तत्त्वार्थ की अश्रद्धा के साथ जिसका जुड़ान है, वह मिथ्यात्व का ही जुड़ान है। इसलिए वह तत्त्वार्थअश्रद्धान है। अकेला ज्ञायक भगवान, उसे कुछ भी राग की क्रियावाला,

देह की क्रियावाला, कर्मवाला, कुछ भी उसका स्वीकार करना / मानना, वह तत्त्वार्थ-अश्रद्धानरूप मिथ्यात्व से संयुक्त है, वह सम्यग्दर्शन का चोर है, वह अनुभूति का चोर है। समझ में आया? अनुभूति ज्ञान की पर्याय, परन्तु यहाँ सम्यग्दर्शन का चोर, ऐसा कहा है न? यह 'चौरा' शब्द प्रयोग किया है। संस्कृत में भी प्रयोग किया जाता होगा? नहीं तो उसमें '**दस्यु**' शब्द आता है, नहीं? प्रवचनसार है न? भाई! प्रमाद चोर लूटे नहीं, मैं सावधान हूँ। वह प्रमाद, परन्तु वह अस्थिरता की बात है। प्रमादरूपी चोर मेरी सम्पत्ति चुरा न ले जाये, शुद्धोपयोग न हट जाये, इसके लिये मैं सावधान हूँ, ऐसा वहाँ कहा है। शुद्ध उपयोगरूपी मेरे चारित्र धन को प्रमादरूपी चोर चुरा न ले जाये, इसलिए मैं सावधान हूँ - ऐसा कहा है, ८१ गाथा, ८१।८० में तो सम्यग्दर्शन की बात की और फिर ८१ में यह बात की है। फिर ८२ में पूर्ण की बात (की है) परमात्मा ने यही मार्ग कहा है और भगवान ने उपदेश भी इसी प्रकार किया है। बहुत सरस बात, बहुत बात।

मुमुक्षु : हम भी ऐसा ही मानते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा ही है न। ऐसा है और हम एक कृत्य-कृत्य करते हैं, इसी मार्ग में हम हैं। आहा..हा..! खबर पड़े बिना ऐसे किया? हम इस मार्ग में हैं। भगवान जानते होंगे - ऐसा होगा वहाँ?

यहाँ तो कहते हैं कि **तत्त्वार्थ के अश्रद्धान में...** अर्थात् सातों तत्त्व। समझ में आया? कर्म से राग होता है और राग से शुद्धता तथा लाभ होता है, यह सब तत्त्वार्थअश्रद्धान मिथ्यात्वभाव है। ऐसा जो तत्त्वार्थअश्रद्धानरूप मिथ्यात्व, वह सम्यग्दर्शन का चोर है। तत्त्वार्थअश्रद्धानसहित वह भाव है, अर्थात् मिथ्यात्वभाव है। और **सम्यग्दर्शन के चोर...** लो! वह सम्यग्दर्शन का चोर है। अर्थात् उत्पत्ति नहीं होने दे, उसका नाम यहाँ चोर कहने में आया है। उसने सम्यग्दर्शन लूटा है। लूटना, यह भी चोर के अर्थ में होगा या नहीं? लूटना नहीं? यह प्रवचनसार में आता है। ८१ (गाथा)।

'**दस्युरिति जागर्ति**' चोर। '**अथैवं प्राप्तचिन्तामणेरपि मे प्रमादो दस्युरिति जागर्ति**' फिर ८१ की टीका है न? '**पुनरपि तावनुवर्तते तदा प्रमादतन्त्रतया लुण्ठित**' लुट न जाये ऐसा लिखा है। मूल में चोर शब्द प्रयोग किया है और फिर टीका में ऐसा प्रयोग किया। '**प्रमादतन्त्रतया लुण्ठितशुद्धात्मतत्त्वो-पलम्भचिन्तारत्न**' समझे न? चिन्तामणि रत्न ऐसा

लेना है। अर्थात् चिन्ता शब्द प्रयोग किया है और चिन्तामणि रत्न - ऐसा, समझे न? इतना शब्द प्रयोग किया, चिन्तारत्न। समझे न? **शुद्धात्मतत्त्व के अनुभवरूप चिन्तामणि के चुराये जाने से अन्तर में खेद को प्राप्त होता है।** देखो! चुराये जाने से है न यह? '**लुण्ठित**' का अर्थ है न? '**लुण्ठित**'। समझ में आया?

देखो! यह भी अमृतचन्द्राचार्य का श्लोक है, वह अमृतचन्द्राचार्य की ८१ गाथा की ज्ञान अधिकार की टीका है वहाँ। कहते हैं कि भाई! वस्तु जो है, शुद्ध आनन्द और शुद्धज्ञान की मूर्ति (वस्तु है)। उसमें उसे दु:खवाला मानना, वह भी तत्त्वार्थअश्रद्धान है। समझ में आया? क्योंकि दु:ख है, वह भी कर्मसहित का आस्रवभाव है। उस दु:खसहित आत्मा है - ऐसा मानना, वह तत्त्वार्थअश्रद्धान है। समझ में आया? गजब भाई! यह तो पुत्रसहित है, यह उड़ गया; पैसा सहित उड़ गया। कब आयेगा? श्रद्धा में पुत्रसहितपना। ओहो! छह खण्ड के राज (है न)? नहीं। में तो रागरहित आत्मा हूँ, और मैं तो दु:खरहित आत्मा हूँ न! आहा..हा..! क्योंकि राग और दु:ख तत्त्व तो आस्रवतत्त्व है। समझ में आया? राग कहो या दु:ख कहो, वह तो आस्रवतत्त्व है। उस तत्त्व से रहित आत्मा है। उसे उनसे सहित मानना, वह तत्त्वार्थ श्रद्धान है। आहा..हा..! व्याख्या यह.. व्याख्या! कला वह कला, इनकी कहने की पद्धति! कोई गजब की पद्धति है!

कर्मरहित होने पर भी सहित मानना। कर्म और कर्म के भाव से रहित होने पर भी सहित मानना। इसका अर्थ कि भगवान आत्मा ज्ञानसहित, आनन्दसहित, शान्तिसहित - ऐसा जो आत्मा, ऐसे तत्त्व का श्रद्धान, अनुभूति, उसकी प्रतीति, वह सम्यग्दर्शन है। उसका लूटनेवाला मिथ्यात्वभाव कि जो भाव, राग और दु:खरहित तत्त्व को उनसे सहित मनवाता है, वह मिथ्यात्वभाव, सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होने नहीं देता, इस अपेक्षा से उसे सम्यग्दर्शन का चोर कहने में आता है। ओहो..हो..! कहो, समझ में आया?

तो फिर रखे किसलिए यह सब? आस्रव तो इसे कहते हैं कि, जो आस्रव से निवृत्त हुआ है या नहीं निवृत्त हुआ? कि निवृत्त नहीं हुआ। तो नहीं निवृत्त हुआ तो राग के साथ अभेद हो गया। निवृत्त है, आस्रव से निवृत्त हुआ है तो भेदज्ञान बराबर कहलाता है। आता है न? आस्रव से निवृत्त हो तो बाह्य से निवृत्त हो, तब आस्रव से निवृत्त हो न? बाह्य स्त्री, पुत्र, परिवार सब छोड़े, तब आस्रव से निवृत्त हो कहलाये या उसके बिना आस्रव से निवृत्त

हुआ कहलाये ? नहीं ? पोपटभाई ! अन्दर के परिणाम पर इसका अभिप्राय है, कि अभिप्राय उससे हटकर द्रव्यस्वभाव पर आया है ? ऐसा है।

अभिप्राय में... समझ में आया ? ये पुण्य-पाप के भाव आदि आस्रवभाव, अभिप्राय अर्थात् जो अभिप्राय ऐसे चिपटा था (कि) रागसहित, पुण्यसहित हूँ, ऐसा सहित हूँ, वह अभिप्राय उनसे हटकर अन्तरस्वभावसन्मुख झुका है, वह अभिप्राय आस्रव से निवृत्त हुआ है। वह आस्रव से निवृत्त हुआ, इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि यह स्त्री, पुत्र, परिवार से निवृत्त हुआ, वह आस्रव से निवृत्त हुआ। आहा.. ! समझ में आया ? जो अभिप्राय में ऐसे राग और पुण्य की रुचि थी, रुचि थी, बहिर्मुख रुचि थी, उसकी रुचि वहाँ से हटकर अन्तर्मुख हुई, अभिप्राय स्वभावसन्मुख झुका, अर्थात् अभिप्राय आस्रव से निवृत्त हुआ है। ऐसा निवृत्त हुआ है। गजब परन्तु... शास्त्र के भाव के अर्थ को विपरीत करना और ऐसी लाईन.. वह तो आस्रव से निवृत्त हो तो निवृत्त कहलाये, नहीं तो समकिती नहीं। लो !

परन्तु किस प्रकार निवृत्त हुआ ? जो वस्तु की दृष्टि नहीं थी, राग और पुण्यादि के परिणाम पर दृष्टि थी, तब उस आस्रवसहित माना था, वह मिथ्यात्वभाव है। उस आस्रव की बहिर्मुख वृत्ति छूटकर, अन्तर्मुख दृष्टि हुई, अभिप्राय अन्दर गया, यहाँ से ढला, वह आस्रव से निवृत्त हुआ है। बहिर्मुखभाव से निवृत्त हुआ है और अन्तर्मुखभाव में अभिप्राय परिणमित हुआ है, वह आस्रव से निवृत्त हुआ है - ऐसा कहने में आता है। कहो, समझ में आया ? आचार्य यह यहाँ कहते हैं, देखो ! स्वयं ही अमृतचन्द्राचार्य का स्वयं का श्लोक है। १४वीं गाथा यह है। समस्त व्यवहार से... अभूतार्थ है। एक वस्तु अखण्ड है, उस पर अभिप्राय गया है।

ऐसा मिथ्यात्व और सम्यग्दर्शन के चोर... है। अब सम्यग्दर्शन जहाँ लूटता है, फिर बाहर के परिग्रह का त्याग करके बैठे, वह परिग्रह का त्यागी है—ऐसा व्यवहार से भी उसे लागू नहीं पड़ता। झूठे व्यवहार से लागू नहीं पड़ता। आहा..हा.. ! समझ में आया ? इस मूल चीज़ पर जोर नहीं होता। यह छोड़ो, यह छोड़ो, यह नहीं चलता, यह नहीं चलता है, यह लिया। आहा..हा.. ! परन्तु अन्दर आत्मा को आस्रव का विकल्प ही चलता नहीं। आहा..हा.. ! समझ में आया ? आहा..हा.. ! एक विषय की वासना या शुभ की वासना का विकल्प, वह चैतन्य को चलता नहीं, वह चैतन्य में नहीं, चैतन्य उससे रहित है। आहा..हा.. !

जिसे शुभ-अशुभराग में मिठास, मिठास, प्रेम है, उसने उन शुभ-अशुभरागसहित आत्मा को स्वीकार किया है। वह तत्त्वार्थअश्रद्धानरूप मिथ्यात्वसहित परिग्रही है। पोपटभाई! गजब व्याख्याएँ, भाई! आहा..हा..! रागादि के विकल्प में या परपदार्थ में जिसने उत्साहित किया है - ऐसा जो मिथ्यात्वभाव। आहा..हा..! रागादिभाव में सुखबुद्धि का उत्साह, उत्साहित वीर्य से, यह.. वह वीर्य उत्साहित होकर, राग मेरा है - उसमें मिठास है, उसमें सुख है; उस दुःखसहित के भाव में सुखसहित-सुखवाला है और उसमें मुझे सुख है - वह तत्त्वार्थअश्रद्धान का मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया?

इस श्लोक में 'चोर' शब्द पड़ा है न? अरे! भाई! तेरी स्वरूपसम्पदा, चैतन्य ज्ञानानन्द आनन्द की लक्ष्मी; यह मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत मान्यता अर्थात् कि जिसमें राग में, पुण्य में, शुभभाव में प्रेम है, पर में सुखबुद्धि है, वह चोर तेरी सम्यग्दर्शन की लक्ष्मी को लूटनेवाला भाव है। अपनी निज आनन्दलब्धि, आनन्द सम्पदा है, उसकी इसे प्रतीति नहीं है; इससे इसे राग में प्रेम और प्रीति में स्वयं पर सम्पदा में, प्रीति में गया। यह सम्यग्दर्शन अथवा अनुभूति—आत्मा के आनन्द का अनुभव, उसकी जो प्रतीति (होनी चाहिए), उसका वह मिथ्यात्वभाव चोर है। आहा..हा..! समझ में आया? उसे परिग्रह गिनने में आया है। पहला परिग्रह ही यह है। ईकाई का-पहले नम्बर का परिग्रह, ऐसा। ऊँचे नम्बर की ममता। आहा..हा..! कथन पद्धति कोई अलग प्रकार की, हों! दिगम्बर सन्तों का कथन ही... श्रीमद् कहते हैं न? दिगम्बर के तीव्र वचनों के कारण रहस्य कुछ समझा जा सकता है। क्योंकि वे क्या कहना चाहते हैं? इस भाव की घटना किस प्रकार रखते हैं - ऐसा पकड़ में आता है। इन श्वेताम्बर की शिथिलता के कारण रस शिथिल होता गया - विपरीत होता गया। शिथिल होता गया अर्थात् विपरीत होता गया।

मुमुक्षु : ऐसा तो अर्थ नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह ऐसा अर्थ है। प्रवचनसार में शिथिलता का नहीं आता? अन्तिम गाथाओं में (आता है)। निमित्त ऊपर शिथिलता।

मुमुक्षु : शिथिलता का ऐसा अर्थ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो उन्होंने ऐसा का ऐसा शब्द रखा है। होवे तो दूसरा क्या

करे यह ? ऐसा अर्थ होता है, उसका विपरीत मान्यता निमित्त की मैत्री है। है या नहीं उसमें ? बताया है या नहीं ? देखो ! आत्मविवेक शिथिल होता होने के कारण। देखो ! बाह्यपदार्थ व्यक्तियों के प्रति उसे मैत्री प्रवर्तती है, मैत्री प्रवर्तती है। मिथ्यात्वभाव है, देखो ! क्या कहते हैं ? इनकी स्वयं की टीका है। अनादि पौद्गलकिकर्म जिसका निमित्त है - ऐसी मोहभावना के प्रभाव द्वारा, आत्मापरिणति सदा भंवरी खाती होने से चक्कर मारती है। ऐसे स्थिर नहीं होती। यह आत्मा समुद्र की भाँति अपने में क्षुब्ध होता हुआ। अपने में क्रम से प्रवृत्ति अनन्त ज्ञप्ति व्यक्तियों, ज्ञप्ति - उन जानने की प्रगट अवस्थाओं द्वारा परिवर्तन को प्राप्त करता है। इसलिए ज्ञप्ति-व्यक्तियों के निमित्तरूप प्रगट-प्रगट पर्याय का निमित्त सामने वह चीज़ है, उपादान में यहाँ है, होने से वह ज्ञेयभूत हैं - ऐसी बाह्य पदार्थ व्यक्तियाँ, बाह्य पदार्थ की प्रगट अवस्थायें उस-उस व्यक्ति की... उसे मैत्री प्रवर्तती है। वह मानो कि इसके कारण होता है, इसके कारण होता है, वहाँ आगे दृष्टि गयी। इसलिए आत्मविवेक विपरीत हुआ है। शिथिल हुआ का अर्थ विपरीत हुआ है। यह अर्थ कोष्टक में लिखा है न ! हिम्मतभाई ने लिखा है। आत्मविवेक का उसे अभाव होने के कारण।

मुमुक्षु : परन्तु बाद में एकबार इन्होंने अर्थ बदल डाला है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भले किया हो, इसका अर्थ यह है। दूसरा अर्थ कहाँ से लावे ? करे क्या ? परन्तु यहाँ मैत्री प्रवर्तती है - इसका अर्थ क्या हुआ ? निमित्त के प्रति जिसे प्रेम प्रवर्तता है। इस पर्याय का निमित्त है, इसलिए वह पर्याय उससे हुई, ऐसे इसका लक्ष्य वहाँ जाता है, वह मिथ्यात्व है। कहो, समझ में आया ? ऐई ! यहाँ पण्डित पास में बैठे है, तो भी अपने ऐसे अर्थ करते हैं, भाई यहाँ तो।

आत्मविवेक शिथिल हुआ होने के कारण अत्यन्त बहिर्मुख ऐसा वह.., फिर क्या शब्द है ? अत्यन्त बहिर्मुख - ऐसा वह फिर से पुद्गलकर्म की रचना और राग-द्वेषरूप से परिणमित होता है। लो ! इसलिए उसे आत्मप्राप्ति दूर ही है। इतने तो संस्कृत के शब्द पड़े हैं। ऐ... छोटाभाई ! यहाँ तो प्रेम में बात गयी न, इसलिए मैत्री याद आया। उसे निमित्त के प्रति प्रेम है। यहाँ तो शुभराग में उत्साहित वीर्य है। वीर्य ऐसे उछाले मारता है कि यह मजा है, यह प्रेम है, इसमें सुख है। वह मिथ्यात्वभाव-तत्त्वार्थअश्रद्धानरूप मिथ्यात्वभाव है। यह भाव, सम्यग्दर्शन आत्मसम्पदा, राग और दुःखरहित की दृष्टि को यह भाव

लूटनेवाला है। कोठारी अब लिखते नहीं होंगे। अब कहाँ से लिखे, आँख में काँचु हो गया है न? नहीं लिखते? यह माल-माल अभी है। आँख से कम दिखता है। अभी चश्मा आने में देरी है न? आ गये? कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : अणुव्रत को...

पूज्य गुरुदेवश्री : इस अणुव्रत को धारण करनेवाले को मिथ्यात्व परिग्रह पहले छोड़ना चाहिए, तब उसे अणुव्रत के विकल्प का भाव, स्वरूपस्थिरता की भूमिका में आवे, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : .....छोड़ा उसे आ ही गया न?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या छोड़ा? परन्तु क्या छोड़ा? जहाँ से गाँठ छूटनी चाहिए, वहाँ से छूटी नहीं और बाहर से छोड़ा, वह तो छूटा हुआ ही पड़ा है। उसे छोड़ा, ऐसा कहना, यहाँ से छूटे, पश्चात् छोड़ा - ऐसा कहा जाता है। उसके बिना... वह तो छूटा पड़ा ही है। अन्दर कहाँ घुस गया था? यह तो संयुक्त किया है, देखो न! यह तो मिथ्यात्वभाव से सहित हुआ है। समझ में आया? उससे (पर से) सहित कब था? समझ में आया?

जो भगवान आत्मा मिथ्यात्वभाव से रहित स्वरूप है। कारण कि मिथ्यात्वभाव भी विपरीत मान्यता है, उससे तो इसका (आत्मा का) स्वरूप विपरीत अर्थात् रहित है। इसे उससे विरुद्ध श्रद्धा (होना, वह मिथ्यात्व है)। यह तो धीरज का काम है भाई! इसका आत्मा चैतन्यबिम्ब भगवान है। पर से हटकर अन्तर अनुभव हुआ, उसमें पूरी चैतन्य की सम्पदा का आदर है, उपादेय है। ऐसा ही उसका स्वरूप है। उस स्वरूप को वैसा न मानकर, वह दुःख और राग के भावसहितवाला तत्त्व है, पर में मिठासवाला आत्मा है, पर की मैत्रीवाला आत्मा है, या राग की मिठासवाला आत्मा है, यही अतत्त्वार्थश्रद्धानरूपी मिथ्यात्व संयुक्त जीव को किया है। कहो, समझ में आया? आहा..हा..! प्रवीणभाई! यह तो मूल पहले से उठाया है। यह मूल, फिर अस्थिरता की बात। आहा..हा..!

चक्रवर्ती छियानवें हजार स्त्रियों के वृन्द में पड़ा हो और जिसके शरीर का दिखाव हीरे के, माणिक के ऐसे अरबों रुपये का हार पहना हो। शरीर भी सुन्दर मणिरत्न, सिंहासन भी मणिरत्न का, इन्द्रियाणियाँ ऐसी देवी जैसी, इन्द्राणी जैसी देवी (रानियाँ)। सोलह हजार देव सेवा (करें)। आत्मा राग के विकल्परहित है, अनन्त गुणसहित है, ऐसी

अनुभूति की प्रतीति वर्तती है, कहते हैं कि वह मिथ्यात्व परिग्रहरहित है। कहो, समझ में आया? आहा..हा..!

यह बाह्य त्यागी होकर बैठा, अन्दर में एक विकल्प के राग से भी मुझे लाभ है, इसका अर्थ कि रागवाला आत्मा माना। जिससे लाभ माने, वह भिन्न है, ऐसा उसे नहीं माना। समझ में आया? और परजीव की दया पालने में और इस भाव में बराबर मैं सचेत रहूँ तो यह भाव है, वह मुझे लाभदायक होगा, ऐसा जो भाव है, वह मिथ्यादर्शन का तत्त्वार्थ -अश्रद्धान भाव है। वही महापरिग्रह है, आभ्यन्तर परिग्रह है। समझ में आया? आहा..हा..! यह मूलमन्त्र की बात है। इसकी तो खबर नहीं होती, अभी खबर नहीं होती कि कौन सा मिथ्यात्वभाव? और क्यों उसे मुख्य परिग्रह कहा? और उसका त्याग, वह परिग्रह का त्याग है। उसके बिना इसे राग का त्याग भी नहीं और राग के निमित्त का (भी त्याग नहीं)। राग की मन्दता इसने की, ऐसा भी नहीं और राग की मन्दता में निमित्त छूटे, इसलिए इसने छोड़ा, यह बात इसे व्यवहार से झूठे नय से भी लागू नहीं पड़ती। कारण कि वह तो झूठा है। छोड़ना है कहाँ? छूटता है यहाँ। यहाँ स्थिर होने से वह छूटता है, छूटा तब उसके निमित्त पर जो लक्ष्य जाता वह इसने छोड़ा, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? दो का सम्बन्ध छूटा, निमित्त-निमित्त सम्बन्ध छूटा।

सम्यग्दर्शन के चोर चार पहले कषाय और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ हैं। हीराभाई, कहाँ पढ़ते हैं यह? यहाँ ऊपर चलता है। अभी तो एक चलता है। चालीस मिनिट। ऐई! वासुदेवभाई! बापू को मानो ऐसा कि कितना अधिक चल गया होगा। खबर नहीं पड़ती। सुमनभाई को ऐसा था, यहाँ पढ़ते थे। पुस्तक रखी थी, पृष्ठ दूसरा था। फिर रामजीभाई ने धीरे से देकर पृष्ठ फिरा दिया। क्या करे? लड़के की भूल हो तो। कहो, समझ में आया? कहते हैं, यह गजब बात, भाई! १२४ गाथा।

भाई! आहा..हा..! इस वस्तु का स्वभाव, चैतन्य आनन्द का बिम्ब, बस! यह वस्तु, उसे अजीव और आस्रव का अभाव अथवा दु:ख का और अजीव का इसमें अभाव। इसे यह दु:खवाला और अजीव के सम्बन्धवाला - ऐसा मानना, वह अतत्त्वार्थ, अश्रद्धान है। अजीव को अजीवरूप से भिन्न भी नहीं रखा और दु:ख को आस्रवरूप से, आस्रवरूप से भिन्न नहीं रखा। सबको यहाँ इकट्ठा खतौनी कर दिया। जीव में नहीं, उसे जीवसहित माना, वे भिन्न हैं, उन्हें इससे सहित माना; इसलिए सभी तत्त्वार्थश्रद्धा की

विपरीत श्रद्धा हो गयी। समझ में आया? कहो, भरतभाई! समझ में आता है या नहीं? ऐई! अतुलभाई! वहाँ बेचारे अतुलभाई तो कॉलेज छोड़कर आये। बरसात बहुत आवे तो लड़के नहीं आते तो कहे चलो यहाँ जाते हैं। आहा..हा..!

यह चैतन्य महारत्न प्रभु! आनन्दरत्न प्रभु, चिन्तामणि रत्न। ऐसा कहा न? मेरा चिन्तामणि रत्न लुट जायेगा, वहाँ तो प्रमाद की बात है, हों! इसकी (मिथ्यात्व की) बात नहीं है। यह तो आत्मा का भान हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी चोर का नाश किया, फिर भी जो राग होता है, वह चिन्तामणि रत्न की उपयोग की शुद्धनय से नाश करनेवाला है। वह चोरी जानेवाला है। शुद्धोपयोगी रमता को, रमणता को, उस शुद्धोपयोग की रमत की रमत को चोरनेवाला है। मेरे आत्मा की रमत को चोरनेवाला यह राग है; इसलिए सावधानरूप से रहकर राग से सावधान रहता हूँ। आहा..हा..! समझ में आया?

पंच महाव्रत के परिणाम, दया का विकल्प आवे, कहते हैं यह मेरे शुद्धस्वरूप की परिणति को लूटनेवाला चोर है। परन्तु अब इतना नहीं, कि छठे गुणस्थान में पंच महाव्रत आदि के विकल्प वर्तते हैं, वहाँ तक छठा है और छूटे तब सातवाँ होता है, तब वह चारित्र होवे तो छूटे, तब सातवाँ कहाँ से हो गया? आहा..हा..! जब प्रमादभाव का वह भाव है, पंच महाव्रत आदि विकल्प भी, हों! उसकी छठी भूमिका की दशा को भले ही न घाते, परन्तु है वह गुनाह। वह जब छूटता है, तब सातवाँ गुणस्थान आता है। उसे रखकर सातवाँ गुणस्थान आता है? उसका अर्थ क्या हुआ? परन्तु फिर अर्थ दूसरा करते हैं। क्या कहे? तो क्यों सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय जितनी हुई, वह भी छूटे, फिर शुद्धि की वृद्धि होती है या नहीं? पहली व्यय होती है, तब वृद्धि होती है या नहीं? अर्थात् छूटती है, इसलिए हेय है ऐसा नहीं। हेय तो उस अपेक्षा से हेय यह भी है। ऐ.. देवानुप्रिया! हाँ! यह सब बात! तुम उसे कहो कि शुभराग हेय है तो हम तो ऐसा कहते हैं कि शुद्धपर्याय भी हेय है, क्योंकि वह छूटती है, तब आगे की शुद्धपर्याय बढ़ती है। आगे की अपेक्षा से हेय है। अरे भगवान! तेरी भी बलिहारी, बापू! यह लेख आया था। पहले लेख आया था। लक्ष्य में तो रहे न कि यह क्या कहते हैं? अरे..! भगवान! ऐसा कहे, तुम ऐसा कहोगे कि, देखो! प्रमाद विकल्प छूटा, तब सातवाँ गुणस्थान आया था। हम ऐसा कहते हैं कि सातवें की स्थिरता छूटी, तब आठवें की स्थिरता आयी।

हाँ, आज सबेरे पहले कहा था न? यह ख्याल में था, यह बात की थी। अरे! भगवान! गजब भाई! प्रभु! तू तो... तो निश्चयमोक्षमार्ग पर्याय, वह भी छूटे तब ही मोक्ष होता है। इस अपेक्षा से तो हेय है। इसलिए यही अपेक्षा का वह हेय है? इसी अपेक्षा का वह विकल्प हेय है, ऐसा नहीं है। वह तो अभाव होकर भाव होता है, इस अपेक्षा से हेय है और यह तो राग का अभाव करे तो ही आत्मा की दृष्टि सच्ची होती है और राग का अभाव करे तो स्थिर होता है। भारी तर्क निकाले हैं। अरे! किसी प्रकार से प्रभु में, अन्दर में नहीं आना, सब यह उपाय खोजते हैं। आहा..हा..! ऐसे बाहर में जो भटकती वृत्ति है, उससे लाभ मनवाते हैं, इसलिए फिर अन्दर में जाने की बात तो वहाँ आती नहीं।

चार पहले कषाय... लो! समझ में आया? देखो! भिन्न किया देखा? पहले सम्यग्दर्शन का चोर कहा और फिर **'चत्वार: प्रथमकषाया:'** देखो! प्रथम तत्त्वार्थअश्रद्धान और प्रथम चार कषाय, ऐसे दो भेद किये। अर्थात् स्वरूप की स्थिरता है, वह लुटती है। वे सम्यग्दर्शन के लूटनेवाले हैं। यहाँ पाँच को लूटनेवाला गिना है परन्तु एक साथ हैं न सब? कहो, समझ में आया इसमें? यह एक गाथा का शब्दार्थ हुआ। पौन घण्टा। मूल बात है न! मूल बात है। आहा..हा..! कैसी बात की है! साधारण जनता को वस्तु ऐसी तादृश मस्तिष्क में आवे, ऐसी बात है। समझ में आया?

तेरा घर छोड़कर, आनन्द का घर छोड़कर, किसी भी विकल्प और संयोग में तुझे मिठास वर्तती है? देख ले। और वहाँ मिठास वर्तती है तो तुझे एक भी तत्त्व की श्रद्धा की खबर नहीं है। जहाँ मिठास जिसमें नहीं, उसे तू मिठासवाला मानता है; जिसमें मिठास है, उसे तू मिठास, उसे मिठासवाले को ऐसा मिठाससहित तू मानता है। एक भी तत्त्व की श्रद्धा की उसे खबर नहीं है। पहले काल में ऐसा था, हों! कारण विशेषात, कार्य विशेष - ऐसा था। इसलिए कहीं वह ऐसा नहीं है। कारण में अन्तर है तो कार्य में अन्तर है, इतना अन्तर बताते हैं। जैसे कि माँस है तो उसके भाव में अन्तर है। माँस भी कारण विशेष भिन्न है न? रोटी है तो कारण विशेष है... उससे होता है यह प्रश्न नहीं। यहाँ दो शब्द पड़े हैं न? कारण विशेषात, कार्य विशेष।

मुमुक्षु : निमित्तकारण।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परन्तु निमित्तकारण भी दूसरी प्रकार का है न, ऐसा। एक

रोटी पर्याय का निमित्त और एक माँस की पर्याय निमित्त। वह विशेष निमित्त ही अलग प्रकार का है, इसलिए भाव भी उस प्रकार के विशेष होते हैं। समझ में आया?

टीका : 'प्रथमं तत्त्वार्थाश्रद्धाने मिथ्यात्वं निर्युक्तं-एवं मिथ्यात्वं च' बस! इतना। और **'चत्वारः प्रथमकषायाः'** देखा न? प्रथम कहते हैं, देखो! दो जगह प्रथम (शब्द) मूल पाठ में है, दोनों में है, दोनों जगह है। **'प्रथममेव मिथ्यात्वं प्रथमकषायाः'** ऐसा दोनों जगह प्रथम शब्द पड़ा है। दो भिन्न ऐसा नहीं कि, पहले प्रथम को लागू पाड़कर दो को लागू पाड़ा है, ऐसा नहीं है। यह तो दोनों को प्रथम शब्द मूल पाठ में लागू किया है अर्थात्? **'चत्वारः प्रथमकषायाः सम्यग्दर्शनचौराः सन्ति'** यह ऊपर से डाला। नहीं **'सन्ति'** यह सिद्ध करने के लिये। है, ऐसा। पाठ में नहीं है परन्तु यह कहा न? इसका अर्थ हुआ न? यह चोर है, यह चोर है, ऐसा सिद्ध किया।

पहले तत्त्वार्थ के मिथ्याश्रद्धान में... वास्तविक तत्त्वार्थ हैं, भगवान आनन्दस्वरूप है, राग दुःखस्वरूप है, अजीव परस्वरूप ज्ञेयरूप है। उसमें कहीं भी विपरीतता तत्त्वार्थ की अतत्त्वार्थश्रद्धान, यह **मिथ्याश्रद्धान में जिसको संयुक्त किया है अर्थात् पहला मिथ्यात्व नाम का अन्तरंग (पहला) परिग्रह है...** लो! इस नाम का पहला अन्तरंग परिग्रह है। जगत को (इसकी महिमा है कि) यह छोड़कर बैठा और पाव सेर दूध पीता है, और दो रोटी खाता है, बहुत त्याग। जगत की यह दृष्टि है। समझ में आया? (संवत्) १९८० के वर्ष में आये थे, भाई! यह वह है न बड़ा तुम्हारा कौन? सर, सर यह भावनगर का। अपना जैन श्रावक। वह स्थानकवासी नहीं बड़ा? बड़ा करोड़पति नहीं, पूरा मुम्बई का। 'चुनीलाल भाईचन्द' न? पहले १९८० में आया था। १९८० में बोटाद आया था। तब इतने अधिक रुपये नहीं थे, रुपये बहुत थे अवश्य थे परन्तु.. तो कहे क्या खाते हैं? पाव सेर दूध और दो पूड़ी। कुछ खा नहीं सकता।

मुमुक्षु : त्याग किया है उसने?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह शरीर ही ऐसा है। शरीर में अधिक ले नहीं सके, पच नहीं सके अन्दर। डालने जाये तो थैली फट जाये। कागज की थैली में गर्म-गर्म हलुवा डाले, एक तो गर्म ही जला दे, हलुवा तो पचे नहीं। इसी प्रकार साधारण जठर, ऐसा कहे। ओहो..हो..! भाई! यह तो बहुत सादा, परन्तु सादा किसका? उसका शरीर ही ऐसा है।

ऐसा कि इतने पैसेवाला और यह खाता है इतना। परन्तु वह क्या ? उसे पचता नहीं होगा इसलिए। इसलिए त्यागी है, ऐसा किसने कहा ? आहा..हा.. ! समझ में आया ? आहा..हा.. ! वह आया था, हों ! १९८० के वर्ष में। बहुत वर्ष हो गये। ४३ वर्ष हुए, चुनीलाल भाईचन्द, यही कहता हूँ।

इसी प्रकार बाहर का यह त्याग है, इसलिए वह त्यागी है - ऐसा जो माना है, वह दृष्टि ही मिथ्यादृष्टि है। वह तो मिथ्यात्व परन्तु उसे ऐसा माने कि यह मेरा बाह्य त्याग (किया), इसलिए त्याग है, ऐसा माननेवाला ही मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि उसे तत्त्वार्थश्रद्धान की खबर नहीं है। तत्त्वार्थ का अश्रद्धान है, क्योंकि बाह्य का संयोग कम हुआ, परन्तु अन्दर मिथ्यात्व का परिग्रह है, कि यह मैंने छोड़ा और यह मैंने रखा, उसे यह मिथ्यात्व, रागरहित आत्मा है, उसे रागसहित मानता है, ऐसा जो आत्मा, उसे दूसरा माने कि यह त्यागी है, ऐसी मान्यता की श्रद्धा मिथ्यादर्शन श्रद्धा है। आहा..हा.. ! ऐई ! न्यालभाई ! भारी कठिन बातें। कहो, प्रवीणभाई !

भारी त्यागी ! परन्तु किसका त्यागी ? सम्यग्दर्शन का या बाह्य का ? सम्यग्दर्शन का त्यागी है। मिथ्यादर्शन का त्यागी नहीं, कारण कि राग की मन्दता मैंने की, उससे मुझे लाभ है और वह राग मेरी चीज़ थी, मैंने मेरे पुरुषार्थ से उसे घटाया। मेरी चीज़ थी, मैंने घटायी; इसलिए मुझे इतना लाभ है। वह रागसहित ही इसने आत्मा माना है, उसे स्वभाव की सम्पदा की दृष्टि ही नहीं। और वह राग जो परतत्त्व है, वह परतत्त्व ऐसा पुकारता है कि मैं इस तत्त्व का नहीं, तथापि उससे यह माना तो इस तत्त्व की भी श्रद्धा उसे सच्ची नहीं रही। आस्रवतत्त्व की श्रद्धा भी सच्ची नहीं रही। उससे लाभ माना तो वह तत्त्व ऐसा है नहीं; और अजीवतत्त्व की क्रिया मैं कर सकता हूँ कि यह मैंने इतना छोड़ा, ऐसे इसने छोड़ा भी नहीं, वह तो उसके कारण वह (अजीव) छूटा है। उस तत्त्व का ऐसा स्वरूप है कि इस काल में उसे ऐसे छूटा, ऐसा उसका स्वरूप है, इसने वैसा माना नहीं; इसलिए इस अजीवतत्त्व को भी इसने माना नहीं। राग को भी माना नहीं और आत्मा को भी माना नहीं। तत्त्वार्थ-अश्रद्धानरूपी मिथ्यात्व का पहले में पहला परिग्रह पकड़कर बैठा है। कहो, समझ में आया इसमें ?

मुमुक्षु : कोई बाह्य का त्याग ही नहीं करे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन त्याग करता है ? यह समझेगा तो बाह्य का त्याग नहीं करे। आहा.. !

और पहली चौकड़ी अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ यह चार हैं। किसके ? सम्यग्दर्शन के चोर। **इस प्रकार सम्यग्दर्शन के यह पाँच चोर हैं।** देखो न ! कहाँ बात रखी ? पाँचवें व्रत की व्याख्या में यह बात ली है। **जब तक इनका नाश नहीं होता, तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता।** कर्म की बात नहीं, हों ! इसके अभिप्राय और अस्थिरता की बात है। मिथ्याश्रद्धा और अनन्तानुबन्धी के भाव का नाश न करे, तब तक इसे सम्यग्दर्शन और स्थिरता नहीं होती।

भावार्थ-यहाँ यह बताया जा रहा है कि इन १४ प्रकार के अन्तरंग परिग्रहों का त्याग किस रीति से किया जावे। प्रथम ही यह जीव जब सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है... देखा ? **प्रथम ही यह जीव जब सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, तब मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का नाश करता है।** पहले परिग्रह का यह त्याग होता है। कहो, समझ में आया ? **अनादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा तो पाँच का नाश होता है...** अर्थात् अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्व। ऐसा। **और सादि (मिथ्यादृष्टि) की अपेक्षा सात का नाश होता है।** अनन्तानुबन्धी चार और मिथ्यात्व, समकितमोहनीय और मिश्र मोहनीय, ऐसे सात, इनका नाश होता है। समझ में आया ? **यह दो भेद अन्तरंग परिग्रह के हुए।** लो ! यह दो भेद अन्तरंग परिग्रह। कौन से ? एक मिथ्यात्व और एक अनन्तानुबन्धी। कहो, ये दो भेद अन्तरंग परिग्रह के हुए। क्योंकि परिग्रह के चौदह भेद हैं न ? यह उसमें का यह भेद अलग है न, मिथ्यात्व अलग और कषाय अलग है। ऐसा।

गाथा - १२५

आगे अवशेष भेद बताते हैं:-

प्रविहाय च द्वितीयान् देशचरित्रस्य सन्मुखायातः।
नियतं ते हि कषायाः देशचरित्रं निरुन्धन्ति।।१२५।।

ये और अप्रत्याख्यानावरण तज अणुव्रति हुआ।
है क्योंकि यह कषाय, रोके देशचारित्र जिन कहा।।१२५।।

अन्वयार्थ : (च) और (द्वितीयान्) दूसरे कषाय अर्थात् अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध-मान-माया-लोभ को (प्रविहाय) छोड़कर (देशचरित्रस्य) देशचारित्र के (सन्मुखायातः) सन्मुख आता है (हि) कारण कि (ते) वे (कषायाः) कषाय (नियतं) निश्चितरूप से (देशचरित्रं) एकदेशचारित्र को (निरुन्धन्ति) रोकते हैं।

टीका : 'च श्रावकाः द्वितीयान् अप्रत्याख्यान क्रोधादीन् चतुष्कान् प्रविहाय देशचरित्रस्य सन्मुखायातः भवन्ति हि ते कषायाः नियतं देशचरित्रं निरुन्धन्ति' - अर्थ :- सम्यग्दृष्टि श्रावक उन, [१]अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ - चार कषायों का नाश करके एकदेशचारित्र के सन्मुख होता है अर्थात् ग्रहण करता है। कारण कि निश्चय से वही अप्रत्याख्यानावरणादि चारों, देशचारित्र-श्रावक के व्रतों का घात करते हैं। इस तरह यह तीसरा भेद अन्तरंग परिग्रह का हुआ।।१२५।।

गाथा १२५ पर प्रवचन

अब, **अवशेष भेद बताते हैं:-** लो! उसमें यह कहा अब श्रावक की बात।

प्रविहाय च द्वितीयान् देशचरित्रस्य सन्मुखायातः।

देखो! जीव, देशचारित्र के सन्मुख होता है, देखा? समझ में आया? अर्थात् ग्रहण करता है, स्वरूप की स्थिरता का अंश ग्रहण करता है। देखा?

नियतं ते हि कषायाः देशचरित्रं निरुन्धन्ति।।१२५।।

देखो! यहाँ तो **'निरुन्धन्ति'** (कहा)। अस्थिरता का भाग उसे रोकता है, देशचारित्र को दूसरा कषाय रोकता है।

यह दूसरा एक विचार आया था। घात का आता है न? कि भाई! अनन्तानुबन्धी यह कहीं... उस घात की अपेक्षा से बात है। समझ में आया? अनन्तानुबन्धी स्वरूपाचरण का घात करती है, अप्रत्याख्यानी देश अंश को चारित्र को घातती है और प्रत्याख्यानी

१. अप्रत्याख्यानावरण-अ=ईषत्-थोड़ा, प्रत्याख्यान=त्याग को, आवरण=आच्छादित करनेवाला।

सकल को (सकल चारित्र को) घातती है। इसलिए परिणाम में तो ऐसा सब आवे, देखो न! शुभ का आया था न काल? परिणाम उसके शुभ के हों। दूधवाले को कम मिठास का पाप हो, उसको अधिक हो। यह सब वह बात, पहला जो घातता है, उस अपेक्षा से ऐसी बात नहीं। वे कषायें तो गुण को घातती हैं, इतना ही काम वहाँ करती है, बस! और वर्तमान के परिणाम जो यह वर्तमान, वर्तमान शब्द आता था न? उस अपेक्षा से वापस बात आयी। वर्तमान वे परिणाम। पहला काम तो घातता है, उसका ही किया है। समझ में आया? अप्रत्याख्यानावरणी, वह तो देश अंश से स्थिरता को घातती है; इसलिए फिर हो गया। उसे कहीं वर्तमान परिणाम कैसे हैं, वह घात है, इसलिए घात है। और उसको...

मुमुक्षु : जोरदार घातता है या हल्के घातता है - यह होगा... अलग होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अलग, यह फिर बाद में वर्तमान परिणाम दूसरे हैं तो वह घातता है, इतना उसका अभाव ही है। बस! यहाँ परिणाम में वर्तमान किसी को राग की मन्दता में मिठास यहाँ कही और जिसे मिठास का प्रेम है, उसे किसी को दूध में कम प्रीति है, खाण्ड में अधिक प्रीति है। यह परिणाम का अन्तर डाला। नहीं तो होवे भले मिथ्यादृष्टि अनन्तानुबन्धीवाला, उसे अन्तर के स्वरूप में तो घात हुआ है भले हो, परन्तु यहाँ वर्तमान परिणाम में यह स्थिति है, ऐसा कहना चाहते हैं। समझ में आया?

देशचारित्र के सन्मुख आता है... कहो। **दूसरे कषाय अर्थात् अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध-मान-माया-लोभ को छोड़कर...** स्वरूप के सन्मुख आंशिक आता है। तब स्वरूप को स्थिरता को ग्रहण करता है। उसका (कषाय का) त्याग होता है तब यहाँ ग्रहण करता है। समझ में आया? **कारण कि वे कषाय निश्चितरूप से एकदेश चारित्र को रोकते हैं।** देखा? वह कषाय की अस्थिरता का दूसरा भाव है न? वह आंशिक स्थिरता को रोकता है। स्वरूप में शान्ति की स्थिरता को उत्पन्न नहीं होने देता इसलिए उसे दूसरा कषाय कहने में आता है। उस काल में उसे देशचारित्र होता है, तब उसे श्रावकपना सच्चा होता है। उसे सच्चा श्रावक कहते हैं। कहो, यह वाडा की बात नहीं है इसमें। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, १२५ वीं गाथा। परिग्रह-त्याग की व्याख्या है। चौदह प्रकार का अभ्यन्तर परिग्रह है, उसमें पहला मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का त्याग करना। यह १२४ में आ गया है। वास्तव में वह आभ्यन्तर परिग्रह के परिणाम की बात है। यहाँ कर्म की बात नहीं है। आत्मा के शुद्धस्वभाव से विपरीत अभिप्राय जो मान्यता है, वह मिथ्यात्व है। उसका त्याग, वह परिग्रह का पहला त्याग है। उसके साथ पहली कषाय के- अनन्तानुबन्धी के परिणाम का त्याग। क्योंकि ये पाँचों सम्यग्दर्शन के चोर हैं। ये अपने ही परिणाम अपने चोर हैं - ऐसा कहते हैं। यह मिथ्यात्व परिणाम और अनन्तानुबन्धी के परिणाम, वे ही आत्मा के सम्यदर्शन परिणाम को उत्पन्न नहीं होने देते; इसलिए वे ही - अपने परिणाम ही सम्यग्दर्शन के चोर हैं - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? वहाँ आभ्यन्तर में सब अर्थ कर्म से किये हैं, मक्खनलालजी ने। कर्म छोड़ूँ। दूसरी चौकड़ी की बात कहाँ है? यह तो चौदह आभ्यन्तर परिणाम की बात है। बाह्य में सचेत-अचेत का बाह्य में आयेगा, बाद में आयेगा। यहाँ कर्म की बात ही कहाँ है?

यहाँ तो आत्मा ने अपने शुद्ध आनन्द स्वभाव के परिणमन की रुचि को पकड़ा न हो, अपने शुद्ध आनन्दस्वभाव को जिसने अन्तर में पकड़ा न हो, अर्थात् सम्यग्दर्शन हुआ न हो, उसने मिथ्यात्व के परिणाम को पकड़ा है। उसने विपरीत मान्यता के भाव को पकड़ा है। शुभभाव, वह मैं हूँ; पुण्य, वह मेरी चीज़ है, पुण्य का फल भी मुझे मिलता है, मैंने पुण्य बाँधा - ऐसा जो मिथ्यात्व का—विपरीत श्रद्धा का अभिप्राय, उसका उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में पहला त्याग होना चाहिए। यह आभ्यन्तर परिग्रह की बात है।

मुमुक्षु : जीव ने पुण्य नहीं बाँधा?

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य बाँधा ही नहीं। पुण्य इसमें है ही नहीं, पुण्य बाँधा ही नहीं। कहो, ऐई..! मलूपचन्दभाई! पुण्यभाव अर्थात् शुभभाव अर्थात् रागभाव - इससे सहित हूँ,

यह मान्यता ही मिथ्यात्व अभिप्राय है, तो फिर पुण्य के परिणाम का बन्ध और बन्ध के परिणाम का यह बाहर का मिलना - यह मुझे मिलता है और मैं इससे सहित हूँ - यह मिथ्या अभिप्राय है। क्योंकि आत्मा तो राग और पर की निवृत्तिस्वरूप है, यह अभी १२८ में कहेंगे। समझ में आया?

आत्मा वस्तु, वास्तव में शुभराग और पर के तो त्यागस्वरूप ही है। उसे ऐसा मानना कि रागवाला हूँ, पुण्यवाला, हों! नये पुण्यभाव हों वे; दया, दान,व्रत इस पुण्यवाला हूँ, इसका पुण्यबन्धन मुझे हुआ; उसका फल यह पैसा आदि मुझे आता है - यह आत्मा के राग और अजीव के अभावस्वरूप तत्त्व को विपरीत प्रकार से माना है। समझ में आया? इससे इसे प्रथम सम्यग्दर्शन को ग्रहण करके, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी जो इसके पाँच चोर हैं, उन्हें छोड़ना। ऐसे पुरुषार्थ से छोड़ना और यह (सम्यग्दर्शन) ग्रहण करना - ऐसी बात कहने में आती है। छोड़ना, यह कथन की पद्धति आवे न?

अब १२५ में, बाकी के दूसरे, देखो क्या शब्द है उसमें? **'प्रविहाय द्वितीयान्'** ऐसा शब्द है। अर्थात् कहते हैं, टीका, लो! **सम्यग्दृष्टि श्रावक उन, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ - चार कषायों का नाश करके... 'प्रविहाय'** का अर्थ किया। स्वयं छोड़ता है। वे छूटती हैं तो यह होता है, ऐसा नहीं। समझ में आया? दूसरी कषाय (चौकड़ी) छूटे तो श्रावक के सच्चे परिणाम हों, ऐसा नहीं कहा यहाँ। समझ में आया? **'प्रविहाय'** का अर्थ नाश करके। जो आत्मा में स्वरूप की दृष्टि होने पर भी, स्थिरता के अंश से विरोधभाव होता है, वह अप्रत्याख्यानावरणीय है। नीचे अर्थ है। अ- ईषत् थोड़े प्रत्याख्यान त्याग को आच्छादित करनेवाला भाव। कर्म कर्मरूप से, परन्तु यह भाव ही अपने अंश त्याग, अंश स्थिरता की शान्ति, उसके अभावरूप भाव है; इसलिए उसका त्याग करके, स्वरूप जोग **'प्रविहाय'** ऐसा है। दूसरी कषाय के परिणाम को छोड़कर स्वरूप की स्थिरता के सन्मुख होना, ऐसा कहते हैं, देखो! समझ में आया?

एकदेश चारित्र के सन्मुख होता है... ऐसा है। वहाँ से विमुख होता है और यहाँ सन्मुख होता है-ऐसा कहते हैं। है? कहाँ है? पहला मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के भाव को छोड़कर सम्यग्दर्शन और स्थिरता को ग्रहण करे। दूसरा अप्रत्याख्यानी के भाव को छोड़कर देशचारित्र के परिणाम को ग्रहण करे, ऐसी शैली है। समझ में आया? **चार**

कषायों का नाश करके... 'प्रविहाय' एकदेश चारित्र के सन्मुख होता है अर्थात् ग्रहण करता है। पंचम गुणस्थान की बात है। देखो! इसका नाम सच्चा श्रावक। पहले सम्यग्दर्शन, अनुभव प्रगट करके, आत्मा शुद्ध निर्मल पवित्र (स्वरूप), राग और कर्म शरीररहित चीज़ है। ऐसा इसमें अन्तर अभिप्राय में परिणमन करके, मिथ्यात्व का त्याग और अनन्तानुबन्धी का त्याग होता है। पहले मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का भाग, यह दूसरे नम्बर का कहा। इसके पश्चात् तीसरे नम्बर का कहेंगे। समझ में आया? ऐसी शैली ली है।

अप्रत्याख्यानावरणीय को तीसरे नम्बर के परिग्रह में, ऐसा कहा। भाई ने ऐसी शैली ली है। नहीं तो ऐसा है न, मिथ्यात्व का परिग्रह और कषाय का त्याग। पाँच और नौ, चौदह ऐसे हैं। मिथ्यात्व, कषाय चार, इसलिए पाँच और नौ, वे चौदह (हुए)। परन्तु इस कषाय के वापिस दो भाग किये। टोडरमलजी ने किये कि पहला मिथ्यात्व का त्याग, सम्यक्त्व का ग्रहण। अनन्तानुबन्धी का त्याग, स्वरूप की स्थिरता का ग्रहण। ये दो हुए। एक मिथ्यात्व और पहला कषाय। उस कषाय का दूसरा भाग अप्रत्याख्यानावरणीय का त्याग और देशचारित्र की सन्मुखता का ग्रहण। दूसरा, यह तीसरा इन्होंने कहा। अन्य दो हुए। नहीं तो ऐसे चौदह में तो दो में ही कहते हैं वे सब। मिथ्यात्व का पहला और कषाय का दूसरा, उसके भेद। परन्तु इसमें भेद डालकर क्रम बताते हैं न क्रम? समझ में आया?

कहते हैं कि आत्मा भगवान शुद्धस्वरूप से विपरीत अभिप्राय है, वह मिथ्यात्व है, उसे पहले छोड़कर, उसके साथ रही हुई अनन्तानुबन्धी कषाय, सम्यग्दर्शन के चोर-स्वरूप है। उस चोर को छोड़कर आत्मा, आत्मा की शान्तिरूप साहूकारी प्रगट करके।

मुमुक्षु : साहूकार हो, उसे तो कुछ दिक्कत नहीं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन साहूकार है जगत में? पैसेवाले साहूकार किसने कहे?

मुमुक्षु : पूरी दुनिया कहती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुनिया तो पागल है, पागल, पागल की महिमा करता है।

यहाँ तो कहते हैं कि भाई! तेरी चैतन्य अनन्त स्वभावसम्पदा का स्वरूप तेरा तत्त्व जो परमात्मस्वरूप है। परम शुद्ध अनाकुल आनन्द आदि सम्पत्ति की पूँजी है। उतनी पूँजी

को न मानकर, इसने पुण्य-पाप के रागवाला, शरीरवाला और बन्धवाला मानना, वह मिथ्या अभिप्राय है, वह परिग्रह है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। परिग्रह की व्याख्या देखो! ओहो..हो..! आचार्यों की बात, कथन रखने की पद्धति..! समझ में आया? इस अभिप्राय को पकड़ा है और इस अभिप्राय को छोड़ा है। मिथ्या अभिप्राय को पकड़ा है और सम्यक् अभिप्राय को छोड़ा है। अनन्तानुबन्धी को पकड़ा है और स्वरूप के आचरण की स्थिरता को छोड़ा है। तो अब कहते हैं कि मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के परिणाम को छोड़, सम्यग्दर्शन और स्वरूप के आचरण को ग्रहण कर। यह सब अलग बात है। यहाँ पैसा-वैसावाला की गिनती नहीं होती यहाँ तो। गिनती है। एक व्यक्ति कहता था तब, (संवत्) १९८१ के वर्ष। वे थे न 'मणियार' नहीं? लींमड़ी।

मुमुक्षु : पुरानी बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ पुरानी... केशवलाल, केशवलाल.. मोहनलाल, यह छालियापरा में मकान है न? १९८१ में साठ हजार का बनाया। तब व्याख्यान में आता था, दरबार स्वयं आते थे... दरबार कहे हमें आना है। मैंने कहा हमारा समय हो गया। उसे नहीं कहा.. टाइम के अतिरिक्त अधिक हम नहीं रहते। दरबार आवे या कोई आवे। अन्तिम दिन एक दरबार आये और फिर कहे हम कल आयेंगे, ऐसा लालचन्दभाई को कह गये, लालचन्द सेठ को (कह गये) हम तो उठे। हमारे १७-१८ दिन हो गये। अब हमें जाना है। उसमें एक भाई आये, मोहनभाई कहते थे, सेठ! अंकेवालिया। अंकेवालिया है न? बाहर बैठे। महाराज! इन पैसेवालों को-धर्म में कुछ नम्बर है या नहीं?

मुमुक्षु : इसका नम्बर लगता है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : मोक्ष नहीं, कुछ उसका स्थान सही न स्थान? पैसेवाले का स्थान धर्म में कुछ नहीं... पैसेवाले का स्थान धर्म में नहीं, कहा। भाई!

मुमुक्षु : व्यवहार से तो सही न?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार किसका? भटकने का व्यवहार या आत्मा का व्यवहार? यहाँ तो आत्मा का व्यवहार तो स्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता, वह आत्मा का व्यवहार कहा है। प्रवचनसार (में कहा है)। विकल्प व्यवहार तो फिर कहीं रह गया, बाहर का

व्यवहार तो कहीं रह गया। आत्मा त्रिकाल ज्ञायकस्वरूप है, उसमें श्रद्धा, ज्ञान और रमणता करना, वह आत्मा का आत्मव्यवहार है। निर्विकल्प श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति प्रगट (करना), वह व्यवहार। अंश है अवश्य न! समझ में आया? इसमें वह व्यवहार कहाँ आया? वह तो ऐसा छक्क हो गया कि यह तो किस प्रकार का मार्ग है? यह तो कुछ गिनते नहीं। ये सब लाखोंपति, दस-दस लाख के आसामी। उस समय (संवत्) १९८१ के वर्ष, हों! १९८१ को कितने वर्ष हो गये? ४२। ४२ वर्ष (पहले) दस-दस लाख, बीस-बीस लाखवाले तो बड़े भैंसे कहलायें।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : खबर है न, यह तो सब खबर थी। सब आते थे। यहाँ तो हमारे पास बैठते। कुछ गिनती-बिनती नहीं सेठिया की, कुछ नहीं। यहाँ तो किसी के सामने देखते नहीं। पचास-पचास हजार खर्च करे तो है क्या परन्तु कहाँ तब यह पैसा? भाव हुआ, वह भी कैसा किया है तुमने, यह तुम्हें जानना है। ऐ.. मोहनभाई! मान के लिये, इज्जत के लिये कि हमने खर्च किये और यह किया, जड़ का स्वामी होकर। कहा, धर्म में पैसेवाले का स्थान नहीं। है स्थान, अभिमान करता है कि हम पैसेवाले, ऐसे अधर्म में उसका स्थान है। कहा, ऐई हिम्मतभाई! वे मोहनभाई तो... अंकेवालिया के गाँव के बाहर बैठे। जरा देर लगे और देरी से जाना, देरी से.. बाहर सड़क के कौने में बैठे थे, वहाँ घोड़ागाड़ी लेकर आये।

मुमुक्षु : संघवी के उपाश्रय में न?

पूज्य गुरुदेवश्री : संघवी के उपाश्रय में, परन्तु यह तो अंकेवालिया उठकर गये थे। अंकेवालिया उपाश्रय नहीं आते थे। वह व्याख्यान सुनने आते। ऐ.. यह दरबार, वह भाई दीवान, राजा का...

नहीं.. नहीं वह दीवान। पाटिदार। गोपाल का ससुर, ससुर झबेरभाई, झबेरभाई थे। बहुत ठण्डे व्यक्ति थे, ठण्डे। व्याख्यान में दौड़कर आते। १९८१ की बात है। पैसेवाले का धर्म में स्थान नहीं, कहा अधर्म में है। यह तो किस प्रकार का मार्ग है? किसी के सामने देखते नहीं, अच्छा भी कहते नहीं। ऐई! न्यालचन्दभाई!

यहाँ तो कहते हैं कि तू परिग्रह नहीं परन्तु पुण्य के परिणाम मेरे हैं, मिथ्यादृष्टिपने का इसने अभिमान ग्रहण किया है, यह परिग्रहवन्त है। मिथ्यात्व के परिणाम का परिग्रहवन्त है। आहा..हा..! यह परिग्रहधारी है। मिथ्यात्व का परिग्रहधारी है। समझ में आया? यह परिग्रहपना पाप है, तुझे छोड़ना हो तो स्वभावसन्मुख का सम्यग्दर्शन प्रगट करके इस परिग्रह को छोड़ तो मिथ्यात्व का परिग्रह छोड़ा, ऐसा पहले प्रकार में कहने में आता है।

दूसरा प्रकार अनन्तानुबन्धी के परिग्रह का त्याग। वह परिग्रह है। स्वरूप में स्थिर नहीं होना, ऐसा अनन्त बन्ध संसार मिथ्यात्व के साथ का, क्रोध, मान, माया, लोभ परिणाम, वह परिग्रह है। वह परिग्रह पाप है। वह परिग्रह छोड़ना हो तो स्वरूप में स्थिरता द्वारा छोड़।

तीसरा परिग्रह अप्रत्याख्यानावरणीय नाम का भाव, हों! भाव। शब्द तो इसमें लिखे तो सब लिखे। बाकी तो यहाँ भाव की बात है। चौदह प्रकार के भाव परिग्रह की बात है न यहाँ?

मुमुक्षु : अन्तरंग परिग्रह तो भाव ही होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ कर्म की बात थी कब? वह तो रजकण है, पर है। भारी कथन की पद्धति गजब! आभ्यन्तर कहकर उसके परिणाम वर्णन करते हैं और उस परिणाम की पकड़, वह परिग्रह है। जिसे दूसरे कषाय का **'प्रविहाय'** परिणाम का जो अस्थिरता का भाव है, उसे छोड़कर एकदेश चारित्र सन्मुख होता है। ९८ पृष्ठ पर है, भाई! राजमलजी! दूसरी लाईन।

एकदेश चारित्र के सन्मुख होता है अर्थात् ग्रहण करता है। कहो, समझ में आया? **कारण कि निश्चय से वही अप्रत्याख्यानावरणादि चारों देशचारित्र-श्रावक के व्रतों का घात करते हैं।** इस देशचारित्र का घात, मूल तो यहाँ स्थिरता का ही घात करता है। ऐसे व्रत का विकल्प भी उसे नहीं होता। समझ में आया? देशचारित्र के श्रावक के व्रत लेने का विकल्प ही उसे नहीं हो सकता। अकेली अस्थिरता है न? छोड़ने का भाव श्रद्धा में होने पर भी छोड़ नहीं सकता, उसके परिणाम में दूसरे प्रकार के कषाय की दखल है। कषाय का दूसरा प्रकार। परिग्रह का तीसरा प्रकार। समझ में आया?

यह अपने परिणाम की बात है। ऐसे अन्दर यह छोड़ना चाहिए, तथापि वह परिणाम छोड़ नहीं सकता। वह परिणाम रहे, वह अप्रत्याख्यानावरणीय का परिग्रह है। कहो, समकिती को भी इतना जो सम्यक् होने पर भी, क्षायिक समकित होने पर भी अपरिग्रह, प्रत्याख्यानावरणीय के परिणाम हैं, उतना परिग्रह है। आहा..हा..! उसे छोड़कर एकदेश चारित्र-भगवान आत्मा के सन्मुख हुआ जाता है, उसका नाम श्रावक और पाँचवाँ गुणस्थान कहा जाता है। कहो, समझ में आया? **इस तरह यह तीसरा भेद अन्तरंग परिग्रह का हुआ।** यह भाई ने लिखा, टोडरमलजी में है यह, हों! अब दूसरे रहे नौ। भाग किये हैं न?

गाथा - १२६

निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरङ्गसङ्गानाम्।
कर्त्तव्यः परिहारो मार्दवशौचादि भावनया।।१२६।।

नित मार्दव शौचादि भावों, पूर्वक निजशक्ति से।
अवशेष सब ही अन्तरंग, परिग्रहों को छोड़ दे।।१२६।।

अन्वयार्थ : इसलिए (निजशक्त्या) अपनी शक्ति से (मार्दवशौचादिभावनया) मार्दव, शौच, संयमादि दशलक्षण धर्म द्वारा (शेषाणां) अवशेष (सर्वेषाम्) सभी (अन्तरङ्गसङ्गानाम्) अन्तरंग परिग्रहों का (परिहारः) त्याग (कर्त्तव्यः) करना चाहिए।

टीका : 'शेषाणां सर्वेषाम् अन्तरङ्गसङ्गानाम् निजशक्त्या मार्दव शौचादि भावनया परिहारः कर्त्तव्यः' - अर्थ :- अवशेष सभी *प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रह हैं उनको, अपनी शक्ति अनुसार अपने कोमल परिणाम तथा सन्तोषरूपी धर्म-भावना से त्याग करना अर्थात् यथाक्रम सबका त्याग करना।

भावार्थ : अन्तरङ्ग परिग्रह १४ प्रकार का है। उनके नाम इसी ग्रन्थ के श्लोक नं० ११६ में बताए गए हैं। मिथ्यात्व, ४ चौकड़ीरूप चार कषाय, तथा ९ [२]हास्यादि

---

* *गुजराती प्रति में 'शेष जो १० प्रकार के परिग्रह' - ऐसा पाठ है।*

२. *नोकषाय= १ हास्य, २ रति, ३ अरति, ४ शोक, ५ भय, ६ जुगुप्सा (ग्लानि), ७ स्त्रीवेद, ८ पुरुषवेद, ९ नपुंसकवेद।*

नोकषाय-इस तरह १४ भेद हैं। इनका क्रमपूर्वक त्याग करना। इनमें से मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी ४ कषाय हैं, वह सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्र का घात करती हैं। अप्रत्याख्यानावरणी नामक चार कषाय हैं वह देशचारित्र का घात करती हैं अर्थात् श्रावकपद नहीं होने देतीं। प्रत्याख्यानावरणी नामक चार कषाय सकलसंयम का घात करती हैं अर्थात् मुनिपद नहीं होने देतीं। (प्रत्याख्यान सर्वथा त्याग को कहते हैं) तथा संज्वलनादि ४ तथा हास्यादि ६ और वेद ३ - यह सभी यथाख्यातचारित्र के घात में निमित्त हैं। (निजशक्ति के बल से) इस प्रकार इन सभी व्रतों को क्रमपूर्वक धारण करके, अन्तरंग-परिग्रह को क्रमपूर्वक छोड़ना चाहिए।।१२६।।

गाथा १२६ पर प्रवचन

वे आठ रहे न, आठ। आठ छोड़े, नौ छोड़े और आठ कषाय और नौ नोकषाय।

निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरङ्गसङ्गानाम्।
कर्त्तव्यः परिहारो मार्दवशौचादि भावनया।।१२६।।

देखो! यहाँ अपनी शक्ति से। देखो! श्रावक को कहते हैं अब। इतना तो भले छोड़ा परन्तु श्रावक को ऐसा मनुष्यदेह कब मिलेगा? इसलिए सार्थक करने के लिये बात तो ऊँची ही करें या नहीं? **अपनी शक्ति से मार्दव, शौच,...** निर्लोभता, शौच अर्थात् सन्तोष; निर्मानता, कोमलता.. कोमलता.. कोमलता.. कोमलता की भावना द्वारा, निर्लोभ और सन्तोष की भावना द्वारा, संयम और स्वरूप की स्थिरता कैसे करूँ - ऐसे संयम की भावनावाले। **दशलक्षण धर्म द्वारा...** आदि दशलक्षण की भावना कही। मुनि का जो धर्म है न दशलक्षण? ऐसे दस प्रकार की भावना द्वारा, **अवशेष सभी अन्तरंग परिग्रहों का त्याग करना चाहिए।** लो! समझ में आया?

'शेषाणां सर्वेषाम् अन्तरङ्गसङ्गानाम् निजशक्त्या मार्दव शौचादि भावनया परिहारः कर्त्तव्यः' - अर्थ :- अवशेष दस प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रह हैं... दस लिये हैं। नहीं तो चार और चार आठ गये। समझ में आया? और एक मिथ्यात्व गया, ऐसे पाँच ही गये न? उन चौदह में से तो पाँच में से दूसरे बोल का भाग है न यह सब? वे नौ

नोकषाय रह गयी। इसलिए जरा अंकों का अन्तर है। आठ और अप्रत्याख्यानी गया, प्रत्याख्यानी, संज्वलन, आठ और नौ सत्रह रहे, नौ रहे न वे? सत्रह रहे।

मुमुक्षु : सत्रह में दो गिने। कषाय के चार...

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा यह जब ऐसा गिना न, इसलिए दो इकट्ठे गिनो। दो और नौ तो ग्यारह। यहाँ तो समस्त कषाय को एक में ही गिना है, दूसरे नम्बर में। एक मिथ्यात्व, एक कषाय, पाँच और नौ वे - ऐसे चौदह गिने हैं न? फिर दूसरे के भाग किये हैं, दूसरे के भाग किये। चौथे गुणस्थान में पहली कषाय जाती है, पाँचवें गुणस्थान में दूसरी जाती है, फिर दो रही। दो कषाय-प्रत्याख्यानावरणी और संज्वलन आदि दो रही, ऐसा। भले आठ रहे, परन्तु उन्हें गिनकर, इकट्ठा गिनकर गिना है न? दो रहे और नौ रहे नोकषाय। हास्य आदि षट् और स्त्रीवेद आदि तीन। ये ग्यारह प्रकार के अन्तरंग परिग्रह हैं, वहाँ दस (लिये)। **अवशेष सभी प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रह हैं...** ऐसा लिखा है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हाँ, यही भाषा है। इसमें भी यही है।

उनको, अपनी शक्ति अनुसार... ऐसा लिया है, समझे न? वापस, पहला तो त्याग करे ही, इतना तो पाँचवें में होता ही है परन्तु तीसरी, चौथी कषाय और स्त्रीवेद, पुरुष, नपुंसकवेद की वासना और हास्य, रति, अरति, भय, शोक, ग्लानि को निजशक्ति अनुसार... समझ में आया? बाकी के सब अन्तरंग परिग्रह का त्याग करना चाहिए। समझ में आया? उसमें **'प्रविहाय'** था। इसमें **'परिहारः'** है।

अपने कोमल परिणाम तथा सन्तोषरूपी भावना से... मार्दव का अर्थ कोमल किया, शौच का अर्थ सन्तोष किया। बराबर है। निर्लोपता कहो, सन्तोष कहो। दस लक्षण धर्म द्वारा छोड़ना। इसकी भावना करना ऐसा कहते हैं। दस प्रकार के धर्म की भावना द्वारा छोड़ने की निज शक्ति से शक्तिप्रमाण छोड़ना। यह तो अन्तर की दृष्टिपूर्वक की स्थिरता द्वारा की बात है, हों! ऐसे छोड़ना अर्थात् बाहर का छोड़े और वह नहीं। यह मूल रह गये बिना कहते हैं कि यह छोड़ो, यह छोड़ो, छोड़ो बाह्य परिग्रह। वह बाह्य परिग्रह कहाँ छोड़ा है? समझ में आया?

भावार्थ : अन्तरङ्ग परिग्रह १४ प्रकार का है। उनके नाम इसी ग्रन्थ के श्लोक नं० ११६ में बताए गए हैं। मिथ्यात्व, ४ चौकड़ीरूप चार कषाय,... ऐसा डाला है न इसमें? **तथा ९ हास्यादि नोकषाय-इस तरह १४ भेद हैं। इनका क्रमपूर्वक त्याग करना। इनमें से मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी ४ कषाय हैं, वह सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरणचारित्र का घात करती हैं।** लो! इसमें आया। यह अनन्तानुबन्धी, स्वरूपाचरणचारित्र का घात करती है - ऐसा आया। आगे आयेगा दूसरा १७१ पृष्ठ पर। स्वरूप में प्रवृत्तिरूप आचरण को अनन्तानुबन्धीरूप परिणाम घात करते हैं।

मुमुक्षु : दो का घात किया। सम्यक्त्व का घात किया और इसका भी घात किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह इसके कारण से। साथ में है न। कहलाता है। मूल तो स्वरूपाचरण का घात है। साथ में सम्यग्दर्शन का घात है, इसलिए कहलाता है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कहा, देखो! उसमें सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरणचारित्र का घात करती है। ठीक!

मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी ४ कषाय हैं, वह सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्र का घात करती हैं। अप्रत्याख्यानावरणी नामक चार कषाय हैं, वह देशचारित्र का घात करती हैं अर्थात् श्रावकपद नहीं होने देतीं। भाव, हों! भाव की बात है, हों! यहाँ फिर। भले ऐसे निमित्त से कथन डाला हो। भगवान आत्मा में आनन्दस्वरूप का भान होने पर भी, आनन्द में स्थिरता न होने दे, ऐसे अस्थिरता के परिणाम को यहाँ प्रत्याख्यानावरणी आदि भाव कहने में आता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : प्रकृति को भान है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भान है न! निमित्तरूप से उसमें है। इसमें क्या है?

मुमुक्षु : साहूकार का स्थान कहाँ है और उसमें कर्म का स्थान कहाँ है, ऐसा कहते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म का स्थान निमित्त में आया, आत्मा के परिणाम में नहीं - ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : आत्मा के परिणाम में अत्यन्त अभाव आ गया?

पूज्य गुरुदेवश्री : परद्रव्य है और पर का उदय है, उदय कहो तो जड़ की पर्याय है। उसका तो इसमें अभाव है। उसमें इस परिणाम में इसे स्पर्श कब करता है ? कर्म के उदय को जीव के परिणाम ने स्पर्श ही नहीं किया है और विकारी परिणाम होने पर भी चारित्र के उदय को स्पर्शा ही नहीं किया है। यहाँ तो आभ्यन्तर से ही बात सीधी ली है और प्रश्न कहाँ अब इसमें। कर्म के रजकणों का जो भाग है, वह आभ्यन्तर परिग्रह है, यह बात ही यहाँ कहाँ है ?

मुमुक्षु : नहीं, परन्तु परिग्रह में लिया ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे भी कहाँ परिग्रह है ? इसने भाव किये, वह परिग्रह है और उसका निमित्त होता है बाहर से। उस चीज़ और अभ्यन्तर निमित्त की बात ली है, नोकर्म की बात ली है, बस ! आहा..हा.. !

आनन्द का धाम भगवान आत्मा है। उस आनन्द में प्रवेश करने के लिये, दृष्टि की सुलटाई (सम्यक्) करने के लिये, पहला मिथ्यात्वभाव छोड़ना चाहिए। भगवान आत्मा के आनन्द का स्पर्श-अनुभव करने के लिये अनन्तानुबन्धी का भाव साथ में छोड़ना चाहिए; और पश्चात् आत्मा की विशेष शान्ति, जो सर्वार्थसिद्धि के देव को भी शान्ति नहीं, उससे अधिक पंचम गुणस्थान में शान्ति होती है। समझ में आया ? भले वह सर्वार्थसिद्धि का देव एक भव में मोक्ष जाये और पंचमवाले को कदाचित् कोई पाँच-सात भव हों भी सही, तथापि वर्तमान में तो श्रावक को शान्ति के परिणाम सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा ऊँचे हैं। कहो, उसे श्रावक कहते हैं।

मुमुक्षु : देवों को तो सुख है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन सुखी देव ? धूल में भी सुखी देव। किसने कहा ?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : बनियों के घर में अवतरित हुए, बहुत सब अवतरित हुए हैं। बनिये के घर अवतरित होकर वापस अण्डे भी खाते हैं। (संवत्) १९९० के वर्ष में हमारे एक तो कहता था। हमारे सेठ बनिया है, परन्तु बाहर मुर्गी पकाकर खाते हैं। घर में स्त्री पकाकर न दे तो बाहर पकाकर खाते हैं। १९९० के वर्ष में एक व्यक्ति कहता था। बहुत

लोग आवे न। वह दवाखाना नहीं? वहाँ उस रास्ते में? नानालालभाई के घर जाते हुए एक दवाखाना है न? अन्तिम वह भील के मकान हैं, उस तरफ है। भील का जाये, वहाँ ऐसा पीछे का मकान।

मुमुक्षु : पारसी का दवाखाना।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दवाखाना। उसमें एक नोकर था। बहुत करके (शायद) ताराचन्दभाई का भाई ही था। कपूरचन्द से छोटा, ताराचन्द है न? 'चोटीला' कपूरचन्द बड़ा था, उससे छोटा।

मुमुक्षु : कपूरचन्द गुजर गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह। उसका मंझला भाई था। उसके यहाँ नौकर था। वह एकबार कहाँ कहता था।

मुमुक्षु : 'अंकलेश्वरिया' डॉक्टर था, नीचा घर है, उसके सामने।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसने कहा कि ऐसे कोई अमुक सेठ को ऐसा कुछ कहता था। आहा..हा..! वापस कहे कि इस प्रकार से पकाना कि रवा-रवा होगा, ऐसा बोलता था। सूजी का हलुआ होता है न? हलुआ, ऐसे पकाकर रवा-रवा हो ऐसा करना। बनिये ये कुकर्म करते हैं न, क्या कहना इसमें? ऐई! पोपटभाई! बनिया नाम रखे, इससे क्या हो गया? भंगी भी सम्यग्दर्शन पाता है, भंगी। कहो, ढेढ़ के घर अवतरित हुआ, ढेढ़ तो फिर हरिजन, वह तो भंगी। उसमें क्या है? आत्मा है न! आहा..हा..! रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है कि देव है। वह भंगी भी आत्मदर्शन और श्रद्धा-ज्ञान को अनुभव करता है, वह देव है, वह देव है। समन्तभद्राचार्य ऐसा कहते हैं। कहो, वह बनिये के अवतार की बात भी कहाँ थी?

जैसे अग्नि राख से दबी हो, राख से; वैसे उसकी चैतन्य-अग्नि जलहल, ज्योति अन्दर दृष्टि में है और बाहर से काला शरीर, मैला शरीर, नीच / हलका गोत्र अथवा ऐसा शरीर। कुछ नहीं होता। समझे न? बाहर का क्या काम है? शरीर तो काला भी हो और शीतला के दाग (चेचक) होते हैं न, पूरे चेहरे पर ऐसे-ऐसे हो। उसमें क्या है? उसके साथ आत्मा को क्या है? राख से दबी हुई अग्नि जैसे वे। वह चाण्डाल सम्यग्दृष्टि (उस)

अग्नि जैसा, राग से दबी हुई अग्नि है। अन्दर अग्नि जलहल जलती है। आहा..हा..! बाहर में पुण्य कम, शरीर काला, शरीर मैला। समझे न? ऐसा सब (होवे)। पोपटभाई! यहाँ तो आत्मा की कीमत है, भाई! जाति की नहीं। आहा..हा..!

नागर जैसा हो और पचास-पचास लाख, करोड़, दो-दो करोड़ के बड़े प्रपंचवाले हों, शरीर फांदा बड़ा दो-दो करोड़, पाँच-पाँच करोड़ रखते हों और बड़ी मोटरें सब लाख-लाख रुपये की क्या कहलाती हैं? हजार की वह... ऐई! ऊँची कहलाती है न? अपने को तो नाम भी नहीं आते अंग्रेजी के। उसमें बैठकर ऐसे धीरे चले। पानी हिले नहीं। ऐसी लाख रुपये की मोटर आती है न। वह इन्हें खबर होगी, बोलते नहीं। सड़क ऐसी हो और कुछ, मानो कहीं बैठे हैं - ऐसा न लगे। धूल में भी नहीं, कहते हैं। अन्दर मिथ्यात्व पड़ा है तो अन्धकार ही अन्धकार ही है, चाण्डाल है। आहा..हा..! अन्दर कषाय-अग्नि से सुलग रहा है। सम्यग्दृष्टि चाण्डाल शान्ति... शान्ति.. अकेली शान्ति। समझ में आया?

बाहर के सम्बन्ध और संयोग के साथ तत्त्व की दृष्टि और अनुभव को कहाँ सम्बन्ध है। सातवें नरक का नारकी, देखो! ओहो..हो..! सम्यग्दृष्टि है और पहले, दूसरे नारकी का क्षायिक सम्यक्त्वी हो, लो! श्रेणिक राजा अभी, देखो न! क्षायिक सम्यक्त्वी हैं। बाहर से देखो तो, ओहो..हो..! अग्नि की पीड़ा, अग्नि का संयोग, शरीर जल रहा, सुलग रहा हो, आँखें फट जाये। आहा..हा..! श्रेणिक राजा को पहले नरक में क्षायिक सम्यक्त्व की दशा है। अन्तरस्वरूप को अनुभव करके आत्मा को पकड़ा है, उस ज्ञान के तेज के पूर हैं। ऐसा जहाँ अन्तर अनुभव में, दृष्टि में आत्मा आया, बैठा, कहते हैं कि वह चैतन्य साहूकार हो गया। समझ में आया? नहीं तो चोर है। आहा..हा..!

मुमुक्षु : क्षायिक सम्यक्त्वी हो, वह नरक के दुःख में चिल्लाता हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : असहनशीलता हो उतना होता है। है न परन्तु भिन्न रहकर है। तीन कषाय है, परन्तु भिन्न रहकर वह भाव है, हों! आहा..हा..! और यह शीतल, शीत वेदना सातवें नरक की। लाख मण का लोहे का गोला, जवान लुहार के लड़के ने छह महीने लगकर मजबूत किया हो, वहाँ छोड़े तो जैसे अग्नि के... ऊपर घी का लोचा रखे और पिघल जाये, वैसे वह पिघल जाये ऐसी शीत। भाई! यह सब है, हों! इसे आस्था में बैठता नहीं। कौन जाने आँख ऐसी बन्द कर डाली है न, ऐसी स्थिति में भाई! तू अनन्त

बार गया है। वह दु:ख तेरे भोगे गये हैं। समझ में आया? ऐसी वेदना में भी, एकदम अन्दर अनुभव करके सम्यग्दर्शन करता है, लो! कहो, समझ में आया? वह साहूकार है।

यहाँ अरबोंपति गृहस्थ, रूपवान शरीर, बड़ा फन्दा, जरी का वस्त्र, समझ में आता है न? लाख-लाख रुपये की मोटरें, पच्चीस-पच्चीस लाख के बड़े बँगले और सातवीं मंजिल पर ऐसे बैठा हो। ऐसे नीचे उतरे तो उसमें-लिफ्ट में उतरे और चढ़े। चोर है, चोर है। आहा..हा..! ऐ.. मलूपचन्दभाई! यह तो बहुत अलग प्रकार के गज हैं। आहा..हा..! देखो न! भाषा आचार्य ने स्वयं रखी है न! मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय, सम्यग्दर्शन के चोर हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठ कौन था? यह समझे वह सेठ। भाई ने नहीं कहा? (दीपचन्दजी) सेठिया ने (कहा है) - 'स्वरूप सम्हाले सो सेठ, बाकी अनुचर जाणजो जी' लो! बताया था या नहीं? है या नहीं यहाँ? कहाँ, रखते हैं। गुणीजन, गुणीजन अर्थात् आत्मा, हों! 'गुणीजन सम्हाले सो ही है सेठ' उसे सम्हाले। अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु आनन्दकन्द सहजानन्दमूर्ति है। वह ढाई वर्ष का लड़का मर गया, उसके साथ पड़ा था। मुर्दे के पास बोलती है, उसकी माँ। सेठिया ने बनाया था। वह लड़का पड़ा था गृहस्थ का अच्छा बड़ा घर। इसलिए सब रोने इकट्ठे हों। रोने इकट्ठे हो न? विवाह के समय गाने को इकट्ठे होते हैं। है न? विवाह के समय गाने को इकट्ठे होते हैं, ऐसे (मरण के) रोने इकट्ठे होते हैं। बड़े घर में बड़े हों और छोटे घर में छोटे गाने इकट्ठे हों। 'गुणीजन सम्हाले सो ही है सेठ, अन्य तो अनुचर जाणजो जी, म्हारा ज्ञान।' ये महिलायें रोती हैं न? मेरे पेट-पेट करके नहीं रोती? पेट कब था तेरा? अब व्यर्थ की.. समझ में आया? म्हारा ज्ञान - ऐसा कहा देखो! दो बातें कही 'अन्य तो अनुचर जाण जो जी, म्हारा ज्ञान'। देखा? आहा..हा..! 'गुणीजन दु:ख सुख करे जीव...' संसार की कल्पना। 'आत्मसुख जित्योजी। म्हारा ज्ञान, गुणीजन अन्तर प्रभु पद जाग, सिद्धत्व पद पामशां जी' सिद्धपद को प्राप्त करूँगा, यह मेरी साहूकारी है। समझ में आया? यह हिन्दी में है उसमें आया है न तुम्हारे? यह आता है और पहले था। बहिन के पास नहीं होगा। बहिन! यह पुस्तक है? यह नहीं। देना। यह तो हिन्दी

में बनाया हुआ है। ये गुजराती समझते हैं। कल विचार आया था कि बहिन कहा यह गुजराती समझेंगे या नहीं ये?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हाँ, समझते हैं। कहो, समझ में आया? आहा..हा..!

मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी ४ कषाय हैं, वह सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण-चारित्र का घात करती हैं। कहो, आहा..हा..! इसमें आया स्वरूपाचरणचारित्र, देखो! स्वरूपाचरणरूप चारित्र। यह तो अपने इसमें से निकाला था न? अविरति का, उसमें से निकाला नहीं? किसमें से? पात्र में से निकाला था न! पात्र आयेगा न आगे। अविरति और तीन संयोग, कौन सी गाथा?

मुमुक्षु : १७१।

पूज्य गुरुदेवश्री : उस दिन निकाला था। १७१।

अब पात्रों का भेद... देखा!

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरतसम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकलविरतश्च।।१७१।।

मोक्ष के कारणरूप गुणों के अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप गुणों के संयोगवाला पात्र व्रतरहित सम्यग्दृष्टि... भी पात्र है कहो, इसे तीन का संयोग कहा है। सम्यग्दृष्टि को भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का अंश जो है, उसके कारण चारित्र का संयोग कहा है। समझ में आया? ऊपर तीन हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का संयोग है, उसे तीन का संयोग है। चौथे गुणस्थान में तीन का संयोग है। इसीलिए उसे जघन्य पात्र व्रतरहित सम्यग्दृष्टि को कहा है। **देशव्रती और महाव्रती तीन भेदरूप कहा गया है।** ये भेद आयेंगे। तीन भेद कहे हैं न? न्याय से तो ऐसा बैठता है, ऐसा लेना चाहिए न? उत्तम पात्र की पहिचान करके... कहो, समझ में आया? इसमें तो चौथे गुणस्थानवाले को भी जघन्य पात्र गिना है। पाँचवें वाले को मध्यम और मुनि को उत्कृष्ट।

कल लेख आया है न? देखा न लेख? चौरासी हजार साधु, ऐ... न्यालभाई! एक व्यक्ति को संकल्प आया कि मुझे चौरासी हजार साधु को आहार देना। चौरासी हजार साधु को। अब क्या करना? चौरासी हजार साधु कहाँ मिले? इसलिए एक विमलनाथ केवली थे, विमलनाथ केवली। उनसे पूछा—महाराज! मुझे चौरासी हजार साधुओं को आहार देने का संकल्प किया है, मुझे क्या करना? इसलिए भगवान उसे कहते हैं कि ...यह बात कल्पना से है, हों! बात सत्य नहीं है। उसे कहते हैं देख भाई! इतने अधिक साधु मिलेंगे नहीं और इतना सब निर्दोष भोजन भी कहाँ से मिलेगा?

तब कहे 'कच्छ' में एक 'विजय' सेठ और 'विजया' रानी है। विजया एक स्त्री है, सेठानी। पति-पत्नी दोनों। वे पहले से आजीवन ब्रह्मचारी हैं। कच्छ में। क्योंकि एक ने शुक्ल पक्ष का नियम लिया, एक को कृष्ण पक्ष का नियम था। समझ में आया? उसमें दोनों का हो गया विवाह। पति कहे कि मुझे अभी तीन दिन का नियम की देरी है। विवाह के दिन से फिर अभी नियम को तीन दिन बाकी थे। स्त्री कहती है स्वामी! नाथ! बाद में मुझे शुक्ल पक्ष का नियम है। आप दूसरा विवाह करो, मुझे तो शुक्ल पक्ष का नियम है। तुम्हें कृष्ण (पक्ष) का नियम है। स्त्री! तू जब ऐसे भाव में (रहती है), मैं भी इसी प्रकार नियम ले लेता हूँ। ऐसा करके दोनों व्यक्ति (पति-पत्नी) ब्रह्मचर्य पालन करते हैं। विमलनाथ केवली कहते हैं कि उन्हें एक को आहार दे तो चौरासी हजार साधु का फल आयेगा। बात केवली से कहलवायी।

मुमुक्षु : उनसे बड़ा आधार कौन?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह तो मध्यम पात्र है, यदि सच्चा श्रावक हो तो, वह तो मध्यम है और चौरासी हजार साधु तो उत्तम पात्र हैं। उत्तम पात्र के साथ इन्हें मिलाते हैं, वह कहीं वीतराग के वचन होंगे? यह कथा ही सत्य नहीं है।

मुमुक्षु : चौरासी हजार (साधुओं) से एक श्रावक बढ़ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : बढ़ गया। न्याय से कुछ तुलना करनी चाहिए न! ऐसी वार्ता जोड़ देते हैं।

मुमुक्षु : साधु जंगल में रहे, यह बंगले में रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! बंगले की दूसरी बात, परन्तु मुनि की कहाँ बात! अहो! मुनि परमेश्वर, जिनकी परमेश्वरवृत्ति है। सच्चे मुनि ऐसे हैं न? वे कहाँ अकेले नग्न हो गये। अलौकिक आनन्द में झूलते हैं, आहा..हा..! यह पात्र अर्थात् परमेश्वर पात्र है और वह गृहस्थ भले, परन्तु ये तो (साधु तो) नौ बाड़ ब्रह्मचर्य पालनेवाले। शास्त्र में तो ऐसा नियम है परन्तु ऐसी कथायें कहे तो लोगों को ऐसा लगे कि आहा..हा..! परन्तु यह नहीं, उन्होंने गप्प मारी है।

मुमुक्षु : उसे प्रचलित करते हैं वापस।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रचलित करते हैं। यह फिर जैन सन्देश में डाली, दिगम्बर में। परसों पढ़ी थी। ऐई राजमलजी! देखो! न्याय से कुछ तुलना करना या ऐसे का ऐसा लिख दिये ही रखना?

मुमुक्षु : भगवान ने लिखा होगा तो सच्चा ही होगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान को भी... किसी ने कल्पना से जोड़ दिया और कहे भगवान ने कहा।

मुमुक्षु : विमलनाथ भगवान ने कहा फिर....

पूज्य गुरुदेवश्री : यही चढ़ाया है न सबने। भगवान के नाम से चढ़ा दिया, परन्तु विपरीत बात है। यह भगवान ने कही है, जाओ। आहा..!

मुमुक्षु : विमल केवली ने कहा, फिर किस प्रकार इनकार करें?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कथा ही कल्पित है, एकदम झूठी बात है। ब्रह्मचर्य पाल सकता है, इसमें कुछ... दिक्कत नहीं परन्तु चौरासी हजार मुनियों को आहार दे, उसका लाभ, एक को मिले इतना लाभ, इस बात में कहीं सच्ची बात नहीं है। यह बात हो सकती है पति-पत्नी हों, आजीवन ब्रह्मचर्य पाल सकते हैं, इसमें कोई अतिरेक नहीं परन्तु चौरासी हजार मुनियों को दे और एक को लाभ हो, वह भगवान कहे, छगनभाई! जगत में ऐसी सब बातें चलती हैं भाई!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, होता है, होता है। सब होता है। लोगों को लड़ावे (समझावे)

न! बेचारे लोगों को कहाँ खबर है? पहाड़े बोलते जायें और कहे हाँ.. हाँ..। आहा..हा..! तलवार की धार जैसा ब्रह्मचर्य पाले। कहते हैं। आहा..हा..! एक शैय्या में सोवे परन्तु... तू क्या कहना चाहता है? भगवान तो यथार्थरूप से नौ बाड़ से ब्रह्मचर्य को ब्रह्मचारी कहना चाहता हैं। भले वे ब्रह्मचर्य पालते हों, यह कोई प्रश्न नहीं परन्तु इससे तू मुनि से भी उन्हें विशेष दशा हो जाती है (ऐसा माने तो) ऐसा नहीं हो सकता।

मुमुक्षु : ...केवली भगवान ने खोज दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : खोज दिया, उल्टा खोजा ऐसा। कल्पनावाले ने जोड़ दिया।

यहाँ तो कहते हैं, ओहो..हो..! सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण का घात करनेवाली यह अनन्तानुबन्धी... देखो! अभी विवाद चलता है कि नहीं; चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण होता ही नहीं। अनन्तानुबन्धी की कषाय स्वरूपाचरण को घात करती है, ऐसा सत्य है ही नहीं। लिखा है, वह आर्षवचन नहीं, ऐसा और कहते हैं, लो! यह तो टोडरमलजी का वचन है। अरे! भगवान! परन्तु जीव को अपनी बात रखने के लिये किसी का आर्ष प्रमाण हो, उसे उड़ावे। कहो, समझ में आया?

अप्रत्याख्यानावरणी नामक चार कषाय हैं, वह देशचारित्र का घात करती हैं अर्थात् श्रावकपद नहीं होने देतीं। वह भाव, हों! यहाँ आभ्यन्तर की भाव की बात है। **संज्वलनादि ४ तथा हास्यादि ६ और वेद ३ – यह सभी यथाख्यातचारित्र के घात में निमित्त हैं।** वह कर्म लिया वापस। निमित्त है, ऐसा कहा न? परन्तु यहाँ तो भाव की बात है। भाव ही है और भाव को समझाना है। निमित्त से भले बात करते हैं।

(निजशक्ति के बल से) इस प्रकार इन सभी व्रतों को क्रमपूर्वक धारण करके, अन्तरंग-परिग्रह को क्रमपूर्वक छोड़ना चाहिए। चौदह प्रकार के परिग्रह को छोड़ने की बात की। यह चौदह प्रकार का आभ्यन्तर बताकर, छोड़ने के लिये बताया है। यह परिग्रह है, वह रखने के लिये नहीं बताया। समझ में आया? परन्तु इसे क्रम से छूटे। पहले ऐसा और ऐसा व्रत ले ले और श्रावक के व्रत और मुनिव्रत ले ले, मिथ्यात्व का त्याग हुआ नहीं। इसके लिये उनका क्रमपूर्वक त्याग होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? पहला मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का त्याग होकर, फिर अप्रत्याख्यानावरणीय का त्याग

होकर, फिर प्रत्याख्यानावरणीय का त्याग होता है और फिर संज्वलन का त्याग होकर यथाख्यात होता है। इसका क्रम ऐसा है। समझ में आया ? १२६ हुई। १२७ (गाथा)

गाथा - १२७

बाह्य परिग्रह के त्याग का क्रम

बहिरङ्गादपि सङ्गात् यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचितः।
परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा।।१२७।।

हो बाह्य परिग्रह से सदा, अनुचित असंयम व्यक्त ही।
अतएव छोड़ो नित उसे, चेतन अचेतन सभी ही।।१२७।।

अन्वयार्थ : (वा) तथा (तम्) उस बाह्य परिग्रह को (अचित्तं) भले ही वह अचेतन हो (वा) या (सचित्तं) सचेतन हो (अशेषं) सम्पूर्णरूप से (परिवर्जयेत्) छोड़ देना चाहिए (यस्मात्) कारण कि (बहिरङ्गात्) बहिरङ्ग (सङ्गात्) परिग्रह से (अपि) भी (अनुचितः) अयोग्य अथवा निन्द्य (असंयमः) असंयम (प्रभवति) होता है।

टीका : 'यस्मात् बहिरङ्गात् अपि संगात् अनुचितः असंयमः भवति तस्मात् तं अचित्तं सचित्तं वा अशेषं परिग्रहं परिवर्जयेत्' - अर्थ :- चूंकि बाह्य धन-धान्यादि परिग्रह से भी महान असंयम होता है अर्थात् जब तक परिग्रह रहता है, तब तक संयम का भले प्रकार पालन नहीं हो सकता; इसलिए वह बाह्य परिग्रह भले ही अजीव हो या सजीव हो - दोनों ही प्रकार का परिग्रह त्याग करने योग्य है।

भावार्थ : बाह्य परिग्रह में संसार के सभी पदार्थ प्रायः आ जाते हैं। इसलिए बाह्य परिग्रह के सजीव और अजीव ऐसे दो भेद किये हैं। रुपया, पैसा, खेती आदि अजीव परिग्रह हैं और हाथी, घोड़ा, बैल, नौकर, चाकर आदि सजीव परिग्रह हैं। इनका भी त्याग एकदेश और सर्वदेश होता है।।१२७।।

गाथा १२७ पर प्रवचन

बाह्य परिग्रह के त्याग का क्रम.. अब बाह्य की बात है। उस चौदह प्रकार के परिग्रह का त्याग और अब बाह्य का त्याग।

बहिरङ्गादपि सङ्गात् यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचितः।
परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा।।१२७।।

तथा उस बाह्य परिग्रह को भले ही वह अचेतन हो या सचेतन हो... स्पष्टीकरण करेंगे, हों! अचेतन लक्ष्मी आदि सब; सचेतन स्त्री, कुटुम्ब, परिवार का आत्मा। **सम्पूर्णरूप से छोड़ देना चाहिए...** ऐसा ही होता है न? बाह्य परिग्रह भी सम्पूर्णरूप से छोड़ना चाहिए। इसलिए आभ्यन्तर की पहले बात ली है और बाह्य की बाद में ली है। समझ में आया? **कारण कि बहिरङ्ग परिग्रह से...** यह आया। **भी...** ऐसा है न? **'बहिरङ्गात् सङ्गात् अपि' अयोग्य अथवा निन्द्य असंयम होता है।** देखा? बाहर के संग से भी अनुचित / अयोग्य असंयम होता है। निमित्त / बाहर का संग है न? उसके प्रति इतनी ममता होती है न? वह भी छोड़ना चाहिए।

टीका : 'यस्मात् बहिरङ्गात् अपि संगात् अनुचितः असंयमः भवति तस्मात् तं अचित्तं सचित्तं वा अशेषं परिग्रहं परिवर्जयेत्' 'परिहारो' यहाँ **'परिवर्जयेत्'** (लिया है) सर्वथा प्रकार से। **चूंकि बाह्य धन-धान्यादि परिग्रह से भी महान असंयम होता है...** बाह्य लक्ष्मी और अनाज आदि कपड़े, गहने इत्यादि भी महान असंयम होता है। **जब तक परिग्रह रहता है, तब तक संयम का भले प्रकार पालन नहीं हो सकता...** लो! बाह्य परिग्रह का संग रहे, तब तक वह संयम को नहीं पाल सकता। **इसलिए वह बाह्य परिग्रह भले ही अजीव हो या सजीव हो - दोनों ही प्रकार का परिग्रह त्याग करने योग्य है।**

बाह्य परिग्रह में संसार के सभी पदार्थ प्रायः आ जाते हैं। ऐसा कहते हैं, समझे न? सब। लक्ष्मी, कुटुम्ब, स्त्री, परिवार यह जो सब बाह्य में हैं, वह सब आ जाता है। **इसलिए बाह्य परिग्रह के सजीव और अजीव ऐसे दो भेद किये हैं।** ऐसा। आत्मा

के अतिरिक्त बाह्य में सब आ जाता है। स्त्री, कुटुम्ब, पुत्र, स्त्री, पुत्र, पैसा, मकान, घोड़ा गाय, भैंसें, यह सब बाह्य परिग्रह है। भैंसे-वैसें रखते थे न पहले, नहीं? भैंस का घी, यह सब परिग्रह है, कहते हैं। और वह है, तब तक इसे ममता है। ऐसा कहे हम रखते हैं परन्तु हमारे ममता नहीं है, ऐसा नहीं है - ऐसा कहते हैं। बाह्य परिग्रह में सब आ गये, ऐसा कहकर फिर दो भेद किये हैं।

रुपया, पैसा, खेती आदि अजीव परिग्रह हैं, और हाथी, घोड़ा, बैल, नौकर,... बैल में भैंस, गाय सब आ गया। **नौकर, चाकर आदि सजीव परिग्रह हैं। इनका भी त्याग एकदेश और सर्वदेश होता है।** श्रावक को एकदेश त्याग और मुनि को सर्वदेश त्याग (होता है)। लो! समझ में आया?

मुमुक्षु : ....यह अन्तरंग का रह गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर का रह गया, बाहर का छोड़ा कब? कि उसके प्रति का जो ममत्वभाव है, वह छोड़े तब बाह्य का छोड़ा कहलाता है। निमित्त है न, उसका अभाव हुआ इसलिए। कहेंगे न? अर्थ में आयेगा, उस ओर आयेगा। निवृत्ति में आयेगा, १२८ में। समझ में आया?

गाथा - १२८

जो सर्वदेश त्याग न कर सकें वे एकदेश त्याग करें

योऽपि न शक्यस्त्युक्तं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि।
सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वं।।१२८।।

धन धान्य नर घर वैभवादि, छोड़ने का बल नहीं।
तो करो कम नित ही उन्हें, है तत्त्व निवृत्तिरूप ही।।१२८।।

अन्वयार्थ : (अपि) और (यः) जो (धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादिः) धन, धान्य, मनुष्य, गृह, सम्पदा इत्यादि परिग्रह (त्यक्तुम्) सर्वथा छोड़ना (न शक्यः) शक्य न हो, (सः) तो उसे (अपि) भी (तनू) न्यून (करणीयः) कर देना चाहिए (यतः) कारण

कि (निवृत्तिरूपं) [१]त्यागरूप ही (तत्त्वम्) वस्तु का स्वरूप है।

टीका : 'योऽपि मनुष्यः धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादिः त्यक्तुम् न शक्तः सोऽपि मनुष्यः धनधान्यादिकः तनूकरणीयः यतः तत्त्वं निवृत्तिरूपं अस्ति' - अर्थः- जो प्राणी धन (गाय-भैंस आदि), धान्य (गेहूँ यवादि अन्न), मनुष्यादि (पुत्रादिक अथवा दासादिक), वास्तु (मकानादि), वित्त (सोना-चाँदी-रुपया आदि) इत्यादि समस्त बहिरंग (दस प्रकार का) परिग्रह को सर्वथा छोड़ने में अशक्त हो, उसे उसमें से थोड़ा परिग्रह रखने का परिमाण करना चाहिए, कारण कि तत्त्व त्यागरूप ही है।

भावार्थ : बहिरंग परिग्रह मूलतः सजीव और अजीव के भेद से दो प्रकार का है। दोनों के दश भेद हैं। क्षेत्र, मकान, चाँदी, सोना, धन - चार पगवाले पशु, वस्त्र, पात्र, अनाज, [२]दासी-दस इत्यादि बाह्य परिग्रह के दश भेद हैं। इनका यदि सम्पूर्ण त्याग न कर सके तो (जितना अपने पास वर्तमान में विद्यमान हो उसमें से जितना बन सके उतना कम कर देना) अपनी आवश्यकतानुसार परिमाण करके ही परिग्रह रखना और शेष का त्याग करे, कारण कि तत्त्व त्यागरूप है। जबतक यह आत्मा [३]त्याग-धर्म का आचरण नहीं करता है, जबतक उसे मोक्ष नहीं मिल सकता। निवृत्ति नाम भी मोक्ष का ही है। इस प्रकार हिंसादि पाँचों पापों का विस्तृत वर्णन किया।।१२८।।

---

१. तत्त्व निवृत्तिरूप है उसका अर्थ :- प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से सदा परिपूर्ण ही है और परद्रव्यादि से शून्य अर्थात् निवृत्तिरूप ही है। वर्तमान अशुद्ध दशा में परद्रव्य के आलम्बन से रागी जीव को बाह्यसामग्री के प्रति ममत्वरूप राग भूमिकानुसार होता है उसका स्वाश्रय के बल से त्याग कराने के लिये बाह्य पदार्थ के त्याग का उपदेश है। वास्तव में तो आत्मा के परवस्तु का त्याग ही है। किन्तु जो कुछ राग, ममत्वभाव है, उसके त्यागरूप निर्मल परिणाम जितने अंशों में होते हैं, उतने ही अंशों में रागादि की उत्पत्ति ही नहीं होती। जहाँ ऐसा होवे वहाँ उस जीव को परवस्तु के त्याग का कर्ता कहना, वह उस जाति के अभावरूप निमित्त का ज्ञान कराने के लिये असद्भूत व्यवहारनय का कथन है। (निश्चय सम्यग्दर्शन बिना अज्ञानी के हठरूप त्याग को व्यवहार से भी धर्म संज्ञा नहीं होती)।

२. दासी-दासादि को द्विपद=दो पैरवाला कहने में आता है।

३. त्यागधर्म=जिस प्रकार प्रकाश की उत्पत्ति के बिना अंधेरा नहीं टलता, उसी प्रकार निज शुद्धात्मा के आश्रय के द्वारा निर्मल श्रद्धा-ज्ञान और स्वरूप में एकाग्रतारूप शुद्ध परिणति की प्राप्ति किए बिना राग का त्याग अर्थात् वीतरागी धर्मरूप मोक्ष का उपाय और मोक्ष नहीं मिलता।

गाथा १२८ पर प्रवचन

जो सर्वदेश त्याग न कर सकें वे एकदेश त्याग करें, १२८। सर्वथा प्रकार से छोड़ न सके, मुनिपना अन्दर आत्मध्यान आनन्दकन्दसहित का, शान्ति और आनन्द के बहुत ऊफानसहित आनन्द आना। सर्वथा त्याग होना चाहिए। इतना न कर सके तो उसे श्रावकरूप से सम्यग्दर्शन-ज्ञान के भान में, राग के त्याग के अभाव में, राग के त्याग का अभाव जो पर के प्रति लक्ष्य जाता है, उतना उसका अभाव करके, पर का भी त्याग करना।

योऽपि न शक्यस्त्युक्तं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि।
सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वं।।१२८।।

देखो यह अब। **और जो धन, धान्य,...** वह अनाज सब परिग्रह है। **मनुष्य, गृह, सम्पदा इत्यादि परिग्रह सर्वथा छोड़ना शक्य न हो, तो उसे भी न्यून कर देना चाहिए...** कम करना चाहिए। कम.. कम.. **'यतः निवृत्तिरूपं तत्त्वम्'** लो! उस निवृत्तिरूप ही तत्त्व है। पर के अभाव-स्वभावरूप ही तत्त्व है। आत्मा ही पर के अभाव-स्वभावरूप है। फिर जितना अभाव करे, उतना निस्परिग्रही होता है। यह सम्बन्ध है न? इतना सम्बन्ध छोड़े वह अत्यन्त सम्बन्ध छोड़े, यही इसका तत्त्व है, ऐसा कहते हैं। तत्त्व ही ऐसा है कि जिसमें कोई सम्बन्ध दूसरे का नहीं है। ऐसी निवृत्ति त्यागरूप तत्त्व है। त्याग वापिस ऐसा समझे कि जैसे त्यागरूप तत्त्व अर्थात् जितना हमने बाह्य का त्याग किया, उतना त्याग तत्त्व, ऐसा नहीं। अन्तर की ममता का त्याग होकर... क्योंकि अन्तर की ममतारूप त्याग तत्त्व है, बाह्य के त्यागरूप तत्त्व है, तो अन्तर ममता का त्याग होकर बाह्य के परिग्रह का भी त्याग (करे)। यहाँ बाह्य परिग्रह में डाला है। सभी वस्तु के अभाव स्वरूप निवृत्त तत्त्व है वह। इसलिए जैसे बने, वैसे शक्तिप्रमाण बाह्य संग का भी त्याग करना।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है। चैतन्य को-आत्मा को मुक्ति का उपाय। आत्मा चैतन्य शुद्ध आनन्द ज्ञानस्वरूप है, उसकी पर्याय में मुक्ति कैसे हो? उसके उपाय का वर्णन है। उसमें १२८ गाथा। यह पाँच के (वें) पाप के त्याग की बात है। परिग्रह, परिग्रह के त्याग में चौदह प्रकार का आभ्यन्तर परिग्रह का तो त्याग कहा। अब यह बाह्य परिग्रह के त्याग में यह गाथा आयी है। १२८, फिर से इसका अन्वयार्थ।

अन्वयार्थ : और जो धन, धान्य, मनुष्य, गृह, सम्पदा इत्यादि परिग्रह सर्वथा छोड़ना शक्य न हो, तो उसे भी न्यून कर देना चाहिए... ये बाह्य की बात है। आभ्यन्तर तो जिसे मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का परिग्रह छूटकर, सम्यग्दर्शन-ज्ञान और स्थिरता का अंश प्रगट हुआ है। ऐसे जीव को आसक्ति है, परिग्रह में आसक्ति, बाह्य में और अन्दर भाव में जरा राग है, वह आसक्ति है। उसमें - परिग्रह में सुखबुद्धि नहीं। समझ में आया? धर्मी को पैसे में या बाह्य परिग्रह में या परिग्रह के होनेवाले ममत्वभाव में सुखबुद्धि नहीं है परन्तु आसक्तबुद्धि है, वह आसक्त, वह परिग्रह है और उस आसक्ति में बाह्य परिग्रह निमित्त है, उसे भी परिग्रह कहने में आया है।

तो उसे भी न्यून कर देना चाहिए कारण कि त्यागरूप ही वस्तु का स्वरूप है। यहाँ तक आया था। आत्मा, परवस्तु के अभावस्वरूप ही आत्मा है। यह आत्मा, अपना आत्मा, इस अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थ कर्म, शरीर, वाणी, अनन्त जीव, अनन्त परमाणु से त्यागरूप-अभावरूप ही आत्मा है। समझ में आया? नीचे इसका अर्थ किया है। देखो!

एक, एक (अंक) **तत्त्व निवृत्तिरूप है...** आत्मा तत्त्व है, वह निवृत्तिरूप है अर्थात् कि **प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य,..** अपनी शक्तिवान अर्थात् तत्त्व से **स्वक्षेत्र,..** अर्थात् अपनी चौड़ाई से, **स्वकाल..** अर्थात् अपनी वर्तमानदशा से। **स्वभाव से...** उसके त्रिकाली शक्तिरूप भाव से **सदा परिपूर्ण ही है...** समझ में आया? सदा ही परिपूर्ण है

क्योंकि परिपूर्ण का अर्थ कि स्वयं पर से शून्य है, स्व से अशून्य है। यह प्रवचनसार शास्त्र की भाषा है। भगवान आत्मा अपना द्रव्य अर्थात् गुण-पर्याय का पिण्ड; क्षेत्र अर्थात् उसकी चौड़ाई; काल अर्थात् उसकी वर्तमान दशा—अनन्त गुण की वर्तमान पर्याय; गुण अर्थात् त्रिकाली भाव। इन चार से आत्मा परिपूर्ण है। लो!

निगोद में भी स्वकाल से आत्मा परिपूर्ण है। ऐई! पण्डितजी! इसका अर्थ कि स्वयं से अशून्य है। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अशून्य है अर्थात् परिपूर्ण है। ऐसा, पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से शून्य है। आत्मा के अतिरिक्त कर्म, शरीर यह तो सब परपदार्थ हैं, उनका - पर का द्रव्य, उनका क्षेत्र, उनकी अवस्था और उनका भाव, उनसे आत्मा अभावस्वरूप है। कहो, समझ में आया इसमें? देखो! परिग्रह के अधिकार में भी बाह्य त्याग में यह बात ली है। आत्मा के अतिरिक्त दूसरे सभी पदार्थ, इसके आत्मा में अभाव-स्वभावरूप ही वे तत्त्व हैं। ऐसी दृष्टि अन्तर में सम्यग्दर्शन हुआ। शुद्ध आत्मा पर के अभाव सहित है, अपने स्वभाव में परिपूर्ण है, ऐसा जो द्रव्यस्वभाव, उसे वर्तमान पर्याय के लक्ष्य से, पर्याय के आश्रय में द्रव्य को लेने पर, पर्याय को द्रव्य का आश्रय देने पर... लो! यह पर्याय परिपूर्ण है, ऐसा कहा।

मुमुक्षु : स्वकाल...

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वकाल से परिपूर्ण ही है, अशून्य है, अशून्य अर्थात् परिपूर्ण, पर से खाली है। अपनी वर्तमान अवस्था से त्रिकाल द्रव्य का आश्रय लेने से जो सम्यग्दर्शन हो, उसे निर्विकल्प सम्यग्दर्शन चौथा गुणस्थान कहने में आता है। ऐसी दृष्टि हुए बिना उसे इस आसक्ति के त्याग की कमी नहीं हो सकती। सर्वथा आसक्ति का त्याग तो मुनि को होता है। समझ में आया? परन्तु थोड़ी आसक्ति का त्याग गृहस्थाश्रम में करना, ऐसी यहाँ बात चलती है। उस आसक्ति में उन निमित्तों को घटाना, ऐसा कहने में आता है। उसका यह स्पष्टीकरण है। देखो!

प्रत्येक वस्तु अपने स्ववस्तु से, द्रव्य से अर्थात् वस्तु से; क्षेत्र से अर्थात् चौड़ाई से; काल से, अवस्था और भाव से सदा ही अशून्य है। अशून्य अर्थात् परिपूर्ण है। एक-एक परमाणु भी अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से परिपूर्ण है। कहो, परमाणु, वह आत्मा का दास नहीं है। दास होगा? लक्ष्मी पुण्य की दासी कहलाती है न? पुण्य की दासी है अर्थात्

जिसके पास पुण्य हो, उसके आती है। कोई दासी-फासी है नहीं। यह तो एक बात समझाने को (कहते हैं) कि भाई! पुण्य के परमाणु हों, वहाँ वे आने योग्य हों, वे आवे; इसलिए उसे दासी कहते हैं, परन्तु तेरा स्वरूप वह है नहीं।

लक्ष्मी, वह तेरा स्वरूप नहीं। लक्ष्मी जिस भाव से मिले, वह भाव भी तेरा स्वरूप नहीं और जिस भाव से पुण्य बँधा, वह बन्ध भी तेरा स्वरूप नहीं। ऐसा आत्मा अन्तर में, राग और परवस्तु के अभावस्वभावरूप, ऐसे आत्मा के अन्तर्मुख सम्यग्दर्शन हो, निश्चय सम्यग्दर्शन, आत्मा का भान, उसे कम आसक्ति करना। करना पूरी आसक्ति का त्याग अर्थात् परवस्तु का सर्वथा त्याग (किन्तु) इतना न हो तो थोड़ा त्याग तो करना अर्थात् उस ओर का झुकाव, आसक्ति थोड़ी घटाकर उसे छोड़ना - ऐसा कहने में आता है।

परद्रव्यादि से शून्य अर्थात् निवृत्तिरूप ही है। यह निवृत्ति की व्याख्या की। प्रत्येक पदार्थ परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से निवृत्तरूप ही है, उससे तो अभावरूप ही है - तो परद्रव्य को आत्मा ले सके या परद्रव्य को छोड़ सके, ऐसा उसमें है नहीं, क्योंकि उसके अभावस्वरूप है, फिर छोड़ना, यह रहता नहीं - ऐसा कहते हैं पहले।

मुमुक्षु : उसके अस्तित्व को छोड़ना।

पूज्य गुरुदेवश्री : तथापि यहाँ कहा कि उसका परिहार करना। यह व्यवहार का वाक्य है, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। समझ में आया?

भगवान आत्मा अपना स्वभाव ज्ञान, दर्शन, आनन्द पूर्ण की वर्तमान चलती अवस्था कोई भी हो, वह परिपूर्ण है, परिपूर्ण अर्थात् वह स्व से है, स्व से है, खाली नहीं; स्व से भरा है वह। ऐसा जो आत्मतत्त्व, स्वयं से है और पर से नहीं। पर देव-गुरु-शास्त्र हो या पर शरीर और कर्म यह मिट्टी आदि कर्म, वे सब पर हैं। पर के द्रव्य से, पर के क्षेत्र से, पर की अवस्था से और पर के भाव से निवृत्तिरूप ही है। कहो, समझ में आया? इसमें निवृत्ति की व्याख्या की है। ऐसे तत्त्व को, निवृत्तिरूप को वर्तमान पर्याय द्वारा अन्तर्लक्ष्य करके, वर्तमान पूर्ण स्वरूप है, उसे अन्तरनिर्विकल्प (अर्थात्) राग के विचार के मिश्रपने बिना श्रद्धा और ज्ञान, वीतरागी पर्याय द्वारा उस आत्मा का श्रद्धा-ज्ञान करना, इसका नाम सच्चा सम्यग्दर्शन पहला कहने में आता है। इस सम्यग्दर्शनसहित आसक्ति घटाने की यह बात है। जिसे यह सम्यग्दर्शन नहीं, उसे आसक्ति घटाना, यह कुछ रहता नहीं।

इसलिए स्पष्टीकरण करना पड़ा कि **वर्तमान अशुद्धदशा में परद्रव्य के आलम्बन से रागी जीव को...** वर्तमान आत्मा में, अशुद्धदशा अर्थात् राग के भाव के परिणाम में, परद्रव्य के आलम्बन द्वारा, परवस्तु के लक्ष्य द्वारा, अवलम्बन द्वारा, अरागी जीव को **रागी जीव को बाह्यसामग्री के प्रति ममत्वरूप राग भूमिकानुसार होता है...** ममत्वरूप राग भूमिका अर्थात् चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ (गुणस्थान) के अनुसार होता है। **उसका स्वाश्रय के बल से...** लो! स्वाश्रय अर्थात् आत्मा आनन्दस्वरूप है, उस आनन्दस्वरूप के आश्रय के बल द्वारा **त्याग कराने के लिये बाह्य पदार्थ के त्याग का उपदेश है।** कहो, समझ में आया? क्या कहा? जो **वर्तमान अशुद्धदशा में परद्रव्य के आलम्बन से रागी जीव को बाह्यसामग्री के प्रति ममत्वरूप राग भूमिकानुसार होता है, उसका स्वाश्रय के बल से त्याग कराने के लिये...** किसका? उस राग का।

बाह्य पदार्थ के त्याग का उपदेश है। कहो, क्या कहा यह? मलूपचन्दभाई! अटपटा है, वहाँ बहुत ध्यान दिये बिना समझ में आये ऐसा नहीं है। वहाँ यह कहीं रसोई का काम नहीं है कि ऐसा कर डालो, करो एकदम।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक यह। परन्तु कहते हैं कि यह तुझे हित करना है या नहीं? तब हित करने में पहला सम्यग्दर्शन का भाव प्रगट कर और फिर यह कर। ऐसा है या नहीं इसे? समझ में आया?

यहाँ तो यह कहना है, देखो! कि वर्तमान अशुद्धदशा में पर से आत्मा शून्य होने पर भी, वर्तमान दशा में अपने में भले अशुद्धभाव हो, परन्तु स्वयं अपने से है और पर से है नहीं। मैं शुद्ध चैतन्य रागरहित, शरीररहित, शुद्ध चैतन्यवस्तु भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने शुद्ध पूर्ण देखी है, वैसा तू अन्दर देख और मान, तब उसे निश्चय सम्यग्दर्शन, सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान कहने में आता है। ऐसे ज्ञान और सम्यक्श्रद्धासहित जिसे अभी परद्रव्य के आलम्बन से अपने में राग-द्वेष की अशुद्धदशा वर्तती है। समझ में आया? ऐसे रागी जीव को, ऐसे। परद्रव्य का अवलम्बन तो ज्ञान में, लोकालोक का केवली को वर्तता है। ऐई! आलम्बन में, ज्ञान में यह तो आलम्बन में रागी जीव को बाह्य सामग्री के प्रति वह राग होता है, इसलिए ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : जीव को रागी विशेषण लगाया।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा लगाया उसे। केवलज्ञान में इस लोकालोक का आलम्बन तो है, निमित्त है, परन्तु राग नहीं। अकेला केवलज्ञान एक समय में पूर्ण। आलम्बन है, निमित्त है। यहाँ परद्रव्य के निमित्त द्वारा... रागी जीव को, बाह्य सामग्री के प्रति ममत्वरूप राग... एक-एक में पूरा न्याय है, हों! ऐसे के ऐसे शब्द नहीं रखे हैं। राग भूमिकानुसार होता है। सम्यग्दृष्टि को भी वस्तु पर से भिन्न है - ऐसा भान होने पर भी, अशुद्धदशा पर के द्रव्य के अवलम्बन से रागी है, इसलिए भूमिका की अवस्था प्रमाण सम्यग्दृष्टि को भी राग होता है।

उसका स्वाश्रय के बल से... वापस ऐसा। इस राग का त्याग, स्वाश्रय-जितना शुद्ध आश्रय जो द्रव्य में लिया था, तब सम्यक् हुआ। जितना आश्रय वापस स्वाश्रय लिया, उसके आश्रय के बल द्वारा त्याग कराने के लिये। उस राग का त्याग स्वाश्रय के बल द्वारा होता है। समझ में आया? **बाह्य पदार्थ के त्याग का उपदेश है।** कितने बोल रखे हैं इसमें? कहो, मलूपचन्दभाई! तब तुम क्या पढ़ते होओगे? तुम पहले पढ़ते थे न? पढ़ते थे, हाँ करते हैं... अन्यत्र से छूटकर हुई। पहले पढ़ते थे, नहीं? पहले पढ़ते थे न? इस प्रकार से पढ़ते होंगे यह? लिखे अनुसार बोल जाते होंगे।

यहाँ कहते हैं, भाई! तू प्रभु है, तेरे गुण से भगवान परिपूर्ण तू है और पर्याय में भी अवस्था से परिपूर्ण ही है। परिपूर्ण अर्थात् वह एक अंश भी न हो तो पूरा द्रव्य सिद्ध नहीं होता। ऐसी अवस्था को अन्तर की ज्ञानपर्याय द्वारा, अन्तर में आश्रय लेकर परिपूर्ण शुद्ध भगवान आत्मा परिपूर्ण गुण से है, ऐसा एकरूप का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन हुआ, ऐसे जीव को अब उसकी दशा में परद्रव्य के अवलम्बन में अशुद्धता वर्तती है, रागी है इसलिए (वर्तती है)। उस राग का स्वाश्रय के बल से त्याग कराने के लिये, उसे राग का स्वाश्रय के बल से-आत्मा के बल से त्याग कराने के लिये **बाह्य पदार्थ के त्याग का उपदेश है।** समझ में आया इसमें?

ऐसे बाह्य पदार्थ तो आत्मा में हैं नहीं, उनका त्याग क्या करे? परन्तु बाह्य पदार्थ के आलम्बन द्वारा, राग को अभी जितना अशुद्धभाव है, उस राग का स्व आत्मा के आनन्द

के आश्रय के बल से छुड़ाने के लिये बाह्य पदार्थ का त्याग कहने में आता है। आहा..हा..! गजब सूक्ष्म बात! वापिस राग का त्याग, बाह्य द्वारा तो राग का त्याग हो, ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? इस स्वाश्रय के बल से राग का त्याग होता है। शुद्ध चैतन्य के आश्रय से (राग का त्याग होता है)। इस प्रकार राग का त्याग होता है, वह भी स्व का (आश्रय) जितना ले, उतने राग की उत्पत्ति नहीं होती, उतना राग का त्याग होता है। उस राग का त्याग कराने के लिये स्वाश्रय के बल से राग और आसक्ति का त्याग कराने के लिये बाह्य पदार्थ का त्याग कहने में आता है। आहा..हा..! समझ में आया?

वास्तव में तो... यह सब लिखावट हिम्मतभाई की लगती है। किसकी है? सभी शब्द-शब्द इन्होंने किये हैं? ठीक। होशियार व्यक्ति है। भाषा सब अच्छी लिखी है। फिर तुम देख गये थे? नहीं देखा? ठीक है। अच्छा लिखा है। वजुभाई ब्रह्मचारी वढ़वाण में अध्यापक हैं। बहुत सुना हुआ है न, अच्छा लिखा है। समझ में आया या नहीं? यह तुम्हें ऐसा लिखते आता है? व्यापारी। वजुभाई ब्रह्मचारी हैं, वढ़वाण के बालब्रह्मचारी हैं। अध्यापक हैं। समझ में आया? दीपचन्दजी! अध्यापक, विद्यालय के अध्यापक हैं। बालब्रह्मचारी हैं, आजीवन ब्रह्मचारी हैं। मिले थे?

मुमुक्षु : राजकोट आये थे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : राजकोट आये थे। ऐसे कपड़े पहनकर। शान्तस्वभाव। वृद्ध हों, ऐसा शान्तस्वभाव है। क्या कहते हैं? देखो! बहुत अच्छी बात है।

वास्तव में तो आत्मा के परवस्तु का त्याग ही है। वास्तव में तो आत्मा रजकण और कर्मरहित ही है और त्याग ही है और त्याग करना क्या? क्या छोड़ना? ग्रहण किया हो तो छोड़े न? आत्मा है, उसमें कर्म आदि रजकण अन्दर हैं ही नहीं। वे तो भिन्न-भिन्न वर्तते हैं। समझ में आया? **वास्तव में तो आत्मा के परवस्तु का त्याग ही है। किन्तु जो कुछ राग, ममत्वभाव है, उसके त्यागरूप निर्मल परिणाम जितने अंशों में होते हैं...** देखो, है न? **त्याग ही है। किन्तु जो कुछ राग, ममत्वभाव है, उसके त्यागरूप निर्मल परिणाम जितने अंशों में होते हैं, उतने ही अंशों में रागादि की उत्पत्ति ही नहीं होती।** अच्छा लिखा है। **जहाँ ऐसा होवे, वहाँ उस जीव को परवस्तु**

के त्याग का कर्ता कहना... जहाँ ऐसा हो वहाँ उस जीव को बाह्य वस्तु के त्याग का (कर्ता) कहना, समझ में आया? **वह उस जाति के अभावरूप निमित्त का ज्ञान कराने के लिये...** उस-उस प्रकार के अभावरूप। सामने अभाव हुआ न इतना? यहाँ स्वाश्रय के बल से जितना राग छूटा, उतना सामने निमित्त का अभाव हुआ। वह जितना-जितना परवस्तु के प्रति उस-उस प्रकार के अभावरूप सामने, हों! **अभावरूप निमित्त का ज्ञान कराने के लिये असद्भूत व्यवहारनय का कथन है।** गजब बात डाली। बहुत अच्छी डाली। ऐई! देखो! यह कितना (लिखा है)! कितने वर्ष हुए होंगे? चालीस हुए होंगे? चालीस नहीं हुए होंगे। बात को... है।

वस्तु भगवान आत्मा परिपूर्ण वस्तु है, इस अपेक्षा से तो परवस्तु उसमें बिल्कुल है ही नहीं, शून्य है। स्व-पर्याय में, स्वक्षेत्र में, स्वभाव में, स्वद्रव्य परवस्तु से शून्य है। अब शून्य है, उसे वापस शून्य करना? अर्थात् पर का तो त्याग है, परन्तु पर के अवलम्बन से अपने में, जितने प्रकार का राग अपने में अपने कारण से होता है, उस राग को स्वाश्रय के बल से छुड़ाने को, निर्मल परिणाम होने में, जो राग छूटा, उस राग का जो कुछ अभाव-सामने पदार्थ का अभाव हुआ, उसका-निमित्त का ज्ञान कराने के लिये असद्भूतव्यवहार / झूठे व्यवहार का कथन है। कहो, समझ में आया इसमें? कहाँ है यह? मलूपचन्दभाई! कहाँ है यह बात? यहाँ है? नोट (फुटनोट) में है न? निश्चयसम्यग्दर्शन... भाई! पूछना चाहिए। तुम्हारे भाई! दाँत निकालते हैं (हँसते हैं)। यह सब व्यापार में और सब उसमें रहते हैं तो वहाँ कितना ध्यान रखते हैं? व्यापार नहीं, यह व्यापार अर्थात् यह दूसरा व्यापार लो न यह। बोर्डिंग का और अमुक का और मन्दिर का। कहो, समझ में आया?

निश्चयसम्यग्दर्शन बिना... आत्मा के अन्तर में निर्विकल्प अनुभव की प्रतीति, आत्मा के भान बिना **अज्ञानी के हठरूप त्याग को...** अज्ञानी ने जहाँ स्त्री, पुत्र छोड़े और अमुक छोड़ा, यह छोड़ा, यह बात उसे व्यवहारधर्म भी नहीं कही जाती। समझ में आया? **निश्चयसम्यग्दर्शन बिना...** अर्थात् आत्मा के स्वाश्रय की अन्तर अनुभव में प्रतीति हुए बिना, अज्ञानी का जो भाव / राग कुछ मन्द हो और बाह्य त्याग हुआ, उसे व्यवहार से भी धर्म कहने में नहीं आता। व्यवहार से, हों! निश्चय से तो है ही नहीं परन्तु उसे व्यवहार पुण्य भी धर्मरूप से कहने में नहीं आता।

अज्ञानी के हठरूप त्याग को व्यवहार से भी धर्म संज्ञा नहीं होती। ज्ञानी को आत्मा के भानसहित में, स्वाश्रय से जितनी आसक्ति घटी, उतना उसे राग मन्द पड़ा और राग बाकी शुभ रहा, उसे व्यवहारधर्म कहा जाता है। वह निश्चय धर्म प्रगट हुआ है; इसलिए (कहा जाता है), तब उसने बाह्य त्याग किया, ऐसा व्यवहारनय के-असद्भूत व्यवहारनय का कथन लागू पड़ता है। अज्ञानी को तो एक भी कथन लागू नहीं पड़ता। आहा..हा..! कहो, समझ में आया इसमें?

मुमुक्षु : मिथ्यादृष्टि व्रत, तप करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है ही कहाँ? अज्ञानी मूढ़ है। व्यवहार भी नहीं।

मुमुक्षु : पुण्य आस्रव होता होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य आस्रव अर्थात् मिथ्यात्व आस्रव होता होगा। मिथ्यात्व आस्रव के साथ है। वस्तु की तो खबर नहीं। साथ में मिथ्यात्व आस्रव है। उसके साथ शुभभाव आये हैं। समझ में आया? बड़ा बाघ साथ में है, उसके साथ एक थोड़ा छोटा गडुलियो है। गडुलिया समझते हो? कुत्ती का बच्चा। तुम्हारे हिन्दी में क्या कहते हैं? पिल्ला। बड़ा मिथ्यात्व का बाघ साथ में है, उसके साथ एक यह ऊं.. ऊं.. ऊं... करे, ऐसा कुत्ती का बच्चा है। कुतरी का समझते हो? कुत्ती का बच्चा। आहा..हा..!

वस्तु चैतन्य भगवान आत्मा, परवस्तु में नहीं; इसलिए परवस्तु का वह कर्ता नहीं। परवस्तु में नहीं, इसलिए पर का कर्ता नहीं। जिसमें वह नहीं, उसे कैसे करे? शरीर, वाणी कर्म में आत्मा नहीं है। वह परवस्तु आत्मा (नहीं) तो पर में नहीं, उसका यह क्या करे? और पर से स्वयं नहीं तो पर का त्याग क्या करे? समझ में आया? गजब बात, भाई! परन्तु ज्ञानी को आत्मदर्शन, आत्मज्ञान (हुआ है)। रागरहित, शरीररहित, पररहित हूँ अर्थात् अपने पूर्ण शुद्ध स्वभावसहित हूँ, ऐसा अन्तर में भान हुआ, उसे वर्तमान दशा में जितना परद्रव्य का तो वस्तु में अभाव है, तथापि उसके आलम्बन से रागी को जितनी आसक्ति होती है, उस राग की आसक्ति का त्याग स्वाश्रय के बल से होता है। स्वाश्रय के बल से होने पर जितनी निर्मलता होती है, उसमें राग त्याग किया, ऐसा कहा जाता है और उसमें जितने बाह्य के निमित्तों का अभाव हुआ, राग को जो लागू पड़ते निमित्त, वह राग गया,

इसलिए उन्हें निमित्त लागू नहीं पड़ने पर, उसका अभाव हुआ, उसे असद्भूतव्यवहारनय से ऐसा कहा जाता है कि इसने इसे छोड़ा। यह सम्यग्दृष्टि को लागू पड़ता है। अज्ञानी को तो यह व्यवहार, राग का त्याग; स्व का आश्रय नहीं है, इसलिए एक भी लागू नहीं पड़ता। समझ में आया? यह तो सब बाह्य त्यागी होकर बैठे, इन्हें त्याग है? इन्हें सम्यग्दर्शन का त्याग है।

मुमुक्षु : अनादि का है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बस! अनादि का है, वह का वह है इन्हें।

मुमुक्षु : कुछ बढ़ा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इस बाड़ा में जन्मे, गृहीत मिथ्यात्व पुष्टि करे तो वह पुष्टि अधिक है... जिस कुल में जन्मे, जिस वाड़ा में जन्मे,.. यह हमारा.. यह हमारा.. यह हमारा.. ऐसी श्रद्धा विपरीत मान्यता को पोषण करे, वह अगृहीत के साथ में अधिक गृहीत मिथ्यात्व करे। उसे तो यह एक भी राग का त्याग या पर का त्याग, राग का त्याग कर्तापना इसमें नहीं है। इसलिए वह यहाँ सिद्ध किया। परन्तु आत्मा के आश्रय के बल से जितना राग उत्पन्न नहीं होता, उतनी निर्मलता में जो राग उत्पन्न नहीं हुआ; उस राग को जो निमित्त थे, उनका अभाव हुआ, उसे असद्भूतव्यवहारनय कहने में आया कि यह इसने छोड़ा है। आहा..हा..! समझ में आया? बहुत अच्छा लिखा है। संग्रह करके न्याय से (लिखा है)। वापिस यहाँ निवृत्तिस्वरूप है, इसलिए कितने ही कहते हैं, आत्मा त्यागस्वरूप है, भाई! जितना त्याग किया, उतना लाभ; जितना त्याग किया, उतना लाभ, परन्तु किसका त्याग?

मुमुक्षु : राग की उत्पत्ति न होना, इसका नाम त्याग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो राग के अभावस्वभावस्वरूप आत्मा है—ऐसी दृष्टि होने के पश्चात्, राग की आसक्ति का जितना भाव है, उसका अवलम्बन / निमित्त परपदार्थ है। इसलिए उस आसक्ति की कमी आत्मा के आश्रय से होती है। वह निर्मलता परिणाम हुए, उसमें राग जो नहीं हुआ, उतने राग के निमित्त नहीं आये, नहीं हुए, उसे इसने असद्भूतव्यवहार से छोड़ा—ऐसा कहने में आता है। कहो, समझ में आया? भारी रटना, इसमें रटना पड़ता होगा?

वस्तु की खबर नहीं होती और हमारे धर्म होता है, धर्म करते हैं। धूल में भी धर्म नहीं। पुण्य भी अच्छा नहीं। यहाँ तो व्यवहारधर्म भी उसे नहीं कहा जाता। कहो, कान्तिभाई! क्या है? सब शोर मचाते हैं। ये हमारे त्यागियों को त्यागी नहीं मानते, अमुक को नहीं मानते। परन्तु थे कब? थे कब? भाई! मार्ग तो यह है, बापू! यह समझे बिना, बाह्य के त्याग का अभिमान, वह तो मिथ्यात्व की पुष्टि करता है। समझ में आया? राग के अभावस्वभाव तत्त्व है, ऐसी जहाँ दृष्टि हुई नहीं, परन्तु मैं रागवाला और यह सम्बन्धवाला हूँ—ऐसा मानकर जिसने कुछ बाह्य त्याग हुआ - किया, उसका उसे अभिमान वर्तता है। अभिमान अर्थात् मिथ्यात्व की अधिक पुष्टि होती है। समझ में आया? कहो, एक व्याख्या हुई। यह निवृत्तिरूप त्यागरूप ही वस्तु का स्वरूप है, इस शब्द का अर्थ। १२८ पृष्ठ पर है न अन्तिम? यह इसकी व्याख्या हुई। अब, एक १०० पृष्ठ पर, उसकी टीका।

टीका : 'योऽपि मनुष्यः धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादिः त्यक्तुम् न शक्तः सोऽपि मनुष्यः धनधान्यादिकः तनूकरणीयः यतः तत्त्वं निवृत्तिरूपं अस्ति' लो! **जो प्राणी धन (अर्थात् लक्ष्मी), धान्य (अर्थात् अनाज), मनुष्यादि (पुत्रादिक अथवा दासादिक), वास्तु (मकानादि), वित्त (सोना-चाँदी-रुपया आदि) इत्यादि समस्त बहिरंग (दस प्रकार का) परिग्रह को सर्वथा छोड़ने में अशक्त हो, उसे उसमें से...** इसका अर्थ कि थोड़ी आसक्ति घटाना। पूर्ण आसक्ति न घटे तो थोड़ी घटाना, ऐसा बाहर का त्याग करना। **थोड़ा परिग्रह रखने का परिमाण करना चाहिए, कारण कि तत्त्व त्यागरूप ही है।** जितनी दृष्टि होकर आसक्ति घटी, उतना तत्त्व त्यागरूप वस्तु होने पर भी, पर्याय में राग के अभाव-स्वभावरूप परिणमन हुआ, उतना उसे राग का त्याग हुआ और उतना उसे बाह्य का असद्भूतव्यवहार पदार्थ का भी त्याग हुआ - ऐसा कहने में आता है। समझ में आया?

भावार्थ - तत्त्व अर्थात् आत्मा निवृत्तस्वरूप है, त्यागरूप है। वास्तव में पर के तो त्यागरूप है, वह स्ववस्तु और त्रिकाली स्वभाव, राग के त्यागरूप है, वह त्रिकाली भाव। समझ में आया? भगवान आत्मा, परमाणु-कर्म-शरीर के तो अभाव / त्यागरूप ही है। हुआ? अब यह तो पर्याय में भी पर के त्यागरूप है। भले पर्याय अशुद्ध हो। अब जहाँ त्रिकाल स्वभाव देखें तो वह भी अशुद्धभाव के त्यागरूप ही है। समझ में आया? ऐसी जब

दृष्टि जब अन्दर हुई, तब जो आसक्ति की अशुद्धता अभी बाकी रही, उसकी बाह्य त्याग के कारण आसक्ति घटे, ऐसा नहीं है। वह आसक्ति भी स्वाश्रय के बल से घटती है और स्वाश्रय के बल से घटने पर, जितनी निर्मलता है, उसमें राग नहीं हुआ, उस राग के निमित्त इसने छोड़े। वे छूटने पर इसने छोड़े—ऐसा व्यवहार से, झूठे नय से कहने में आता है। ऐसा नय का ज्ञान!

अब ऐसी लम्बी क्या (लगायी है)? भाई! यह छोड़ा देखो! यह। हम कन्दमूल नहीं खाते, रात्रि में नहीं खाते, रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग है, उसमें क्या यह लम्बा उठाया? रात्रि को नहीं खाते लो, हम रात्रि को चतुर्विध आहार का त्याग करते हैं। त्याग नहीं है हमारे? सुन न! तूने कहा कि हमने रात्रि को नहीं खाया। वह क्रिया जड़ की है, वह तुझमें हुई ही नहीं और तूने क्रिया की नहीं और तूने ऐसा कहा कि यह खाने की क्रिया होती थी, वह मैंने की नहीं—यही पहले तो तू अजीव का स्वामी होकर मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि खाने-पीने की क्रिया है, वह तो जड़ की क्रिया है, आत्मा की है ही नहीं, अजीव की है। अजीव की उस पर्याय का द्रव्य में तो अभाव है, उसका तो त्याग है, त्याग है। अब तूने क्या त्याग किया? कि खाने-पीने की क्रिया मैंने छोड़ी। परन्तु खाने की क्रिया तो जड़ की थी। समझ में आया? ऐई! न्यालभाई! ठीक से सुनायी देता है या नहीं? थोड़े दूर बैठते हैं। वह क्या कहलाता है?

क्या छोड़ा तूने? वस्तुस्वभाव में तो पर का अभाव है, अर्थात् आत्मा में त्याग है। एक बात। अब वस्तु का स्वभाव देखने पर, विभाव का उसमें त्याग है। अब ऐसी दृष्टि होने के बाद उसे विभाव का त्याग स्वभाव में होने पर भी पर्याय में विभाव है और उस विभाव को वे पर निमित्त अवलम्बन हैं। यह दो के बीच की बात यहाँ चलती है।

मुमुक्षु : बाह्य बतलाना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाह्य के त्याग में यह निवृत्तिस्वरूप आया है न? उसमें यह विभाव जो घटता है, वह स्वाश्रय के बल से घटता है। वह घटने पर जो राग रह जाता है, उस राग को जितने निमित्त हैं, उनका अभी उसे त्याग नहीं है। परन्तु राग जितना गया, उतना उसने त्याग किया—ऐसा अशुद्ध निश्चय से कहा जाता है, उस राग का त्याग और

उसके निमित्तों का जो अभाव हुआ उतना, इसने उनका त्याग किया, यह असद्भूत -झूठे व्यवहारनय से कहने में आता है। गजब बात, भाई! कहो, राजमलजी! कितनी बातें इसमें इन्होंने डाली हैं।

भावार्थ : बहिरंग परिग्रह मूलतः सजीव और अजीव के भेद से दो प्रकार का है। उसकी बात चलती है न यह? आभ्यन्तर परिग्रह की बात पहले कही। चौदह प्रकार का। मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी, चार कषाय और नौ नोकषाय। उसमें पहला ही मिथ्यात्व का परिग्रह छूटा। कब? कि सम्यग्दर्शन हुआ तब और उस मिथ्यात्व का परिग्रह छूटे बिना अस्थिरता का नहीं छूटता और पर का-निमित्त का अभाव कहने में उसके लिये नहीं आता। गजब! तब अब यहाँ **बहिरंग परिग्रह मूलतः सजीव और अजीव के भेद से दो प्रकार का है। दोनों के दश भेद हैं। क्षेत्र (जमीन), मकान (घर), चाँदी (रूपा), सोना, धन - चार पगवाले पशु (घोड़ा-हाथी आदि), वस्त्र, पात्र,...** लो! यह इसमें बाह्य परिग्रह में आया। देखा?

अनाज,.. लो! उसमें धन-धान्य नहीं आया था। **दासी-दास (द्विपदा)...** नीचे है। **दासी-दासादि को द्विपद=दो पैरवाला कहने में आता है।** वे चार पैरवाले हाथी-घोड़ा **इत्यादि बाह्य परिग्रह के दश भेद हैं। इनका यदि सम्पूर्ण त्याग न कर सके तो (जितना अपने पास वर्तमान में विद्यमान हो उसमें से जितना बन सके उतना कम कर देना) अपनी आवश्यकतानुसार परिमाण करके ही परिग्रह रखना और शेष का त्याग करे,...** परिमाण करके रखे, यह भाषा तो ऐसी ही आवे न? व्यवहार की भाषा क्या आवे? थोड़ा करना शब्द तो ऐसा है। घटाना। समझ में आया? **अपनी आवश्यकतानुसार परिमाण करके ही परिग्रह रखना और शेष का त्याग करे, कारण कि तत्त्व त्यागरूप है।** भगवान आत्मा एक परमाणु मात्र का किसी भी चीज़ से अभाव-स्वभावरूप / त्यागरूप ही है। इसलिए जितना उसमें आसक्ति का त्याग होकर पर का त्याग हो, उतना वह निवृत्तरूप परिणमन उसका होता है।

जबतक यह आत्मा त्याग-धर्म का आचरण नहीं करता है,... देखो! यह। त्यागधर्म की व्याख्या नीचे। **जबतक उसे मोक्ष नहीं मिल सकता।** लो! समझ में आया? यह स्वरूप का भान हुआ होने पर भी, आसक्ति का अभाव और उसके सम्बन्ध

में निमित्त जो थे, उनका अभाव लक्ष्य में नहीं करे, तब तक उसे निवृत्तिरूप मोक्ष नहीं होगा। वह निवृत्तिरूप तत्त्व होने पर भी आसक्ति और अवलम्बन का त्याग किये बिना पूर्ण निवृत्तिरूप मोक्ष उसे नहीं होगा। समझ में आया? **निवृत्ति नाम भी मोक्ष का ही है।** मोक्ष को भगवान निवृत्ति कहते हैं। **इस प्रकार हिंसादि पाँचों पापों का विस्तृत वर्णन किया।** हिंसा, झूठ, चोरी, विषय और परिग्रह। त्यागधर्म की व्याख्या नीचे (की है)।

मुमुक्षु : त्यागधर्म आत्मा न करे, तब तक मोक्ष नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिलकुल नहीं। राग और राग के निमित्तों का स्वाश्रय बल से त्याग नहीं करे, तब तक उसकी मुक्ति नहीं।

नीचे त्यागधर्म की व्याख्या, देखो! **त्यागधर्म=जिस प्रकार प्रकाश की उत्पत्ति के बिना अंधेरा नहीं टलता,...** प्रकाश की उत्पत्ति के बिना (अन्धकार मिटता नहीं); **उसी प्रकार निज शुद्धात्मा के आश्रय के द्वारा निर्मल श्रद्धा-ज्ञान और स्वरूप में एकाग्रतारूप शुद्ध परिणति की प्राप्ति किए बिना...** स्पष्टीकरण किया है। जैसे प्रकाश की उत्पत्ति बिना अन्धकार मिटता ही नहीं; इसी प्रकार निज शुद्धात्मा आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा के आश्रय से, उसके आश्रय द्वारा निर्मल श्रद्धा, निर्मल ज्ञान, और स्वरूप में एकाग्रतारूप शुद्ध परिणति और स्वरूप में लीनतारूप शुद्ध अवस्था की प्राप्ति किये बिना। **राग का त्याग...** राग का त्याग **अर्थात् वीतरागी धर्मरूप मोक्ष का उपाय और मोक्ष नहीं मिलता।** वीतरागी धर्मरूप मोक्ष का उपाय नहीं मिलता और इसलिए मोक्ष भी नहीं मिलता। लो! यह ऐसा अर्थ किया। समझ में आया? दोनों त्यागधर्म की व्याख्या में रखा। पहले में ऐसा रखा था निवृत्तिरूप त्यागरूप। उसका लेख लम्बा किया और एक इसमें आत्मा त्यागधर्म का आचरण नहीं करे, उसकी व्याख्या की।

मुमुक्षु : भावार्थ में किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, भावार्थ में। परन्तु वह यथार्थ चाहिए न। त्याग का आचरण न करे अर्थात् क्या? समझ में आया? **जिस प्रकार प्रकाश की उत्पत्ति के बिना अंधेरा नहीं टलता, उसी प्रकार निज शुद्धात्मा के...** आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप ऐसा भगवान, उसके आश्रय बिना निर्मलश्रद्धा, निर्मलज्ञान और स्वरूप में एकाग्रतारूप शुद्धपरिणति से प्राप्ति किये बिना। उसके आश्रय द्वारा जो ऐसा करना चाहिए, वह परिणति प्राप्त किये

बिना राग का त्याग, उसे राग का त्याग, स्वभाव के आश्रय से श्रद्धा, ज्ञान और शुद्धपरिणति प्राप्त किये बिना, राग का त्याग अर्थात् वीतरागी धर्म मोक्ष का उपाय, अर्थात् वीतरागी धर्मरूप मोक्ष का उपाय। **राग का त्याग अर्थात् वीतरागी धर्मरूप मोक्ष का उपाय...** एक **और मोक्ष नहीं मिलता।** दो। कहो, समझ में आया इसमें? यह त्याग की व्याख्या है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : आया। क्या आया? पहला पढ़े... कि देखो! आत्मा त्यागधर्म करे उतना त्याग। परन्तु क्या त्याग? उसकी व्याख्या क्या? ऐई! न्यालचन्दभाई! पहला पढ़कर प्रसन्न हो जाये। प्रेमचन्दभाई कहते हैं। आहा..हा..!

मुमुक्षु : लोग...

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो भगवान कहते हैं, बापू! पर का त्याग भी किसे लागू पड़े? राग का त्याग भी किसे लागू पड़े? कि जिसने आत्मा के स्वाश्रय से श्रद्धा-ज्ञान और शुद्धपरिणति प्राप्त की है, उसे राग का त्याग और उसके निमित्त के अभाव का त्याग उसे कहने में आता है। आहा..हा..! भारी, उल्टी गाड़ी चढ़ी सब।

वस्तु, वह वस्तु की विधि से प्राप्त होगी या कोई दूसरे प्रकार से होती होगी? समझ में आया? राग का अभाव भी कब होता है? जितना वीतरागी आत्मा का आश्रय ले, उतना राग का अभाव होता है। उत्पत्ति नहीं होती। आत्मा के आश्रय से जितनी प्रकाश की—शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उतने अंश में राग की उत्पत्ति नहीं होती और उतने अंश में उस राग के निमित्तरूप छह काय का त्याग किया, ऐसा इसे कहने में आता है परन्तु जिसे यहाँ स्वाश्रय का श्रद्धा-ज्ञान का ठिकाना नहीं, उसे शुद्धपरिणति ही जहाँ नहीं, उसे राग घटा और उसके निमित्त घटाये, उसे व्यवहार से भी—अशुद्धनय से भी लागू नहीं पड़ता। आहा...हा..!

मुमुक्षु : सम्यक्त्व का त्याग हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्यक् होने के बाद यह सब होता है।

मुमुक्षु : सम्यक्त्व का त्याग हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्यक्त्व का त्याग तो अनादि से है। वह तो है। यह सब कहते

हैं कि हमने त्याग किया, तो सम्यक्त्व का त्याग है। सम्यग्दर्शन का त्याग है, मिथ्यादर्शन का ग्रहण है।

मुमुक्षु : धर्म का त्याग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म का त्याग है, अधर्म का ग्रहण है। आहा..हा..! कठिन बात। लोगों को ऐसा लगता है न, मानो ऐसा। कितनों को चोट लगती है। कहे, अर..र! मेरा धर्म। परन्तु तेरा धर्म था कब? तुझे धर्म का तो भान नहीं। समझ में आया इसमें? यह १२८ गाथा हुई। दोनों अच्छी व्याख्या की है, हों! दोनों लेख में राग का त्याग। छपता है न वहाँ? इसमें बराबर छपा नहीं है। क्या कहा?

जबतक यह आत्मा त्याग-धर्म का आचरण नहीं करता है, जबतक उसे मोक्ष नहीं मिल सकता। इसका अर्थ कि त्याग-धर्म का आचरण न करे, तब तक उसका उपाय नहीं होगा। उपाय होगा नहीं, इसलिए मोक्ष मिलेगा नहीं। अब इसका उपाय होगा नहीं अर्थात् क्या? कि आत्मा अपने शुद्ध आनन्दस्वरूप की अन्तर में स्वाश्रय के बल से श्रद्धा-ज्ञान और शुद्धपरिणति की प्राप्ति नहीं करे, तब तक उसका राग का त्याग नहीं होगा। राग का त्याग होगा नहीं अर्थात् शुद्धपरिणतिरूप उपाय-मोक्ष का मार्ग नहीं होगा और मोक्ष का मार्ग हुए बिना, उसे मोक्ष नहीं मिलेगा।

मुमुक्षु : कुछ नहीं, न मिले तो, परन्तु धर्म तो होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : अधर्म होता है। कहो, समझ में आया इसमें? दोनों त्याग में अर्थ अच्छा किया है। १२९ लो! १२८ हुई। एक गाथा में यह सब हुआ, हों! अर्थ में और लेख में ऐसा (लिखा है)।

मुमुक्षु : परिग्रह की बात।

पूज्य गुरुदेवश्री : परिग्रह की। लोग बाह्य का परिग्रह छोड़े, उतना निवृत्ति तत्त्व है ऐसा आवे। त्यागधर्म है, त्यागधर्म। परन्तु त्याग क्या? त्यागरूप आत्मा है, इसलिए जितना बाह्य त्याग करे। परन्तु उसका अर्थ क्या?

मुमुक्षु : विकार के त्यागरूप है या धर्म के त्यागरूप है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो विकार के त्यागरूप है, वह तो यथार्थरूप और बाह्य के

त्यागरूप तो त्रिकाल है ही, वह ऐसा का ऐसा। वह विकार एक समय की पर्याय में है, अस्ति है। उसे स्वभाव के भाव में नहीं। और वह तो एक समय की पर्याय में यह शरीर, कर्म या परद्रव्य तो है ही नहीं। पर का त्याग है, उसका त्याग, उसका अर्थ कि ग्रहण किया, वह मिथ्यादृष्टि हुई। अब राग का त्याग करूँ, वह भी पर्यायदृष्टि होती है, तब होता है। यह राग है, इसे छोड़ूँ, इसका अर्थ क्या हुआ? ऐसे छूटे? राग का अभाव - जिसमें राग नहीं —ऐसे आत्मा का आश्रय करे, तब निर्मल दशा हो, उतना प्रकाश होने पर, राग का अन्धकार उत्पन्न नहीं होता। यह इसे शुद्धनय से ऐसा कहा जाता है कि इसने राग का त्याग किया और इसे निमित्त का त्याग असद्भूतव्यवहारनय से (किया कहलाता है)। समझ में आया? लो! यह मुम्बई में भी पढ़ते हैं, चुनीभाई पहले, हों! चिमनभाई खबर है या नहीं? पहले इनने शुरु किया है, सबसे पहले इनने शुरु किया था। नहीं, हिम्मतभाई? भले इन्हें थोड़ा बहुत साधारण जानते हों। मुम्बई में चुनीभाई ने यही पढ़ना शुरु किया था।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : मुझे खबर है। सबसे पहले मुम्बई में इनने ही शुरु किया। थोड़ा पढ़ने का शुरु करो। जो आवे वह। फिर इतनी जवाबदारी बाद में आवे या नहीं? चिमनभाई! सुनने की आवे लो न! इतना सुनने का तो समय लेना ही पड़े? आहा..हा..! वस्तु वह वस्तु! परमेश्वर का मार्ग जगत को सुनने को नहीं मिला और कुमार्ग को मार्ग मानकर बैठा है। अब इसका छुटकारा कहाँ आवे? आहा..!

एक तालाब में उतरना हो तो उसकी सीढ़ियों का किनारा हो उतरने में। उस किनारे से उतरे तो पानी में पानी पीने जाये। समझ में आया? यह तो उस लड़के ने प्रश्न किया तब मस्तिष्क में आया। परन्तु उसे समझ में नहीं आया कहा यह। नहीं तो कहे भाई! मुझे सिद्ध भगवान होना तो करना क्या? मुझे तो ऐसा कहना था कि आत्मा में उतर जा। उतर जा, वह नहीं समझे। कहा। इसमें उतर जा क्योंकि इसमें मोक्ष है, इसमें उतर जा, सिद्ध हो जायेगा, जा। आत्मा को जान, ऐसा कहा।

एक बड़ा तालाब हो और चारों ओर उसके बड़े पत्थर की सीढ़ियों के किनारे से उतरा जाये या नहीं? पहले में तो जमीन-बमीन चिकनी हो तो फिसल जाये पानी में। पानी इतना अधिक हो न, देखो न! अपना भाई डूब गया या नहीं? वह तो और पत्थर से था

बेचारा। धीरुभाई जामनगर। वह पानी पीने गया तो पैर गया, हो गया। कान्तिभाई थे न? तो फिर पानी उसमें बहुत भरा, परन्तु दस-दस सिरभर, बीस-बीस सिरभर हो। वहाँ भी कोई बावन फीट कहते थे। इतना पानी था। देखने गये, तब थोड़ा था। अब उसमें तैरना आवे नहीं और वे पत्थर के थे, ऐसे पैर फिसला हो गया। जाना मरना था। ऐसे हाथ मारे न, वहाँ क्या छुये? कहाँ छुये? हो गया, जाओ।

इसी प्रकार मार्ग में उतरे बिना, तालाब का जो रास्ता है सरीखा, उसका किनारे का सीढ़ियों का, हों! उसमें से उतरे और पहले तो चिकनी मिट्टी, काली हो। ऐसी चिकनी और उतरने जाये और यह वर्षा आयी, जाये नीचे चला। इसी प्रकार आत्मा को उतरने का किनारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान द्वारा अन्दर आत्मा में उतरा जाये ऐसा है। इसके (बिना) उतरा जाये, ऐसा नहीं है। आहा..हा..! समझ में आया? बहुतों को खबर भी नहीं होती, सुनने को नहीं मिलता।

वास्तविक तत्त्व का ठोस ऐसा और यही मार्ग है, इसके बिना विश्वास में जब तक सुनने का विश्वास करने न मिले, यह विश्वास करे कब और अन्तर में उतरे कब? उतरे बिना पर का त्याग है, ऐसा सच्चा कहा नहीं जाता। कहो, नौवें ग्रैवेयक गया, नग्न मुनि हुआ, दिगम्बर साधु (होकर) दीक्षा ली परन्तु वह दया, दान का शुभराग था न? वह मेरा धर्म है, उस पुण्य को धर्म माना था और शरीर की क्रिया होती है, वह मैं हूँ तो शरीरादि चलता है। यह दया पाले, इस शरीर को... ऐसा अव्यक्तरूप से, ऐसे सीधे तो न हो, हों! ग्यारह अंग और नौ पूर्व पढ़ा हुआ है परन्तु ऐसे नहीं, इसलिए उनमें कहीं अटका है, ऐसा उनका कहने का आशय है। ऐसे राग में अटका है और ऐसे अजीव की पर्याय पूरे द्रव्य में से, उसकी पर्याय में अटका और पूरा द्रव्य वस्तु क्या है और यहाँ से अटका। शरीर की क्रिया मुझसे होती है, राग है, वह धर्म है—ऐसा मानकर हजारों रानी छोड़कर त्यागी हुआ परन्तु मिथ्यादृष्टि रहा।

मुमुक्षु : मिथ्यात्व के त्याग की भूल....

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यात्व का अभाव कैसे करना, उसकी खबर नहीं होती और बाह्य के त्याग से माना कि हमने त्याग किया है। मिथ्यात्व की पुष्टि होती है। ऐसा है। १२८ हुई, १२९।

गाथा - १२९

रात्रि भोजन त्याग का वर्णन

रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा।
हिंसाविरतैस्तस्मात् त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि।।१२९।।

है सुनिश्चित हिंसा उसे, जो रात में भोजन करे।
अतएव हिंसा विरत है तो, रात-भोजन छोड़ दे।।१२९।।

अन्वयार्थ : (यस्मात्) कारण कि (रात्रौ) रात में (भुञ्जानानां) भोजन करनेवाले को (हिंसा) हिंसा (अनिवारिता) अनिवार्य (भवति) होती है (तस्मात्) इसलिए (हिंसाविरतैः) हिंसा के त्यागियों को (रात्रिभुक्तिः अपि) रात्रिभोजन का भी (त्यक्तव्या) त्याग करना चाहिए।

टीका : 'यस्मात् रात्रौ भुञ्जानानां अनिवारिता हिंसा भवति तस्मात् हिंसाविरतैः रात्रिभुक्तिः अपि त्यक्तव्याः' - अर्थ :- रात में भोजन करनेवाले को हिंसा अवश्य ही होती है क्योंकि रात्रिभोजन में हिंसा का निवारण किसी भी प्रकार नहीं हो सकता, अतः हिंसा के त्यागियों को रात्रिभोजन का त्याग अवश्य ही करना चाहिए।

भावार्थ : रात्रि में भोजन करने से जीवों की हिंसा अवश्य ही होती है। प्रायः ऐसे छोटे-छोटे बहुत जीव हैं, जो रात में ही गमन करते हैं और दीपक के प्रकाश के प्रेम से दीपक के पास आते हैं, अतः रात में चूल्हा जलाने में, पानी आदि भरने में, चक्की से पीसने में, भोजन बनाने में नियम से असंख्य जीवों की हिंसा होती है, इसलिए हिंसा का त्याग करनेवाले दयालु पुरुषों को रात में खाने का अवश्य ही त्याग करना चाहिए।।१२९।।

गाथा १२९ पर प्रवचन

अब, रात्रि भोजन त्याग का वर्णन

रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा।
हिंसाविरतैस्तस्मात् त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि।।१२९।।

धर्मी जीव को सम्यग्दर्शन के भानसहित, ज्ञानसहित रात्रिभोजन का राग छोड़ना, रात्रिभोजन का राग छोड़ना। रात्रिभोजन में बड़ा पाप है। **कारण कि रात में भोजन करनेवाले को हिंसा अनिवार्य होती है...** हिंसा हुए बिना नहीं रहती। दीपक का उजाला हो तो उस प्रकार के बारीक जीव खिचड़ी में, कढ़ी में, पानी में गिरते हैं, वह हिंसा हुए बिना नहीं रहती। समझ में आया? **अनिवार्य होती है, इसलिए 'विरतैः' हिंसा के त्यागियों को रात्रिभोजन का भी त्याग करना चाहिए।** देखो! स्पष्टीकरण।

टीका : रात में भोजन करनेवाले को हिंसा अवश्य ही होती है क्योंकि रात्रिभोजन में हिंसा का निवारण किसी भी प्रकार नहीं हो सकता, अतः हिंसा के त्यागियों को रात्रिभोजन का त्याग अवश्य ही करना चाहिए।

भावार्थ : रात्रि में भोजन करने से जीवों की हिंसा अवश्य ही होती है। प्रायः ऐसे छोटे-छोटे बहुत जीव हैं, जो रात में ही गमन करते हैं... देखा? बारीक ऐसे होते हैं, जो रात्रि में जब सर्दी पड़े न, अन्दर तब चले, तब ही उसके उस रोटी में, गर्म दाल-भात में, कोई सब्जी बनायी हो, हलुआ बनाया हो, उसमें बारीक जन्तु गिरते हैं और खावे, वह माँस है साथ में। **प्रायः ऐसे छोटे-छोटे बहुत जीव हैं, जो रात में ही गमन करते हैं...** ऐसा कहते हैं। **और दीपक के प्रकाश के प्रेम से...** दूसरा बोल। **दीपक के पास आते हैं,...** एक तो यह... और दीपक जो होता है और दीपक के बिना तो अन्धकार में तो खाने बैठे नहीं। दीपक हो, वहाँ उसके प्रकाश के प्रेम से ही पास में आते हैं, बारीक आते हैं और यहाँ वह खाता हो, बारीक आवें तो गिरें उसमें। कढ़ी हो, चावल और दाल हो, खिचड़ी हो, दूध-पाक हो, खीर हो, लो न! आहा..हा..! छिपकली मर गयी। जेतपुर में कहीं। कहीं दूध-पाक था। कितनों ने ही खायी तो उल्टी.. राजकोट में बनेचन्दभाई को बहू हुई थी। हमारे 'शिवलाल' था, उसने भी खाया था। परन्तु उसने बहुत थोड़ा खाया था। सब रात्रि को खोजने आये। कैसे हैं? भाई! यहाँ कुछ नहीं। शिवलाल वहाँ खाने गया था। खीमचन्दभाई के यहाँ कहीं था?

मुमुक्षु : नरभेरामभाई के यहाँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : नरभेरामभाई को। कितने ऐसे... समझे न? बनेचन्द को तो ऐसे

मरने जैसा हो गया। इतनी उल्टी। रात्रि में उसमें छिपकली या कुछ गिरा होगा। वास्तव में तो रात्रि का बनाया हुआ भी खाना नहीं चाहिए। रात्रि के बनाये हुए में जो बारीक जीव होते हैं, वे दीपक के उजाले में वहाँ आते हैं, मरते हैं, त्रस मरते हैं त्रस। **अतः रात में चूल्हा जलाने में,...** है न? **पानी आदि भरने में,...** लो! चार बोल है। चूल्हा सुलगाना, पानी आदि भरना, पानी आदि, दूध आदि ऐसे भरते हैं और डालते हैं ऐसे? यह वापिस ऐसा डाले, उसमें डाले वहाँ बीच में जीव आ जाये दूध में। **चक्की से पीसने में, भोजन बनाने में नियम से असंख्य जीवों की हिंसा होती है...** असंख्य अर्थात् बहुत।

मुमुक्षु : दलने का तो सबेरे में ही होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : रात्रि में ही होता है, चार बजे उठकर। रात्रि में उठकर अन्धेरे में दलते हैं। उसमें क्या आवे कितने जीव....

इसलिए हिंसा का त्याग करनेवाले दयालु पुरुषों को रात में खाने का अवश्य ही त्याग करना चाहिए। रात्रि का आहार तो उसे होता ही नहीं। माँस जैसा अन्दर आहार जीवांत। यह सम्यग्दर्शन के भानसहित, आत्मा के आश्रयसहित, इस रात्रिभोजन का भाव घटाना, छोड़ना-ऐसा यहाँ कहने में आता है। अकेले भानरहित रात्रि में खाते नहीं, उन्हें मिथ्यात्वसहित का कोई पुण्य बँधता है। पुण्य, मिथ्यात्वसहित। उसे कुछ आत्मा का लाभ नहीं होता। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

अहो! जिसे अपनी आत्मा का...

अहो! जिसे अपनी आत्मा का संसार से उद्धार करना है, उसे संसार से उद्धार करने का मार्ग बतानेवाले देव-गुरु-धर्म के प्रति परम उल्लास आता है। जो भव से पार हो गये, उनके प्रति उल्लास से राग घटाकर स्वयं भी भव से पार होने के मार्ग में आगे बढ़ता है। जो जीव, संसार से पार होने का इच्छुक होवे, उसे कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र के प्रति प्रेम आता ही नहीं, क्योंकि उनके प्रति प्रेम तो संसार का ही कारण है।

(—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

गाथा - १३०

रात्रिभोजन में भावहिंसा भी होती है-

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसाम्।
रात्रिं दिवमाहरतः कथं हि हिंसा न संभवति।।१३०।।

रागादि भावों की अधिकता, से नहीं त्यागे सदा।
अतएव निशिदिन करे भोजन, महा हिंसा सर्वदा।।१३०।।

अन्वयार्थ : (अनिवृत्तिः) अत्यागभाव (रागाद्युदयपरत्वात्) रागादिभावों के उदय की उत्कटता से (हिंसां) हिंसा को (न अतिवर्तते) उल्लंघन करके नहीं प्रवर्तते तो (रात्रिं दिवम्) रात और दिन (आहारतः) आहार करनेवाले को (हि) निश्चय से (हिंसा) हिंसा (कथं) क्यों (न संभवति) नहीं संभव होगी?

टीका : 'रागादिउदयपरत्वात् अनिवृत्तिः अत्यागः हिंसां न अतिवर्तते यतः रात्रिं दिवम् आहारतः-भुञ्जानस्य हि हिंसा कथं न संभवति? - अपितु संभवति एव' - अर्थ :- रागादिभाव उत्कृष्ट होने के कारण रागादि का अत्यागपना हिंसा का उल्लंघन नहीं कर सकता। (अर्थात् जहाँ जीव के उत्कृष्ट रागभाव होता है, वहाँ त्याग नहीं हो सकता-रागभाव ही हिंसा है); अतः जहाँ तक रागादि का त्याग नहीं है, वहाँ तक अहिंसा नहीं है, अपितु हिंसा ही है। तो फिर रात-दिन खानेवाले को हिंसा क्यों न हो? नियम से होती ही है। रागादि का होना ही वास्तविक हिंसा का लक्षण है।।१३०।।

प्रवचन नं. ५६ गाथा-१३० से १३५ शनिवार, आषाढ़ शुक्ल १, दिनांक ०८.०७.१९६७

यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसहित चारित्र का पालन करना, यह अधिकार चलता है। उसमें देशव्रत का अधिकार चलता है। उसमें पाँच अणुव्रत की बात आ गयी। रात्रिभोजन के त्याग की बात चलती है। **रात्रिभोजन में भावहिंसा भी होती है...** १३०

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसाम्।
रात्रिं दिवमाहरतः कथं हि हिंसा न संभवति।।१३०।।

अत्यागभाव... अर्थात् **'अनिवृत्तिः'** जिसे **रागादिभावों के उदय की उत्कटता से...** हिंसा का त्याग नहीं, जिसे रात्रिभोजन का त्याग नहीं, उसे **हिंसा को उल्लंघन करके नहीं प्रवर्तते...** वह रात्रिभोजन, उसमें हिंसा को उल्लंघकर नहीं वर्तता, रात्रिभोजन में हिंसा है। रात्रि में आहार करने में हिंसा है। **तो रात और दिन आहार करनेवाले को निश्चय से हिंसा क्यों नहीं संभव होगी?** तो रात और दिन जहाँ-तहाँ खाना, खाना.. खाना.. खाना.. रात्रि में खाना, दिन में खाना, सन्ध्या में खाना, सबेरे खाना, रात-दिन आहार करे, उसे हिंसा क्यों नहीं होगी?

टीका : 'रागादिउदयपरत्वात् अनिवृत्तिः अत्यागः' इसका अर्थ उसमें कहीं विशेष किया, नहीं? अनिवृत्ति अर्थात् अत्याग। **'हिंसां न अतिवर्तते यतः रात्रिं दिवम् आहारतः-भुञ्जानस्य हि हिंसा कथं न संभवति? - अपितु संभवति एव'** मिलान किया है। **रागादिभाव उत्कृष्ट होने के कारण रागादि का अत्यागपना हिंसा का उल्लंघन नहीं कर सकता।** राग का त्याग नहीं वहाँ हिंसा का उल्लंघन नहीं हो सकता। हिंसा ही होती है **अर्थात् जहाँ तक रागादि का त्याग नहीं है, वहाँ तक अहिंसा नहीं है, अपितु अहिंसा ही है। तो फिर रात-दिन खानेवाले को हिंसा क्यों न हो?** रात और दिन खाये, उसे हिंसा क्यों नहीं होगी? **नियम से होती ही है। रागादि का होना ही वास्तविक हिंसा का लक्षण है।** समझ में आया?

गाथा - १३१

शंकाकार की शंका

यद्येवं तर्हि दिवा कर्त्तव्यो भोजनस्य परिहारः।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा।।१३१।।

है यदि ऐसा छोड़ दिन, भोजन करेंगे रात में।
भोजन सदा हिंसा नहीं, होगी इसी से तर्क ये।।१३१।।

अन्वयार्थ : (यदि एवं) यदि ऐसा है अर्थात् सदाकाल भोजन करने में हिंसा है (तर्हि) तो (दिवा भोजनस्य) दिन में भोजन करने का (परिहारः) त्याग (कर्त्तव्यः) कर देना चाहिये (तु) और (निशायां) रात में (भोक्तव्यं) भोजन करना चाहिये क्योंकि (इत्थं) इस तरह से (हिंसा) हिंसा (नित्यं) सदाकाल (न भवति) नहीं होगी।

टीका : 'यदि एवं तर्हि दिवा भोजनस्य परिहारः कर्त्तव्यः तु निशायां भोक्तव्यं इत्थं नित्यं हिंसा न भवति' – अर्थ :– यहाँ कोई तर्क करता है कि दिन और रात दोनों समय भोजन करने से हिंसा होती है तो दिन में भोजन का त्याग करके रात में ही भोजन ग्रहण करना चाहिए जिससे सदाकाल हिंसा न हो। ऐसा ही नियम किसलिए बनाया कि दिन में ही भोजन किया जाय और रात में न किया जाय?।।१३१।।

गाथा १३१ पर प्रवचन

तब **शंकाकार की शंका** रात, दिन न खाये। सदा ही खाने का तो एक समय न खाना एक दिन, रात्रि में खाना, दिन में न खाना, तो क्या बाधा है? ऐसा कहते हैं। शंकाकार की शंका है। रात-दिन न खाना, सदा न खाना, दिन में नहीं खाना, बस! सदा न खाना, परन्तु दिन में न खाना, रात्रि में खाना। रोजा करते हैं न मुसलमान? दिन में नहीं खाते, रात्रि में खाते हैं। हमेशा नहीं (खाना) आहार-पानी हमेशा नहीं करना। हमेशा रात्रि में करना, दिन में नहीं करना तो उसमें हमेशा नहीं, इतना बच गया न? ऐसा।

यद्येवं तर्हि दिवा कर्त्तव्यो भोजनस्य परिहारः।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा।।१३१।।

हमेशा आहार नहीं करना, दिन में छोड़ देना। इस कारण सदा हिंसा नहीं होगी। रात और दिन खाने से हिंसा है न, तो दिन में आहार छोड़ देना, रात्रि में खाना तो सदा हिंसा नहीं होगी, ऐसी शंकाकार की शंका है। इतना भाग तो टला न, बस!

मुमुक्षु : यह उसका तर्क है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तर्क है और तर्क तो होगा या नहीं उसका?

यदि ऐसा है अर्थात् सदाकाल भोजन करने में हिंसा है... 'सदाकाल', वजन

यहाँ है **तो दिन में भोजन करने का त्याग कर देना चाहिये और रात में भोजन करना चाहिये...** लो! सदाकाल नहीं हुआ। **क्योंकि इस तरह से हिंसा सदाकाल नहीं होगी।** नित्य नहीं होगी, नित्य नहीं होगी। एक भाग बच गया। दिन में आहार करना बच गया और रात्रि में करना। उसमें बाधा क्या है? - ऐसा पूछता है, हों!

'यदि एवं तर्हि दिवा भोजनस्य परिहारः कर्त्तव्यः तु निशायां भोक्तव्यं इत्थं नित्यं हिंसा न भवति' - अर्थ :- यहाँ कोई तर्क करता है कि दिन और रात दोनों समय भोजन करने से हिंसा होती है तो दिन में भोजन का त्याग करके रात में ही भोजन ग्रहण करना चाहिए जिससे सदाकाल हिंसा न हो।... क्योंकि पूरे दिन धन्धा हो और निवृत्ति हो, तब फिर रात्रि में खाना। ऐसे शाम तक दिन का काम हो। छोड़ना है न? कितने ही ऐसे ही होते हैं कि, शाम को, रात्रि को ही खाते हैं। महापाप है रात्रि में तो। हिंसा, अकेले माँस के खाने जैसा पाप है। काम होवे न दिन में। दिन में आहार नहीं करे, रात्रि में फिर निवृत्ति हो, रात्रि में खाये। बच जाये न, सदा की हिंसा बच जाये न? सदा की नहीं, एक भाग बाकी रह गया न? दिन में आहार छोड़ दिया, इतना त्याग हो गया या नहीं? **आचार्य उसका उत्तर देते हैं...** समझ में आया? **ऐसा ही नियम किसलिए बनाया कि दिन में ही भोजन किया जाय और रात में न किया जाय?।** ऐसा शंकाकार (पूछता है) ऐसा किसलिए नियम करना कि रात्रि में (भोजन) नहीं करना और दिन में आहार करना?

गाथा - १३२

आचार्य उसका उत्तर देते हैं:-

नैवं वासरभुक्तेर्भवति हि रागोऽधिको रजनिभुक्तौ।
अन्नकवलस्य भुक्तेर्भुक्ताविव मांसकवलस्य।।१३२।।

ऐसा नहीं, ज्यों अन्नभोजन, से कहा है माँस में।
अति तीव्र राग कहा दिवस से, अधिक है निशिभोज में।।१३२।।

अन्वयार्थ : (एवं न) ऐसा नहीं है कारण कि (अन्नकवलस्य) अन्न के ग्रास के (भुक्तेः) भोजन से (मांसकवलस्य) माँस के ग्रास के (भुक्तौ इव) भोजन में जिस प्रकार राग अधिक होता है उसी प्रकार (वासरभुक्तेः) दिन के भोजन की अपेक्षा (रजनिभुक्तौ) रात्रिभोजन में (हि) निश्चय से (रागाधिकः) अधिक राग (भवति) होता है।

टीका : 'हि रजनिभुक्तौ अधिकः रागः भवति वासरभुक्ते एवं न भवति यथा अन्नकवलस्य भुक्तौ मांसकवलस्य भुक्तौ इव' - अर्थ :- निश्चय से रात्रि भोजन करने में अधिक रागभाव है और दिन में भोजन करने में कम रागभाव है। जैसे अन्न के भोजन में कम रागभाव है और माँस के भोजन में अधिक रागभाव है।

भावार्थ : उदर भरने की अपेक्षा तो दोनों भोजन समान हैं। परन्तु प्रत्येक प्राणी को अन्न, दूध, घी, इत्यादि खाने में तो साधारण रागभाव है अर्थात् न्यून लोलुपता है क्योंकि अन्न का आहार तो सर्व मनुष्यों को सहज ही है इसलिए प्रायः अधिक प्राणी तो अन्न का ही भोजन करते हैं, तथा मांस के भोजन में कामादिक की अपेक्षा अथवा शरीर के स्नेह-मोह की अपेक्षा विशेष रागभाव होता है क्योंकि माँस का भोजन सभी मनुष्यों का स्वाभाविक-प्राकृतिक आहार नहीं है। उसी तरह दिन के भोजन में प्राय- सभी प्राणियों को साधारण रागभाव है क्योंकि दिवा-भोजन सर्व प्राणियों को होता है, तथा रात के भोजन में कामादिक की अपेक्षा तथा शरीर में अधिक स्नेह की अपेक्षा अधिक रागभाव है; इसलिए रात का भोजन बहुत कम मनुष्यों के होता है। यह स्वाभाविक बात है कि दिन में भोजन करने से जितनी अच्छी तरह से पाचन होता है और जितना अच्छा स्वास्थ्य रहता है, उतना रात में खाने से कभी नहीं रह सकता, इसलिए रात्रि भोजन का त्याग करना चाहिए और दिन में ही भोजन करना चाहिए। इस प्रकार शंकाकार की शंका का निराकरण हुआ।।१३२।।

गाथा १३२ पर प्रवचन

आचार्य उसका उत्तर देते हैं:-

नैवं वासरभुक्तेर्भवति हि रागोऽधिको रजनिभुक्तौ।
अन्नकवलस्य भुक्तेर्भुक्ताविव मांसकवलस्य।।१३२।।

दृष्टान्त दिया, देखो! दिन और रात्रि के भोजन में... **कारण कि अन्न के ग्रास के भोजन से...** अन्न का ग्रास खाये, उससे **माँस के ग्रास के भोजन में जिस प्रकार राग अधिक होता है...** ऐसा है यहाँ, देखो! आहार खाये, उसके समय का राग थोड़ा है और भोजन के समय का राग माँस के खाने में तीव्र राग है। यह दिन और रात्रि में मिलाया, माँस के भोजन में जैसे राग अधिक है। **उसी प्रकार दिन के भोजन की अपेक्षा रात्रिभोजन में निश्चय से अधिक राग होता है।** रात्रि में खाने में तीव्र राग है, महाहिंसा है। समझ में आया?

'हि रजनिभुक्तौ अधिकः रागः भवति वासरभुक्ते एवं न भवति यथा अन्नकवलस्य भुक्तौ मांसकवलस्य भुक्तौ इव' ऐसा दृष्टान्त (दिया)। **निश्चय से रात्रि भोजन करने में अधिक रागभाव है और दिन में भोजन करने में कम रागभाव है। जैसे अन्न के भोजन में कम रागभाव है और माँस के भोजन में अधिक रागभाव है।** लोग ऐसा कहते हैं कि माँस का इसे असर पड़े, ऐसा नहीं। परन्तु माँस खाने के भाव ही तीव्र राग और महापाप है। समझ में आया? माँस तो परद्रव्य है, उसका प्रभाव इस पर पड़े? अपना वह खाने का भाव होता है, वही महातीव्र पाप है। इसी प्रकार दिन की अपेक्षा रात्रि में खाने का भाव तीव्र राग है, पाप है, हिंसा बहुत है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **अन्न के भोजन में कम रागभाव है और माँस के भोजन में अधिक रागभाव है।**

भावार्थ : उदर भरने की अपेक्षा तो दोनों भोजन समान हैं। कौन दो? अनाज और माँस, अनाज और माँस। **उदर भरने की अपेक्षा तो दोनों भोजन समान हैं। परन्तु प्रत्येक प्राणी को अन्न, दूध, घी, इत्यादि खाने में तो साधारण रागभाव है...** ऐसा कहते हैं। उस अन्न को माँस के साथ मिलान करते हैं, हों! इसी प्रकार दिन और रात्रि। **अन्न, दूध, घी, इत्यादि खाने में तो साधारण रागभाव है अर्थात् न्यून लोलुपता है...** क्योंकि साधारण जगत में होता है। **क्योंकि अन्न का आहार तो सर्व मनुष्यों को...** सहजता से मिलता है। **सहज ही है, इसलिए प्रायः अधिक प्राणी तो अन्न का ही भोजन करते हैं,...** बहुत जीवों को तो अन्न का ही आहार होता है। समझ में आया? अन्न का भोजन। **तथा माँस के भोजन में...** माँस का भोजन करनेवाले को इच्छादि की

अपेक्षा से महातीव्र इच्छा है, ऐसा कहते हैं। ऐसा है और राग मिलाना, माँस यहाँ रखना, उसमें तीव्र राग है, उसे महागृद्धि है।

माँसादि के भोजन में कामादिक की (इच्छादि की) अपेक्षा अथवा शरीर के स्नेह-मोह की अपेक्षा... लो! माँस खाने के भाव में शरीर का मोह तीव्र है और इच्छा भी तीव्र है। इच्छा तीव्र है और खाने का भाव भी, मोह बड़ा तीव्र है। **विशेष रागभाव होता है क्योंकि माँस का भोजन सभी मनुष्यों का स्वाभाविक-प्राकृतिक आहार नहीं है।** वह आहार कहीं सबको प्राकृतिक नहीं है। सबको माँस का स्वाभाविक (आहार नहीं है)। स्वाभाविक तो अनाज का (आहार) होता है, साधारण को तो। इसलिए माँस की इच्छा हो, उसे इच्छा भी बहुत है और गृद्धि भी बहुत है। खाने की गृद्धि भी बहुत है, महापाप है, ऐसा कहते हैं। यह दिन और रात के साथ मिलान (तुलना) करते हैं।

उसी तरह दिन के भोजन में प्राय- सभी प्राणियों को साधारण रागभाव है... दिन के आहार में साधारण रागभाव होता है **क्योंकि दिवा-भोजन सर्व प्राणियों को होता है, तथा रात के भोजन में कामादिक की अपेक्षा...** काम अर्थात् इच्छा, बहुत इच्छा। उसे रात्रि में ऐसा करना... ऐसा करना... ऐसा करना... **शरीर में अधिक स्नेह की अपेक्षा...** दो। **अधिक रागभाव है...** कितने ही रात्रि में ही खाते हैं, दिन में कम खाते हैं। आठ बजने के बाद ही खाने का निश्चित किया होता है।

मुमुक्षु : फुरसत ही तब मिलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए उसे निवृत्ति हो, दिन के काम-काज हों, नामा-वामा लिखना हो, फिर निवृत्त हो, (तब) आठ बजे खाये। महाहिंसा, महापाप है। **इसलिए रात का भोजन बहुत कम मनुष्यों के होता है।** ऐसा कहते हैं, देखा? जैसे माँस कम, उस अपेक्षा से बात है। अनाज के खानेवालों की अपेक्षा माँस के खानेवाले कम होते हैं। नहीं तो मूल तो ऐसा है कि माँस तो किसी को ही होता है। समझ में आया? अनाज के खानेवालों की अपेक्षा से माँस के खानेवाले थोड़े होते हैं। इसी प्रकार दिन में खानेवालों की अपेक्षा से रात्रि में खानेवाले थोड़े होते हैं। समझ में आया? **यह स्वाभाविक बात है...** इस अपेक्षा से तुलना करते हैं। समझ में आया या नहीं? **कि दिन में भोजन करने से**

जितनी अच्छी तरह से पाचन होता है... यह तो ठीक, थोड़ी व्यवहार की बात डाली है। **और जितना अच्छा स्वास्थ्य रहता है, उतना रात में खाने से कभी नहीं रह सकता,...** इसे कुछ सम्बन्ध नहीं वास्तव में तो।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं लाभ नहीं, उसका ले! आया अब। वह यहाँ से जरा अर्थ में थोड़ा खड़क खाते हैं। यह तो बात करते हैं।

जितना अच्छा स्वास्थ्य रहता है, उतना रात में खाने से कभी नहीं रह सकता, इसलिए रात्रि भोजन का त्याग करना चाहिए... उस हिंसा के कारण त्याग करना चाहिए, हों! शरीर की स्वास्थ्यता रहेगी, इस कारण बात नहीं है। यह तो निमित्त से बात है। **दिन में ही भोजन करना चाहिए।** यह तो अपेक्षा से बात की है, बाकी दिन में खाना। वह रात्रि में खाने में महापाप है, दिन में खाने में थोड़ा पाप है। पाप तो है, दोनों में। **इस प्रकार शंकाकार की शंका का निराकरण हुआ।**

गाथा - १३३

रात्रिभोजन में द्रव्यहिंसा

अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसाम्।
अपि बोधितः प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम्।।१३३।।

आलोक रवि बिन प्रज्वलित, दीपक में मिलते भोज्य में।
सम्मूर्छनों की महा हिंसा, से कहो कैसे बचें?।।१३३।।

अन्वयार्थ : तथा (अर्कालोकेन विना) सूर्य के प्रकाश बिना रात में (भुञ्जानः) भोजन करनेवाला मनुष्य (बोधितः प्रदीपे) जलते हुए दीपक में (अपि) भी (भोज्यजुषां) भोजन में मिले हुए (सूक्ष्मजीवानाम्) सूक्ष्म जीवों की (हिंसा) हिंसा (कथं) किस तरह (परिहरेत्) टाल सकता है?

टीका : 'बोधित प्रदीपे अपि अर्कालोकेन विना भुञ्जानः भोज्यजुषां सूक्ष्मजंतूनाम्

हिंसां कथं परिहरेत्' - अर्थ :- रात में दीपक जलाने पर भी सूर्य के प्रकाश के बिना रात्रि में भोजन करनेवाला पुरुष, भोजन में प्रीति रखनेवाले सूक्ष्म जन्तु वगैरह हैं उनकी हिंसा से नहीं बच सकता।

भावार्थ : रात्रि में बिना दीपक जलाये तो पुरुष भोजन करता है उसके आहार में तो बड़े-बड़े चूहा-छिपकली आदि जीव भी पड़ जावें तब भी उसका पता नहीं चलता और यदि दीपक जलाकर सावधानी भी वर्ती जाय तो भी उसके भोजन में दीपक के सम्बन्ध से तथा भोज्य-पदार्थ के सम्बन्ध से आनेवाले छोटे-छोटे पतंगे तथा मच्छर आदि अवश्य गिरते हैं और उनकी हिंसा भी अवश्यम्भावी है। इससे यह सिद्ध हुआ कि रात्रि-भोजी मनुष्य द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की हिंसाओं से बच नहीं सकता। अतः अहिंसाव्रत पालन करनेवाले को रात्रिभोजन अवश्य त्याग देना चाहिए। जो मनुष्य रात्रि को सिंगाड़ा आदि की पकोड़ी पूड़ी आदि ला करके या बना करके खाते हैं, वे भी दोनों प्रकार की हिंसा करते हैं।।१३३।।

गाथा १३३ पर प्रवचन

अब, **रात्रिभोजन में द्रव्यहिंसा..** की व्याख्या सिद्ध करते हैं। भाव रागादि तो हैं। रात्रि में खाने में तीव्र राग है, इसलिए हिंसा है। इसलिए इसे त्याग करना चाहिए। कहो, समझ में आया?

अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसाम्।
अपि बोधितः प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम्।।१३३।।

सूर्य के प्रकाश बिना रात में भोजन करनेवाला... रात्रि में भोजन करते हैं, शीघ्रता से लाओ, तुरन्त लाओ। खिचड़ी लाओ, कढ़ी लाओ, यह लाओ, दही लाओ, दूध लाओ, लाओ, लाओ, खा लेवें, शीघ्र खा लेवें, तुरन्त खा लेवें। पाव घण्टे में खाकर वापिस काम करने जाना हो। बहुत ऐसे लोहवाटिया पापी होते हैं न? पूरे दिन पाप की मजदूरी की हो और फिर रात्रि में तुरन्त, तुरन्त लाओ, तुरन्त लाओ। यह खिचड़ी, कढ़ी और दूध और दही महा जीवांत के ढेर अन्दर पड़े। यदि प्रकाश, दीपक निकट हो तो बहुत पड़ते हैं, दूर

होवे तो अन्धेरा रहता है। जीवांत... जीवांत... त्रस पड़ते हैं, पतंगे-कीड़े-मकोड़े, जीवांत, कंथवा। क्योंकि दिन में तो वह सब बारीक जीवांत कहीं गन्दगी में या किसी स्थान में बैठे हों और जहाँ रात्रि पड़ी, दीपक के प्रकाश का उजाला हुआ, वहाँ उड़-उड़कर आते हैं, बारीक।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं आते ठीक। अरे! बारीक आते हैं बारीक। नहीं आवें - ऐसा होता है? इसे भान भी नहीं इसका। सूर्य के प्रकाश में (न आवे ऐसी) उस तरह की जीवांत आती है। बारीक कहीं पड़े होते हैं न? क्या कहलाता है? कचरा, कौने में। यह कौना होता है न, वहाँ बारीक जीवांत भरी (होती है)। वह जहाँ प्रकाश आवे तो संचरण करती है, एकदम वहाँ से उड़ती है; उड़कर यहाँ नजदीक आती है, ठण्डी होकर, ऋतु ठण्डी? वह खिचड़ी में गिरे, माँस खाये खिचड़ी में, साथ में पतंगे, कंथवा कढ़ी में, राबड़ी में (पड़ते हैं)। समझ में आया? यह महाहिंसा है। इस त्रस की खुराक में माँस खाता है। कठिन काम ऐसा, कहते हैं। माँस है न? उसमें माँस आता है।

सूर्य के प्रकाश बिना रात में... देखो! **'बोधितः प्रदीपे' 'बोधितः प्रदीपे'** ऐसा शब्द है। बोधित का अर्थ सुलगाया हुआ, बोध किया। **जलते हुए दीपक में भी भोजन में मिले हुए सूक्ष्म जीवों की हिंसा किस तरह टाल सकता है?** वह भोजन में मिले, चावल हों, हलुआ हो, जो हो न, उसमें मिले। साथ में बारीक-बारीक जीवांत खाये। हिंसा है। दयालु जीवों को रात्रि भोजन नहीं करना चाहिए। ऐसे बाहर निकलकर दूसरे की दया की बात करे, परन्तु वहाँ वे त्रस मरें, उनकी कुछ खबर नहीं होती। खबर भी नहीं होती कि वे मरते हैं या नहीं इसमें। समझ में आया?

'बोधित प्रदीपे अपि अर्कालोकेन विना भुञ्जानः भोज्यजुषां सूक्ष्मजंतूनाम् हिंसां कथं परिहरेत्' - अर्थ :- रात में दीपक जलाने पर भी सूर्य के प्रकाश के बिना रात्रि में भोजन करनेवाला पुरुष, भोजन में प्रीति रखनेवाले सूक्ष्म जन्तु... देखो! कहीं निकले और भोजन की सुगन्ध आवे, भोजन में प्रीति। समझ में आया? सुगन्ध आवे न, भोजन की? चावल हो, चाहे वे, परन्तु उनकी वह आती है-गन्ध आती है, हों! गेहूँ की रोटी हो तो भी उसकी गन्ध आती है। चावल की, दाल की गन्ध आवे। बारीक,

बारीक जन्तु पड़े हों, (वे) उड़कर (उसमें गिरें)। अधिक अन्धकार हो तो छोटी चूहिया भी सब्जी में साथ आ जावे। समझ में आया? छोटी-छोटी चूहिया सब्जी में (आ जाती हैं)। सब्जी का टुकड़ा मानो लोकी खाता हूँ, परन्तु हो चूहिया, महाहिंसा है। कहो, समझ में आया?

रात्रि में बिना दीपक जलाये तो पुरुष भोजन करता है उसके आहार में तो बड़े-बड़े चूहा-छिपकली आदि जीव भी पड़ जावें... लो! चूहिया छोटी और बड़ी अर्थात् इतनी-इतनी चूहिया घूमती होती है न छोटी? कढ़ी में गिर जाये, उसमें गिर जाये लो! बड़ा कौआ यहाँ गिर गया नहीं था? वह तो फिर दिन में पड़ा था। अपने यहाँ पड़ा था। सम्हाल करनेवाले बहुत लोग थे न, ऐई! मलूपचन्दभाई! मलूपचन्दभाई के समय में होगा यह? कौआ उसमें-कढ़ी में (गिर गया), लेने गये वहाँ कौआ आया। ऊपर से कितनी कढ़ी तो खा ली गयी।

कल कोई फरियाद करते थे। दो मेहमान आये थे वे। रसोई का खाता बहुत मैला, कमरे गन्दे, गद्दे गन्दे, गोदड़े गन्दे, कोई अच्छा व्यक्ति आया हो तो ऐसा कहे। हिम्मतभाई को कहते थे न? वह फिर खुला हुआ यहाँ कहा उन्होंने। अन्धा खाता है कहते हैं। कोई देखनेवाला नहीं। मैंने कहा, भाई! होगा मैंने मन में रखा, होगा वह, मैंने कहीं उन्हें नहीं कहा।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु उसमें मुझे कहना क्या? ऐसा कहो। वे लोग तो जरा उसमें रहे हुए। दो व्यक्ति थे, वह एक स्वामी नारायण था। गृहस्थ व्यक्ति बड़ा लखपति। बचुभाई के भाई जयन्तीभाई। गृहस्थ दामोदर जगजीवन के पुत्र। ऐसा यह? तुम्हारी समिति का खाता, वह भी सब अन्धेरा बहुत, कमरे बिगड़े हुए, सब बिस्तर ऐसे, अच्छा व्यक्ति दर्शन करने आया हो तो खड़े कहाँ रहना? ठीक, कहा, यह तो एक बात है, समझे न?

कहते हैं कि **बिना दीपक जलाये तो पुरुष भोजन करता है, उसके आहार में तो बड़े-बड़े चूहा-छिपकली आदि जीव भी पड़ जावें...** बड़ा चूहा, कोई बड़ा पतंगा। समझे न? मकड़ी, बड़ी मकड़ी आ जाये, हों! खिचड़ी में और कढ़ी में और राबड़ी में। राबड़ी होती है या नहीं? राबड़ी कहते हो? रबड़ी। **तब भी उसका पता नहीं चलता...** समझे न? एक व्यक्ति कहता था, चूहा आ गया, चूहा। अरे! यह क्या? सब्जी

में चूहा। **जो पुरुष रात्रि में दीपक जलाकर भोजन करते हैं...** पहले अन्धकार की बात की, अन्धेरे में दीपक सुलगाने की बात करे। शीघ्र लाओ, शीघ्र लाओ रोटी और दाल, सब्जी। साथ में छोटी चुहिया, छोटी भी चबाकर खाकर चले जाये, भान भी नहीं पड़े। लोहवाटिया होते हैं न, ऐसा काम करनेवाले। यहाँ पाप कितना होता है, माँस खाते हैं या इसमें क्या है, कुछ भान ही नहीं होता।

जो पुरुष रात्रि में दीपक जलाकर भोजन करते हैं... लो! कहते हैं। **उसके भोजन में दीपक के सम्बन्ध से तथा भोज्य–पदार्थ के सम्बन्ध से...** एक तो वह प्रकाश है और उस भोजन में सुगन्ध है। समझे न? भोजन में हलुआ हो, ऐसी अच्छी गन्ध आती हो, उसे स्वयं को अच्छी लगे और साथ में अन्य को अच्छी लगे, वह भी साथ में खाने के लिये पड़े। सब्जी हो, लो न! लौकी की, उसकी सब्जी बड़े टुकड़े–टुकड़े। साथ में आवे बड़ा (जीव) पड़ जाये, टुकड़ा इतना कोई माँस का, कोई जीव ऐसा बड़ा, वहाँ पता नहीं रहे, खा जाये। देखो न अचार में। यह अचार बनाते हैं न, उसमें कितने कंथवा और जीव? अचार में कितने अन्दर गिरते हैं, हों! आम का मसाला करते हैं न? क्या कहलाता है वह? लकड़ी की घोड़ी नीचे। उस दिन देखा था, एक बार मैंने। आहा..! ऐसा अचार! संसार की बात है। दुकान में खाने गये और लायी हमारे शिवलाल की बहू थी। आम का (अचार) कहाँ से लाये तुम यह? कहे – यहाँ से। परन्तु वह तो सब अकेला गन्दा कपड़ा, कन्थवा का ढेर एकदम, वह खाने बैठे और तुम ले आते हो, एकदम आधा ढँका, आधा नहीं ढँका। वह ढाँकनी होती है न? ढाँकनी। यह कन्थवा सब अन्दर गिरते हैं, तुम्हारे इसमें गिरते हैं। यह कहीं कन्थवा का अचार है या आम का? यह बहुत वर्ष पहले की बात है, हों! तब से अचार (खाना) बन्द कर दिया। कहा हमारे लिए कुछ अचार लाना नहीं। हमें अचार नहीं खाना। ऐसा अचार? त्रस मरते हैं कन्थवा (मरते हैं) तुम्हें तो एकदम लोहवाट, कि आये जिमाओ, जिमाओ थाली में एकदम–एकदम। उतावल–उतावल से लेने जाये वह क्या? आम का अचार। क्यों भगवानभाई! ऐसा होता है न? एकदम शीघ्रता से आये हों, रुई का धन्धा करते–करते, खाने बैठे, लाओ अचार ले आवें वह अचार वहाँ से लाते हैं, उसमें कन्थवा गिरते हैं, उसमें कितने सैकड़ों कन्थवा गिरे हों। बड़ी–बड़ी मकड़ी होवे, हों! इतने बारीक–बारीक होते हैं न? ऊपर ढाँकने को बाँधा होता है न? कपड़ा ऐसा मैला,

कपड़ा कोई धोने जाता होगा? उसके कारण मैल की जीवांत (गिरती है) महाहिंसा। यह वस्तु साधारण जैन को भी नहीं होती। त्रस मरते हों, ऐसा भोजन नहीं होता।

भोज्य-पदार्थ के सम्बन्ध से आनेवाले... देखो! **छोटे-छोटे पतंगे...** लो! सूक्ष्म पतंगे ऐसे बारीक होते हैं, बारीक-बारीक जीवांत, मच्छर बारीक। वे होते हैं न, यह काले मच्छर बहुत (होते हैं)। क्या कहलाता है? काला क्या कहलाता है? काली मच्छरी, बहुत बारीक मच्छरी, मच्छरी उड़े। बहुत बारीक। वह साग-बाग में गिरे, ढेर दस-दस बीस-बीस। मच्छरी जब होती है न तब। आहा..हा..!

पतंगे तथा मच्छर आदि अवश्य गिरते हैं... पतंगे किसलिए लिये? उड़ते (हों) इसलिए लिये। वे कन्थवा आदि तो ऐसे चलते-चलते आवे तब न, और वे बारीक.. बारीक.. बारीक.. बारीक.. उड़ते हों। उसमें फिर रोटी हो, उसमें फिर घी डाले, गर्म-गर्म घी चोपड़े, उसमें बारीक पतंगे और मच्छर गिरते हैं। **उनकी हिंसा भी अवश्यम्भावी है। इससे यह सिद्ध हुआ कि रात्रि-भोजी मनुष्य, द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की हिंसाओं से बच नहीं सकता।** राग की तीव्रता है, वही हिंसा है और द्रव्यहिंसा पतंगे आदि भी मरते हैं। समझ में आया?

अतः अहिंसाव्रत पालन करनेवाले को... यहाँ सम्यग्दर्शनसहित की बात है न? **रात्रिभोजन अवश्य त्याग देना चाहिए। जो मनुष्य रात्रि को सिंगाड़ा आदि की पकोड़ी..** अभी खाते हैं न कितने ही? आहार नहीं करते परन्तु सिंगाड़े की पकौड़ी खाते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : सिंगाड़े की पकौड़ी होती है, अकेले सिंगाड़े की। सिंगाड़े नहीं होते? उसकी पकौड़ी होती है। अकेले सिंगाड़े की। चने के आटे की। पकौड़ी, सिंगाड़े की पकौड़ी इत्यादि। सिंगाड़े की पकौड़ी बनावे, सिंगाड़े की रोटी बनावे, सिंगाड़े की पूड़ी बनावे, लो!

वे भी दोनों प्रकार की हिंसा करते हैं। यह हिन्दुस्तान में वर्तता है। सिंगाड़ा, सिंगाड़ा। सिंगाड़ा वह न? उसमें काले के बीच में सफेद, अन्दर सफेद होता है, देखा है। आटा बनाकर खाते हैं। सिंगाड़े का आटा बनाकर, रोटी बनाकर खाते हैं, पूड़ी बनाकर खाते

हैं। सिंगाड़ा में पाप है। रात्रि में उसके बाद **सिंगाड़ा आदि की पकोड़ी पूड़ी आदि बना करके खाते हैं,...** रात्रि में, हों! रात्रि में बनाते हैं। वास्तव में तो रात्रि में बनाने का आहार ही पापवाला है। समझ में आया? रात्रि में पानी गर्म करे, रात्रि में दूध गर्म करे, लो! उसमें भी हिंसा नहीं? रात्रि में दूध गर्म करे, उसमें जीवांत गिरे, दूध भरे उसमें तो जीवांत गिरे। समझे न? **जो मनुष्य रात्रि को सिंगाड़ा आदि की पकोड़ी पूड़ी आदि बना करके खाते हैं, वे भी दोनों प्रकार की हिंसा करते हैं।** राग भी तीव्र है और जीवांत भी मरती है, दोनों प्रकार की हिंसा करते हैं।

गाथा - १३४

किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पालयति।।१३४।।

अब अति कथन से लाभ क्या? यों मान मन वच काय से।
निशिभोज छोड़े सर्वथा, नित अहिंसक वह सिद्ध ये।।१३४।।

अन्वयार्थ : अथवा (बहुप्रलपितैः) बहुत प्रलाप से (किं) क्या? (यः) जो पुरुष (मनोवचनकायैः) मन, वचन, काय से (रात्रिभुक्तिं) रात्रिभोजन का (परिहरति) त्याग करता है (सः) वह (सततम्) निरन्तर (अहिंसां) अहिंसा का (पालयति) पालन करता है (इति सिद्धम्) ऐसा सिद्ध हुआ।

टीका : 'वा बहुप्रलपितैः किं इति सिद्धं यः मनोवचनकायैः रात्रिभुक्तिं परिहरति स सततं अहिंसां पालयति'- अर्थः- अथवा बहुत कहने से क्या? यह बात सिद्ध हुई कि जो मनुष्य मन, वचन, काय से रात्रिभोजन का त्याग करता है वह निरन्तर अहिंसाव्रत का पालन करता है।

भावार्थ : रात्रिभोजन करने में और रात में भोजन बनाने में सदैव हिंसा है। रात्रि में भोजन करने की अपेक्षा रात्रि में भोजन बनाने में बहुत अधिक हिंसा होती है इसलिए अहिंसाव्रत पालन करनेवाले को प्रथम ही इसका (-रात्रि को बनाये हुए का) त्याग करना चाहिए। खासतौर से बाजार के बने हुए पदार्थों का तो बिलकुल ही त्याग कर देना

चाहिए। परन्तु यदि पाक्षिक श्रावक किसी कारणवश सम्पूर्ण त्याग न कर सके तो पानी, पान, मेवा इत्यादि वस्तुएँ, जिनमें रात में बिलकुल आरम्भ न करना पड़े, ग्रहण करना चाहे तो कर सकता है, परन्तु वह तभी ग्रहण करे जब कि उनके पानी के बिना निर्वाह अशक्य हो।।१३४।।

गाथा १३४ पर प्रवचन

किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पालयति।।१३४।।

ऐसा डाला है, हों! तीन डाले हैं, अर्थ में जरा छूट देंगे। पाठ में कर्ता भी है। **अथवा बहुत प्रलाप से क्या?** बहुत क्या कहें, कहते हैं। **जो पुरुष मन, वचन, काय से रात्रिभोजन का त्याग करता है...** मन से रात्रि भोजन का त्याग करे, वचन से किसी को कहे नहीं कि रात्रि भोजन कर, करता हो उसे भला नहीं जाने। मेहमान, मेहमान को कहे कि तुम तुम्हारे खा लो, हमारे नियम है। खाओ, खा लो। समझ में आया? **बहुत प्रलाप से क्या? जो पुरुष मन, वचन, काय से रात्रिभोजन का त्याग करता है, वह निरन्तर अहिंसा का पालन करता है...** उसे अहिंसा पालन होता है। मिथ्यात्व के त्याग से अहिंसा शुरु की, मिथ्यात्व के सेवन से हिंसा शुरु की। वह यहाँ राग की तीव्रता, वह हिंसा और यह बाह्य की द्रव्यहिंसा की (बात की)। समझ में आया?

'वा बहुप्रलपितैः किं इति सिद्धं यः मनोवचनकायैः रात्रिभुक्तिं परिहरति स सततं अहिंसां पालयति' – वह अहिंसा पालन करता है। अहिंसा की बातें तो सब बहुत करते हैं परन्तु अहिंसा कहाँ होती है और हिंसा कैसे होती है, इसका भान नहीं है। अहिंसा परमो धर्म। फिर कितने ही इस सम्यग्दर्शन के भान बिना मिथ्यात्वसहित सेवन और इतना त्याग करे, वहाँ कहे हम त्यागी हैं। वापस उसके त्याग का अभिमान हो। हम यह खाते नहीं, हमने यह त्याग किया है, इतना हमें धर्म होता है। धर्म नहीं, इतनी राग की मन्दता होती है। समझे न? रात्रि में न खाये तो वह पुण्य बाँधे, धर्म नहीं।

यहाँ तो आत्मा के शुद्धस्वरूप में राग के विकल्परहित की अन्तरस्वरूप की प्रतीति

के भानसहित तीव्र राग का, अहिंसा के भाव में तीव्र राग का अभाव, उसका नाम अहिंसा अणुव्रत है, उसकी व्याख्या चलती है। समझ में आया? मूल मिथ्यात्व का त्याग रह गया और फिर इसके बिना यह सब करने लगा और वह हमारे धर्म हुआ, वापस ऐसा माना। मूल रकम रह गयी और इस बात का विस्तार अधिक आया हो (तो) यह पालने और आचरण करने लगे। बात यह है कि जितना राग न करे और जीव की द्रव्यहिंसा छोड़े, उतना उसे पुण्य है। समझ में आया? परन्तु आत्मा में एक राग का कण भी नहीं। ज्ञायकस्वरूप चिदानन्द के अन्तर्दृष्टि में अनुभव भान बिना, राग की मन्दता भी यथार्थरूप से उसे नहीं हो सकती। यह तो भानसहित की बात चलती है। समझ में आया?

रात्रिभोजन करने में और रात में भोजन बनाने में... लो! दोनों आये, कहो, सबेरे जल्दी जाना हो तो रात्रि में जल्दी पकौड़ी बना लो, पूड़ी बनावे, क्या कहलाता है? पूड़ी बना ले रात्रि में, रात्रि में। कहते हैं, रात्रि में खाना और रात्रि में बनाना दोनों पाप है। बनाने में कितना बड़ा बनाना पड़े, लो न अन्दर। आटा बाँधे, वह करे, उसमें से जीवांत इकट्ठी फैल जाये। बारीक-बारीक जीवांत भी आटा में आवे। सबेरे जाना है कहेगा, दस व्यक्ति हैं तो करो ढेबरा (खाने की चीज) रात्रि में, तेल में पूड़ी तलो। न्यालचन्दभाई! बात आवे तो सब आती है या नहीं? रात्रि में पकाना, वह महापाप है, उसमें बहुत जीवांत मरती है। खाने में तो पाप परन्तु रात्रि में पकाने में भी (पाप है)। समझ में आया? कितनों को तो रात्रि में ही पकाने की फुरसत मिलती है। अन्धेरे के बाद पकावे और आठ बजे खाये। रात का पका हुआ रात्रि में खाये, बहुत पाप है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : सब। यह इसकी तो बात चलती है। इसे आत्मा का साधन करना है या हित करना है। दर्शन-ज्ञानसहित राग के भाग का त्याग करना है, उसे यह सब करना पड़ेगा। ऐसे का ऐसा रात और दिन करे। आलू और शकरकन्द खाया ही करे, वह महापाप है। समझ में आया?

रात्रिभोजन करने में... एक बात। **रात में भोजन बनाने में...** दूसरी बात। कहो, यह कोई करे नहीं परन्तु रात्रि में बनावे अवश्य। पूड़ियाँ बनावे, ढेबरा (खाने की चीज़) बनावे, दूधपाक बनावे, दूधपाक बनावे रात्रि में मेहमान के लिये। वह बनाया

दूधपाक पड़ गया कुछ राजकोट में, कितनों को उल्टी, डॉक्टर और धमाल... धमाल। हम वहाँ थे। (संवत्) १९८२ का वर्ष होगा। दूधपाक खाया तो सबको-बहुतों को मरने जैसा हुआ। अकेली उल्टी, अन्दर में कुछ गिर गया। रात्रि को वाहन नहीं मिले। दूधपाक बनाया हो। दूधपाक समझते हो? तुम्हारी खीर। दूध को पकाये अर्थात् कि रगड़-रगड़ कर उकाले, उसका नाम दूधपाक। हमारे खीर में कम, हों! खीर में एक सेर दूध और बहुत चावल। उसमें (दूधपाक में) एक सेर दूध और रुपया भार चावल। इसका नाम दूधपाक कहलाता है और एक सेर दूध और पाव सेर चावल इसका नाम खीर कहलाता है। समझ में आया?

अपने यह देखकर बात करते हैं न, हमने कहाँ कुछ किया था वहाँ? लोग करते और कहते हों, उस पर से सुना हो, उस प्रमाण करे। समझ में आया? रात्रि को बनाते हैं, वह खीर-वीर या दूधपाक में जीवांत मरते हैं। पतंगे, कन्थवा, चलकर बात है, इसलिए यह गति करते हुए ऐसे आते हैं। उन उड़नेवालों की बात अधिक है। सूक्ष्म जीवांत होती है न? अभी चातुर्मास में तो वे उड़नेवाले मकोड़े होते हैं। पंखोंवाले मकोड़े धमाधम गिरें और अन्दर में घुल जाये। फिर खावे। दूधपाक और पूड़ी, घी में तली हुई पूड़ी हो। कहते हैं भाई! रात्रि में भोजन बनाना, यह पानी भी बनाना (गर्म करना) सब इसमें आता है, हों! रात्रि में पानी गर्म करे, उसमें भी इसे पाप लगता है। कितनों को दिन उगने के बाद समय नहीं मिलता। दिन उगने से पहले जो समेटा वह काम। इतना तो कम, आठ बजे नहीं आना। कितने तो यहाँ पानी सबेरे चाहिए हो तो क्या करे? जल्दी करना पड़े या नहीं? आठ बजे यहाँ सुनने आना पड़े। उससे पहले सब...

मुमुक्षु : यह तो यहाँ की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ की बात चलती है न अभी। सब बात आनी चाहिए या नहीं? ऐई... छोटाभाई! बात आवे तो सब आवे या नहीं? शीघ्र उठना हो जल्दी तो काम वापिस पहले निपट दे जल्दी, जल्दी। चावल-दाल जल्दी बना डाले। फिर यह रोटी ही बनानी रहे। हो गया लो! ए.. इन्दुभाई! दाँत निकालते हैं, (हँसते हैं) लो!

रात्रिभोजन करने में और रात में भोजन बनाने में सदैव हिंसा है। बात तो इसे जाननी चाहिए या नहीं? भाई! त्रस जीव मरते हैं, चींटियाँ मरती हैं, मकोड़ा मरते हैं, इसे भाव का तीव्र राग है। समझ में आया? अपने लिये बात है या नहीं? कहीं पर के लिये

इसमें बात नहीं है। **रात्रि में भोजन करने की अपेक्षा रात्रि में भोजन बनाने में बहुत अधिक हिंसा होती है...** लो! देखा? भोजन करना, वह पहले तो बनाना है न बहुत? **रात्रि में भोजन करने की अपेक्षा रात्रि में भोजन बनाने में बहुत अधिक हिंसा होती है...** रोटी बनावे, रोटियाँ बनावे, पूड़ी बनावे। एक ओर आटा डालकर पानी डाले, उसमें साथ में नजर पड़े नहीं ऐसी जीवांत आ जाती है, साथ में मसल डाले। **इसलिए अहिंसाव्रत पालन करनेवाले को प्रथम ही इसका (-रात्रि को बनाये हुए) प्रत्येक पदार्थ का त्याग करना चाहिए।** अहिंसाव्रत पालनेवालों को रात्रि में बने हुए प्रत्येक पदार्थ। प्रत्येक अर्थात् कोई पानी, दूध (इत्यादि) प्रत्येक आता है या नहीं इसमें? **त्याग करना चाहिए।**

खासतौर से बाजार के बने हुए पदार्थों का तो बिलकुल ही त्याग कर देना चाहिए। बाजार में वहाँ उसे क्या ठिकाना... हलवाई को। बाजार की दुकान के माल में त्रस ही मरे होते हैं। समझ में आया? बाजार में हलवाई की दुकान में जो रात्रि को बनाया हुआ माल हो, वह तो बिलकुल लेना चाहिए ही नहीं। पाप ही है। उसमें इसे कहाँ - हलवाई को कहाँ भान है? ऐई! रात्रि में दूध (गर्म) करे न? उस कढ़ाही में। उसमें कितनी जीवांत गिरती है, वहाँ कहाँ उसे खबर है। उसके पेड़ा बाँधते हैं, उसमें पतंगों के पेड़ा अन्दर होते हैं, पतंगों का भाग होता है, जीवांत होती है। रात्रि को पकोड़ी बनाते हैं।

कहते हैं कि **बाजार के बने हुए पदार्थों का तो बिलकुल ही त्याग कर देना चाहिए।** हलवाई की दुकान का माल अहिंसा पालनेवाले को नहीं लेना चाहिए, ऐसा कहते हैं क्योंकि बाजार के बने हुए माल में... ऐई! दीपचन्दजी! भाई! होवे वह आवे न, सब यहाँ तो। हलवाई को-उसे कहाँ ठिकाना होता है? मैदा हो उसमें लट पड़ी हो। गेहूँ की मैदा नहीं आती? लट होती है लट। उसकी पूड़ियाँ बनाता है, उसके साटा बनाता है। वह माँस का आहार है। वह तीव्र राग है, तीव्र राग के बिना उसे लेने की वृत्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं। कुछ भी ध्यान ही नहीं रहता, लक्ष्य भी नहीं रखता तो उसे तीव्र राग है। उस तीव्र राग में इसे अपने भाव की हिंसा लगती है। समझ में आया? **बाजार के बने हुए पदार्थों का तो बिलकुल ही त्याग कर देना चाहिए।** कहो, उसकी पकोड़ियाँ और उसकी पूड़ियाँ, उसका साटा और पेड़ा और बर्फी तथा बाजार के बने हुए हों, वे नहीं लेना चाहिए।

मुमुक्षु : जामनगर के तो बहुत अच्छे आते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सब पाप करते हैं। जामनगर में करते हैं न? वह ऊँचा कौन है? 'विट्ठल'? 'बल्लभ'। बल्लभ हलवाई। पहले डेढ़ रुपये का सेर पेड़ा, अच्छे समय में, हों! अभी तो वह पाँच, छह रुपये के (हो गया)। नहीं? कितने का आता है? आठ रुपये। पहले तीन आने के, चार आने के सेर पेड़ा मिलते थे। तब (वह) डेढ़ रुपया लेता था। डेढ़ रुपये का सेर पेड़ा। यह पता है न? लीलाधरभाई के यहाँ आहार लेने गये थे न एक बार? वहाँ डेढ़ रुपये का सेर पेड़ा। विट्ठल? क्या कहा? बल्लभ, उसकी लोहे की कढ़ाही ऊँची हो, हों! श्वेत, सफेद बढ़िया बनावे। रात में वह बनावे। अधिक खपत हो जाये तो क्या करना? यह तो १९८२ के वर्ष की बात है। डेढ़ रुपये के सेर, ऐसा कहते थे। लीलाधरभाई थे न? डेढ़ रुपये के सेर पेड़ा। ऐसे महंगे हैं।

रात्रि को आहार बनाना और रात्रि में आहार करना, इसमें महापाप है। समझ में आया? ऐसा ऊँचा (बढ़िया) बनावे, उसमें फिर ऊपर जरा डाले कुछ इलायची और कुछ बादाम-पिस्ते का जरा चूरा। पेड़े का दिखाव ऐसा लगे, परन्तु उसमें रात्रि में जीवांत मर गयी हो। हलवाई रात्रि को पेड़ा बनावे, उसमें मरी हुई जीवांत का पार नहीं होता। बारीक-बारीक पतंगे आदि (पड़े हों)। अहिंसा के पालन करनेवालों को ऐसा बाजार का भोजन, रात्रि का पका हुआ हो, उसे नहीं लेना चाहिए। समझ में आया?

परन्तु यदि पाक्षिक श्रावक किसी कारणवश सम्पूर्ण त्याग न कर सके... इतना थोड़ा बचाव देते हैं। पाठ में तो मन-वचन-काया है। ऐई! देवानुप्रिया! तीन है, तीन—मन, वचन और काया से त्याग। नौ प्रकार से। करना, कराना और अनुमोदन; मन से रात्रिभोजन करना नहीं, वचन से कहना नहीं कि रात्रिभोजन करो, काया से करना नहीं। समझे न? कराना नहीं, ऐसे अनुमोदन करना नहीं। रात्रिभोजन में बड़ा पाप है। जीवांत, माँस (का आहार है)। समझ में आया? बारीक जीवांत आ जाती है, उसे छोड़ना चाहिए।

भाई! यह तो आत्मा के दया की बात है। जिसे आत्मा की दया है, उसे तो पहले सम्यग्दर्शन होना चाहिए। शुद्धोपयोग का आचरण, वह पहली आत्मा की दया। पश्चात् इस राग की मन्दता के विकल्प की यह दशा उसे होती है। उसमें जितनी कषाय मिटी हो, उतनी स्थिरता है। इतना राग रहा है, उसमें भी हिंसा तो है, परन्तु तीव्र राग का त्याग और

मन्द राग का (त्याग) उतनी हिंसा कम है। समझ में आया?

कहते हैं कि **तो पानी, पान, मेवा इत्यादि वस्तुएँ, जिनमें रात में बिलकुल आरम्भ न करना पड़े,...** ऐसी कुछ छूट-वूट की जरूरत नहीं होती। ऐई! देवानुप्रिया! यहाँ तो उत्कृष्ट बात होती है या नहीं? पान, पान अर्थात् यह नागरबेल का? नागरबेल का पान रात्रि में खाये। पान अर्थात् पीने का, ठीक! पीना-पीना, पानी और पेय, यह बराबर। पेय-पेय लो न। दूध हो, रबड़ी हो, परन्तु यह सब नहीं। मेवा हो, यह लो न बादाम, पिस्ता **जिनमें रात में बिलकुल आरम्भ न करना पड़े, ग्रहण करना चाहे तो कर सकता है, परन्तु वह तभी ग्रहण करे जब कि उनके पानी के बिना निर्वाह अशक्य हो।** परन्तु यह नहीं। वास्तव में तो रात्रि में होता ही नहीं। समझ में आया? पानी भी नहीं और आहार भी नहीं और मेवा भी नहीं और अमुक भी नहीं। मेवा हो, उसमें भी बारीक जीवांत पड़ी होती है, छुई हुई हो तो क्या खबर पड़े? समझ में आया न? लो! १३४ गाथा हुई।

आत्मा के मिथ्यात्व के त्यागसहित यह बात यहाँ चलती है। विपरीत मान्यता है, वही महाहिंसा है। भगवान केवली ने कहे हुए जो तत्त्व हैं-जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष - वे भगवान केवली प्रभु द्वारा कहे हुए, उनमें से विपरीत माने, वह मान्यता विपरीत है, वही पहली महाहिंसा है। समझ में आया? उस विपरीत मान्यता की हिंसा को छोड़कर, फिर यह राग की मन्दता के भाव में तीव्र महाहिंसा घटती है और जितना बिलकुल राग घटे, उतनी अहिंसा बढ़ती है, उसकी यहाँ बात चलती है।

गाथा - १३५

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः।
अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण।।१३५।।

यों निज हितैषी मोक्ष के, रत्नत्रयात्मक मार्ग में।
अनवरत करते यत्न, पाते मोक्ष सुख अति शीघ्र वे।।१३५।।

अन्वयार्थ : (इति) इस प्रकार (अत्र) इस लोक में (ये) जो (स्वहितकामाः)

अपने हित के इच्छुक (मोक्षस्य) मोक्ष के (त्रितयात्मनि) रत्नत्रयात्मक (मार्गे) मार्ग में (अनुपरतं) सर्वदा बिना अटके हुए (प्रयतन्ते) प्रयत्न करते हैं (ते) वे पुरुष (मुक्तिम्) मोक्ष में (अचिरेण) शीघ्र ही (प्रयान्ति) गमन करते हैं।

टीका : 'ये (पुरुषाः) स्वहितकामाः इत्यत्र त्रितयात्मनि मोक्षमार्गे अनुपरतं प्रयतन्ते ते (पुरुषाः) अचिरेण मुक्तिं प्रयान्ति'-अर्थः- जो जीव अपने हित की इच्छा करता हुआ इस रीति से रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में सदैव प्रयत्न करता रहता है, वह जीव शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है। जीवमात्र का हित मोक्ष है, संसार में अन्य कहीं भी आनन्द नहीं है। अतः जो जीव मोक्ष में जाने के इच्छुक हैं उन्हें सदैव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग में निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए। जो जीव मोक्ष की मात्र चर्चा-वार्ता तो करते रहें किन्तु मोक्ष के मार्ग की खोज न करें और उसके अनुसार चलने का प्रयत्न न करें तो कभी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते और जो जीव उसके मार्ग में चलते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं, वह जीव तुरन्त ही मोक्ष के परमधाम में पहुँच जाते हैं। इस प्रकार (तत्त्वज्ञान पूर्वक) पाँचों पाप के त्याग सहित पाँच अणुव्रत तथा रात्रिभोजन के त्याग का वर्णन करके अब सात शीलव्रतों का वर्णन करते हैं। क्योंकि सात शीलव्रत पाँच अणुव्रतों की रक्षा करने के लिये नगर के कोट समान हैं। जैसे किला नगर का रक्षण करता है वैसे ही सात शीलव्रत पाँच अणुव्रतों की रक्षा करते हैं।।१३५।।

गाथा १३५ पर प्रवचन

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः।
अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण।।१३५।।

इस प्रकार इस लोक में जो अपने हित के इच्छुक... अपने आत्मा के हित के अभिलाषी, **इच्छुक मोक्ष के रत्नत्रयात्मक मार्ग में...** रत्नत्रयात्मक, देखो! यहाँ तीन आये। अणुव्रत है न यहाँ? लो! इसे तीन रत्न कहा। ऐई! सातवें में तो कहते हैं, वह तो आता है, वहाँ नियमसार में भी आता है। चौथे, पाँचवें...

मुमुक्षु : अब आठवें में भी होता है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अब आठवें में, उसे बेचारे को क्या ? उसे उस प्रकार की बात ही जँच गयी है। कल्पना से बैठ गयी है। मार्ग तो जिस प्रकार हो, उस (प्रकार से आवे) कल्पना का काम आवे ? अनन्त ज्ञानी, अनन्त सन्त, अनन्त मुनि जो मार्ग...

मुमुक्षु : आठ ग्रन्थ में टीका है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इस प्रकार से आया न... आता कहाँ है ? कुछ का कुछ कथन व्यवहार का निश्चय में घुसा डालते हैं। आठ ग्रन्थ में तो ऐसा केवली भगवान का मार्ग (नहीं है)। मार्ग तो जिसमें वीतरागता खड़ी होती है वह मार्ग है। जिसमें से वीतरागी दृष्टि, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी चारित्र खड़ा हो, वह मार्ग है। बीच में फिर मन्द राग आवे, उसे व्यवहार कहने में आता है। मार्ग तो ऐसा तीन काल-तीन लोक में है।

आत्मावलोकन में तो यहाँ तक कहा है, मुनि उसे कहते हैं कि जिसने वीतरागभाव को अंगीकार किया है। आत्मा आनन्दस्वरूप, पुण्य-पाप के विकल्परहित, देह की क्रिया के कर्तृत्वबुद्धिरहित, अकेला आत्मा शुद्ध अखण्ड आनन्द वीतरागमूर्ति आत्मा है, उसकी दृष्टि ज्ञान और उसमें रमणतारूप वीतरागता-साम्य-उसे मुनि कहते हैं और वह मुनि वीतरागता की ही बात करे। व्यवहार की बात करे, ज्ञेय की करे, विधिवाद की करे, अविधिवाद की करे परन्तु उसमें यह बात आदरनेयोग्य है, यह बात करे। समझ में आया ? वीतराग परमेश्वर के मार्ग के सन्त वीतरागी दशावाले होते हैं और उनके कथन में वीतरागी भाव का उपदेश आता है। जिसमें से राग करने से लाभ हो, वह उपदेश वीतराग के घर का नहीं है। आहा..हा..! समझ में आया ?

कहते हैं, जो कोई **'स्वहितकामाः'** ऐसा है न यहाँ तो ? अपने हित का, मोक्ष का अभिलाषी है, उसे रत्नत्रयात्मक मार्ग में (अर्थात्) सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र के मार्ग में। लो ! श्रावक को भी पाँचवें गुणस्थान में तीनों कहे। आत्मा की निर्मल शुद्ध चैतन्य की अन्तर निर्विकल्प प्रतीति, आत्मा का परिज्ञान, आत्मा का परिज्ञान और आत्मा में राग के अंश के त्याग की जितनी स्थिरता (का) अंश (प्रगट हो), वह रत्नत्रयमार्ग कहने में आता है। श्रावक को भी रत्नत्रय का मार्ग होता है। व्यवहार का विकल्प है, वह कहीं मूल मार्ग

नहीं है। यह तो वस्तु का रत्नत्रय है न? रत्नत्रय को शामिल लिया है न? राग घटकर जितनी स्थिरता हुई है, अखण्ड ज्ञायकस्वरूप की दृष्टि हुई है—एकरूप की, उसकी एकाग्रता हुई है। स्वभाव में एकाग्रता होकर दर्शन-ज्ञान प्रगट किये हैं और उसमें एकाग्रता विशेष होकर राग का अभाव किया है। उसे यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र - रत्नत्रयमार्ग कहने में आता है। समझ में आया?

सर्वदा बिना अटके हुए... देखो! **'अनुपरतं' सर्वदा बिना अटके हुए प्रयत्न करते हैं...** श्रावक उसे कहते हैं कि जो आत्मा शुद्ध अखण्ड आनन्द प्रभु, सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा कहा गया, देखा गया (वह आत्मा है)। सर्वज्ञ के अतिरिक्त आत्मा जाने, कहे, वे सच्चे नहीं हो सकते। परमेश्वर, जिन्हें एक समय में तीन काल-तीन लोक का ज्ञान है, ऐसे भगवान ने आत्मा देखा, वह कहा, वह आत्मा सच्चा है। अज्ञानी कल्पना करके कहें कि यह आत्मा... यह आत्मा, वह आत्मा नहीं है। समझ में आया? ऐसा आत्मा, जिन्हें सर्वज्ञपना प्रगट हुआ, उनका आत्मा; प्रत्येक आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है, ऐसा आत्मा। समझ में आया? ऐसा आत्मा। उसकी स्वसन्मुख की श्रद्धा, आत्मा का ज्ञान, उसमें स्थिरता-रागरहित स्वरूप में एकाग्रता, वह श्रावक का रत्नत्रयमार्ग है। कहो, सेठी! आहा..हा..! देखो! यहाँ तीनों डाले हैं। अहिंसाव्रत का (वर्णन) चलता है न?

सर्वदा बिना अटके हुए प्रयत्न करते हैं... देखा? भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यवस्तु में उसका दर्शन, ज्ञान और स्थिरता का प्रयत्न हमेशा होता है। सर्वदा - ऐसी भाषा प्रयोग की है न? देखो! सर्वदा **'अनुपरतं'** अटके बिना। अन्तरस्वरूप में चैतन्य भगवान आत्मा पवित्रस्वरूप है, उसमें दृष्टि, उसका ज्ञान, उसमें रमणता-अटके बिना स्वरूप में निरन्तर धारावाहिक रत्नत्रय को आराधता है। गजब बात! समझ में आया? प्रयत्न करता है, ऐसा कहा, देखा? स्वभाव-सन्मुख का प्रयत्न करता है। **वे पुरुष मोक्ष में शीघ्र ही गमन करते हैं।** वह जीव मोक्ष में अर्थात् पूर्ण शुद्धता में अल्प काल में पूर्ण शुद्धता को प्राप्त करता है, ऐसा। समझ में आया? **मोक्ष में शीघ्र ही गमन करते हैं।** लो!

'ये (पुरुषाः) स्वहितकामाः इत्यत्र त्रितयात्मनि मोक्षमार्गे अनुपरतं प्रयतन्ते ते (पुरुषाः) अचिरेण मुक्तिं प्रयान्ति'- जो जीव अपने हित की इच्छा करता हुआ

इस रीति से रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में... देखा ? राग में हिंसा है, इसलिए राग घटाता है। स्वरूप की स्थिरता, वह अहिंसा है, उसका पालन करता है - ऐसा कहते हैं। **रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में सदैव प्रयत्न करता रहता है, वह जीव शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है। 'अचिरेण'** अर्थात् अल्प काल में उसे पूर्ण शुद्धता की प्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं। अपना भगवान शुद्ध है, उसकी श्रद्धा, ज्ञान और उस ओर की सावधानी-ऐसा जो रत्नत्रयमार्ग है, उसे अल्प काल में पूर्ण शुद्धि को-मोक्ष को प्राप्त करता है।

जीवमात्र का हित मोक्ष है,... सबका हित मोक्ष है। क्योंकि मोक्ष के अतिरिक्त कहीं सुख नहीं है। संसार में अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं है। पैसे में, स्त्री में, पुत्र में, इन्द्रपद में, कहीं धूल में कहीं सुख नहीं है। समझ में आया ? संसार में अन्यत्र कहीं, मोक्ष के अतिरिक्त संसार में अन्यत्र कहीं (अर्थात्) स्वर्ग का भव हो, नरक का हो या मनुष्य का हो या सेठ का हो या रंक का हो; सर्वत्र दु:ख, दु:ख और दु:ख ही है।

मुमुक्षु : बहुत आनन्द की मर्यादा कम कर डाली।

पूज्य गुरुदेवश्री : आनन्द है आत्मा में और पूर्ण आनन्द है मोक्ष में, पर्याय में। अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं है, कहीं नहीं है... वह आता था... वीतरागीदृष्टि अन्तर में, आनन्द की दृष्टि, आनन्द का ज्ञान और आनन्द में लीनता, वह सुखी है। 'वह सुखिया जगत में सन्त, दुरिजन दुखिया।' बाकी सब दुखिया हैं। ये अरबोंपति, करोड़ोंपति भिखारी है। प्रभुभाई ! सच्चा होगा यह ? ए... मोहनभाई ! यह तुम्हारे पाँच, दस लाख, पच्चीस लाख मिले, वहाँ तो ऐसा कहे कि ओहो..हो.. ! बहुत सुखी, ऐसा दुनिया कहे, बनिया। भाई ! अभी सुखी हैं। गये थे न पहले 'वामणवार' ? एक घर है, वह सुखी घर है, ऐसा कहे। दो, चार, पाँच लाख हो, गाँव में भी दो, पाँच लाख हो तो बहुत सुखी कहलाये। 'वामणवार', उदयपुर से अहमदाबाद आते हुए वामणवार है, वहाँ दो घर हैं। उनमें एक गृहस्थ का लड़का था, नहीं ? क्या नाम ? चन्दु। पैसावाला है। दस गाँव में राजा जैसी उसकी महानता है। दिखाव अच्छा है। गाँव में सब लोग कहते हैं... उसकी जाति भी बड़ी, पाँच सौ लोग आये थे। अहमदाबाद आते हुए एक दिन अभी गये थे न ? गाँव में यह एक घर सुखी है। सुखी कैसे कहना ? छोटा गाँव और पाँच लाख की पूँजी, तो कैसा मनुष्य कहलाये ?

मुमुक्षु : खानदानी मनुष्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : होवे परन्तु उसके कारण सुख कब था धूल में? सुख तो आत्मा में पुण्य-पाप के रागरहित दृष्टि करे और उसमें स्थिर हो, उसमें आनन्द है, बाकी धूल में भी कहीं है नहीं। देखो! यहाँ क्या लिखा है? **संसार में अन्य कहीं भी आनन्द नहीं है।** इसलिए कहीं में सब आता होगा या नहीं? ऐ सेठी! तुम्हारा पैसा-वैसा इसमें आता होगा या नहीं? खत्म हो गया? मकान, पैसा, अच्छी सुन्दर स्त्री, अच्छा सुन्दर पुत्र, पाँच-पाँच हाथ के लम्बे रूपवान, कहते हैं कि सर्वत्र दुःख है, आकुलता है, धूल में भी सुख नहीं। सुख तो एक आत्मा में और मोक्ष में है। अन्यत्र कहीं सुख है नहीं, इसलिए मोक्ष के अर्थी को आत्मा का हित साधने के लिये रत्नत्रय प्राप्त करना। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

नामधारी जैन को भी....

– नामधारी जैन को भी रात्रि का भोजन नहीं खाना होता। रात्रि को सूक्ष्म जीव, भोजन में आ जाते हैं; इसलिए उस भोजन में माँस का दोष गिना जाता है, इसलिए नामधारी जैन को भी रात्रि का भोजन नहीं होता। अथाणा (अचार) में भी त्रसजीव हो जाते हैं, वह भी जैन को नहीं होता। जिसमें त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसा भोजन ही जैन को नहीं होता।

प्रश्न – मुम्बई में तो लोग रात्रि को नौकरी में से आठ-नौ बजे कठिनाई से घर पहुँचते हैं, तो वे क्या करें?

उत्तर – ऐसी नौकरी छोड़ देना चाहिए। जल्दी जीम लिया जाये (भोजन कर लिया जाये), ऐसा करना चाहिए परन्तु रात्रि को भोजन नहीं किया जाता। जिसमें त्रसघात होता हो, ऐसे भोजन का तो नामधारी जैन को भी त्याग चाहिए। यहाँ तत्त्व की बहुत ऊँची बात आयी, इसलिए नीचे की बात का कुछ नहीं, ऐसा नहीं होता। स्वयं को अन्दर से लगना चाहिए। कोई कहे इसलिए नहीं परन्तु स्वयं को दरकार चाहिए। जिसे भविष्य का नक्की नहीं है, उसे तो त्रास हो जाना चाहिए कि अरे! भविष्य में मैं कहाँ जाऊँगा? सोनगढ़ के कहे जानेवाले लोगों को ख्याल रखना चाहिए।

— पूज्य गुरुदेवश्री (रात्रि-चर्चा में से) अगस्त 1980, आत्मधर्म गुजराती पृष्ठ-34

श्री पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान का स्वरूप आ गया। सम्यक्चारित्र में देश अणुव्रत की व्याख्या चलती है। उसमें देश अणुव्रत में पाँच अणुव्रत की व्याख्या हो गयी, उसका यहाँ १३५ में टोटल करते हैं।

टीका : 'ये (पुरुषाः) स्वहितकामाः इत्यत्र त्रितयात्मनि मोक्षमार्गे अनुपरतं प्रयतन्ते ते (पुरुषाः) अचिरेण मुक्तिं प्रयान्ति' अब पण्डितजी ने यह स्पष्टीकरण ठीक किया है। परन्तु उसे मोक्षमार्ग के साथ जोड़ दिया। पहले में इस लोक में, ऐसा था अन्वयार्थ में। इसलिए यह बराबर हुआ। **जो जीव अपने हित की इच्छा करता हुआ...** यहाँ से लिया है। **'ये (पुरुषाः)'** ऐसा है न? अर्थात् जो जीव। पुरुष अर्थात् यहाँ जीव लिया। अपने हित को चाहता हुआ। यह बात है। जिसे अपना हित प्रगट करना है, जिसे हित की अभिलाषा है। हित अर्थात् मोक्ष। परम आनन्द की पूर्ण प्राप्ति होना, इसका नाम मोक्ष। परम शुद्धि की, परम आनन्द की, उत्कृष्ट आनन्द की प्राप्ति होना, इसका नाम मोक्ष। बाद में उसमें अर्थ में तो ऐसा कहेंगे कि मोक्ष में जाना चाहता है, यह सब भाषा तो ऐसे ही आवे न! जाना चाहता है - इसका अर्थ? पूर्ण आनन्द प्राप्त करने का अभिलाषी है वह। कहो, समझ में आया इसमें? जिसे आत्मा में से पूर्ण आनन्द, अतीन्द्रिय पूर्ण आनन्द, इसका नाम मुक्ति - उसका जो कामी है - ऐसा पहले सिद्धान्त लिया है।

जो जीव अपने हित की इच्छा करता हुआ इस रीति से रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में... कारण कि यह तो अणुव्रत की व्याख्या आयी, इसलिए रत्नत्रय तीनों को मिलाये। मूल पाठ में हे न? **'त्रितयात्मनि'**। सम्यग्दर्शन, जो आत्मा अखण्ड शुद्ध चैतन्य-सन्मुख की अन्तर ज्ञान के अनुभव में प्रतीति। समझ में आया? भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध चैतन्य, जिसकी शक्ति / स्वभाव अमाप, अमाप ऐसा जो गुण, ऐसे अनन्त गुण का एकरूप ऐसा आत्मा, उसके स्वसन्मुख की उसका भान-ज्ञान होकर, उसकी प्रतीति, ऐसा जो सम्यग्दर्शन।

समझ में आया ? और अपने स्वरूप का - शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अन्तर परिज्ञान। ज्ञायक चैतन्यज्योति ज्ञानस्वरूप वस्तु है, उसका ज्ञान। ऐसे दर्शन-ज्ञानपूर्वक पाँच अणुव्रत, यह तीसरा चारित्र का अंश मिला। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का अंश निवृत्ति का उसके साथ मिला। इसलिए कहते हैं कि इस प्रकार रत्नत्रयरूप। तीन हुए रत्नत्रय। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् स्थिरता का चारित्र अंश। बराबर है ? यह श्रावक की बात चलती है, हों ! श्रावक की बात चलती है।

जिसे अपने हित की भावना है, ऐसा पहला शब्द रखा है। जिसे मोक्ष की ही भावना पवित्र पूर्ण होने की ही इच्छा नहीं, उसे यहाँ स्थान नहीं। अपना स्वभाव शुद्ध पूर्ण है। उसे पूर्ण प्राप्त करने का कामी है, पर्याय में पूर्ण प्राप्त करने का कामी है। उसे कोई संसार, राग, पुण्य चाहिए है या वह कुछ है नहीं। समझ में आया ? इसलिए कहते हैं, ऐसे जो हित के अभिलाषी प्राणी, इस प्रकार कहे अनुसार, ऐसा। इस प्रकार कहा न पहले ? **'इति' 'इति अत्र'** यह कहे अनुसार रत्नत्रयरूप सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के अंश की निर्मल प्राप्ति, ऐसा मोक्षमार्ग - इसका नाम मोक्ष का मार्ग। यह पूर्ण शुद्धि की प्राप्ति का उपाय। पूर्ण शुद्धि की प्राप्तिरूप मुक्ति, आनन्द का यह उपाय कि स्व स्वभाव-सन्मुख की दृष्टि, स्व के सन्मुख का ज्ञान, स्व में स्थिरता के अंश का जागृतपना। हमेशा। देखा ? **'अनुपरतं'** शब्द है, मूल पाठ (है)। सर्वदा-अटके बिना-कहीं स्खलन किये बिना, जैसा शुद्ध ध्रुवस्वरूप चैतन्य है, वैसी ही दृष्टि, ज्ञान और रमणता के साथ तत्परता, हमेशा अटके बिना, छूटे बिना, खण्ड पड़े बिना, विघ्न बिना, स्वभावसन्मुख की सावधानी में प्रयत्न करता रहता है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप। सत्—शाश्वत् ज्ञान-आनन्द आदि का स्वरूप आत्मा है। उसमें जो हमेशा, निरन्तर स्वहित के पूर्ण शुद्ध का कामी, स्वसन्मुख प्रयत्न में हमेशा निरन्तर लगा रहता है। कहो, सेठी ! गजब ! यह करना या यह करना ? कब यह क्या करना इसमें ? पहला हमेशा करना - ऐसा कहते हैं। यह तो कहते हैं कि हित इसमें है। यह कहेंगे, अभी कहेंगे। वह जीव तुरन्त ही मोक्ष को पाकर - इतना शब्दार्थ किया। **'अचिरेण'** शब्द है न ? हमेशा सदा भगवान आत्मा पूर्ण शुद्धस्वभाव-सन्मुख की प्रतीति,

ज्ञान और चारित्र तीनों सन्मुख है, तीनों स्वभावसन्मुख के ही भाग हैं। उसमें हमेशा प्रयत्न करता रहता है। स्वभावसन्मुख जो पुरुषार्थ की आजमाइश पूर्ण प्रगट करने के लिये करता रहता है। कहो, समझ में आया इसमें? **वह जीव शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है।** अर्थात् कि उसे पूर्ण शुद्धि की प्राप्ति अल्प काल में होती है। ऐसा। समझ में आया? अब इसकी जरा व्याख्या करते हैं। यह तो शब्दार्थ किया।

जीवमात्र का हित मोक्ष है,... हित के कामी का—शब्दपाठ था न? जीवमात्र का हित, वह मोक्ष है। परम शान्ति, परम आनन्द की पूर्ण प्राप्ति, वह मोक्ष, वह जीवमात्र का परमहित है। कहो, इसके अतिरिक्त कोई हित नहीं, ऐसा कहते हैं और कारण कि **संसार में अन्य कहीं भी आनन्द नहीं है।** चौरासी के अवतार में किसी भी भव के भाव में और भव में आनन्द नहीं है। भव में और भव के भाव में कहीं आनन्द नहीं है। समझ में आया? चाहे तो राजा का भव हो, सेठ का हो या स्वर्ग का हो, सबमें अकेला दु:ख ही है। क्योंकि परसन्मुख के झुकाववाली आकुलदशा ही चार गति में है। इस चार की गति में अन्दर अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं है। समझ में आया? पैसेवाले को आनन्द नहीं, सेठाईवाले को आनन्द नहीं, स्वर्गवाले का भव मिले, उसे आनन्द नहीं; चक्रवर्ती का पद मिले, उसमें भी आनन्द नहीं – ऐसा कहते हैं। क्योंकि उसमें परसन्मुख की वृत्ति की आकुलता अकेला दु:ख है।

अत: जो जीव... इस कारण से **जो जीव, मोक्ष में जाने के इच्छुक हैं..** अर्थात् पहले हित का कामी (वांछक) कहा है न? हित का कामी शब्द पड़ा है न? अर्थात् जाना चाहता है, ऐसा। अर्थात् जो कोई हित का अभिलाषी है, ऐसा। पूर्ण आत्मा की शान्ति.. शान्ति.. शान्ति, ऐसी जो आत्मा की मोक्षदशा।

मोक्ष कहा निज शुद्धता वह पावे सो पंथ
समझाया संक्षेप में सकल मार्ग निर्ग्रन्थ। (श्रीमद् राजचन्द्र)

भगवान आत्मा '**मोक्ष कहा निज शुद्धता**' अपनी पूर्ण शुद्धता। इस स्वभाव में पूर्ण शुद्धता है ही। उसे प्रगट शुद्धता पर्याय में, अवस्था में पूर्ण प्रगट होना, उसका नाम मोक्ष है। उसका जो मार्ग है, उसका नाम मोक्ष का उपाय है। ऐसे मोक्ष में जाने के मोक्ष के

अभिलाषी हैं, ऐसा। जाना अर्थात् कहीं ऐसे दौड़कर किसी गति में नहीं जाना। समझ में आया? मानो कि मोक्ष कोई नगर होगा, वहाँ जाना होगा - ऐसा होगा?

मुमुक्षु : यह मार्ग सही न, मोक्षनगर का।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात मोक्षनगर अर्थात् पूर्ण पर्याय की प्राप्ति ऐसा मोक्षनगर। नगर अर्थात् जिसमें कर नहीं, कर्ज नहीं, मलिनता नहीं - ऐसी दशा। नगर, न कर जिसमें कर नहीं, उसे नगर कहा जाता है। नगर इसके लिये होता है। राजा नगर में रहता हो, उसके सिर पर कर नहीं होता। दूसरे के सिर पर हो। वैसा आत्मा का पूर्ण आनन्दस्वरूप, पूर्ण आनन्दस्वरूप, जिसमें कोई अपूर्णता नहीं, जिसमें पराधीनता नहीं, जिसमें न्यूनता नहीं; ऐसी आत्मा की पूर्ण दशा को आनन्द और मोक्ष कहते हैं। उसके अभिलाषी जीव को, इतनी बात है। समझ में आया?

उन्हें सदैव... ऐसे जीवों को सदा। यह **अनुपरतं** की व्याख्या की है। **सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग में...** लो! भगवान आत्मा के पूर्ण स्वभाव शुद्ध का अन्तरज्ञान, भान में प्रतीति, उसका ज्ञान और उसमें रमणतारूप चारित्र-चरना, रमना - ऐसा जो मोक्षमार्ग है, वह मोक्षमार्ग है। मोक्ष के अभिलाषी को मोक्षमार्ग में सदा प्रयत्न करना - ऐसा इसका अर्थ है। समझ में आया? पुण्य का कामी हो, स्वर्ग का कामी हो, वह तो अनादि का है, उसमें कुछ नया नहीं है, वह कुछ नया नहीं है। मोक्ष का कामी हो, उसे अन्तर के स्वभावसन्मुख के मोक्षमार्ग में हमेशा प्रयत्न करना।

उसमें निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए। निरन्तर। लो! श्रावक हो, उसकी यहाँ बात चलती है। उसे अन्दर में स्वभावसन्मुख की निरन्तर भावना होती है। समझ में आया? श्रावक अर्थात् यह कहीं वाड़ा की बात नहीं है। वस्तु जो आनन्दस्वरूप है, अनन्त स्वभाव.. स्वभाव.. स्वभाव.. उसके अन्तर के प्रेम से-रुचि से परिणमन है, उसका जिसे ज्ञान है और उसमें रमने की दशा जिसे प्रगटी है, उसे यहाँ श्रावक कहते हैं। कहो, समझ में आया? ऐसे, श्रावक की व्याख्या है न? इसमें कहाँ अभी यह तो श्रावक की व्याख्या है। पंचम गुणस्थानवाले वे जीव इस प्रकार करें तो वे भी अल्पकाल में मुक्ति को प्राप्त करेंगे - ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

उसमें निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए। देखो! स्वरूपसन्मुख सदा प्रयत्न रखा ही करना - ऐसा कहते हैं। क्योंकि जो पूर्ण दशा प्रगट होगी, उसका धाम तो ध्रुव आत्मा है। समझ में आया? मोक्ष / पूर्णदशा होगी, वह प्रगट होने की खान तो चैतन्यध्रुव है। समझ में आया? कि जिसमें एक समय की पर्याय भी एक समय टिकती है, पर्याय भी एक समय टिकती है। दूसरी चीज़ तो उसमें है ही नहीं। ऐसा ध्रुव.. ध्रुव.. ध्रुव.. शाश्वत् सत् का सत्व तत्त्व, उसका अवलम्बन / आश्रय करके श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता करना। कहो, शान्तिभाई! लो, यह क्या करना, वह आता है यह। यहा सेवा-वेवा करने का, ऐसा नहीं आता इसमें। यह सेवा है।

१९ गाथा में कहा है महाराज! ज्ञान को और आत्मा को सम्बन्ध तो सदा है, सदा ही ज्ञान की सेवा किया ही करता है तो फिर तुम ज्ञान की सेवा करने को किसलिए कहते हो? समयसार की १९ वीं गाथा में ऐसा प्रश्न है। आत्मा और ज्ञान, आत्मा अर्थात् वस्तु और ज्ञान अर्थात् स्वभाव, स्वभाव। स्वभाव और स्वभावभान तो तद्रूप है ही, इसलिए सेवा करता ही है। और तुम कहते हो कि ज्ञान की सेवा करो। समझे? धन्नालालजी! ऐसा प्रश्न उठा है। भगवान को पूछता है, प्रभु! तुम ऐसी सेवा-सेवा करते हो, ज्ञान की सेवा करो, ज्ञान की सेवा करो। राग की और पर की कर नहीं सकता। पर की कर नहीं सकता और राग में एकाग्रता करता है, वह तो दु:खदायी है। आहा..हा..!

कहते हैं कि आत्मा ने ज्ञान की सेवा एक क्षण भी नहीं की - ऐसा कहते हैं। क्योंकि पर्याय में, अन्तर में झुककर कभी एकाग्र हुआ ही नहीं। गुण और आत्मा दोनों एक होने पर भी गुण और गुणी की एकता पर्याय द्वारा कभी नहीं की। समझ में आया? आत्मा वस्तु; वस्तु है तो उसका स्वभाव होगा या नहीं? वस्तु शाश्वत् है, तो उसका स्वभाव भी शाश्वत् है। ज्ञान, आनन्द, शान्ति सब शाश्वत् स्वभाव, शाश्वत् है। उस शाश्वत् की सेवा नहीं की। वह सेवा तो वर्तमान दशा अन्तर में झुके, तब उसकी सेवा हुई कहलाये। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : सेवा किसी की की तो होगी ही न?

पूज्य गुरुदेवश्री : राग की सेवा की है। दूसरी किसकी? अनादि की राग की सेवा

की है, पर की तो कोई कर नहीं सकता, क्योंकि पर कहाँ उसकी अवस्थारहित खाली है, वह (कि) यह उसकी अवस्था करने जाये।

मुमुक्षु : मदद तो करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका अर्थ क्या हुआ? परपदार्थ उसके कार्य से रहित फालतू नहीं है, तो कार्य तो परपदार्थ में क्षण-क्षण में होता है तो उसमें पर का कार्य करने जाये कहाँ? अपने राग का कार्य करे। राग, राग। आहा..हा..!

मुमुक्षु : जगत् का कल्याण कब करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : जगत् का कल्याण कब करता था? कल्याण की अवस्था का कार्य करनेवाला तो उसका आत्मा है। कल्याणरूपी कार्य है और कार्य का करनेवाला उसका आत्मा है। उसका कार्य वह करे, उसमें दूसरा कल्याण करने वहाँ कहाँ जाये? अपना कार्य... आता है न एक?

मुमुक्षु : मानवता खतरे में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मानवता धूल में भी नहीं। आता है न? उस 'अनुभवप्रकाश' में कहीं आता है। अकर्तागुण बिना पर का कार्य करके अपना कार्य नहीं रहा। ऐसा कुछ शब्द आता है। समझ में आया? अनुभवप्रकाश में (आता है)। ऐसा कि अकर्तागुण को... ऐसा कुछ है। ऐसा है अन्दर, हों! एक शब्द यह तो याद आया, इसलिए जरा... वह है न अन्दर? क्या कहलाता है? कितने में? **कर्ता बिना निज कर्म का कर्ता नहीं होता।** अपना कर्तागुण कहते हैं। समझे न? **कर्म बिना स्वभावकर्म का अभाव होता, करण बिना परिणाम द्वारा जो स्वरूप का साधन था, वह नहीं होता।**

मुमुक्षु : अकर्ता में।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहीं डाला है। बहुत गुण हैं न? **अकारणकार्यत्व बिना परकार्य होने से निजकार्य का अभाव होता।** लो, समझ में आया? यहाँ यह कहना है। **अकारणकार्यत्व बिना...** भगवान आत्मा में अकारणकार्यत्व नाम का गुण है। आत्मा में अकारण, पर का कारण न होना और पर से कार्य न होना। पर के कार्य में कारण न हो और पर से अपने में कार्य न हो—ऐसा अकारणकार्य नाम का गुण है। यदि वह नहीं होता तो

परकार्य होते निजकार्य का अभाव होता। चन्दुभाई! अनुभवप्रकाश बहुत अच्छी... और अभी यह कार्य किया न कार्य? सेवा, सेवा? परकार्य होने पर निजकार्य का अभाव होता। परन्तु परकार्य करने की शक्ति है ही नहीं। पर के कार्य में कारण होने की शक्ति ही नहीं - ऐसा कहते हैं, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। परपदार्थ के कार्य में कारण होने की शक्ति ही नहीं और परपदार्थ कारण हो और आत्मा का कार्य हो—ऐसी आत्मा में शक्ति ही नहीं। आहा..हा..! समझ में आया?

मुमुक्षु : वात्सल्यता कहाँ से प्रगट हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : वात्सल्य कहाँ था? वात्सल्य, आत्मा में लीन होना, वह वात्सल्य है। प्रेम, अन्दर में लीन हो जाना, वह वात्सल्य है। वात्सल्य कैसा था दूसरा?

मुमुक्षु : प्रभावना वात्सल्य...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह प्रभावना (अर्थात्) प्र—विशेषरूप से, स्वरूप में भावना और एकाग्रता होना, वह प्रभावना है।

मुमुक्षु : अब पर का तो कुछ रखो।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर का कुछ है ही नहीं। मुफ्त का... यह पर का जरा आवे, तब इसे उत्साह ऐसा हो। परन्तु पर का कर नहीं सकता। इसे विकल्प आवे, विकल्प जो आवे कि इसका हो। विकल्प, वह नुकसानकारी है। उस विकल्प का कारण हो, ऐसा आत्मा में गुण ही नहीं और विकल्प से कार्य हो, ऐसा आत्मा में गुण नहीं। फिर प्रश्न क्या? कहो, आहा..हा..! व्यवहार विकल्प जो उठे कि इसका कुछ हो। उस विकल्प का कारण आत्मा हो - ऐसा आत्मा में गुण नहीं और विकल्प से कार्य आत्मा में हो, ऐसा गुण नहीं। ऐसा अकार्यकारणस्वभाव है इसका। सेठी! आहा..हा..!

मुमुक्षु : सबके पैर टूट जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सम्यग्दृष्टि का वात्सल्य स्वरूप में प्रेम / लीनता हो जाना और विशेष आत्मा की उग्रता, भावना होकर स्थिरता होना, उसका नाम प्रभावना है।

मुमुक्षु : वह तो निश्चय प्रभावना, हम व्यवहार प्रभावना...

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार का अर्थ ही (यह कि) वह वस्तु खोटी है। ऐसा यहाँ तो कहते हैं। व्यवहार का अर्थ अभूतार्थ / झूठा है। व्यवहार प्रभावना का अर्थ वह झूठी प्रभावना है।

मुमुक्षु : प्रभावना नहीं, ऐसा इसका अर्थ हुआ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, प्रभावना नहीं। ऐ.. सेठी!

मुमुक्षु : आपने तो बहुत प्रभावना की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करता था? ऐई! यह बाहर में घूमे न, इस सेठी के गाँव में। आहा..हा..! सोलह-सोलह लाख खर्च किये।

मुमुक्षु : गाँव में...

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु कहलाये क्या, तब ये सेठी है, पूना से। लो! हमारे पहिचान देनी हो तो। यह मीठालाल सेठी है। मीठालाल सेठी को बहुत पहिचानते हैं। गोदिका को थोड़े पहिचानते हैं। मीठालाल सेठी, नहीं? हाँ, इनके गाँव में एक गोदिका झवेरी ऐसा कहलाता है। नाम भी पहिचान खोटी देना, देखो न यह, आहा..हा..! वस्तु ऐसी है। समझे न?

अकार्यकारण बिना पर का कार्य होने से निज कार्य न रहे। अपने ही कार्य में स्वयं ही कारण और स्वयं ही कार्य। उसमें पर का कारण हो या पर से कार्य हो, ऐसा आत्मा के स्वरूप में-द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में नहीं है। समझ में आया? यह तो बहुत लिया है, दो घण्टे सम्मेदशिखर। अकार्यकारण का दो घण्टे-दो दिन व्याख्यान चला था। आत्मा की पर्याय में पर्याय ऐसी नहीं उसकी कि जो राग का कारण हो या पर के कार्य का कारण हो, ऐसी पर्याय नहीं है और वह पर्याय कार्य ऐसा है कि पर की पर्याय से कार्य हो, ऐसी वह पर्याय नहीं। द्रव्य-गुण तो ठीक परन्तु पर्याय नहीं। क्योंकि अकारणकार्य नाम का गुण, द्रव्य में है। गुण है तो गुण का आधार, गुण का आधार द्रव्य है तो जहाँ द्रव्य का लक्ष्य करने से अकार्यकारण गुण जो द्रव्य और गुण में व्याप्त था, उसकी एकाग्रता होने से वह अकार्यकारण नाम का गुण पर्याय में व्याप्त हुआ। पर्याय में व्याप्त होने से अकार्यकारणपना पर्याय में आया। अकार्यकारणपना पर्याय में आने पर, राग का कारण नहीं, वह स्वयं राग का कारण नहीं और राग से वह कार्य नहीं, ऐसी पर्याय हुई। व्यवहाररत्नत्रयरूपी राग का

निर्मल पर्याय कार्य, ऐसा इसकी पर्याय में नहीं है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! ऐई सेठी! आहा..हा..! समझ में आया? शान्तिभाई! ये दिल्ली के हैं। दिगम्बर साधु होनेवाले थे। देखो तो सही सामने, शर्माकर। दिगम्बर साधु, स्त्री, पुत्र हैं, फिर यह सुना तो गजब, भाई! भयंकर पाप में से बच गये। ऐसा है यह। खोटा नाम धराकर मिथ्यात्व में साधुपने का भयंकर पाप। ऐई! वैरागी व्यक्ति थे, स्त्री-पुत्र हैं। दिगम्बर नग्न (होनेवाले थे)। दो नमूने हैं हमारे, एक तो ये और वह, वह ब्रह्मचारी हैं दीपचन्दजी। दो दिगम्बर मुनि हो जानेवाले थे। यहाँ का सुना, फिर रुके, फिर लोग बेचारे न कहे कि अणुव्रत और महाव्रत धारनेवालों को भी बदल डाला। परन्तु थे कब तेरे अणुव्रत और महाव्रत? सुन न! आहा..हा..!

भाई! तुझे तेरे द्रव्य की खबर नहीं, बापू! वह द्रव्य ही ऐसा है, वस्तु ऐसी है और वस्तु जब कहो तो उसमें बसे हुए गुण बिना वस्तु कैसी? वस्तु, वस्तु-परन्तु क्या वस्तु, वस्तु? कोई शक्कर, परन्तु शक्कर क्या? उसका गुण, कायम रहनेवाला गुण होता है या नहीं? कायम शक्कर रहे, वह शक्कर कायम, तो उसके गुण कायम रहनेवाले बिना इस तत्त्व को कायम कहा किस प्रकार? इसी प्रकार आत्मा कायम, आत्मा कायम अर्थात् क्या? कि इसके स्वभाव ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि कायम - ऐसे गुणों में एक अकार्यकारण नाम का गुण कायम / शाश्वत् पड़ा है। आहा..हा..! समझ में आया?

आत्मा में अकार्यकारण नाम का गुण; जैसे वस्तु शाश्वत् है, नित्य है, ध्रुव है, अचल है; वैसे अकार्यकारण नाम का गुण नित्य है, ध्रुव है, अचल, अविनाशी है। वह गुण, उस गुण का जहाँ लक्ष्य करता है अर्थात् गुण का लक्ष्य अर्थात् गुणी। समझ में आया? यह तो आता है न, प्रवचनसार में नहीं आता? असाधारण ज्ञान को कारणरूप से ग्रहण करके.. भाई! भले एक गुण को असाधारण कारणरूप से ग्रहण करके, वहाँ ऐसी भाषा ली है। केवलज्ञान कैसे उत्पन्न हो? ऐसा लिया है। अपेक्षा है। यह तो कारणरूप से ग्रहण करने जाये, वहाँ पूरा द्रव्य ही कारण हो जाता है। पाठ तो-भाषा (तो) ऐसी आती है, टीका ली है अमृतचन्द्राचार्य ने।

भगवान आत्मा को ऐसे केवलज्ञानरूपी कार्य प्रगट करने के लिये असाधारण ऐसा जो ज्ञायकस्वभाव त्रिकाल, ज्ञायकस्वभाव ज्ञान को कारणरूप से ग्रहण करके कार्य प्रगट

होता है। वहाँ तो ज्ञानगुण (लिया है)। उसका अर्थ यह कि एक गुण का ऐसे लक्ष्य करने जाये, वहाँ द्रव्य पूरा अखण्ड आता है। समझ में आया? गुण पृथक् नहीं रहता। ध्रुव, ध्रुव। गुण भी ध्रुव है न? गुण भी कायम रहनेवाला सत् का सत्व है न? सत्व और सत् दो कायम रहनेवाले हैं। अभेद हैं, एकरूप है। ऐसी जहाँ अन्तर्दृष्टि करता है, वहाँ उसकी पर्याय में अकार्यकारण नाम की पर्याय प्रगट होती है; इसलिए द्रव्य भी अकार्यकारण, गुण अकार्यकारण और पर्याय भी अकार्यकारण (होती है)।

मुमुक्षु : गुण और द्रव्य मजबूत है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मजबूत है? तो क्या करे तुम्हारा... क्या कहलाता है? हॉल। किसने हॉल किया? कहा था उसे। हॉल किसने किया कहा यह? किसने खर्च किये सोलह लाख? कोई खर्च नहीं कर सकता। कौन खर्च करे? तुम आये थे या नहीं? फिर बेचारे ने कहा, महाराज! हमने कहाँ किया है? नरम व्यक्ति है। मैंने कहाँ किया है? सेठी!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कहे उसने मुखाग्र कराया। नहीं तो इनकार करे न। यह तो बेचारा नरम व्यक्ति है। मैंने कहाँ किया है? मैं कहाँ करता हूँ? ये सोलह लाख तुमने खर्च किये हैं यह? यह पाँच लाख का हॉल तुमने बनाया है?

मुमुक्षु : इन्होंने नहीं बनाया तो उद्घाटन इनके हाथ से क्यों किया?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसने किया? बापू! यह कठिन बात है। यह पदार्थविज्ञान पाठ सीखना कठिन है।

भगवान आत्मा किसी की पर्याय का कारण नहीं और किसी की पर्याय से कार्य होता नहीं। त्रिकाल ऐसा इसका स्वभाव है, तीनों काल ऐसा स्वभाव है। आहा..हा..! उसमें एक समय नहीं, तीनों काल ऐसा इसका स्वभाव है। ऐसे आत्मा की सम्यक् प्रतीति का अर्थ क्या हुआ? ऐसे आत्मा की सम्यक् प्रतीति, ऐसा आत्मा सम्यक् प्रतीति, सम्यक् प्रतीति में आ गया कि किसी की पर्याय से मुझमें कार्य नहीं होता और मेरी पर्याय से किसी में कार्य नहीं होता - ऐसा सम्यक् प्रतीति में यह आ गया। समझ में आया? कहो, दास!

भारी गजब और कठिन पड़े ऐसा है। एकान्त है, एकान्त। अब यह ही एकान्त है, सुन न! ऐसा कहते हैं, पर का कर सके, पर से हो - ऐसा कहो तो अनेकान्त कहलाये।

मुमुक्षु : ....प्रभावित हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह प्रभावित हो, वह तो स्पष्ट कहता है, कर सकता है - ऐसा कहता है। रतनचन्दजी। पर का कार्य न कर सके, न कर सके, ऐसा माने वह दिगम्बर जैन नहीं। वह तो पुकार करके स्पष्ट कहता है। अरे..! भगवान! कहाँ का कहाँ, भाई! तुझे खबर नहीं प्रभु! इस वस्तु में जो नहीं उसे तू मानता है तो वह असत्य वस्तु है, वह तो असत्य मान्यता हुई। भाई! असत्य मान्यता तो दु:खरूप है। असत्य हो, वह कहीं सुखरूप होगा? वह तो दु:खरूप है, दु:खरूप है। इसे खबर नहीं हो तो भी वह तो दु:खरूप है। इसे सुखरूप किस प्रकार होगी? समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं कि इसका प्रयत्न करना, क्योंकि वस्तु जो त्रिकाल है, उसमें यह शक्तियाँ एकाकार पड़ी हैं तो उनका भेद किये बिना शक्तिवान में अन्तर एकाकार होने से निरन्तर श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति प्रगट होने के लिये प्रयत्न करना। इसने राग करने के लिये प्रयत्न करना, किसी का करने के लिये (प्रयत्न करना), यह बात नहीं हैं। आहा..हा..! इस मोक्षमार्ग के लिये प्रयत्न करना - ऐसा कहा है न? या बीच में व्यवहार / राग आवे, उसके लिये प्रयत्न करना।

यह तो कल ऐसी इसकी टीका की है इसमें। वे लोग ऐसा कहते हैं कि राग बीच में आता है। राग करना नहीं पड़ता परन्तु आता है। कि, नहीं करना पड़ता है, ऐसा मार्ग शास्त्र का है। ऐसा सब आता है, उसकी अनेक प्रकार की बातें। चलने दो और चलने दो, यह सब ऐसा ही चलेगा। पंगु चले वह तो ऐसा ही चले न, वह कैसे चले? सीधा चले? आहा..हा..! वे लोग ऐसा कहते हैं, 'सोनगढ़िया'। कोई बाधा नहीं बापू! सोनगढ़िया कोई है ही नहीं, सब आत्मा हैं। ऐसा कहते हैं कि विकल्प तो अपने आप आता है। पंच महाव्रत का, अणुव्रत का विकल्प अपने आप आता है, वह चारित्र नहीं है। नहीं चारित्र है और करना पड़ता है, ऐसा आया है। भाई! राग करना, वह स्वरूप में ही नहीं न, और राग टालना वह भी स्वरूप में नहीं है। आहा..हा..! ऐसा जो आत्मा का स्वरूप, उसे उस प्रकार से

सम्यक्श्रद्धा / प्रतीति में लेना, तब उसमें सब आ गया। जितने गुणों का जो कार्य, पर्याय में होता है, वह सब प्रतीति में आ गया। आया या नहीं ? आहा..हा..!

तब जैसा पदार्थ है, उससे विपरीत माने तो वह सम्यक् कहलाये ? सम्यग्ज्ञान कहलाये ? पदार्थ तो ऐसा भगवान आत्मा है। यह क्या, प्रत्येक पदार्थ ऐसा है। किसी का कारण हो, ऐसा कोई पदार्थ होता नहीं। यह तो सब व्यवहार की बातें हैं। समझ में आया ? यह तो जागृत ज्योत है। जागृत है यह तो। दूसरे तो अन्धे (ज्ञानहीन) तत्त्व, वह तो अपने आप परिणमन हुआ करता है। वह कहाँ... यह (आत्मा) तो जागती चैतन्यज्योति है, वस्तु है। समझ में आया ? उसमें ऐसे अनादि-अनन्त गुण ही भरे हैं, स्वयं अनादि-अनन्त अर्थात् एक समय में ध्रुव है; वैसे उसकी शक्तियाँ एक समय में सब ध्रुव है। वह स्वयं ध्रुव अर्थात् ध्रुव तो उसके स्वभाव बिना ध्रुव किस प्रकार रहे ? ऐसे स्वभावसन्मुख, ऐसे स्वभाव की प्रतीति—उसका अर्थ यह कि यह आत्मा एक विकल्प का कारण करे - हो, ऐसा नहीं है और उस विकल्प से कार्य हो, ऐसा यह आत्मा नहीं है। ऐसे आत्मा की यथार्थ सन्मुख होवे और तब वह सम्यक् हो, नहीं तो सम्यक् होगा नहीं क्योंकि वस्तु का जैसा स्वभाव है, वैसी प्रतीति न करे और उससे विपरीत करे और सम्यक् हो, वह सम्यक् प्रतीति ही नहीं होती, सम्यक् जवाब नहीं दे, ऐसा कहते हैं। सेठी ! क्या, हीरालालजी ! समझ में आया या नहीं ? हीरालालजी ठण्डे व्यक्ति हैं, ठण्डे व्यक्ति हैं, बहुत नहीं बोलते। कहो, समझ में आया इसमें ? आहा..हा..!

ऐसे तो वास्तव में तो फिर बहुत लिया था, भाई ! उस दिन तो। इसका ज्ञानगुण है, उसमें यह अकार्यकारण (गुण) व्याप्त हो गया। अर्थात् ज्ञानगुण है, उसकी जो पर्याय हुई, उस पर्याय को किसी राग की मन्दता के कारण हुई या ज्ञानावरणीकर्म हटा, इसलिए हुई—ऐसा इसमें है नहीं, इसकी पर्याय में नहीं। चन्दुभाई ! थोड़े व्यक्ति थे। संघ निकल गया था, फिर अकार्यकारण पर दो घण्टे चला था। सम्मेदशिखर थे तुम ? बाद में, तुम थे ?

वस्तु ऐसी है कि उसका एक ज्ञानगुण लो। वस्तु ध्रुव, गुण ध्रुव। गुण ध्रुव में ऐसा उसका स्वभाव है कि उसकी जो पर्याय हुई, वह पर्याय किसी के कारण से हो या वह पर्याय किसी को कारण हो और कार्य हो - ऐसी ज्ञान की पर्याय नहीं। भाई ! ...उस दिन

तो कुछ लिखा नहीं होगा ? थोड़े व्यक्ति थे, उतारा नहीं होगा उस दिन तो। नहीं उतारा था। तुम थे ? सब थे न ? समझ में आया ? भाई ! जैसा है, उस वस्तु को वैसा उसका ज्ञान काम करे, तब सम्यक् कहलाये ? या उससे विपरीत करे तब सम्यक् कहलाये ?

मुमुक्षु : जैसा हो, उसमें कोई इनकार नहीं करता।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु अब अभी कैसा है, उसका ख्याल किये बिना ज्ञान होगा किस प्रकार से इसे ? समझ में आया ? ऐसे आत्मा में सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट हुई, वह कोई व्यवहार था, तो वह प्रगट हुई, ऐसा नहीं और उस राग को सम्यग्दर्शन-पर्याय उत्पन्न करे ऐसा, वह कारण नहीं। व्यवहार को उत्पन्न करे, ऐसी सम्यग्दर्शन पर्याय कारण नहीं, व्यवहार से उत्पन्न हो, ऐसा सम्यग्दर्शन कार्य नहीं।

मुमुक्षु : यह तो बराबर है परन्तु व्यवहार से निश्चय के नजदीक जाया जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु फिर कहाँ नजदीक-फजदीक था कब इसमें ? आहा..हा..! कहो, समझ में आया या नहीं ? प्रभुभाई ! उस दिन वहाँ सम्मेदशिखर में थे या नहीं ? बाद में थे या चले गये थे ? थे ? कहो, समझ में आया इसमें ?

फिर एक-एक गुण पर उतारा था। फिर निश्चिन्तता से स्वाध्याय होता था न ? भाई ! वस्तु ऐसी है। ऐसी है, वैसा उसके अन्तर-सन्मुख न हो... ऐसा ज्ञान में लेकर सन्मुख हो, तब सम्यक् अनुभव होता है। इसके बिना सम्यक् / सच्चा अनुभव नहीं होता। क्योंकि वस्तु जैसी है, वैसी तो ख्याल में आती नहीं और ख्याल में आये बिना सत्य का अनुभव हो - ऐसा नहीं हो सकता। कहो, सेठी ! इसमें इनकार किया जाये, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : इसमें किसलिए इनकार करे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु ऐसी है। इसे जगत के आवाज और शरीर की पर्याय में कारण होना है, कहते हैं कि बड़ी भ्रान्ति है, भ्रम खड़ा किया है। आहा..हा..! यह भगवान, भ्रम में भूला पड़ा है। शशीभाई !

उन्हें सदैव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप... तब सम्यक् प्रतीति तो उस वस्तु की करनी है न ? तो वस्तु कैसी है, उसकी जहाँ खबर नहीं तो प्रतीति किस

प्रकार करेगा ? समझ में आया ? सम्यग्ज्ञान, वह भी उसका; सम्यक्चारित्र। जैसी श्रद्धा और ज्ञान, जैसा स्वरूप है, वैसा होना, इसलिए उसमें स्थिरता भी वैसे ही स्वरूप में होती है। फिर उसे राग में स्थिरता नहीं होती। समझ में आया ? सेठी ! सेठी कहते हैं यह जयपुर में कितना समय व्यतीत करके आये और अब फिर ऐसा आया, लो ! यह तो सब शून्य लगाने का हुआ, लो ! इतना-इतना सेठी ने और महेन्द्रभाई ने कितनी मेहनत की। वहाँ तीन व्यक्ति करनेवाले थे मुख्य महेन्द्रभाई, पाटनी और गोदिका। ये तीन-तीन। परन्तु सहज पर्याय होनेवाली है तो ऐसा बना था।

ओहो..हो.. ! अठारह हाथी, पच्चीस-तीस हजार लोग, रथ में साथ में लाखों लोग परन्तु इस जयपुर में यह ? पहले विरोध करनेवाले यहाँ गाँव में थे, वे सब कहाँ गये ? सहज विरोध किया उस समय.. १४४ धारा। ऐसा बाहर दूसरा नहीं हुआ। लोग तो ऐसे बेचारे देखते, सेठिया, हों ! मन्दिरमार्गी सेठिया। वह नहीं क्या कहा ? सुराणा। ओहो.. ! उसके घर चरण करने गये थे न, आपके तो चरण हों तो निहाल हो जायें - ऐसा बेचारा सबको बहुतों को गहरे-गहरे ऐसा है न ! परन्तु यह निहाल होने का मार्ग है बापू ! यह चरण अर्थात् यह कहते हैं, वह समझे तो निहाल होने का रास्ता है।

कहते हैं **निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए।** आहा..हा.. ! जिसका प्रेम लगा, उससे दृष्टि कैसे हटे ? जिसका माहात्म्य जागृत हुआ... समझ में आया ? **जो जीव मोक्ष की मात्र चर्चा-वार्ता तो करते रहें...** ऐसा अब कहते हैं। है न ? **किन्तु मोक्ष के मार्ग की खोज न करें...** ठीक लिखा है। मार्ग की खोज तो अन्तर में होती है, ऐसा कहते हैं। बात किया करे, यह तो क्या ? यह तो बात तो परवस्तु है। बात भी परवस्तु है और विकल्प उठे, वह भी पर है। इसलिए कहते हैं कि बात किया करे... परन्तु वे वापस ऐसा कहे बात करना नहीं, कुछ अणुव्रत, व्रत और अपवास करो, यह कुछ किया कहलाता है। अरे ! बापू ! भगवान ! परन्तु वह विकल्प है, वह वस्तु में ही नहीं है न ! आहा..हा.. ! कहो, बल्लभदासभाई !

मुमुक्षु : आज तो रविवार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : रविवार है।

मुमुक्षु : बात करने तक तो पहुँचा कहलाये न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बात किसकी थी, वह पहुँचे ? बात पुद्गल की है। कहाँ पहुँचा था ? पुद्गल की पर्याय में पहुँचा कहाँ ? आहा..हा..! और विकल्प उठा, वह वास्तव में तो पुद्गल है। स्वभाव में कहाँ वस्तु है ? पुद्गल के परिणाम, इसलिए एक अपेक्षा से कह दिया कि जाओ! पुद्गल परिणाम। व्यवहाररत्नत्रय (पुद्गल के परिणाम हैं)। गजब बात। ये लोग शरीर की क्रिया... अब भाई! सुन न शरीर की क्रिया नहीं, राग परन्तु वह राग भी बापू! वह आत्मा का स्वरूप नहीं है, वह अज्ञान में जाता है। भगवान जब ज्ञानस्वरूप है तो राग अज्ञान स्वरूप है। तो यह भगवान चैतन्य है तो वह (राग) अज्ञान पुद्गल है - ऐसा यहाँ कहने में आता है। सुन न अब। ए.. शशीभाई! अरे! कठिनाई से समय मिला और उसमें यह क्या इनकार करता है ? थोड़ा समय है। आँख बन्द करके चला जाता है। ऐसे देह की स्थिति लेकर आया, उतनी स्थिति तो चली ही जाती है, चली ही जाती है, चली ही जाती है। देह छूटने का काल ऐसे निकट आता जाता है। यह सब फू.. हो जायेगा। कुछ नहीं रहेगा। ये परिचित और पहिचाननेवाले और यह पहिचाननेवाले और ये पहिचाननेवाले कहीं नहीं रहेंगे कोई। आहा..हा..!

मुमुक्षु : सुनते हैं, तब चमक लगती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुनने पर चमक लगे, वह सदा रखनी चाहिए - ऐसा कहते हैं। सदा ही कहा नहीं ? इस भगवान आत्मा की सम्हाल हमेशा रखना, भाई! तेरी पूँजी की सम्हाल नहीं रखता ? समझ में आया ? बनिये को पूँजी हो और फिर ब्याज कितना दिया, यह ध्यान रखा करता है कि उपजेगा या नहीं, ब्याज आयेगा या नहीं, पूँजी रहेगी ? सब ध्यान रखता है कि भाई! ऐसा लगता है कि इसमें नहीं हो तो पहले ले आवे, भाई! पहले मेरे पैसे दो। ऐसा दीवाला निकालने का सुना हो न किसी से। बनिया वहाँ पहले जाये, हों! जाकर कहे - भाईसाहेब! मेरे लाओ पहले, हों! वहाँ दूसरा आवे। ऐई! बाहर में खोटा पड़ा है। वह गया ? सीधा हो जाये। बेचारा कठिनाई से चलाता हो, उसमें ऐसा बहुतों को हुआ है न ऐसा ? क्यों अमरचन्दभाई! होता है या नहीं ऐसा ? बहुतों को ऐसा हुआ है, हों! आहा..हा..!

मोक्ष के मार्ग की खोज न करें... भाषा देखो! बात नहीं, विकल्प नहीं। भगवान

आत्मा जैसा पूर्ण स्वभाव है, उस ओर का झुकाव, वह खोज है, खोज है, खोजना-शोधना है। जिसमें हो, उसमें से खोजना न? यह मोक्षमार्ग और आत्मा, राग में और पर में है? **मोक्ष के मार्ग की खोज न करें और उसके अनुसार चलने का प्रयत्न न करें..** वापस ऐसा। प्रतीति और ज्ञान होकर भी उसके अनुसार रमण न करे। दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों लेना है न यहाँ तो? **तो कभी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते...** अर्थात् पूर्ण शुद्धता को प्राप्त नहीं करते। जहाँ पूर्ण शुद्धता पड़ी है, उसमें शोध और खोज न करे तो पूर्ण शुद्धता को प्राप्त नहीं कर सकता। वह की वह दशा है, वह रहे **और जो जीव उसके मार्ग में चलते हैं...** जो जीव उसके अर्थात् आत्मा के मार्ग में चलते हैं, **अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं,...** एक ही व्याख्या ली है पहले। यह तो फिर आया, इसलिए ज्ञान और चारित्र आवे ही वह। उसके साथ इसलिए यह लिया। आहा..हा..! रुचि अनुयायी वीर्य। जिसमें रुचि हुई, उसके अनुसार वीर्य स्फुरित हुए बिना नहीं रहता। जिसकी आवश्यकता ज्ञात हो, वहाँ पुरुषार्थ किये बिना नहीं रहता। समझ में आया?

सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं, वह जीव तुरन्त ही मोक्ष के परमधाम में पहुँच जाते हैं। पाठ का स्पष्टीकरण तो एक ही में से किया क्योंकि यह तो सम्यग्दर्शन में, सम्यक् ज्ञान भी है, आंशिक भी है और सम्यग्दर्शन में पूर्ण प्राप्ति करना, ऐसी भावना भी साथ में होती है। समझ में आया? **वह जीव तुरन्त ही मोक्ष के परमधाम...** अर्थात् अपना परमधाम। कौन? अपनी पूर्ण शुद्धधाम / दशा अनन्त महिमावाली पूर्ण, उसे वह प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार (तत्त्वज्ञानपूर्वक) पाँचों पाप के त्याग सहित... टोटल कहते हैं। यह अणुव्रत की व्याख्या है न? इस प्रकार तत्त्वज्ञानपूर्वक अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक, **पाँचों पाप के त्यागसहित पाँच अणुव्रत...** देखो! पाँचों पाप का त्याग हुआ न? तीव्र हिंसा, तीव्र झूठ आदि आसक्ति का (त्याग हुआ)। दृष्टि में तो सबका अभाव ही है, परन्तु अब स्थिरता में अस्थिरता का त्याग है, उसे यहाँ अणुव्रत कहने में आता है। समझ में आया?

पाँचों पाप के त्यागसहित पाँच अणुव्रत तथा रात्रिभोजन के त्याग का वर्णन करके... लो! रात्रिभोजन भी एक अणुव्रत के साथ में, अणुव्रत है। अहिंसा अणुव्रत क्यों कहा? बहुत स्पष्टीकरण आया है उसमें। अणुव्रत क्यों कहा? कि रात्रि में नहीं खाना और

दिन में खाना, इसलिए व्रत पूरा नहीं हुआ। दिन, रात्रि का त्याग नहीं हुआ न? अर्थात् रात्रि का त्याग हुआ, दिन की छूट रही; इसलिए इस व्रत को इस हिसाब से अणु कहा। उन पंच अणुव्रत के उपरान्त आया था न? रत्ननिबन्धावली। समझ में आया?

अहिंसा सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का अंश प्रगट हुआ है, उसमें तीव्र हिंसा आदि का त्याग है। समझ में आया? और साथ में रात्रिभोजन का त्याग है। रात्रिभोजन में भी बहुत हिंसा होती है, बहुत त्रस जीव मरते हैं। उनकी व्याख्या बहुत आ गयी है। समझ में आया? रात के भाग में, ठण्डे समय में दिन के बारीक छोटे जन्तु कौने में बैठे हों, गन्दगी में बैठे हों, कोई ठाम-ठीकरा के सहारे बैठे हों, कौने में अन्धेरे का सहारा देखकर वहाँ बैठे हों, वे जहाँ रात्रि का प्रकाश हो, दीपक आदि हो, वहाँ उड़कर आते हैं। इसलिए खानेवाले के उसमें (आहार में) गिरते हैं। वह माँस का आहार जैसा हो जाता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? रात्रि में उसका आहार नहीं खाना चाहिए। रात्रि में आहार नहीं करना चाहिए। देखो! आया इसमें? नवरंगभाई!

स्वभाव का विशेष आश्रय लेकर राग घटे, इसलिए ऐसे निमित्त भी वहाँ उसे नहीं होते। रात्रि में खाने का भाव नहीं होता। (वह भाव) हिंसा है, बहुत पाप है, बारीक उड़ते जीव, पतंगे वे दाल-भात, गर्म रोटी की गन्ध में वहाँ से उड़कर निकले हों और दिन के (जीव) सहारे बैठे हों, वे उजाले में बहुत बैठे हों, ऐसे जरा जगह ऐसे करो तो नीचे बहुत होते हैं। वे सब रात के ठण्डी में बैठे हों। आँखें कितनी हों इसे, यह सब देखता नहीं। इसलिए कि यहाँ नहीं कोई, ऐसा करके वहाँ बारीक-बारीक जन्तु अनाज की गन्ध में आते हैं, गिरते हैं और वह रोटी दाल, चावल, सब्जी खानेवाले को माँस खाने का पाप लगता है। ऐ.. शशीभाई!

इस प्रकार (तत्त्वज्ञानपूर्वक) पाँच अणुव्रत तथा रात्रिभोजन के त्याग का वर्णन करके अब सात शीलव्रतों का वर्णन करते हैं। इसके बाद सात शील (व्रत)। बारह व्रत हैं न? **क्योंकि सात शीलव्रत...** वे कैसे हैं? **पाँच अणुव्रतों की रक्षा करने के लिये नगर के कोट समान हैं।** हैं न? १३६ में पाठ है। उसका पहले उपोद्घात किया है। जैसे नगर को कोट होती है, वैसे सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानसहित के पाँच अणुव्रत के भाव

को सात शिक्षाव्रत रक्षा करनेवाले हैं। समझ में आया? और जितना अणुव्रत-राग का अभाव हुआ, उतनी अहिंसा हुई; जितना राग का भाग रहा, उतना हिंसा रही है। जितना राग का भाग रहा, वह हिंसा है, यह पहले आ गया है।

मिथ्यात्व, वह बड़ा परिग्रह है और हिंसा है। जैसा आत्मा का स्वरूप है, उससे विपरीत मान्यता का भाव, वह बड़ी हिंसा परिग्रह है। वह बड़ा परिग्रह है। सबमे बड़ा परिग्रह वह है। उसके त्याग में सम्यग्दर्शन जो महा अहिंसा और अपरिग्रह-पूरा अपरिग्रह; वस्तु अखण्डानन्द निवृत्तस्वरूप की प्रतीति हुई, वह भी महा अपरिग्रह दृष्टि हुई। समझ में आया? आहा..हा..!

उसे **पाँच अणुव्रतों की रक्षा करने के लिये नगर के कोट समान हैं। जैसे किला नगर का रक्षण करता है, वैसे ही सात शीलव्रत पाँच अणुव्रतों की रक्षा करते हैं।** लो! अब इन सात शीलव्रतों की व्याख्या (आयेगी)। उनमें तीन गुणव्रत हैं, चार शिक्षाव्रत हैं। उसमें जरा अन्तर उसमें यह लोग कहते हैं न? छठे, सातवें में उपभोग आता है, इसमें सातवाँ दिग्व्रत आता है। दिग्व्रत उसमें जाता है। पहले में दिग्व्रत दसवें में जाता है, यहाँ दिग्व्रत यहाँ सातवें में आता है। सातवाँ उपभोग है, वह उसमें जाता है यहाँ। सामायिक, प्रौषध, उपभोग और वैयावृत्त्य। ऐसा जरा फेरफार है। छठवें में आजीवन का अमुक क्षेत्र में त्याग है और दिग्व्रत में अमुक क्षेत्र से बाहर नहीं जाना, ऐसा जो तीव्र विकल्प है, उसका भी पाप है अर्थात् हिंसा है। उसे घटाना, उतनी अहिंसा होती है। बाहर राग में छूट रखना, उतना पाप है, उसे घटाना उतनी अहिंसा पुष्टि होती है, उसके लिये सात शीलव्रत की व्याख्या करेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव)

गाथा - १३६

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि।।१३६।।

ज्यों नगर रक्षक परिधि त्यों, हैं शील रक्षक व्रतों के।
अतएव व्रत को पालने, नित शील पालन चाहिए।।१३६।।

अन्वयार्थ : (किल) निश्चय से (परिधय: इव) जैसे कोट, किला (नगराणि) नगरों की रक्षा करता है, उसी तरह (शीलानि) तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत-यह सात शील (व्रतानि) पाँचों अणुव्रतों का (पालयन्ति) पालन अर्थात् रक्षण करते हैं, (तस्मात्) इसलिए (व्रतपालनाय) व्रतों का पालन करने के लिए (शीलानि) सात शीलव्रत (अपि) भी (पालनीयानि) पालन करना चाहिए।

टीका : 'किल शीलानि व्रतानि पालयन्ति परिधय: नगराणि इव तस्मात् व्रतपालनाय शीलानि अपि पालनीयानि'-अर्थ:-निश्चय से जो सात शीलव्रत हैं, वे पाँचों अणुव्रतों की रक्षा करते हैं, जिस प्रकार कोट, नगर की रक्षा करता है। इसलिए पाँच अणुव्रतों का पालन करने के लिये तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार इन सात शीलव्रतों को अवश्य पालन करना ही चाहिए। अब उनका ही वर्णन करते हैं, वह सुनो। तीन गुणव्रतों के नाम:- १ दिग्व्रत, २ देशव्रत, ३ अनर्थदण्डत्यागव्रत। चार शिक्षाव्रतों के नाम :- १ सामायिक, २ प्रौषधोपवास, ३ भोगोपभोगपरिमाणव्रत, ४ वैयावृत्त। इस प्रकार यह सात शीलव्रत हैं।।१३६।।

प्रवचन नं. ५८ गाथा-१३६ से १४० सोमवार, आषाढ़ शुक्ल ३, दिनांक १०.०७.१९६७

क्या चला है यह ? श्रावक के व्रत। पाँच अणुव्रत के बाद सात शीलव्रत हैं, उनकी व्याख्या चलती है। आत्मा शुद्ध चैतन्य का, दृष्टि का अनुभव होने के बाद, सम्यग्दर्शन होने

के बाद आत्मा जगत का साक्षी है - ऐसा ज्ञान में अन्तर में स्वयं को प्रत्यक्ष भासित होने से, जो प्रतीति / सम्यग्दर्शन हुआ, उसके पश्चात् श्रावक को पाँच अणुव्रत यथाशक्ति लेना, पालना, यह अधिकार चलता है और पाँच अणुव्रत के बाद सात शिक्षाव्रत, सात शीलव्रत की व्याख्या है। देखो अब कहते हैं, १३६। १३५ में आया था बहुत कल एक घण्टे। वहाँ था न? **'त्रितयात्मनि'** सम्यग्दर्शन, ज्ञानसहित चारित्र हो, उसे व्रत होते हैं, उसे यथार्थ व्रत कहने में आता है। अन्तर का दर्शन सम्यक् नहीं, सम्यग्ज्ञान नहीं, उसे चारित्र नहीं; इसलिए व्रत के विकल्प भी व्यवहार से भी उसे नहीं हो सकते। सेठी! पाँच अणुव्रत के बाद सात शीलव्रत। १३६ में उनकी व्याख्या है। **'परिधय'** १३६ गाथा।

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि।।१३६।।

यह अधिकार व्यवहार का बहुत आवे न, वह लोगों को जँच जाता है। पहला मूल जो था, वह बात उन्हें दृष्टि में नहीं रहती। दर्शन और ज्ञान पहली बात कर गये हैं।

मुमुक्षु : दर्शन और ज्ञान तो होते ही हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : दर्शन, ज्ञान किसके? धूल में हों भान बिना? ऐसा कहते हैं, यह व्रत लेते हैं, उन्हें दर्शन-ज्ञान तो होते ही हैं।

मुमुक्षु : जन्म से होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : जन्म से होते हैं, लो! ठीक!

मुमुक्षु : इनके गाँव के ही हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इनके गाँव के बिना भान के। पहले यहाँ भड़कते थे। पुण्य की बात कि दया, दान, व्रत वह पुण्य है, धर्म नहीं। चलो भाई! सुनते हैं... लगे तो क्या करे?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : अर्थात्। यह बात सच्ची। यह ठीक याद किया, हों! शुभभाव पुण्य, वह अधर्म है, धर्म नहीं। चिल्लाने लगे चिल्लाने। यह जयपुर के लो! सेठी! खबर नहीं होती खबर। मूल वस्तु, वह विकल्प जो व्रत है, उसके पीछे स्थिरता होती है और उसके पीछे दर्शन और ज्ञान होते हैं। समझ में आया?

स्वरूप शुद्ध चैतन्यवस्तु का अन्तर में राग से भेद पाड़कर, भेदज्ञान करके अन्तर्दृष्टि हुई, निर्विकल्प आत्मा है—ऐसी निर्विकल्प दृष्टि हुई, तब उसका-चैतन्य का परिज्ञान सम्यक् हुआ। उस ज्ञान में पश्चात् विशेष स्थिरता का अंश हो, उसे वास्तव में चारित्र कहते हैं और उस चारित्र के प्रसंग में ऐसे पाँच अणुव्रत के विकल्प व्यवहार से उसे होते हैं। उसे यहाँ चारित्ररूप से, व्यवहाररूप से कहा है। समझ में आया?

इसका अन्वयार्थ। है न १३६? दो के शब्द में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। कल लिया नहीं? वहाँ पहले उसकी टीका का अन्वयार्थ भरा है और टोडरमलजी की अन्दर टीका भरी है। ठीक थोड़ा-थोड़ा अन्तर है यहाँ। पहले में '**किल परिधयः इव**' है। पहले में '**किल शीलानि व्रतानि पालयन्ति परिधयः नगराणि इव**' है। यह सब मेल विषयवाला है अधिक। वास्तव में **निश्चय से जैसे कोट, किला...** कोट होती है न? पहले राजा अपने नगर की रक्षा के लिये कोट रखते थे - बड़ा गढ़। कि जिससे बड़े-बड़े दरवाजे हों, अमुक खिड़कियाँ रखे, ये खिड़कियाँ फिर रात में सब बन्द कर दे। दूसरे राजा चढ़ न आवें, अन्दर नुकसान न करें अथवा चोर लोग रात्रि को प्रवेश न करें, ऐसे बड़े गढ़ रखते थे, गढ़।

यहाँ कहते हैं कि **निश्चय से जैसे कोट, किला नगरों की रक्षा करता है, उसी तरह तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत-यह सात शील...** इसका अर्थ नीचे आयेगा। **पाँचों अणुव्रतों का पालन अर्थात् रक्षण करते हैं,...** पाँच अणुव्रतरूपी गढ़। समझ में आया? यह नगर। इसका सात अणु, शिक्षा-शीलव्रत इसका रक्षण करते हैं। भाषा देखो न! पाँच अणुव्रतरूपी नगर का सात शीलव्रतरूपी गढ़ रक्षण करते हैं क्योंकि सात शीलव्रत में भी राग की मन्दता (होती है)। राग घटता है, उतनी हिंसा घटती है और जितना राग बाकी रहा, उतना अभी श्रावक को त्याग नहीं है। उतनी हिंसा भी होती है। इसे सब जानना तो पड़ेगा या नहीं? व्रत का स्वरूप क्या? चारित्र का स्वरूप क्या? अणुव्रत का स्वरूप क्या? इसके ज्ञान बिना किसे आदरना और किसे छोड़ना, यह निर्णय नहीं कर सकेगा।

मुमुक्षु : करना है, उसमें जानना कहाँ आया?

पूज्य गुरुदेवश्री : जानना नहीं आया? पहले जाने बिना करेगा किसमें?

मुमुक्षु : अपने में।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु क्या? स्वयं कौन है, इसे जाने बिना? कहो, स्वयं चैतन्यवस्तु है, अकेले ज्ञायकस्वभाव से भरपूर तत्त्व है, अनादि-अनन्त है। ओहो! चौरासी लाख अवतार में कहाँ नहीं था यह? नहीं था कहाँ और कहाँ था? कहाँ भवरहित था? अनन्त काल में कहाँ यह नहीं था और कहाँ यह भवरहित था? अनादि.. अनादि.. अनादि.. ऐसे अनन्त भव किये? वस्तु तो वह की वह है। उसकी अवस्था में विकार और भ्रमणा के भाव और बाहर का संयोग। अनन्त-अनन्त भव गये। अनन्त भव।

कल एक दृष्टान्त नहीं आया? वह एक चिता का दृष्टान्त लड़कों ने पढ़ा। एक महिला गर्भवती थी और मर गयी। कल कुछ दृष्टान्त था। 'जयहिन्द' (पेपर) में था। कोई शाम को यहाँ लाया था। कोई ऐसा लड़का हो न, वह लावे। शाम को आहार करके घूमते हैं न, फुरसत हो वह आवे। एक गर्भवती महिमा मर गयी। अन्दर जीव था। अर्थी में बाँधकर, चिता में डाली, चिता हिली, सुलगाया एक ओर, वहाँ शरीर तो मर गया था, वह अन्दर जीव जीवित, जहर नहीं चढ़ा, कहो, देखो न! एक आयुष्य की स्थिति! आयुष्य बलवान। ऐसे जहाँ इस ओर जलाया वहाँ प्रसव हो गया। ऊँहकारा किया, ऊँहकारा। तब उन जलानेवालों को लगा अरे! कुछ है इसमें? लकड़ियाँ हटाई तो बालक ले लिया, देखो! जगत में ऐसे अनन्त अवतार किये हैं। मर गया मुर्दा, उसमें दो-दो घण्टे रहा होगा या नहीं? कि मरने के बाद कुछ अर्थी बाँधे, कुछ फिर रास्ते में से लेकर श्मशान ले जाये, श्मशान में वापस लकड़ियाँ जमावे, वापिस जलाया, तब तक जीवित, देखो न! एक आयुष्य की स्थिति! ओहो..हो..! कहो, उसमें फिर लकड़ियाँ कुछ पोली होंगी, वह उसमें से निकल गया। बच्चे ने ऊँहकार किया तो लोगों ने (देखा)। अरे! कुछ बच्चा है। इसमें बालक है, लो! बालक को तेरह दिन हुए हैं, ऐसा कल लिखा था। बालक मर नहीं गया, अच्छा है। देखो! एक स्थिति! भगवान आत्मा तो नित्यध्रुव वज्रबिम्ब अन्दर है। पर्याय में पर का लक्ष्य करके, अपने भाव को छोड़कर, राग-द्वेष और अज्ञान किये, उसके भाव निमित्त पाकर परमाणु को भी उस प्रकार से रचने की पर्याय में उसकी योग्यता थी, वह हुई, उसकी उस प्रकार से शरीर की रचना भी उस प्रकार की हुई, उस प्रकार की शरीर की रचना का

परमाणुओं का भी काल होता है। उसमें इतना काल रहे, फिर चल निकले। ऐसे दूसरा, ऐसे तीसरा। चला। अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. समझ में आया?

ऐसे अनन्त अवतार बालकपने के, मनुष्यपने के अनन्त किये। पशु के अनन्त, देव के अनन्त, नारकी के (अनन्त)। सब देव के अनन्त का अर्थ ऐसा नहीं कि वहाँ देव अर्थात् अच्छा था। आकुलता, आकुलता (थी)। भगवान को भूल गया। शीतलनाथ भगवान आत्मा। शीतल, शान्त प्रभु अविकारी उपशमरस का कन्द आत्मा, उसे भूलकर विकार को अपना मानकर भ्रमण करता है। उसे कहते हैं कि भ्रमण मिटाने के उपाय में पहला सम्यग्दर्शन प्रगट किया है। समझ में आया? उसके साथ सम्यग्ज्ञान प्रगट किया, वह भवभ्रमण को मिटाने का उपाय बताते हैं। पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है न? पुरुष अर्थात् चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा की सिद्धि अर्थात् मुक्ति का उपाय। ऐसे परिभ्रमण में भटकता भ्रमता कहीं इसे इसकी दया नहीं आयी। अपनी दया अपने को नहीं आयी। आहा..हा..!

अरे! मैं यह भटकता हूँ, दुःखी होता हूँ, तड़फते हुए - पुकार करते-करते भव छोड़ता है, वह फिर दूसरा नया भव करता है। कहते हैं कि यह भव मिटाने का उपाय चैतन्यस्वरूप भगवान को, जिसमें भव का भाव नहीं ऐसा जो आत्मा, उसका अनुभव दृष्टि करके करना, यह पहला सम्यग्दर्शन, वह भव के अभाव का और मुक्ति के उपाय का पहला कारण है। आहा..! समझ में आया? यह दुःख सुनकर ऐसे थक जाता है। सुनो! बोलते क्यों हो? समझ में आया इसमें?

ज्ञान इसका करना कि यह कौन है? क्या है यह? जहाँ-जहाँ ज्ञान, वहाँ-वहाँ मैं; जहाँ-जहाँ राग, वहाँ-वहाँ मैं नहीं—ऐसा अन्तर में राग से भिन्न करके स्वभाव का भान करना, वह भव के अभाव का उपाय है और तीसरा जो स्वरूप में रमणता करना, विशेष स्थिरता करना, उसमें श्रावक के व्रत में पहले आंशिक स्थिरता होती है। उसे देशविरती होती है। वह इस प्रकार से, हों! सम्यग्दर्शन, ज्ञानपूर्वक (होती है) इसके बिना तो चारित्र हो नहीं सकता और उसके बिना उसे व्रत के विकल्प व्यवहार से भी नहीं हो सकते।

कहते हैं कि **पाँचों अणुव्रतों का पालन अर्थात् रक्षण करते हैं, इसलिए व्रतों का पालन करने के लिए सात शीलव्रत भी पालन करना चाहिए।** लो!

टीका : 'किल शीलानि व्रतानि पालयन्ति परिधयः नगराणि इव तस्मात् व्रतपालनाय शीलानि अपि पालनीयानि'- निश्चय से जो सात शीलव्रत हैं... शील के नाम देंगे नीचे, हों! शील अर्थात् जिसका स्वभाव पाँच अणुव्रत की रक्षा करने का ऐसा उसका स्वभाव, ऐसा। ऐसे शीलव्रत। **वे पाँचों अणुव्रतों की रक्षा करते हैं, जिस प्रकार कोट नगर की रक्षा करता है।** कोट / गढ़ है, वह नगर की रक्षा करता है। **इसलिए पाँच अणुव्रतों का पालन करने के लिये तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार इन सात शीलव्रतों को अवश्य पालन करना ही चाहिए। अब उनका ही वर्णन करते हैं, वह सुनो।**

तीन गुणव्रतों के नामः-१ दिग्व्रत,.. समस्त दिशाओं में अमुक मर्यादा आजीवन की बाँधना। आजीवन की, कि अमुक दिशा के बाहर मुझे नहीं जाना। इतनी ममता घटे, उतनी हिंसा घटे, उतनी अहिंसा बढ़े, ऐसा। समझ में आया? **१ दिग्व्रत,..** आजीवन तक अमुक दिशा के बाहर नहीं जाना। पूर्व-पश्चिम आदि बाँध लिया।

२ देशव्रत,... फिर जो आजीवन किया हो, उसमें भी कमी करना कि एक महीने तक, एक दिन में इतने से बाहर नहीं जाना, ऐसी यहाँ कमी करके (रहना), वह दिग्व्रत। उसमें दसवाँ आता है, सातवें में यह डाला है।

३ अनर्थदण्डत्याग व्रत। व्यर्थ के बिना प्रयोजन के पाप, ऐसे का त्याग करना, वह तीसरा गुणव्रत है।

चार शिक्षाव्रतों के नाम :- १ सामायिक,... सामायिक कहो, वह शिक्षा है। वह भी अणुव्रत की रक्षा करनेवाला है। सामायिक। सामायिक अर्थात् आत्मा में, ज्ञान में एकाकार होना और फिर न हो सके तो शुभ विकल्प है, उसे यहाँ वर्तमान व्यवहार सामायिक कहते हैं।

निश्चय सामायिक तो अन्दर में उपयोग में स्थिर हो जाना, उसका नाम सामायिक है परन्तु परमेष्ठी आदि का जरा विकल्प उठे, वह सम्यग्दर्शन ज्ञान और स्वरूप की स्थिरता के अंश की भूमिका में सामायिक का विकल्प (आवे)। यह तो मूल वस्तु नहीं रही और ऊपरी रह गयी। सामायिक करो हमेशा, सामायिक करो... परन्तु दर्शन-ज्ञान बिना किसकी

सामायिक ? यह तो सम्यग्दर्शन, ज्ञानसहित सामायिक में स्वरूप में स्थिरता करने का एक अखतरो है। अखतरो समझते हो ? आजमाईश, प्रयोग। आत्मा शुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्द है, ऐसी दृष्टि और ज्ञान हुआ है, अब उसमें स्थिरता करने का यह प्रयोग आजमाईश है। वह सामायिक हमेशा करने का प्रयोग (करता है कि) मैं वहाँ कितना स्थिर हो सकता हूँ। सबेरे, दोपहर, शाम जो वस्तु दृष्टि में अनुभव में ज्ञान में आयी है, उसमें स्थिर रह सकता हूँ या नहीं—उसकी वह आजमाईश है सामायिक। समझ में आया ?

२ प्रौषधोपवास,... पन्द्रह-पन्द्रह दिन आदि। वह भी पन्द्रह दिन बड़ा चौबीस घण्टे का प्रयोग, आजमाईश। वह (सामायिक) प्रतिदिन की है, यह पन्द्रह-पन्द्रह दिन में या सात दिन में या पूरे महीने में चार करते हैं। अन्तरस्वरूप जो शुद्धचैतन्य दृष्टि में, ज्ञान में आया था, उसमें कितना स्थिर रह सकता हूँ ?—उसका यह प्रयोग है। प्रौषध, उस स्वरूप में पोषण के लिये एक प्रयोग है, आजमाईश है, अखतरों है। सेठी! ये लोग सम्यग्दर्शन के बिना ये सब बहुत सामायिक और प्रौषध करते हैं, ऐ.. मोहनभाई! यह प्रौषध, सामायिक है ही नहीं। वह तो बिना ईकाई का शून्य है। अभी सच्चे देव-गुरु-शास्त्र किसे कहना, उसकी भी खबर नहीं होती, उनकी श्रद्धा का ठिकाना नहीं होता, उसमें आत्मा तो कहाँ रह गया ?

मुमुक्षु : सामायिक में नहीं आया ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सामायिक में कहाँ आया ? कौन सी सामायिक ? सामायिक में तो सम—आय—यिक प्रत्यय। समताभाव का लाभ। उस समताभाव का लाभ कब होता है ? कि वस्तु स्वयं वीतरागस्वरूप ही है, वीतरागरसस्वरूप है, समरसस्वरूपी है, ऐसी अन्तर्दृष्टि में वस्तु का भान आया है, उसमें स्थिर होने का नाम सामायिक है, उसका नाम प्रौषध है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : यह हो सकता है, इसलिए कहा न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हो सकता है न! केवलज्ञान हो सकता है, फिर इसकी कहाँ बात है। मिथ्या बेगार की सब। यह कर सकता है या नहीं ? तो ऐसा नहीं कर सकता ? विपरीत कर सके, सुलटा कर सके, यह तो इसका स्वभाव है। विपरीत करना, इसमें

स्वभाव है नहीं। पर्याय में व्यर्थ का करता है। मिथ्यात्व, राग-द्वेष विकार होना, वह इसके गुण-द्रव्य में स्वभाव है ही नहीं। यह तो पर्याय में स्वभाव एक समय की दशा का खड़ा किया है और यह तो इसका द्रव्य-गुण-स्वभाव ही ऐसा है। समझ में आया? शशीभाई!

भगवान आत्मा समस्वरूपी चैतन्य है न? ज्ञान वीतराग विज्ञानघन आत्मा है। ऐसा है, उसमें स्थिर होना, यह तो उसका स्वभाव है। विकार तो उसका स्वभाव है नहीं। वह तो एक समय की पर्याय में उठाईगीर खड़ा करता है। इसके द्रव्य-गुण में विकार भरा है? द्रव्य-गुण में तो अकेला शुद्ध, आनन्द, ज्ञान, पवित्रता और वीतरागता भरी है। समझ में आया? पर्याय में वीतरागता आयेगी, वह कहाँ से आयेगी? राग में से आयेगी? राग नाश हो, उसमें से आयेगी या इसमें है, इसमें से आयेगी?

पूरा आत्मा अकेला समरस वीतराग। समरस अर्थात् चारित्र और चारित्र अर्थात् वीतरागस्वरूप। यह वीतरागस्वरूप ही आत्मा है। ऐसी दृष्टि में, अनुभव में यह आत्मा, ऐसा भास प्रत्यक्ष हुआ नहीं और इसके बिना प्रतीति सच्ची नहीं होती और प्रतीति के बिना इसमें मुझे रमना है, यह वस्तु नजर पड़े बिना किसमें रमना? रमना अर्थात् चारित्र अर्थात् स्थिरता। समझ में आया? जिस चीज़ की खबर ही नहीं, उसमें स्थिरता कहाँ से आयी? सामायिक और प्रौषध, यह शिक्षाव्रत है, यह शीलव्रत है, यह अणुव्रत को पुष्टि देते हैं— ऐसा कहते हैं। आहा..हा..!

घर का-घर का घर देखे बिना, जहाँ-तहाँ सामायिक के नाम से भटके परन्तु घर-घर क्या है, उसकी तो खबर नहीं होती। उस घर में जाना है, वह घर हो उसमें जाना है। वह तो वस्तु ही स्वयं वीतराग निर्विकल्प ज्ञायकमूर्ति है। ऐसी जहाँ अन्तर्दृष्टि भरोसा, अनुभव-प्रतीति-ज्ञान हुए नहीं, वह अन्दर में प्रवेश किस प्रकार करेगा? सब फेरफारवाली बात है, सेठी! मूल बात है। ऐई, भगवानभाई! आहा..! सामायिक—स्वरूप जैसी समतारूप से वस्तु है, वैसी समता को अन्दर में प्रगट करना, उसका नाम सामायिक है। फिर विकल्प है, वह व्यवहारसामायिक कहलाता है।

प्रौषधोपवास,... उपवास, उपवास। स्वरूप में रमकर अन्दर स्थिर होना। जैसे चना पानी में पड़े और पोढ़ो होता है, पोढ़ो समझते हो? पुष्ट होता है न चना? वैसे आत्मा में शान्ति पड़ी है। एकाग्र होकर शान्ति द्वारा पुष्ट हो। पर्याय में शान्ति बढ़े, उसका नाम प्रौषध है।

मुमुक्षु : यह तो निश्चय प्रौषध है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बस! विकल्प साथ में हो, वह व्यवहार प्रौषध। इतना अन्दर भाव होवे तो विकल्प होवे, उसे व्यवहार कहते हैं। स्थिरता हो, उसे निश्चय कहते हैं। कहो, समझ में आया?

३ भोगोपभोगपरिमाण व्रत,... इसमें सातवाँ आता है, उसमें यह ग्यारहवाँ आया। जो वस्तु एक बार भोगने में आवे, या बारम्बार भोगने में आवे, उसकी कमी करना, माप करना, इतनी भी परपदार्थ के प्रति ममता घटाना। घटावे उतनी अन्दर अणुव्रत को पुष्टि मिलती है। लो!

वैयावृत्त अर्थात् मुनि। मुनि को आहार देना। धर्मात्मा सन्तों को, अतिथि को आहार और वैयावृत्त शामिल है। धर्मात्मा सन्त आत्मा के आनन्द में केलि करनेवाले, ऐसे मुनियों की सेवा, वैयावृत्ति वह भी बारहवाँ व्रत है। वह भी एक अणुव्रत की रक्षा के लिये एक गढ़ है।

गाथा - १३७

पहले दिग्व्रत नाम के गुणव्रत का स्वरूप कहते हैं:-

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोप्यभिज्ञानैः।
प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्त्तव्या विरतिरविचलिता।।१३७।।

नित सुप्रसिद्ध सुज्ञात से, सर्वत्र मर्यादा बना।
उससे बहिः पूर्वादि दिश में, नहीं जाना सर्वथा।।१३७।।

अन्वयार्थ : (सुप्रसिद्धैः) भले प्रकार प्रसिद्ध (अभिज्ञानैः) ग्राम, नदी, पर्वतादि भिन्न-भिन्न लक्षणों से (सर्वतः) सभी दिशाओं में (मर्यादां) मर्यादा (प्रविधाय) करके (प्राच्यादिभ्यः) पूर्वादि (दिग्भ्यः) दिशाओं में (अविचलिता विरतिः) गमन न करने की प्रतिज्ञा (कर्त्तव्या) करना चाहिए।

टीका : 'सुप्रसिद्धैः अभिज्ञानैः सर्वतः मर्यादां प्रविधाय प्राच्यादिभ्यः दिग्भ्यः

अविचलिता विरतिः कर्त्तव्या'-अर्थः-प्रसिद्ध तथा सर्वविदित महान पर्वतादि, नगरादि अथवा समुद्रादि से सीमा बाँधकर जीवनपर्यन्त चार दिशा, चार विदिशा और ऊपर तथा नीचे, इस प्रकार दशों दिशाओं में जाने की प्रतिज्ञा कर लेना चाहिए तत्पश्चात् उस बाँधी हुई मर्यादा से बाहर जीवनभर न जाने को दिग्व्रत कहते हैं। यहाँ पर्वत इत्यादि अथवा हवाई जहाज में बैठकर ऊपर जाने की अपेक्षा ऊर्ध्वदिशा का और कुआँ या समुद्रादि में घुसने की अपेक्षा अधोदिशा का ग्रहण किया गया है।।१३७।।

गाथा १३७ पर प्रवचन

अब, **पहले दिग्व्रत नाम के गुणव्रत का स्वरूप कहते हैं:-** लो! छठवाँ, छठवाँ व्रत।

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोप्यभिज्ञानैः।
प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्त्तव्या विरतिरविचलिता।।१३७।।

अन्वयार्थ : भले प्रकार प्रसिद्ध... प्रसिद्ध हो न जैसे कि यह मुम्बई, यह अमुक, अमुक गाँव हो न चारों ओर। **ग्राम, नदी, पर्वतादि भिन्न-भिन्न लक्षणों से...** पहिचाने जाते हों। ऐसे गंगा नदी, ऐसे जमुना, ऐसे अमुक इससे बाहर जाना नहीं। **सभी दिशाओं में मर्यादा...** चारों दिशाओं की मर्यादा **करके पूर्वादि दिशाओं में गमन न करने की प्रतिज्ञा...** इतनी ममता घटे न? पूर्व दिशा में अमुक तक, बाद में नहीं जाना, पश्चिम में अमुक तक नहीं जाना, उत्तर में इसके बाद नहीं जाना, दक्षिण में अमुक तक (नहीं जाना), ऐसे ऊर्ध्व, अधो भी (नहीं जाना)। **प्रतिज्ञा करना चाहिए।**

'सुप्रसिद्धैः अभिज्ञानैः सर्वतः मर्यादां प्रविधाय प्राच्यादिभ्यः दिग्भ्यः अविचलिता विरतिः कर्त्तव्या' देखो! यह चरणानुयोग का ग्रन्थ है। तत्त्वज्ञान की दृष्टि -सहित चरणानुयोग का आचरण समकिती को कैसा होता है, उसका यह वर्णन है। इसलिए चरणानुयोग को पढ़ना नहीं, समझना नहीं - ऐसा कुछ नहीं। समझ में आया? पढ़ना, समझना, चारों अनुयोग जानना, परन्तु सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये पहले द्रव्यानुयोग का अभ्यास, वह कार्यकारी है। समझ में आया? १३७ का अर्थ।

अर्थः-प्रसिद्ध तथा सर्वविदित... जाना हुआ हो न प्रसिद्ध ? जैसे कि भाई ! यह अमुक, यह मद्रास या इस ओर यह अमुक, देहरादून, ऐसे चारों दिशाओं में बड़े प्रसिद्ध हों न ? **महान पर्वतादि,...** बड़े हों, लो न। **नगरादि अथवा समुद्रादि से सीमा बाँधकर जीवनपर्यन्त चार दिशा,...** यह छठवाँ व्रत है, आजीवन तक अमुक से बाहर नहीं जाना। **चार दिशा, चार विदिशा और ऊपर तथा नीचे, इस प्रकार दशों दिशाओं में जाने की प्रतिज्ञा कर लेना चाहिए, तत्पश्चात् उस बाँधी हुई मर्यादा से बाहर जीवनभर न जाने को दिग्व्रत कहते हैं।** दिग् अर्थात् दिशा का व्रत। दशों दिशा में अमुक बाहर नहीं जाना, ऐसी जो ममता का विकल्प था, उसे घटाना - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

तत्पश्चात् उस बाँधी हुई मर्यादा से बाहर जीवनभर न जाने को दिग्व्रत कहते हैं। यहाँ पर्वत इत्यादि अथवा हवाई जहाज में बैठकर ऊपर जाने की अपेक्षा ऊर्ध्वदिशा... ऐसा लेना चाहिए। ऊपर हो न ? यह तीन हजार और तेतीस हजार फीट का बड़ा पहाड़, बड़ा गिरनार और यह फिर तुम्हारा सम्मेदशिखर बड़ा है, नहीं ? तीन मील। **पर्वत इत्यादि अथवा हवाई जहाज में बैठकर ऊपर जाने की अपेक्षा...** हवाई जहाज लिखा है, हों ! इनने। इसमें है हवाई जहाज। टोडरमलजी की प्रति में हवाई जहाज है। बाद में अर्थ किया होगा इसने या किसे खबर ? तब कहाँ टोडरमलजी के समय हवाई जहाज नहीं था परन्तु इसमें अर्थ किया है। बलून कहो या हवाई जहाज कहो, दोनों में अन्तर होगा ? हवाई जहाज। पवन से जहाज ऊपर चलता है, उसकी अपेक्षा ऊपर की दिशा की मर्यादा करना। अमुक से बाहर जाना नहीं।

कुआँ या समुद्रादि में घुसने की... नीचे की मर्यादा करना कि इतने तक कुएँ में नीचे उतरना, समुद्र में नीचे आगे जाना नहीं। बाहर घूमने की ममता है न ? उस ममता को घटाना। वह आत्मदर्शन और ज्ञानपूर्वक, स्थिरता द्वारा उसमें इस प्रकार की ममता घटाना। कहो समझ में आया इसमें ? लड़कों यहाँ ध्यान रखना चाहिए, हों ! ध्यान रखे तो तूफान न करे, ध्यान न करे तो तूफान हो फिर अन्दर एक-दूसरे को। अन्दर ध्यान (रखना) न समझ में आये, ऐसा नहीं है, कुछ समझ में आये थोड़ा-थोड़ा, ऐसा रखना। फिर यह... होवे ऐसा न करना, यह कहते हैं, छोटे लड़के को कुछ समझ में नहीं आये, बेचारे को, क्या कहते हैं। परन्तु कुछ कहते हैं, ऐसा तो एक घण्टे निवृत्त होकर आये हैं तो

कुछ कहते हैं, ऐसे घटाने का, अमुक ऐसा तो ख्याल आता है या नहीं ? बहुत छोटे लड़के हैं, छोटे बहुत हैं।

मुमुक्षु : लड़कों को कहानी अच्छी लगती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह आत्मा की कहानी है, आत्मा की कहानी है। आत्मा बाहर बहुत भटकता है, इसलिए भटकने का बन्द करना है, ऐसा है।

कुआँ या समुद्रादि में घुसने की अपेक्षा अधोदिशा का ग्रहण किया गया है। लो! कुआँ, समुद्र में बहुत आगे नहीं जाना। ऊपर-ऊपर से आगे समुद्र में नहीं जाना, ऐसी प्रतिज्ञा करे।

गाथा - १३८

दिग्व्रत पालन करने का फल

इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्य।
सकलासंयमविरहाद्भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णम्।।१३८।।

दिग्व्रत प्रवृत्ति सुनिश्चित, दिग्भाग में उससे बहिः।
है सर्व अविरति त्याग, अहिंसा पूर्ण ही सीमा बहिः।।१३८।।

अन्वयार्थ : (यः) जो (इति) इस प्रकार (नियमितदिग्भागे) मर्यादा की हुई दिशाओं के अन्दर (प्रवर्तते) रहता है (तस्य) उस पुरुष को (ततः) उस क्षेत्र के (बहिः) बाहर के (सकलासंयमविरहात्) समस्त असंयम के त्याग के कारण (पूर्णं) परिपूर्ण (अहिंसाव्रतं) अहिंसाव्रत (भवति) होता है।

टीका : 'यः (पुरुषः) इति नियमित दिग्भागे प्रवर्तते तस्य ततः बहिः सकलासंयमविरहात् पूर्णं अहिंसाव्रतं भवति'-अर्थः-जो मनुष्य इस भाँति मर्यादित दशों दिशाओं के क्षेत्र के अन्दर ही अपना सारा कार्य करता है, उसको उन क्षेत्रों से बाहर समस्त ही असंयम का त्याग होने के कारण सम्पूर्ण अहिंसाव्रत (महाव्रत) पल जाता है अतः दिग्व्रत पालन करने से अहिंसाव्रत पुष्ट होता है।।१३८।।

गाथा १३८ पर प्रवचन

दिग्व्रत पालन करने का फल

इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्य।
सकलासंयमविरहाद्भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णम्।।१३८।।

लो! यहाँ पूर्ण कहा, ठीक! महाव्रत से पूर्ण हुआ न, इसलिए पूर्ण नहीं कहा, पूर्ण कहो या महाव्रत कहो। पूर्ण कहा न? अहिंसाव्रत पूर्ण होता है। इसलिए उसका अर्थ किया।

जो इस प्रकार मर्यादा की हुई दिशाओं के अन्दर रहता है, उस पुरुष को उस क्षेत्र के बाहर के समस्त असंयम के त्याग के... राग के, ममत्व के त्याग के **कारण परिपूर्ण अहिंसाव्रत होता है।** इतना अहिंसाव्रत पूर्ण होता है। इतना राग घटता है न? कहो, समझ में आया? जितना बाहर जाने का बहुत भाव-राग, वह हिंसा है और अमुक देश से बाहर न जाना, उतना राग घटे, उतनी अहिंसा है। इस दृष्टि के लक्ष्य और आश्रय सहित में स्थिरता के भाव को प्रगट करके, इस प्रकार का विकल्प हो, उसे यहाँ दिग्व्रत कहने में आता है। यहाँ तो दिग्व्रत को चारित्र कहा, इसलिए दिग्व्रत को विकल्प किसलिए कहते हैं ये सब? मूल तो उसमें ऐसा व्यवहार से विकल्प होता है, उसमें स्थिरता होती है, वास्तविक चारित्र तो वह है। चरणानुयोग में कथन ही ऐसी शैली का आता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : है न? **'सकलासंयमविरहात्' समस्त असंयम के त्याग के कारण...** सब जो असंयम, उसमें से थोड़ा घट गया है। असंयम है न, पापभाव, उसका त्याग होता है; इसलिए वह परिपूर्ण अहिंसा व्रत होता है।

टीका : यहाँ भी शब्द में अन्तर देखा? **'यः'** इस प्रकार **'यः (पुरुषः) इति नियमित'...** इति अर्थात् ऐसा कहा, यह तो बराबर है न? यह तो बराबर है। **'दिग्भागे प्रवर्तते तस्य ततः बहिः सकलासंयमविरहात् पूर्णं अहिंसाव्रतं भवति'-जो मनुष्य इस भाँति मर्यादित दशों दिशाओं के क्षेत्र के अन्दर ही अपना सारा कार्य करता है, उसको उन दिशाओं से बाहर अहिंसा महाव्रत पल जाता है...** इतनी हिंसा

घटती है। ओहो! ज्ञान करना है लोकालोक का, परन्तु बाहर में घूमने की ममता घटानी है, ऐसा कहते हैं। ज्ञान करना लोकालोक का, वह लोकालोक में घूमने का-लोक में घूमने का जो आगे, वह ममता इसे घटाना, तब फिर इसे लोकालोक का ज्ञान होगा। समझ में आया? यह सब लड़के रेल में देशाटन नहीं करते? पाँच सौ-पाँच सौ, हजार-हजार खर्च करके बहुत घूमते हैं, बहुत घूमते हैं, भाई! कुछ मर्यादा हो तो अमुक से बाहर नहीं जाये, ऐसा यहाँ कहते हैं।

मुमुक्षु : बाहर जाये तो ज्ञान बहुत होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल नहीं होता बाहर जाने से, वहाँ तो भटकाव भाव होता है।

मुमुक्षु : अलग-अलग देश देखने में आवे, लोग देखने में आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान यहाँ पड़ा है, या ज्ञान वहाँ से आता होगा? इसका (स्वरूप का) ज्ञान होने पर इसे सबका ज्ञान-पूरी दुनिया की कला आ जाती है। आत्मा कलाबाज है, अकेला ज्ञान का पिण्ड है। उसके ज्ञान का ज्ञान होने पर जगत की सब कलायें केवलज्ञान में ज्ञात हो जायेगी। क्या है?

मुमुक्षु : ... मूल बात हुई।

पूज्य गुरुदेवश्री : मूल बात होवे तो मूल बात के लिये यह बात है या क्या है? यह मूल बात के लिये बात है। ऐसे भटकने का ममताभाव है, उसे छोड़, और स्थिरता कर, तो तुझे स्थिरता द्वारा केवलज्ञान होगा। यह आ गया न यह? पहले १३५ में नहीं आ गया। **'मुक्तिमचिरेण प्रयान्ति'** १३५ में आ गया है कल।

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः।
अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण।।१३५।।

इस श्रावक को अल्प काल में केवलज्ञान हो जायेगा। इसे अन्दर ज्ञान में सब देखने का आ जायेगा। कहो, समझ में आया? एक बार 'लालन' है न? 'लालन' थे न 'लालन'? ९५ वर्ष की उम्र। फिर कहे कि मुझे मुक्ति में जाना परन्तु मुझे ओसामण बहुत प्रिय लगता है, यह ओसामण नहीं होता? ओसामण। ओसामण क्या है? ऐई! यह बघारा हुआ पानी तूर का, दाल का, मूँग की दाल का, बढ़ा हुआ पानी होता है न? ओसामण,

ओसामण, ओसामण कहते हैं मारवाड़ में ? ओसामण को क्या कहते हैं ? पानी गर्म बघारा हुआ दाल का पानी।

मुमुक्षु : यह मारवाड़ी ने नहीं सुना होगा, ये जामनगर में होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत गर्म... नीचे पत्थर रखकर ऊपर रख देवे थोड़ा गर्म थोड़ा पतला होता है। उन्हें बहुत प्रिय था, उन्हें - लालन को। ओसामण भी मिले नहीं तो वहाँ नहीं जाना। अपने को ओसामण मिले तो मोक्ष में जाना। मजाकिया थे न। फिर करते-करते कहते हैं कि केवलज्ञान हो तो उसमें तो ओसामण ज्ञात होता है, बराबर ज्ञात होता है कि ओसामण है सही वहाँ। समझे ? वृद्ध थे। ९५ वर्ष में (संवत्) २००९ के वर्ष में गुजर गये। सोलह वर्ष की उम्र से ९५ वर्ष तक अकेला शास्त्र का अभ्यास किया। विपरीत और ऐसा सब, सब विपरीत अभ्यास। १६ वर्ष से ९५ वर्ष तक, हों! २००९ के वर्ष, मगसर शुक्ल एक।

यहाँ कहते हैं, ओसामण वहाँ देखे, वे कितने ही कहें कि हमें उड़दिया हमें बहुत प्रिय लगता है। वह उड़दिया सिद्ध में मिलेगा ? यहाँ भी तुझे देखने को मिलता है। दूसरा क्या है ? तू खाता है कुछ ? वह तो उनका राग करता है, बाकी ज्ञान में मिलता है कि यह उड़दिया है बस! इतना। ऐसा राग करता है। वहाँ राग नहीं और देखने को मिलता है सब, लो! सेठी!

मुमुक्षु : वहाँ तो चौबीस घण्टे मिलता है, यहाँ तो कभी-कभी मिलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब व्यवहार की बातें, उनका कहाँ ज्ञान है ? यह ज्ञान तो आत्मा का है। ओसामण का ज्ञान है ? परस्पर लड़ाते हैं, वह कहे, है सही वहाँ ओसामण। तब दिक्कत नहीं अब सिद्ध होने में। आहा..हा..! यह बात मिथ्या है। आत्मा अपने ज्ञान की दशा की परिपूर्णता करे, उसमें पूरा आत्मा त्रिकाली ज्ञात हो जाये, ऐसा जो ज्ञान, वह आनन्ददायक ज्ञान है। उसे जानने की बात वह कहाँ इसे ? समझ में आया ? आहा..हा...!

जिसकी एक समय की पर्याय, उसे जहाँ जाने, वहाँ तीन काल-तीन लोक और द्रव्य-गुण अपना सब ज्ञात हो जाता है, ऐसी एक समय की पर्याय का इसका धर्म है, स्वभाव है। भाई! उसकी महिमा की खबर नहीं होती। ज्ञान एक समय का... ओहो..हो..!

तीन काल, तीन लोक का लक्ष्य किये बिना अपने आश्रय से केवलज्ञान हो, ऐसी जो दशा (हो), उसमें सब ज्ञात होता है। वह ज्ञात होने का आनन्द नहीं। यह वापिस टोडरमलजी ने लिखा है न? कि सिद्ध को ऐसा माने कि लोकालोक जाने। ऐसे जाये, इसलिए वह तो लोकालोक जाने, इसलिए सिद्ध की महिमा है? ऐसा जानकर? आता है न उसमें? आता है बात सत्य है। भगवान लोकालोक को जानते हैं, भगवान ऐसे होते हैं, अमुक होता है, अमुक होता है। लोकालोक की महिमा जानकर... उसमें एक व्यक्ति कहता है कि भाई! अपन इतना एक नाटक देखते हैं तो अपने को आनन्द आता है। भगवान तो तीन काल का नाटक देखें, तो कितना आनन्द होगा? वह नाटक का आनन्द होगा उन्हें? समझ में आया? देव के स्वरूप की बात आती है न वह, वह आती है उसमें, हों!

सातवें (अधिकार) में आता है न वह? सब डाला है। टोडरमलजी ने तो बहुत किया है। लोगों को उसकी कीमत नहीं आती। देव-गुरु-शास्त्र की भूल, परमदेव कैसे हैं? इन्द्रादि द्वारा पूज्य, अनेक अतिशयसहित, क्षुदादिरहित, शरीर, संहनन... ग्रहण सहित, दिव्यध्वनि (से) उपदेश दे, केवलज्ञान द्वारा लोकालोक को जानते हैं तथा जिन्होंने काम, क्रोधादि नष्ट किये हैं इत्यादि विशेषण कहते हैं, उनमें कोई विशेषण तो पुद्गलाश्रित और कोई विशेषण जीवाश्रित है, उन्हें भिन्न-भिन्न नहीं पहिचानता। दो जगह है। लोकालोक जाने, ऐसी महिमा से करके कहता है, उसमें क्या है? जान्म, जरा, मरण... अनन्त ज्ञान द्वारा लोकालोक का उन्हें ज्ञान हुआ है, देखो! यह बात है। समझे? त्रिलोक पूज्यपना है इत्यादि महिमा जानता है परन्तु इस प्रकार से दुःख को दूर करने की, ज्ञेय जानने की, पूज्य होने की इच्छा तो सर्व जीवों को है। इसे अभी वहाँ ओसामण जानना है। ओसामण समझते हो? ताराचन्दजी! ओसामण क्या? कढ़ी नहीं परन्तु ऐसा पतला-पतला पानी। तुअर की दाल होती है न? उसका पतला पानी। अपने यह काठियावाड़ी लड़के जानते हैं। ओसामण, ओसामण कहते हैं। चावल और मूँग की दाल दे, लचका, उसमें ओसामण डाले। वह ओसामण। कहते हैं कि इसे ओसामण जानने के लिये केवलज्ञान लेना है?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : ... सर्वत्र होता है। रागी प्राणी है तो सर्वत्र ऐसा ही होता है। यहाँ कहते हैं, अनन्त ज्ञान द्वारा लोकालोक का उन्हें ज्ञान हुआ है। लो! यह तो ज्ञेय

जानने की तो सबको इच्छा है। उसके ही लिए इसने मोक्ष की इच्छा की तो इसे अन्य जीवों के श्रद्धान से विशेष क्या हुई? टोडरमलजी ने यह बहुत लिखा है। अब तुमने यहाँ मकान तो बनाया परन्तु अब सब वापस उसका उपयोग करना पड़ेगा या नहीं? उससे कहा था, सब अब तुम क्या पाँच लाख डालकर बनाया है तो अब प्रयोग क्या इसका? कुछ शिक्षा समझानेवाले, समझनेवाले ऐसे कोई... यह मोक्षमार्गप्रकाशक की बात ही बहुत खास होनी चाहिए, इसका स्पष्टीकरण चाहिए, इसकी एक-एक बात की अलग-अलग पुस्तकें छोटी-छोटी बड़े अक्षर से स्पष्टता से यह सब होना चाहिए। जाननेवाले कोईक हो परन्तु वहाँ छापवाला, पुण्यवाला ऐसा कोईक रहनेवाला हो। बाबूभाई जैसा रहे तो कुछ चले। रहते हैं वहाँ? ऐसा कोई जाननेवाला अथवा बाहर में जरा पुण्य का प्रभाव हो, बोल सकने की विधि आती हो, समझाना आता हो। कुछ ढूँढ़ना तो पड़ेगा या नहीं तुम्हारा वहाँ?

जो मनुष्य इस भाँति मर्यादित दशों दिशाओं के क्षेत्र के अन्दर ही अपना सारा कार्य करता है, उसको उन क्षेत्रों से बाहर अहिंसा महाव्रत पल जाता है... लो! अतः दिग्व्रत पालन करने से अहिंसाव्रत पुष्ट होता है।

गाथा - १३९

देशव्रत नामक गुणव्रत का स्वरूप

तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्।
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात्।।१३९।।

नित ग्राम गलि बाजार भवनादि, से निश्चित काल की।
उसमें बना सीमा, नहीं बाहर भ्रमे देशव्रत यही।।१३९।।

अन्वयार्थ : (च) और (तत्र अपि) उस दिग्व्रत में भी (ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्) ग्राम, बाजार, मकान, मोहल्ला इत्यादि का (परिमाणं) परिमाण (प्रविधाय) करके (देशात्) मर्यादा किये हुए क्षेत्र से बाहर (नियतकालं) अपने निश्चित किये हुए समय तक जाने का (विरमणं) त्याग (करणीयं) करना चाहिए।

टीका : 'तत्रापि च दिग्व्रतोऽपि च ग्रामापणभवनपाटकादीनाम् नियतकालं परिमाणं

प्रविधाय देशात् विरमणं करणीयम्'-अर्थ:-दिग्व्रत में जो दशों दिशाओं की मर्यादा की थी, उसमें भी ग्राम, बाजार, मकान, मोहल्ला वगैरह तक एक दिन, एक सप्ताह, एक पक्ष, महीना, अयन, वर्ष इत्यादि निश्चित काल तक जाने-आने का प्रमाण करके बाहर के क्षेत्र से विरक्त होना देशव्रत कहलाता है। इस देशव्रत से भी अहिंसा का पालन होता है।।१३९।।

गाथा १३९ पर प्रवचन

अब **देशव्रत नामक गुणव्रत का स्वरूप।** पहले दिग्व्रत का स्वरूप (था)। दिशा में मर्यादा। अब देशव्रत का अर्थात् प्रतिदिन या एक दिन या दो दिन उसमें। भाई! सब आता है। पहले में एक दिन आता है और इसमें रोज नहीं आता, इसमें पन्द्रह दिन, महीना, ऐसा भी करे। पहला आजीवन नहीं था, उसमें से घटावे कि पन्द्रह दिन तक मुझे बन्दी थी, उसमें से इतना घटाना, ऐसा सब आता है। ठीक है।

तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्।
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात्।।१३९।।

और उस दिग्व्रत में.. आजीवन का जो नियम लिया है, उसमें **भी ग्राम, बाजार, मकान, मोहल्ला इत्यादि का परिमाण करके..** इस गली में मुझे आठ दिन तक नहीं जाना, अमुक गाँव में नहीं जाना, ऊँचे जहाज में मुझे आठ दिन तक नहीं बैठना—ऐसी मर्यादा आजीवन की, की हो उसमें थोड़ी घटाना **मर्यादा किये हुए क्षेत्र से बाहर अपने निश्चित किये हुए समय तक जाने का त्याग करना चाहिए।** कहो, समझ में आया?

चरणानुयोग में, भाई! आचरण की व्याख्या तो आवे न? अनन्त श्रावकों ने ऐसा पालन किया है। अभी असंख्य श्रावक हैं। ढाई द्वीप के बाहर असंख्य श्रावक हैं, ढाई द्वीप के बाहर, पशु, पशु, पशु, तिर्यंच श्रावक अभी हैं। कहो, हजार-हजार योजन के मच्छ, बड़े बाघ, सिंह, हिरण, मेंढ़क श्रावक है, ढाई द्वीप के बाहर। ढाई द्वीप में तो थोड़े हैं। बाहर व्रतधारी, हों! श्रावक। तिर्यंच का अवतार मिला, तथापि अरे! हम भूले, हम भूले। माया कपट हो गयी और यह अवतार मिला, पशु का अवतार मिला। पशु!

हजार-हजार योजन के बड़े मच्छ होते हैं, चार हजार मील लम्बे। उनके प्रमाण में मोटे कितने होंगे? वह भी आत्मा है। पूर्व में कोई भूल हो गयी और तिर्यंचपने में अवतार हो गया। उसमें से अन्दर हुए। आहा..हा..! यह क्या? ज्योतिष में से आये तो उसमें से जातिस्मरण हो जाये, किसी को पूर्व के भव का ज्ञान हो जाये। उसके द्वारा अन्तर में उतरकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त करके, बारह व्रत को वह भी अंगीकार करता है। समझ में आया? वह यह सब है, है, हों! ऐसा नहीं कि यह सब (नहीं है)। आहा..हा..! यह सब वस्तु इस प्रमाण है, इतना जो विश्वास और विशाल विस्तार...

मुमुक्षु : मनुष्य पर्याय... विचार करता ही होगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, बहुतों को तो तीन ज्ञान है। तीन ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि—तिर्यंच को। लो! उसमें क्या है? आत्मा है या नहीं? पशु को सम्यग्दर्शन, ज्ञानसहित मति, श्रुत, अवधिज्ञान होता है। आता है न? उस क्षमापना में आता है, उन लोगों के स्थानकवासी में। छठवें क्षमापना में। छठे क्षमापना में उसमें आता है। ढाई द्वीप के बाहर असंख्यात श्रावक, श्राविका ऐसे होते हैं, ऐसे होते हैं, उन्हें हमारा नमस्कार, ऐसा कुछ होगा। क्षमा करता हूँ।

मुमुक्षु : मनुष्य पर्याय...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात ही अलग। यहाँ मनुष्य अच्छे हों, तब अवधिज्ञान बहुत होता है। श्रावक को भी अवधिज्ञान होता है। अभी तो अब ठिकाना नहीं होता न क्या है? यह तो तीनों काल की बात चलती है न? एक काल की कहाँ बात है?

मुमुक्षु : श्रावकों...

पूज्य गुरुदेवश्री : श्रावक भी अवधिज्ञानी होता है। मनुष्य पंचम गुणस्थान में तीन ज्ञान। जातिस्मरण हो, अवधिज्ञान हो। अभी तो यह बहुत कम हो गया है। श्रावक हो पाँचवें में... समझ में आया? शास्त्र में नियम है न? ये लोग श्वेताम्बर में तो लिखते हैं कि आनन्द को संथारा के समय अवधिज्ञान हुआ था। और छोटा-बड़ा आता न हो। यह सब बातें हैं। अवधिज्ञान होता है।

कहो, पंचम गुणस्थान में श्रावक को... गृहस्थाश्रम में चक्रवर्ती को था। भरत

चक्रवर्ती को अवधिज्ञान (था)। मति-श्रुत और अवधिज्ञान। राग हो, गुणस्थान प्रमाण निर्मलता होती है न? तीन ज्ञान। पुरुषार्थ की कमी के कारण चारित्र विशेष नहीं, ज्ञान का विकास तीन ज्ञान का हो जाये। चौथे में तीन ज्ञान का, पाँचवें में तीन ज्ञान का। किसी को बारहवें गुणस्थान में दो का (विकास होवे), बारहवें गुणस्थान में मति-श्रुत दो का ही हो, इससे कहीं वस्तु... नहीं है। यह तो उघाड़ इतना नहीं। स्थिरता के अन्दर गुणस्थानदशा है। विशेष अवधिज्ञान हो गया, इसलिए ऐसा रहे, ऐसा नहीं है। बारहवाँ गुणस्थान हो और मति-श्रुत दो ही ज्ञान हो तथा चौथे गुणस्थान में मति-श्रुत-अवधि हों। छठवें में मति-श्रुत-अवधि और मन:पर्यय हों। पाँचवें में मति, श्रुत और अवधि हों। स्थिरता, श्रद्धा और स्थिरता की अपेक्षा से गुणस्थान हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : जातिस्मरण अवधिज्ञान का भाग है?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। मतिज्ञान का भाग है। वह तो मतिज्ञान की धारणा का भाग है। अवधिज्ञान दूसरा है। अवधिज्ञान में तो प्रत्यक्ष देखने में आता है। जातिस्मरण में प्रत्यक्ष देखने में नहीं आता। पूर्व में जितनी धारणा हुई हो, उसमें से कितनी ही स्मृति आती है, कितनी ही। सब कहीं आती है? समझ में आया? शक्ति इतनी है। कहो, वह भरत चक्रवर्ती छियानवे हजार स्त्रियों में रहा, तीन ज्ञान बाद में हुए हैं मति, श्रुत, और अवधि। क्या है? आत्मा की ताकत है। उदास.. उदास.. उदास.. दुनिया ऐसा जाने कि आहा..हा..! इन्हें कितना मान है! समझ में आया?

दृष्टान्त नहीं दिया। अपने नाटक में दृष्टान्त आया था। नहीं? नाटक यहाँ किया था या नहीं? लड़कों ने किया था। भरत चक्रवर्ती रात्रि में अन्धकार में काला दुपट्टा ओढ़कर रैयत को देखने बाहर निकले। एक सोनी बोलता होगा कि यह भरत चक्रवर्ती ऐसे बहुत वैरागी हैं और अब वह कुछ (नहीं), यह बातें लगती हैं। कुछ वैराग्य की यह क्या कहता है? समझे न? लो! छह खण्ड में रहना और यह सब ऐसा और इसे वैराग्य ऐसा। सोनी बात करता होगा तो भरत चक्रवर्ती ने सुनी। पहले के राजा काला वस्त्र पहनकर, ऐसे आढ़े रखते अर्थात् क्या कि कोई दिखे नहीं। देखने निकले रैयत को। कैसे?, कौन बोलता है। दूसरे दिन सोनी को बुलाया। महाजन! पधारो, लो, तुम्हें एक तेल का कटोरा देता हूँ, तेल का ऐसा छलाछल भरा हुआ, गिराना नहीं। तेल भरकर गाँव में अयोध्या शृंगार किया है।

नजर करना कैसा है ? परन्तु यदि इस तेल की बूँद गिरेगी तो पीछे सिपाही है तलवार लेकर खड़ा हुआ है, सिर काट डालेगा।

पूरे गाँव में घूम आया, इसमें से एक भी बूँद गिर न जाये, उसके लक्ष्य में (यही रहा)। कहा, अयोध्या का शृंगार किया है। आने के बाद पूछा - क्यों सोनीजी! कैसी अयोध्या ? भाईसाहेब! कहीं मेरी नजर नहीं थी, इसमें मेरी नजर थी, क्योंकि इसमें नजर न रखूँ तो मार डाले। भाई! हमारी नजरें आत्मा में है, भाई! यह सर्वत्र हमें कहीं रस नहीं है। आहा..हा..! हमें संसार का भय वर्तता है, भाई! आहा..हा..! हमें इसमें देखा, छियानवें हजार स्त्रियों का राग और बड़ा बँगला, करोड़ों अरबों अरबों का बड़े दैवीय पाँच बँगले हों। पाँच दैवीय, हों! हमें उसमें बैठे हुए रस है, ऐसा मत मान, ऐसा मत जान, भाई! तुझे देखने का रस था ? भाईसाहेब! मैंने कुछ देखा नहीं। तुमने... शृंगार किया था, वह मुझे कुछ खबर नहीं। मैं तो तेल के सामने देखता था, ऐसा देखता था कि गिर न जाये। गिरे तो पीछे है तलवार। इसी प्रकार हमारे स्वभाव में से हटेंगे तो भवभ्रमण है, ऐसा हमें... भाई! हम हमारे ज्ञानस्वरूप में, दृष्टि में रहे हैं। महाजन कहे - माफ करना, मेरी भूल हो गयी। ये नाटक किया था अपने, हों! यह लड़के तो छोटे आये हैं। बोर्डिंगवालों ने पहले किया था, नहीं ?

मुमुक्षु : महासुख था न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : महासुख। किसका महासुख ? तुम्हारा ? पलियादवाला। उन बोर्डिंगवालों ने नाटक किया था। समझ में आया ?

श्रावक को ऐसे अमुक काल तक गाँव बाहर नहीं जाना, उसमें मर्यादा करे। समझ में आया ? **जो दशों दिशाओं की मर्यादा की थी, उसमें भी ग्राम, बाजार, मकान, मोहल्ला वगैरह तक एक दिन, एक सप्ताह,...** भाई! ऐसा लिखा है, देखो! उसमें एक दिन ही आता है। **एक पक्ष, महीना, अयन, वर्ष इत्यादि...** पहला आजीवन है न ? **निश्चित काल तक जाने-आने का प्रमाण करके बाहर के क्षेत्र से विरक्त होना देशव्रत कहलाता है। इस देशव्रत से भी अहिंसा का पालन होता है।** लो!

गाथा - १४०

इति विरतो बहुदेशात् तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात्।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण।।१४०।।

बहु क्षेत्र त्यागी विमलधी, यों अधिक हिंसा त्याग से।
उस समय अधिकाधिक, अहिंसा आश्रय रहता उसे।।१४०।।

अन्वयार्थ : (इति) इस प्रकार (बहुदेशात् विरतः) बहुत क्षेत्र का त्याग करनेवाला (विमलमतिः) निर्मल बुद्धिवाला श्रावक (तत्कालं) उस नियमित काल में (तदुत्थहिंसा-विशेषपरिहारात्) मर्यादाकृत क्षेत्र से उत्पन्न होनेवाली हिंसा विशेष के त्याग से (विशेषेण) विशेषरूप से (अहिंसां) अहिंसाव्रत का (श्रयति) आश्रय करता है।

टीका : 'इति बहुदेशात् विरतोः विमलमतिः तत्कालं तदुत्थहिंसाविशेष-परिहारात् विशेषेण अहिंसा श्रयति'-अर्थः-इस प्रकार दिग्व्रत में किए हुए क्षेत्र का परिमाण करके उस क्षेत्र से बाहर हिंसा का त्याग होने पर भी उत्तम बुद्धिवाला श्रावक जो उस समय दूसरे भी थोड़े क्षेत्र की मर्यादा करता है तो वह विशेषरूप से अहिंसा का आश्रय करता है। जिस पुरुष ने जीवन भर के लिये दक्षिण में कन्याकुमारी और उत्तर में हिमालय तक जाने का दिग्व्रत किया है, वह हमेशा तो हिमालय जाता नहीं, इसलिए वह रोजाना ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि आज मैं छपारादि अमुक गाँव में ही रहूँगा, उससे बाहर नहीं जाऊँगा। अतः उस दिन वह उस गाँव में ही रहने का नियम कर लेता है, उस दिन उस गाँव के बाहर के प्रदेश में अहिंसा महाव्रत का पालन हो जाता है।।१४०।।

अनर्थदण्डत्याग नामक गुणव्रत का स्वरूप

बिना प्रयोजन पाप के उत्पन्न करने के त्याग को अनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं। उसके पाँच भेद हैं :- (१) अपध्यानत्यागव्रत, (२) पापोपदेशत्यागव्रत, (३) प्रमादचर्यात्यागव्रत, (४) हिंसादानत्यागव्रत, (५) दुःश्रुतित्यागव्रत।

गाथा १४० पर प्रवचन

इति विरतो बहुदेशात् तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात्।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण।।१४०।।

देखो! भाषा देखी? **'श्रयत्यहिंसां विशेषेण' इस प्रकार बहुत क्षेत्र का त्याग करनेवाला निर्मल बुद्धिवाला श्रावक...** सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित है। अहो! मुझे तो अन्दर स्थिर होना चाहिए। एक विकल्प भी आना नहीं चाहिए - ऐसी तो श्रद्धा में भावना है, तथापि स्थिर नहीं हो सकता - ऐसा निर्मल बुद्धिवाला श्रावक, **उस नियमित काल में मर्यादाकृत क्षेत्र से उत्पन्न होनेवाली हिंसा...** देखो! पन्द्रह दिन अमुक बाहर जाना नहीं। पूरी जिन्दगी में जो नियम लिया हो, उससे घटा डाले। पन्द्रह दिन तक 'भरूच' के उस ओर या इस ओर 'अहमदाबाद' के उस ओर नहीं जाना। ऐसा नियम लिया हो तो इतनी ममता उसे नहीं। यहाँ ममता की बात है न? उससे **मर्यादाकृत क्षेत्र से उत्पन्न होनेवाली हिंसा विशेष के त्याग से विशेषरूप से अहिंसाव्रत का आश्रय करता है।** अर्थात् अहिंसा... यहाँ तो हिंसा और अहिंसा की ही व्याख्या है। आहा..हा..! जितने व्रत में अहिंसापना प्रगट हुआ, उतना सच्चा; बाकी जितना (राग) बाकी रहा हिंसा, उतना राग छोड़ने योग्य है।

टीका : 'इति बहुदेशात् विरतोः विमलमतिः तत्कालं तदुत्थहिंसाविशेष-परिहारात् विशेषेण अहिंसा श्रयति'-इस प्रकार दिग्व्रत में किए हुए... आजीवन क्षेत्र की मर्यादा की। **उस क्षेत्र से बाहर हिंसा का त्याग होने पर भी उत्तम बुद्धिवाला श्रावक जो उस समय दूसरे भी थोड़े क्षेत्र की मर्यादा करता है (घटा दे) तो वह विशेषरूप से अहिंसा का आश्रय करता है।** यह कथन बहुत आते हैं, इसलिए फिर इस बात में चिपट जाते हैं। मूल बात रह जाती है। दर्शन की-ज्ञान की गाथा में बहुत थोड़ा लिखा हो, परन्तु वह मूल भूमिका शुरु होने के बाद की बात है। समझ में आया?

जिस पुरुष ने जीवन भर के लिये दक्षिण में कन्याकुमारी... लो! ठीक। **और उत्तर में हिमालय तक जाने का दिग्व्रत किया है, वह हमेशा तो हिमालय जाता**

नहीं, इसलिए वह रोजाना ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि आज मैं छपारादि अमुक गाँव में ही रहूँगा,.... लो! यह उन स्वामीनारायण का, वह न? स्वामीनारायण का 'छपारा' गाँव है। 'छपारा' नहीं? मैंने कहा - डाला इसमें कहाँ? स्वामीनारायण 'छपारा' के थे। सहजानन्द। **उससे बाहर नहीं जाऊँगा। अतः उस दिन वह 'छपारा' तक का ही नियम कर लेता है, उस दिन 'छपारा' के बाहर के प्रदेश में अहिंसा महाव्रत का पालन हो जाता है।** इतनी हिंसा घटी। बाहर आगे नहीं, इतने से बाहर नहीं जाना। 'छपारा', यह 'छपारा' है?

यह तो वह एक था। वे गये थे अपने गाँव में वे? वह तो बहुत छोटा गाँव था। वहाँ के स्वामीनारायण होंगे? कहीं के होंगे? उसे इतनी अहिंसा जितनी, चाहे जो गाँव हो। अपने लम्बे गाँव से घटा हुआ है, इतनी हिंसा घटकर अहिंसा होती है, इतना प्रयोजन है। लो! (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ऐसा मोक्षमार्ग भगवान ने कहा है

धर्मात्मा निरन्तर सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य के जगमगाते प्रकाश में चैतन्य के ध्यानरूप निर्दोष आहार करता है, उसे इन्द्रिय-रस का और रात्रि-भोजन का त्याग, राग है। राग के रस में जो लीन है, उसकी आत्मा में जो अज्ञानरूपी रात्रि ही है और वह सदैव रात्रि-भोजन ही करता है। परमात्मपना मेरी शक्ति के गर्भ में है, उसमें अन्तर-एकाग्रता के द्वारा मुझमें से ही परमात्मपद व्यक्त होगा, ऐसी प्रतीतिपूर्वक परभाव का त्याग होने पर, रात्रि-भोजनादि की वृत्ति छूट जाए, उसका नाम रात्रि-भोजन-त्याग है। भावशुद्धिरहित अकेली बाह्य क्रिया को भगवान ने व्यवहार नहीं कहा है। भगवान ने तो मोक्षमार्ग में निश्चयसहित व्यवहार कहा है। निश्चय-भावशुद्धि के बिना (सम्यग्दर्शनादि के बिना) जीव चाहे जितना क्रियाकाण्ड का व्यवहार करे तो भी उसमें किञ्चित्मात्र मोक्षमार्ग नहीं है। सम्यग्दर्शन जिसमें प्रधान है, मुख्य है, आगे है—ऐसा मोक्षमार्ग भगवान ने कहा है। यह जानकर मोक्षार्थी को सतत् प्रयत्न के द्वारा प्रथम सम्यग्दर्शन करना चाहिए।

(—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

यह पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है। पुरुष अर्थात् आत्मा चैतन्यस्वरूप, उसकी सिद्धि-मुक्ति अथवा सुख की प्राप्ति का उपाय। आत्मा चैतन्य शुद्धस्वरूप आत्मा है, आत्मा तो चैतन्यस्वभाव ही है। ऐसे चैतन्यस्वभाव की सिद्धि-मुक्ति अथवा सुख की पूर्ण प्राप्ति, इसका नाम मुक्ति, इसका उपाय, वह मोक्ष का मार्ग, उसका कथन है। मोक्षमार्ग में पहले मिथ्यात्व का त्याग चाहिए। बन्धन से छूटने में पहले मिथ्यात्व से छूटना, यह पहला मिथ्यात्व का त्याग और सम्यक्त्व का ग्रहण। स्वभाव शुद्ध चैतन्य के स्वभाव का अन्तर ग्रहण करके प्रतीति-अनुभव करना। मिथ्यात्व का त्याग, वह पहला त्याग है। पश्चात् रागादि के-आसक्ति के जो परिणाम हैं, उसमें राग का त्याग (होना), उसे यह व्रतादि कहते हैं। उस व्रत के आचरण की बात है। यह पाँच अणुव्रत की बात आ गयी। छठवें दिग्व्रत की भी आयी, सातवें देशव्रत की भी आयी।

अब आठवाँ, (व्रत) तीसरा गुणव्रत। आत्मा के स्वभाव चैतन्य के भान और प्रतीति की भूमिका उपरान्त, स्वरूप में देशव्रत के पाँच अणुव्रत तथा दिग्व्रत और देशव्रत। यह उनमें पहला दिग्व्रत और देशव्रत। उसमें अनर्थदण्ड, यह तीसरा गुणव्रत है। पाँच अणुव्रतों की रक्षा में कारण ये तीन गुणव्रत हैं और चार शिक्षा (व्रत है)। यह गुणव्रत है।

बिना प्रयोजन पाप के उत्पन्न करने के... जिसमें कोई प्रयोजन नहीं, अपने परिवार का, कमाने का या ऐसा कोई भी प्रयोजन नहीं। ऐसे **बिना प्रयोजन पाप के उत्पन्न करने के...** उसका नाम अनर्थदण्ड का त्याग है। वास्तविक अनर्थ तो अर्थ को अनर्थ मानना (वह है)। आत्मा अखण्डानन्द प्रभु को रागवाला आदि मानना, वह वास्तविक अनर्थ है।

मुमुक्षु : यह खोटा अनर्थ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दूसरे प्रकार का अनर्थ है। वह तो आत्मा को जरूरत पड़े ऐसे स्त्री, कुटुम्ब और व्यापार आदि के रागादि भाव हों, परन्तु बिना प्रयोजन के अनर्थ

करना, उसकी यह सब व्याख्या लेंगे। कुटुम्ब की आवश्यकता नहीं, अपने शरीर की आवश्यकता नहीं; बिना (कारण) कुत्सा ऐसे पाप करे और वनस्पति आदि जीवों को बिना प्रयोजन घात करे - ऐसे अनर्थदण्डत्याग की व्याख्या है।

उसके पाँच भेद हैं :- (१) अपध्यानत्यागव्रत,... इस आठवें के पाँच भेद हैं। **(२) पापोपदेशत्यागव्रत, (३) प्रमादचर्यात्यागव्रत, (४) हिंसादानत्यागव्रत, (५) दुःश्रुतित्यागव्रत।** पाँच हैं पाँच। उनका पहला बोल।

गाथा - १४१

अनर्थदण्डत्याग नामक गुणव्रत का स्वरूप

बिना प्रयोजन पाप के उत्पन्न करने के त्याग को अनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं। उसके पाँच भेद हैं :- (१) अपध्यानत्यागव्रत, (२) पापोपदेशत्यागव्रत, (३) प्रमादचर्यात्यागव्रत, (४) हिंसादानत्यागव्रत, (५) दुःश्रुतित्यागव्रत।

अपध्यान अनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूपः-

पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारगमनचौर्याद्याः।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात्।।१४१।।

परघात चोरी जय पराजय, कलह परस्त्री गमन।
आदि नहीं सोचो कभी, अपध्यान केवल पापफल।।१४१।।

अन्वयार्थ : (पापर्द्धि-जय-पराजय-सङ्गर-परदारगमन-चौर्याद्याः) शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन, चोरी आदि का (कदाचनापि) किसी भी समय (न चिन्त्याः) चिन्तवन नहीं करना चाहिए (यस्मात्) कारण कि इन अपध्यानों का (केवलं) मात्र (पापफलं) पाप ही फल है।

टीका : 'पापर्द्धि जय पराजय सङ्गर-परदारगमन चौर्याद्याः कदाचन अपि न चिन्त्याः यस्मात् केवल पापफलं भवति'-अर्थः-शिकार करने का (अर्थात् इस जीव को इस प्रकार मारें ऐसा भाव करना), संग्राम में किसी की जीत और किसी की हार,

परस्त्री गमन करने का चिन्तवन अथवा चोरी करने का इत्यादि खराब-खोटे कार्यों की जिनके करने से मात्र पाप ही होता है, उनका कभी भी चिन्तवन नहीं करना चाहिए। अत: जिस बात का विचार करने से केवल पाप का ही बन्धन होता है, उसे ही अपध्यान कहते हैं और स्वरूप में विशेष सावधानी द्वारा उसका त्याग करना ही अपध्यान अनर्थदण्डत्यागव्रत है।।१४१।।

गाथा १४१ पर प्रवचन

अपध्यान अनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप:-

पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारगमनचौर्याद्या:।
न कदाचनापि चिन्त्या: पापफलं केवलं यस्मात्।।१४१।।

शिकार। बिना प्रयोजन का शिकार का त्याग करना। किसी भी प्राणी को मारना, शिकार करना, वह व्यर्थ का अनर्थदण्ड है। **जय....** किसी की जय चाहना। कहो, समझ में आया? दो भैंसे लड़ते होते हैं न, तो उसमें बैठे-बैठे देखे कि उसमें यह जीते तो ठीक। दो राजा लड़ते हों तो उसमें कहे - यह जीते तो ठीक और यह पराजित हो तो ठीक। पहले बहुत चलता था। जब जर्मन और अंग्रेज के बीच युद्ध होता था न? दो पक्ष पड़ जाते थे। पहला कहे - जर्मन जीतेगा, वह कहे - नहीं, ब्रिटिश जीतेगा, उसके व्यर्थ के पक्ष बँधते थे। कुछ हेतु अब?

मुमुक्षु : उसमें तो शर्तें चलती थीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, शर्तें चलती थी। 'बोटाद' में बहुत तूफान... तूफान। पहला कहे - नहीं, नहीं; ब्रिटिश के पास महा विचक्षण साधन है। वह (दूसरा) कहे - जर्मनी के पास साधन और बहुत बुद्धिवाले हैं। यह चलता (था)। परन्तु कुछ काम? जय इसकी जय हो और उसकी पराजय। अकारण भी दो मनुष्य लड़ते हों न, दो लड़के दो लड़ते हों तो देखते देखते...

मुमुक्षु : .... अरे एक जगह के दो उम्मीदवार हैं, पहला कहे वह जीतेगा, वह कहे यह जीतेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उम्मीदवार नहीं होते अभी ? यह कांग्रेस ऐसे लाखों रुपये भरेगी तो यह ही जीतेगी। राजकुमार ही जीतेगा। उसके साथ चाहे इतने पड़े हों, नहीं चले उसका। व्यर्थ में भी जय-पराजय चाहे, उसे कहीं आत्मा को प्रयोजन है, उसमें आवश्यकता का ? ऐसे अनर्थदण्ड का पाप धर्मी और व्रतधारी को ऐसे भाव नहीं होते। समझ में आया ?

जय, पराजय, युद्ध,... युद्ध में यह दो लड़ें तो ठीक, हों! यह युद्ध का विचार करना। बहुत प्रकार के होते हैं। युद्ध होवे तो दो बनिया कहे ऐसे अपने महँगा भाव हो तो अपने पैसे अधिक मिलें। बिना प्रयोजन के। मिलना तो पुण्य के आधीन है परन्तु उसके युद्ध का (भाव करे), महायुद्ध शुरु होने का, महायुद्ध शुरु होने का, अमुक। ऐसा करके प्रसन्न हो। ऐसे पाप के भाव धर्मी जीव को, जिसे मोक्षमार्ग में जाना है, उसे ऐसे भाव का त्याग होता है।

परस्त्रीगमन,... उसे होता ही नहीं परन्तु परस्त्री के विचार कि इसके पास ऐसे जाये और ऐसे उसे प्रसन्न करूँ और अमुक करूँ, ऐसे अनर्थदण्ड—पाप की चिन्ता, ऐसी बात है न मूल तो यहाँ ? अपध्यान की बात है न यहाँ तो ? ऐसा ध्यान, बुरा ध्यान करे नहीं। उसे आत्मा के मार्ग में, मोक्ष के मार्ग में अन्दर जाना है, शान्ति की राह में जाना है, उसे ऐसे अपध्यान के परिणाम नहीं हो सकते।

चोरी... ऐसे चोरी हो जाये तो ठीक। होते हैं न कितने ही ? ऐसा सुने तो डाकू निकले उसे विचार हो कि, डाकू यहाँ आकर चोरी कर जाये तो (अच्छा), परन्तु तुझे क्या काम है ? कहो, यदि इस व्यापारी को डाकू आकर चोरी कर जाये तो ठीक है... फटा है (अभिमानी है) ऐसे अनर्थदण्ड के व्यर्थ के पाप, हेतु कुछ होता नहीं। समझ में आया ? ऐसे स्वयं चोरी तो करे नहीं परन्तु चोरी करनेवाले को इस प्रकार से अनुमोदन दे। यहाँ चोरी करे तो ठीक, अमुक जगह चोरी करे तो ठीक। ऐसे व्यर्थ के पाप बिना प्रयोजन (करे), **आदि का...** आदि में वध-बन्धन। किसी का वध करते हों, बन्धन करते हों, उसमें इसे ऐसा हो कि ठीक, ठीक इसे बाँधते हैं, ठीक इसे मरते हैं, इत्यादि। **किसी भी समय चिन्तवन नहीं करना चाहिए...** आत्मार्थी को, धर्मार्थी को, मोक्षार्थी को - जिसे संसार से छूटना है, उसे ऐसे बिना प्रयोजन के पाप करना नहीं, छोड़ देना चाहिए।

कारण कि इन अपध्यानों का मात्र पाप ही फल है। फल में कुछ है ? अकेला पाप बँधता है। अपने को आवे नहीं, जावे नहीं कुछ। किसी का जय-पराजय हो, उसमें क्या ? कोई युद्ध करे, उसमें तुझे क्या ? समझ में आया ? दो मुर्गे लड़ते हों तो बैठे-बैठे (ऐसे भाव करे कि) यह मुर्गा बहुत अच्छा है, इसकी जय होगी - परन्तु तुझे कुछ है ? लड़के फालतू बैठे-बैठे यही करते हैं।

मुमुक्षु : समाचार पत्र पढ़कर...

पूज्य गुरुदेवश्री : समाचार पत्र पढ़े तो उसमें अन्दर से कितने विचार-विचार हो जाते हैं कि हाँ, इसका ऐसा होगा और इसका ऐसा होगा। बुरा ध्यान। सबेरे पहले ही दन्त ब्रुश लेकर बैठे वहाँ एक हाथ में दाँतून और एक हाथ में यह। उसमें से यह दे कि उसकी लड़ाई शुरु हुई। अरब को और उसको शुरु हुई। उसमें निश्चित छोटा है और हारेगा। छोटा-बड़ा हमें तो खबर नहीं। कोई कहे छोटा यह कहलाता है और अमुक कहे। राज में क्या होगा ? लड़के बातें करें, लो! अमुक देश छोटा, परन्तु... और उसके जोर में छोटा जीता। यह तो जीते ही न। ऐसा ही होता है। परन्तु क्या तुझे लेना-देना है। तेरे घर में टुकड़ा आवे ऐसा है कुछ ? निष्प्रयोजन ऐसी अनर्थदण्ड की वृत्ति छोड़ना चाहिए।

शिकार करने का, संग्राम में किसी की जीत और किसी की हार, परस्त्री गमन करने का, चोरी करने का इत्यादि खराब-खोटे कार्यों, कि जिनके करने से मात्र पाप ही होता है उनका कभी भी चिन्तवन नहीं करना चाहिए। उसे ही अपध्यान अनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं। खोटे (खबर) ध्यान का नाम अपध्यान है... अपध्यान की व्याख्या की। अप अर्थात् खराब, ऐसा। **अतः जिस बात का विचार करने से केवल पाप का ही बन्धन होता है, उसे ही अपध्यान कहते हैं। उसका त्याग करना, उसे अपध्यान अनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं।** प्रयोजन की (बात) होवे, अपने कमाने और खाने-पीने की होवे, वह बात अलग। परन्तु कहते हैं ऐसे में व्यर्थ में करे, वह महापाप है, वह पाप छोड़ देना, दूसरा बोल। अनर्थदण्ड का दूसरा बोल।

गाथा - १४२

पापोपदेश नामक अनर्थदण्डत्याग व्रत का स्वरूप

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम्।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम्।।१४२।।

विद्या वणिज लेखन कृषि, सेवक सुशिल्पी नरों को।
पापोपदेश कभी नहीं, देना निरन्तर पाप हो।।१४२।।

अन्वयार्थ : (विद्या-वाणिज्य-मषी-कृषि-सेवा-शिल्पजीविनां) विद्या, व्यापार, लेखन-कला, खेती, नौकरी और कारीगरी से निर्वाह चलानेवाले (पुंसाम) पुरुषों को (पापोपदेशदानं) पाप का उपदेश मिले ऐसा (वचनं) वचन (कदाचित् अपि) किसी भी समय (नैव) नहीं (वक्तव्यम्) बोलना चाहिए।

टीका : 'विद्या वाणिज्य मषी कृषि सेवा शिल्प जीविनां पुंसाम् पापोपदेशदानं वचनं कदाचित् अपि नैव वक्तव्यम्'-अर्थ:-विद्या अर्थात् वैद्यक, ज्योतिष आदि करनेवाला, अन्नादिक का व्यापार करनेवाला, लेखनकार्य करनेवाला, खेती करनेवाला, नौकरी-चाकरी करनेवाला तथा लुहार, सुनार, दर्जी आदि के काम करनेवालों को इन्हीं कार्यों सम्बन्धी अथवा दूसरा कोई भी पापबन्ध करनेवाला कार्य है, उनका किसी को भी उपदेश नहीं देना चाहिए। इसी को पापोपदेश अनर्थदण्डत्याग व्रत कहते हैं। श्रावक गृहस्थ अपने कुटुम्बियों को, भाई-बन्धों को, सगे-सम्बन्धियों को, अथवा जिनके साथ अपना प्रयोजन है, उनको तथा अपने साधर्मी भाइयों को जीवन-निर्वाह करने के लिये अवश्य व्यापारादि का उपदेश देकर निमित्त सम्बन्धी चेष्टा कर सकता है, परन्तु जिनके साथ अपना कोई भी प्रयोजन नहीं है, उन्हें उपदेश नहीं देना चाहिए।।१४२।।

गाथा १४२ पर प्रवचन

पापोपदेश नामक अनर्थदण्डत्याग व्रत का स्वरूप

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम्।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम्।।१४२।।

नीचे अर्थ लो न! टीका में। **विद्या अर्थात् वैद्यक, ज्योतिष आदि करनेवाला,...** टीका, टीका। नीचे टीका। क्योंकि उसमें तो शब्दार्थ ही है। **वैद्यक, ज्योतिष...** आदि विद्या अथवा जो विद्या बेचकर मात्र पाप बँधे, पैसे के लिये ले, समझे न? वह सब विद्या दूसरे को कहे सीख, ऐसी ज्योतिष की विद्या, अमुक की, वैद्यक की। वैद्यक में अनेक प्रकार के कन्दमूल मरें, उसमें जीव मरे, ऐसा सीखे नहीं, ऐसा दूसरे को सीखने का कहे नहीं। **व्यापार करनेवाला,...** अपना व्यापार इस कुटुम्ब के लिये, धन्धा के लिये आदि है, वह अलग बात है। इसके अतिरिक्त व्यर्थ का व्यापार (करने को कहे कि) कर, जा यह व्यापार। तुझे इसमें लाभ मिलेगा। कुछ लेना-देना (नहीं होता), वह पूछता न हो और उसे आवश्यकता भी न हो। जा, जा, वहाँ अमुक गाँव में बहुत सस्ता मिलता है। आहा..! ऐसा पाप छोड़ देना चाहिए।

लेखनकार्य करनेवाला,... ऐसे लेख लिखो बड़े। प्रतिकूल राजा के लिये, अमुक के लिये, समझ में आया? उसमें तुम्हें नुकसान नहीं होगा, तुम्हें लाभ होगा। कहते हैं, ऐसा करके ऐसे बिना प्रयोजन ऐसे लेखनकार्य बताना महापाप का कारण है। देखो न! इस समाचार-पत्र में खोटे-खोटे लिखते हैं न कितने ही। दूसरों को महा नुकसान करनेवाला।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं,... नहीं वैद्यक...

मुमुक्षु : औषधदान...

पूज्य गुरुदेवश्री : औषधदान... ले! इसमें और कहाँ आया यह? औषधदान में वैद्यक कहाँ सीखना?

मुमुक्षु : जानकारी होवे तो दान कर सके।

पूज्य गुरुदेवश्री : दान भी कौन करे? दान करता है कौन? उस वैद्यक में पाप है ऐसा सीखना नहीं। साधारण औषधी दे, अलग बात है। विद्या सीखे तो पाप है। ऐसी विद्या

दूसरे को ऐसा कहूँ और उसे ऐसे खिलाऊँ, फिर शरीर बल ऐसे होगा। निष्काम, हों! प्रयोजनभूत की आवश्यकता है, उतनी बात अलग। अपने निर्वाह के लिये वैद्यक सीखा हो, (वह अलग बात)। यह तो व्यर्थ की विद्या, ऐसे पाप करे, वह अनर्थदण्ड है। ज्योतिष सीखे और सबको बतावे, देखो! उसका ऐसे होगा। ज्योतिष में इसके पहले यह अमुक हो उसमें माँस खाकर निकलोगे, अमुक नक्षत्र का ऐसा लाभ होगा, यह ज्योतिष कहते हैं। ऐसा करके बुरे पाप का उपदेश देने का त्याग करना चाहिए।

खेती करनेवाला,... यह खेती करना, जमीन खाली बहुत खाली पड़ी है यहाँ, देखो! आस-पास में मनुष्य (कोई नहीं है), यहाँ खेती करो। परन्तु तुझे कुछ लाभ? बहुत क्षेत्र पड़े हैं जंगल में। देखो! यह बड़े पर्वत-वर्वत वहाँ।

मुमुक्षु : अनाज अधिक हो तो सस्ता पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु किसे सस्ता पड़े? ऐसे व्यर्थ का, पाप का काम बताना, करना, महा अनर्थदण्ड है। धर्मी को वह नहीं हो सकता। बहुत कहते हैं देखो, यह बहुत सब खाली खेत पड़े हैं। करो, करो, खेती करो परन्तु तेरे घर में है कुछ? **नौकरी-चाकरी करनेवाला...** देखो! यहाँ लोग सस्ते मिलते हैं। दूसरे गाँव में वहाँ जाओ, उसे बेचो। यहाँ मिलता है पच्चीस रुपये में वहाँ मिले पाँच सौ-पाँच सौ में बेचता। एक महीने का पाँच सौ का भाव। ऐसे अनर्थदण्ड के भाव धर्मी-मोक्षमार्गी को नहीं होते। होता है न, यह नौकरों का कुछ करते हैं, कहीं नहीं करते? नौकर अच्छा मिले वहाँ से लेकर फिर वहाँ बाहर बेचते हैं। चा मां और कुछ कहते हैं न! गुलाम बेच डालते हैं। उसे कहे कर न। अपने को कुछ आवश्यकता न हो उसमें। मात्र ऐसे अनर्थदण्ड के पाप धर्मी को नहीं हो सकते।

तथा लुहार, सुनार,... का धन्धा, बिना कारण दूसरे को बतावे, देखो! ऐसा करो, इतना लोहे में ऐसा करो, ऐसा अमुक करो, भट्टियाँ रखो, क्या कहलाता है? धमण रखो। ऐसे बिना प्रयोजन के पाप (नहीं होते)। **सुनार, दर्जी...** के बिना कारण के, हों! **काम करनेवालों को इन्हीं कार्यों सम्बन्धी अथवा दूसरा कोई भी पापबन्ध करनेवाला कार्य है, उनका किसी को भी उपदेश नहीं देना चाहिए।** उपदेश नहीं देना चाहिए। दर्शनपूर्वक अस्थिरता के टालने की यह व्याख्या है। समझ में आया? सम्यग्दर्शन के भानपूर्वक अन्तर का आश्रय विशेष लेकर अस्थिरता मिटाने में इस अनर्थदण्डत्याग की

व्याख्या है। गजब, भाई! वीतरागमार्ग को अन्तर से जानना, वह मार्ग अन्तर में है, मार्ग बाह्य में नहीं। **इसी को पापोपदेश अनर्थदण्डत्याग व्रत कहते हैं।**

श्रावक गृहस्थ अपने कुटुम्बियों को,... (उनके) लिये वह बात अलग है। पाप तो है, परन्तु वह अनर्थदण्डत्याग नहीं है। कुटुम्बियों के लिये करना पड़े, यह ऊपर कहा ऐसा, तो वह पाप तो सही, परन्तु अनर्थदण्डत्याग का पाप नहीं। **भाई-बन्धुओं को,...** अपना भाई-बन्धु हो, उसके लिये करना पड़े, कहना पड़े, वह कहीं अनर्थदण्ड में नहीं जाता।

अपने **सगे-सम्बन्धियों को-सम्बन्धियों को,...** सगे-सम्बन्धी या बहुत खास पक्के सम्बन्धी हों, **जिनके साथ अपना प्रयोजन है, उनको तथा अपने साधर्मी भाइयों को...** साधर्मी डाले हैं। **साधर्मी भाइयों को जीवन-निर्वाह करने के लिये अवश्य व्यापारादि का उपदेश देकर निमित्त सम्बन्धी चेष्टा कर सकता है,...** यह तो होवे तो अनर्थदण्डत्याग नहीं, इतना कहना है, हों! है तो (वह भी) पाप। **परन्तु जिनके साथ अपना कोई भी प्रयोजन नहीं है...** बिना (कारण) वह दिये रखे और बोले, इसका ऐसा करो, इसका ऐसा करो, इसका ऐसा करो, इसका वैद्यगिरी करो, इसका... लाओ, इसका ज्योतिष निकालो, वहाँ से ऐसा ले आओ। समझ में आया?

मुमुक्षु : ठिकाने लगाने के लिये कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ठिकाने कहाँ पड़ा है यह? स्वयं पाप में ठिकाने पड़ जाता है, ऐसा कहते हैं। बिना प्रयोजन। कुछ कारण नहीं न? **जिनके साथ अपना कोई भी प्रयोजन नहीं है, उन्हें उपदेश नहीं देना चाहिए।** पाँचवें गुणस्थान में अनर्थदण्डत्याग की व्याख्या जानना चाहिए और उसे बराबर जानकर अवसर आवे तो प्रयत्न करके वह भाव प्रगट करना, ऐसी बात है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, बिना प्रयोजन। प्रयोजन के लिये कुटुम्बी, भाई-बन्धु के लिये हो तो वह पाप तो है परन्तु अनर्थदण्ड (नहीं है), उस प्रकार का अनर्थदण्ड का नहीं है।

गाथा - १४३

प्रमादचर्या अनर्थदण्डत्याग व्रत का स्वरूप :-

भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च।।१४३।।

नहिं करो निष्कारण खनन भू, वृक्ष मोटन तृण सहित।
भू आदि रौंदन फैंकना जल, तोड़ना फल फूल दल।।
कारण बिना इत्यादि सब, हिंसादि पोषक कार्य हैं।
हैं अनर्थ दण्ड प्रमादचर्या, अहिंसक छोड़ें इन्हें।।१४३।।

अन्वयार्थ : (भूखनन वृक्षमोट्टन शाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि) पृथ्वी, खोदना, वृक्ष उखाड़ना, अतिशय घासवाली भूमि रौंदना, पानी सींचना आदि (च) और (दलफल-कुसुमोच्चयान्) पत्र, फल, फूल तोड़ना (अपि) इत्यादि भी (निष्कारणं) बिना प्रयोजन (न कुर्यात्) नहीं करना चाहिए।

टीका : 'निष्कारणं भूखनन वृक्षमोट्टन शाड्वलदलन अम्बुसेचनादीनि च दलफल कुसुमोच्चयान् अपि च न कुर्यात्'-अर्थ:-बिना प्रयोजन पृथ्वी खोदना, वृक्ष उखाड़ना, घास को रौंदना, पानी सींचना-फैलाना तथा पत्ता, फल, फूल तोड़ना इत्यादि कोई भी कार्य नहीं करना।

भावार्थ : गृहस्थ श्रावक अपने प्रयोजन के लिये भूमिकानुसार कुछ भी कर सकता है परन्तु जिसमें अपना कुछ भी स्वार्थ न हो, जैसे कि रास्ता चलते वनस्पति आदि तोड़ना, भूमि खोदते चलना इत्यादि व्यर्थ के काम नहीं करना चाहिए, उसे ही प्रमादचर्या अनर्थदण्डत्याग व्रत कहते हैं।।१४३।।

गाथा १४३ पर प्रवचन

प्रमादचर्या अनर्थदण्डत्याग व्रत का स्वरूप :- लो! तीसरा बोल।

भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च।।१४३।।

तोड़ना। ठीक समझ गया। कहता है, है और सब अर्थ तो नीचे होगा। **बिना प्रयोजन पृथ्वी खोदना,...** यह बैठे-बैठे पृथ्वी खोदे। कुछ कारण न हो, वहाँ पृथ्वी ऐसे खोदा ही करे। हाथ में कुछ लकड़ी हो या लोहा हो और बैठे-बैठे खोदा करे। नीचे सचित पृथ्वी हो। फालतू.. फालतू.. (पाप बाँधे) यह अनर्थदण्ड का पाप है। पृथ्वी के जीव एकेन्द्रिय हैं। समझ में आया? पृथ्वी की एक कणी में असंख्यात जीव हैं। सम्यग्दृष्टि जीव को अनर्थदण्ड के त्याग में ऐसे भू अर्थात् पृथ्वी को खोदने का त्याग (होता है)। बिना कारण के?

वृक्ष उखाड़ना,... कहो, बैठा-बैठा हो तो वृक्ष तोड़े। छोटे-छोटे हरे छक्क होते हैं न सब? हार दे अमुक-अमुक को, बिना कारण ऐसे का ऐसे मसले, उसे मसले। कुछ कारण है? वनस्पति के जीव, जीव हैं, भाई! ऐसा पाप बिना प्रयोजन वनस्पति को तोड़ना।

घास को रौंदना,... बिना प्रयोजन। ऐसे मार्ग हो, हरे अंकुर का ऐसा रास्ता हो, बिना प्रयोजन उस पर रौंद कर चले। दूसरा रास्ता साथ में है, साथ में अच्छा रास्ता हो। देखो! यह भगवान के मार्ग का विवेक! ओहो..हो..! सम्यग्दर्शनसहित, स्वरूप के स्थिरता के अंश में ऐसे उसे व्रत के भाव होते हैं, उसमें अनर्थदण्ड का भाव उसे नहीं होता। हरितकाय ऐसे अंकुर इतने अधिक हों, अब उन्हें कुछ बिना प्रयोजन रौंदे, कुचल डाले, अनर्थदण्ड का पाप है। बिना प्रयोजन का पाप है।

पानी सींचना... फालतू बैठा हो और हाथ में कुछ लकड़ी-बकड़ी हो और तालाब पर बैठा हो, पानी को लकड़ी मारा करे, ऐसे-ऐसे किया करे, कितना उड़ता है और क्या होता है और ऐसे पानी मारकर बाहर निकाले व्यर्थ, व्यर्थ, कोई आवश्यकता नहीं। देखो! यह सब एकेन्द्रिय की बात आयी। त्रस को तो मारे ही नहीं परन्तु एकेन्द्रिय को भी बिना प्रयोजन के ऐसे पाप का उसे त्याग होता है। समझ में आया?

पानी सींचना... बिना (कारण) पानी को ऐसे-ऐसे उछाले, पानी में पत्थर डाले, बिना प्रयोजन पानी में डाले। पानी में कितने चक्कर चलते हैं? होते हैं न कितने ही फालतू? पानी में पत्थर डालकर गोल चक्कर कहाँ तक जाता है पानी में? परन्तु कुछ

लाभ है तुझे ? फालतू लड़के करते हैं या नहीं ? यह पानी का चक्कर करते-करते ठेठ आता है या नहीं यहाँ तक ? ऐसे पानी के एकेन्द्रिय जीव हैं, भाई ! वह जीव है। वह तो उसका आयुष्य होगा, ऐसा हो रहेगा। ऐसा नहीं होता। तुझे मारने का भाव है या नहीं ? उसका आयुष्य पूरा हुआ होगा, इसलिए मुझे यह भाव आया, ऐसा है ? ऐसी विपरीतता होती है ? यहाँ तो कहते हैं, देखो न ! कितनी एकेन्द्रिय जीव की बात सब (ली है)। देखो ! त्रस को तो मारे ही नहीं। समझ में आया ? अन्दर एकेन्द्रिय की बात थी। लो !

पत्ता,... दल की व्याख्या है न यह ? दल अर्थात् पत्ते। नहीं ? पण्डितजी को क्या है ? मुझे यहाँ खबर नहीं पड़ती। दल है न दल ? दल का अर्थ किया न पत्ता ? यह पत्ता। फालतू बैठा हो तो पत्ते तोड़े, नीम के तोड़े, पीपल के तोड़े। समझ में आया ? बिना प्रयोजन पीपल के पत्ते लेकर लम्बा करके पीपाड़ी बनाकर ऐसा करे। करते हैं या नहीं लड़के ? वे जीव हैं, भाई ! बिना कारण ? बिना प्रयोजन ? समझ में आया ?

फल,.. फल तोड़े। होते हैं न आँवली के फल और वे, व्यर्थ का बैठा-बैठा तोड़कर डाल दे, तोड़कर डाल दे। ऐसा... काम में न आवे ऐसे वे कच्चे फल, फालतू बैठे-बैठे तोड़े। यहाँ अमरूद बहुत हुए हैं, हाँ कहे लाओ तोड़ डालें। कच्चे तो बहुत खाये नहीं जाते। ऐसा अनर्थदण्ड है।

फूल तोड़ना... फूल.. फूल.. फूल तोड़कर ढेर करे, खेल करे। आहा..हा..! नीम का कोर, कितने अनन्त जीव हैं। अब बिना कारण कोर को तोड़ना, समझ में आया ? यहाँ रास्ते में कितने ही निकलते हैं न ? रास्ते में निकलें तो ऐसा करता जाये और तोड़ता जाये। यह नीम नीचा है न ? कितना लम्बा होकर नीम नीचे उतरता है। नीम कितना ऐसे ऊँचा लम्बा होता है न... बिना प्रयोजन कुछ नहीं मिलता। कहो, यह दर्शनशुद्धि उपरान्त यह स्थिरता करने में ऐसी अस्थिरता का त्याग है, ऐसी बात करते हैं। **इत्यादि कोई भी कार्य नहीं करना।** समझ में आया ? ऐसा कुछ भी पृथ्वी का, पानी का, अग्नि का ऐसा पाप व्यर्थ बिना प्रयोजन (करना नहीं)। आवश्यकता हो इसके अपने शरीर के लिये, दवा के लिये (आवश्यकता हो), वह अलग (बात है); बिना प्रयोजन करना नहीं।

गृहस्थ श्रावक अपने प्रयोजन के लिये (भूमिकानुसार) कुछ भी कर सकता है... कर सकता है अर्थात् उसे कर सकता है, उसे कुछ व्रत में बाधा नहीं आती। प्रयोजन

के लिये करे, उसमें व्रत को बाधा नहीं आती, ऐसा कहते हैं। **परन्तु जिसमें अपना कुछ भी स्वार्थ न हो, जैसे कि रास्ता चलते वनस्पति आदि तोड़ना,...** लो! रास्ते में चलते हुए तोड़ते जाये। लम्बी हरितकाय होती है न, लम्बे छोड छोड लम्बे; चलता हो तो छोड पकड़कर खींचता जाये, ऊपर आवे तो तोड़ता जाये। थोर का बाड़ा हो, लकड़ी बड़ी हाथ में हो तो बाड़ को ऐसे-ऐसे मारता जाये, थोर की बाड़ में। **रास्ता चलते वनस्पति आदि...** वनस्पति, पानी, पृथ्वी इत्यादि **तोड़ना इत्यादि व्यर्थ के काम नहीं करना चाहिए। उसे ही प्रमादचर्या अनर्थदण्डत्याग व्रत कहते हैं।** देखो! भाई! वीतरागमार्ग में स्वरूप की दृष्टि सहित अन्तर में स्थिरता का अंश प्रगट हुआ हो, उसे ऐसा विवेक होता है, ऐसा कहते हैं। वे मरनेवाले होंगे तो मरेंगे, उनका आयुष्य होगा तो मरेंगे; वह तो होगा तो ऐसा ही, परन्तु तेरा भाव व्यर्थ का है न वह? वह पाप का कारण है न? आहा..हा..! समझ में आया? वह तो कौन तू मार सकता है? दूसरे को जिला सकता है? यह कहाँ प्रश्न है? यहाँ तो तेरे भाव में ऐसा अनर्थ बिना प्रयोजन पाप हो, उसका बड़ा पाप लगता है। समझ में आया? ऐसा करे नहीं।

गाथा - १४४

हिंसाप्रदान अनर्थदण्डत्याग व्रत का स्वरूप :-

असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम्।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात्।।१४४।।

हिंसोपकरणी छुरी विष, तलवार अग्नि हल धनुष।
वाणादि देना छोड़ना नित, यत्नपूर्वक हो निपुण।।१४४।।

अन्वयार्थ : (असि-धेनु-विष-हुताशन-लाङ्गल-करवाल-कार्मुकादीनाम्) छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष आदि (हिंसायाः) हिंसा के (उपकरणानां) उपकरणों का (वितरणम्) वितरण करना अर्थात् दूसरों को देना (यत्नात्) सावधानी से (परिहरेत्) छोड़ देना चाहिए।

टीका : 'हिंसायाः उपकरणानां असि धेनु विष हुताशन लाङ्गल करवाल

कार्मुकादीनाम् परिहरेत्'-अर्थः-हिंसा करने के साधन छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष, बाण आदि का देना प्रयत्न से दूर करे अर्थात् अन्य को नहीं देना चाहिए। इसी को हिंसादान अनर्थदण्डत्याग व्रत कहते हैं। जिन वस्तुओं के देने से हिंसा होती हो, उन वस्तुओं का उपयोग प्रयोजनवश अपने लिये तो कर सकते हैं किन्तु अन्य को वे वस्तुएँ कभी भी नहीं देना।।१४४।।

गाथा १४४ पर प्रवचन

हिंसाप्रदान अनर्थदण्डत्याग व्रत का स्वरूप :- लो! हिंसा यह चौथा बोल। पाँच बोल हैं न? अनर्थदण्डत्याग के पाँच बोल।

असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम्।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात्।।१४४।।

लो, यह सब अर्थ ही है, सब अर्थ टीका में है, देखो! वे सब शब्द हैं। **टीका : 'हिंसायाः उपकरणानां असि धेनु विष हुताशन लाङ्गल करवाल कार्मुकादीनाम् परिहरेत्'-अर्थः- हिंसा करने के साधन छुरी,...** छुरी किसी को देना नहीं, व्यर्थ में (दे कि) ले, यह मेरी छुरी अच्छी है, ले, जा-जा काट अमुक। बिना प्रयोजन (देना) वह अनर्थदण्ड है। कहो, ऐसे बहुत फालतू लोग होते हैं। वे दो-पाँच छुरी रखते हैं, एक घर में काम आवे, एक किसी को देनी हो तो देने के काम आवे।

मुमुक्षु : अच्छा छीलने में काम आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : ...अपने लिये अलग परन्तु दूसरों के लिये? बिना प्रयोजन ले जाओ, ले जाओ, हमारे पास छुरी अच्छी है। यह छुरी कही, देखो। यह प्रश्न किया था **'असि धेनु' 'असि धेनु'** की व्याख्या कही। यह छोटी-छोटी तलवार, छोटी तलवार अर्थात् छुरी। यह **'असि धेनु'** की व्याख्या है। **'असि धेनु'** दो मिलकर। धेनु अर्थात् यहाँ गाय-वाय नहीं यहाँ। **'असि धेनु'** अर्थात् छुरी। उस दिन बात हुई थी, तब समझ में नहीं आता था। समझ में आया? यह छुरियाँ रखते हैं न, कितने ही फालतू। बिना प्रयोजन सबको देते हैं। ऐसा नहीं करना चाहिए।

छुरी, विष,... जहर.. जहर.. । स्वयं जहर रखे, मक्खियाँ-बक्खियाँ बहुत होती हों तो खटमल-बटमल, जाओ ले जाओ थोड़ा सा। बिना प्रयोजन मर जाये बेचारे। ये छिड़कते हैं न अभी, खटमल में, मच्छर में और मक्खियों में। स्वयं घर में रखते हैं। परोपकार के लिये रखते हैं। परोपकार है या महापाप है ? समझ में आया ?

अग्नि,... अग्नि ले जाओ अग्नि, सुलगाने के लिये। घर ले जाओ अग्नि, हमारे चूल्हे में पड़ी है। हम सदा रखते हैं।

मुमुक्षु : अब नहीं रखते।

पूज्य गुरुदेव : अब तो नहीं परन्तु पहले, पहले आते थे। आसपास के लोग होंगे अग्नि का फोटा लेने आते थे। पहले आते थे। खबर है या नहीं ? मलूपचन्दभाई ! यह हमारे तो किसानों में घर न, इसलिए सब खबर है, वह कहे और हमारे ऐसे वहाँ के सही न 'ऊजमबा' हमारी माँ वहाँ की है न, इसलिए हमारे गाँव में घर नजदीक हो कोली हो, ऐसे कोई अग्नि नहीं करते और दियासलाई हो नहीं। दियासलाई हो नहीं, दियासलाई रखते नहीं, वह तो ऐसा घर हो वहाँ जाये। फोटा थोड़ा सा ले लो। फिर उसमें से... डाला करते। ये सब छोटी उम्र में देखा हुआ है, फिर तो कौन देखने गया था ? समझ में आया ?

अग्नि,... ऐसी अग्नि बिना कारण (देना नहीं)। ले जाओ, ले जाओ अग्नि... करो जाओ सब्जी, अमुक, देखो ! अग्नि वह भी जीव है। बिना प्रयोजन घात नहीं करना। उसमें कितनी ही महिलायें होती हैं, वे चतुराई मानती हैं कि हम बहुतों को मदद करते हैं, बहुतों को। यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा की श्रद्धा उपरान्त, उसकी स्थिरता में ऐसी अस्थिरता नहीं होती, ऐसे पाप का भाव उसे नहीं होता।

हल,.. हल, हल दो-चार रखते हैं और अपना फालतू पड़ा हो तो कहे जाओ हल लेकर जमीन जोतो, वह जमीन बहुत अच्छी पड़ी है जाओ। बिना प्रयोजन ऐसे पाप नहीं करे। देखो ! यह पहले-पहले पुरुषार्थसिद्धि-उपाय पढ़ा जाता है यह।

मुमुक्षु : हिंसा के साधन का व्यापार करे तो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : तो वह महापाप है, वह सब।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : स्पष्टीकरण करते हैं, भाई! यह तो... पुराने व्यक्ति हैं न। बिना प्रयोजन ऐसा नहीं होता।

मुमुक्षु : ...प्रयोजन कमाने का होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कमाने का प्रयोजन परन्तु मर्यादा होती है न, जिसमें बहुत त्रस मरते हों, बहुत त्रस जीव मरते हों, बहुत अनर्थदण्ड होता हो, उसका विचार करना चाहिए। समझ में आया?

मुमुक्षु : बनिया साबुन का व्यापार नहीं करता।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं; पहिले साबुन का व्यापार बनिया नहीं करते थे। न्यालचन्दभाई! यह बनिया साबुन नहीं और नमक नहीं बेचते थे। खबर है न मुझे? बनिया नमक नहीं बेचते, नमक। अर..र..! पाप है। नमक नहीं, साबुन नहीं, वह क्या कहलाता है? नाथ। बैल को नहीं (लगाते)? नाथ.. नाथ। ऐसा बनिया नहीं बेचता। नाथ पहले नहीं बेचते थे। अब तो सब समझने जैसा हो गया। ऐसा बनिया साधारण (करते), हों! धर्म की भले (बात) कुछ नहीं परन्तु बैल को ऐसी बड़ी नाथ डाले नहीं। तीन चार हाथ की लम्बी नाथ होती है न? ऐसी नाथ। ऐसा साबुन की फीण, यह छुरी आदि का धन्धा बनिया नहीं करते थे। भगवानभाई! सुना है या नहीं? यह सब तो हमें खबर है न, दुकान में थे। समझ में आया?

अभी तो सब अब... एक व्यक्ति कहता था, भाई! यदि दुकान में केंचुआ का चूरा न रखें तो दुकान नहीं चलती। कहे, केंचुआ, हों! क्या कहलाता है यह?... वे कहते थे, जीवणभाई कहते थे। कालियारवाले। दुकान में माल लेने आवें, पच्चीस चीज़ की लिस्ट लेकर आवे और उसमें यह एक चीज़ न हो तो एक भी न ले और यदि एक चीज़ रखें तो पचास रुपये का लाभ मिले। अरर! बनिये होकर यह? केंचुआ, केंचुआ। सूखा केंचुआ।

मुमुक्षु : तैयार डिब्बे आते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह धन्धा कहीं अच्छा है? अरे! महापाप होता है बनिये को? नहीं, नहीं आता है बात सच्ची है, सब खबर है न? बनिये भी सब करते हैं, करते थे। उसमें

फिर कितनों ने छोड़ दिया। डिब्बे तैयार आते हैं उसमें क्या? यह सौ डिब्बे पड़े हैं, इसमें से तुम्हें चाहिए हो तो लो पाँच-दस। परन्तु यह तो महा (पाप है)। एक व्यक्ति यहाँ तक कहता था कि घर में भी कुछ काम करे, उसमें से माँस घर ले आवे। बैल काटे, अर र! ऐसे ये धन्धे बनिये को, आर्य साधारण व्यक्ति को नहीं होते। समझ में आया?

हल, तलवार,... लो! जाओ, राजा को जीतने के लिये तलवार दी थी न? कहते हैं या नहीं कोईक? ये जूनागढ़ जाते थे और तलवार लेकर जावे। दरबार जाये तो (कहे), तलवार हम देते हैं, जाओ तुम। परन्तु है क्या? बिना प्रयोजन? वह माने नहीं। फिर हो पाप और माने परोपकार। **तलवार, बाण...** बाण, बाण। एकाध, दो, पाँच बाण अधिक रखें हों तो जाओ ले जाओ। जंगल में जाओ, बाण अधिक है। **आदि का देना प्रयत्न से दूर करे...** ऐसा देना करे नहीं। **अर्थात् अन्य को नहीं देना चाहिए। इसी को हिंसादान...** हिंसादान, उसने हिंसा का दान किया। देखा न? ऐसे हिंसा के उपकरण दिये।

अनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं। जिन वस्तुओं के देने से हिंसा होती हो, उन वस्तुओं का उपयोग प्रयोजनवश अपने लिये तो कर सकते हैं... क्योंकि गृहस्थाश्रम है न? **किन्तु अन्य को (बिना प्रयोजन) कभी भी नहीं देना।** देखो! यह तो धीरज से, जिसे आत्मा का काम करना है, उसकी बात है। ऐसे का ऐसा चला जाये अनन्त काल से। चार बोल हुए। यह अनर्थदण्ड के पाँच प्रकार हैं, उसमें चार बोल हुए, इसका पाँचवाँ बोल।

गाथा - १४५

दु:श्रुति अनर्थदण्डत्याग व्रत का स्वरूप :-

रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम्।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि।।१४५।।

अज्ञानमय रागादिवर्धक, दुष्टतामय कथा को।
नहिं सुनो नहिं अर्जित करो, नहिं शिक्षणादि भी करो।।१४५।।

अन्वयार्थ : (रागादिवर्द्धनानां) राग, द्वेष, मोहादि को बढ़ानेवाली तथा (अबोध-बहुलानाम्) बहुत अंशों में अज्ञान से भरी हुई (दुष्टकथानाम्) दुष्ट कथाओं का (श्रवणार्जनशिक्षणादीनि) सुनना, धारण करना, सीखना आदि (कदाचन) किसी समय, कभी भी (न कुर्वीत) नहीं करना चाहिए।

टीका : 'अबोध (मिथ्यात्व) बहुलानां रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानां श्रवणार्जन-शिक्षणादीनि न कदाचन कुर्वीत' -अर्थ:- मिथ्यात्व सहित राग-द्वेष, वैरभाव, मोह, मदादि बढ़ानेवाली कुकथाओं का श्रवण तथा नवीन कथायें बनाना, वांचना वगैरह कभी भी नहीं करना चाहिए। इसे ही दु:श्रुति अनर्थदण्डत्याग व्रत कहते हैं।

भावार्थ : जो कथा सुनने से, पढ़ने से और सीखने से विषयादि की वृद्धि होगी, मोह बढ़ेगा और अपने तथा पर के परिणामों में संक्लेश होगा, अत: ऐसी राजकथा, चोर कथा, भोजनकथा, स्त्रीकथा इत्यादि कथायें कहना या सुनना नहीं चाहिए।।१४५।।

गाथा १४५ पर प्रवचन

दु:श्रुति अनर्थदण्डत्याग व्रत का स्वरूप :-

रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम्।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि।।१४५।।

राग, द्वेष, मोहादि को बढ़ानेवाली... अन्दर पहला **अन्वयार्थ : राग, द्वेष, (मिथ्यात्व) मोहादि को बढ़ानेवाली बहुत अंशों में अज्ञान से भरी हुई दुष्ट कथाओं का सुनना,...** करना नहीं चाहिए। ऐसी कथा सुननी नहीं चाहिए, जिसमें अकेले पाप का पोषण हो। समझ में आया? रागवर्धक, द्वेषवर्धक, युद्धों की बात आवे न बड़ी? लोग इकट्ठे हों, यह मारा गया। कल अब रावण को लक्ष्मण मारेंगे। वहाँ वे प्रसन्न हों कि अब भी आज मार डालो न! परन्तु तेरा तो मरण हो गया है अब, तुझे क्या है यहाँ? माणभट्ट को होता है न? ऐसी बात रखे बराबर है, यह बात कल आयेगी अब। इसलिए दूसरे सब झट आते हैं। रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी बराबर आये। रावण को ऐसा करने। अब उस रावण को मारने की किस प्रकार विधि है, वह कल आयेगा, जाओ। अकेला पाप। लड्डू मिले।

यह लाडूभट्ट कहलाये। उस समय बात सुनी थी। लाडूभट्ट, लाडूभट्ट। एक व्यक्ति लाडूभट्ट हो, वह माणभट्ट हो, दूसरा लाडूभट्ट हो। समझ में आया?

बहुत अंशों में अज्ञान से भरी हुई... देखो! **'अबोध'** जिसमें अज्ञान से भरी हुई कथा को बिना प्रयोजन सुनना। है क्या कुछ लाभ? अपने को लाभ है? कुछ लाभ के बिना प्रयोजन ऐसी वार्ता सुनने जाना नहीं, ऐसा कहते हैं। **दुष्ट कथाओं का सुनना (नहीं),...** (सुनकर) **धारण करना (नहीं), सीखना (नहीं)...** लो! **आदि किसी समय, कभी भी नहीं करना चाहिए।** उसमें यह आता है न? भाई में-टोडरमलजी में? कुश्रुत को, भाई! आता है न उसमें? कुश्रुत को सुनना नहीं, पढ़ना नहीं, सीखना नहीं, लिखना नहीं। यह सब आता है उसमें? आता है या नहीं? देखो! यह भाषा है। वह की वही यह है न?

यहाँ आगम मोक्ष प्राप्ति का प्रकाश करे, वह आगम पढ़ने-सुनने योग्य है। क्योंकि संसार में जीव अनेक प्रकार के दु:खों से पीड़ित है - इत्यादि-इत्यादि। मोक्षमार्ग वीतरागभाव है, इसलिए शास्त्र में किसी प्रकार से राग, द्वेष, मोहभाव का निषेध करके, वीतरागभाव का प्रयोजन प्रगट किया हो, वे शास्त्र पढ़ना सुनना। जिन शास्त्रों में शृंगार, भोग, कौतुहल पोषण करके रागभाव; हिंसा, युद्ध आदि का पोषण करके द्वेषभाव; अतत्त्वश्रद्धान पोषणकर मोहभाव, तीन लिये—राग, द्वेष, मोह। लो! समझ में आया? तीन है न इसमें? तीनों हैं, देखो! राग आदि शब्द पड़ा अवश्य है। वह शास्त्र-श्रवण, शस्त्र है। समझे न? ऐसे शास्त्र पढ़ने सुनने योग्य नहीं हैं। पढ़ने, सुनने प्रमाण जोड़ना नहीं, सीखना नहीं, सीखाना नहीं, विचारना नहीं, लिखाना नहीं। लो! उस समय यह बात आयी थी न? बौद्ध के शास्त्र हमें नहीं लिखना? यह बड़ी चर्चा चली थी। वह बौद्ध का था न? महेन्द्रभाई गुजर गये, नहीं। तब चर्चा चली थी पण्डित में कि यह तो बौद्ध का स्वरूप है, इसे सिखलाना या नहीं? उसे सिखलाना चाहिए बौद्ध ऐसा कहते हैं, अमुक ऐसा कहते हैं। ऐसे पाप के भाव में ऐसी आजीविका भी नहीं करना चाहिए। बात ऐसी है। समझ में आया?

मिथ्यात्वसहित राग-द्वेष,... देखो! भाषा ऐसी लिखी। टीका, टीका। मिथ्यात्व-सहित राग-द्वेष। राग आदि **वर्धनानां** है न? विपरीत श्रद्धासहित राग-द्वेष। १४५ की टीका। **'अबोध'** का अर्थ **मिथ्यात्व** किया। यह फिर से अज्ञान किया, उस अज्ञान से भरी हुई कहा। मिथ्यात्वसहित राग-द्वेष बढ़ानेवाले ऐसे शास्त्र कुशास्त्र हैं, उन्हें सुनना नहीं।

निष्प्रयोजन, व्यर्थ का पाप लगता है। **राग-द्वेष, वैरभाव, मोह, मदादि बढ़ानेवाली कुकथाओं का...** जिसमें से राग-द्वेष बढ़े, वैरभाव बढ़े, तत्त्व के विरोध का मोहभाव हो। **कुकथाओं का श्रवण तथा नवीन कथायें बनाना, वांचना वगैरह कभी भी नहीं करना चाहिए।** ऐसी कथायें भी नहीं करना चाहिए। कठिन काम जगत को। भाई! संसार से छूटना हो, यह तो उसकी बात है।

मुमुक्षु : ....पुस्तक के ग्राहक मिलें।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसे हों तो बहुत ग्राहक मिलें। निन्दा करनेवाले, सच्चे तत्त्व की निन्दा करनेवाले को लेनेवाले भी बहुत मिलें। लाओ पढ़े, लाओ पुस्तक पढ़ें, लाओ एक पत्र पढ़ें। कहो समझ में आया?

नवीन कथायें बनाना, वांचना वगैरह कभी भी नहीं करना चाहिए। इसे ही दुःश्रुति अनर्थदण्डत्याग व्रत कहते हैं। जो कथा सुनने से, पढ़ने से और सीखने से विषयादि की वृद्धि होगी,... विषय-वासना की वृद्धि हो ऐसी वार्ताएँ। काम आता है न? काम क्या कहलाता है? काम की कथा नहीं? चूड़ा बोत्तर की क्या कहलाती है वह? कहो, कोकशास्त्र। वह कोकशास्त्र होता है न? कोकशास्त्र कहलाता है न? वह कोकशास्त्र कहलाता है। ऐसे शास्त्र पढ़ना नहीं, बेचना नहीं। जिसमें विषय की वृद्धि हो। जिसमें वैराग्य की वृद्धि हो, अपने अस्तित्व की प्रतीति की पुष्टि हो, और पर से उदासीनता की वृद्धि हो, ऐसी बात इसे सुनना चाहिए। समझ में आया?

मोह बढ़ेगा... अज्ञान बढ़े ऐसा। **और अपने तथा पर के परिणामों में संक्लेश होगा, अतः ऐसी राजकथा,...** करना नहीं, लो! राजकथा लगाये तो प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। **चोर कथा,...** ऐसी चोरी और वह चोर ऐसा था तथा अमुक ऐसा था और उसे फिर ऐसे मारा तथा उसने ऐसा किया। **भोजनकथा,...** आहार बनाने की बात। ऐसा हलुआ होता है और फिर लड्डू ऐसे होते हैं और फिर पूड़ी ऐसी होती है तथा तले तो ऐसा होता है और अमुक... सब पाप की बिना प्रयोजन की (कथा है)। आहा..हा..! आहार की बात तुच्छ है - ऐसा श्रीमद् ने लिखा है। आहारादि की बात तुच्छ बात है। उसमें ऐसी गृद्धि की बातें फालतू बैठे हुए किया ही करे कि यह तो रोटी ऐसी हुई थी, उसमें पूरणपोली ऐसे

डाली थी और उसमें अमुक डाला था, उसमें ऐसी हुई, हलुआ तो ऐसे राल (सालरस) जैसा हो गया। बिना प्रयोजन के, हों! (यह) **भोजनकथा,...**

स्त्रीकथा... अमुक देश की स्त्री ऐसी होती है और उसके वस्त्र ऐसे होते हैं और उसके बोल ऐसे होते हैं, यह उसके जूते ऐसे होते हैं, अमुक ऐसे होते हैं। **इत्यादि कथायें कहना नहीं चाहिए।** कहो, समझ में आया? यह हिंसा अनर्थदण्डत्याग के पाँच प्रकार की व्याख्या की। इसका धर्मी जीव को त्याग करना चाहिए। जिसे आत्मा का साधन करना है। अहो! चौरासी लाख के अवतार में से निकलना है और निकलकर स्वतन्त्र सुखी होना हो, उसे ऐसा करना चाहिए। दर्शन / सम्यग्दर्शनसहित की बात है, हों! सम्यग्दर्शन न हो और ऐसा यों ही किया करे, वह तो एक मन्द राग करता है। उसमें कहीं जन्म-मरण का अन्त नहीं है। आहा...हा...!

गाथा - १४६

महाहिंसा का कारण और अनेक अनर्थ उत्पन्न करनेवाला जुआ भी त्याग करना चाहिए -

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः।
दूरात्परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम्।।१४६।।

नित सब अनर्थों में प्रथम, है शौच नाशक कपट घर।
चोरी असत्य निवास द्यूत, जुआ करो परिहार सब।।१४६।।

अन्वयार्थ : (सर्वानर्थप्रथमं) सप्त व्यसनों में पहला अथवा सर्व अनर्थों में मुख्य (शौचस्य मथनं) सन्तोष का नाश करनेवाला (मायायाः) मायाचार का (सद्म) घर और (चौर्यासत्यास्पदम्) चोरी तथा असत्य का स्थान (द्यूतम्) ऐसे जुआ को (दूरात्) दूर ही से (परिहरणीयम्) त्याग करना चाहिए।

टीका : 'सर्वानर्थप्रथमम् मथनं शौचस्य, सद्म, मायायाः चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम् दूरात् परिहरणीयम्'-अर्थः-सभी अनर्थों को उत्पन्न करनेवाला; शौच जो लोभ का त्याग, उसका नाश करनेवाला और कपट का घर, ऐसे जुआ को दूर से ही छोड़ना चाहिए।

भावार्थ : वास्तव में जुआ खेलना बहुत ही निन्द्य काम है और सातों व्यसनों में सबसे अधिक निकृष्ट है। ज्वारी मनुष्य प्राय: सभी पापों का आचरण करता है, अत: जुआ का त्याग अवश्य करना चाहिए। अनर्थदण्ड त्यागनेवाले को जुआ का भी त्याग करना चाहिए।।१४६।।

गाथा १४६ पर प्रवचन

महाहिंसा का कारण और अनेक अनर्थ उत्पन्न करनेवाला जुआ भी त्याग करना चाहिए – यह अनर्थदण्डत्याग में डाला। कहो, अनर्थदण्डत्याग में जुआ, जुआ।

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायाया:।
दूरात्परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम्।।१४६।।

सब पाप का मूल द्यूत-चोरी है – ऐसा कहते हैं। जुआ, जुआ। आता है, वह कथा में आता है। वह जुआ करते हैं? कि हाँ। यह चोरी करते हैं? परन्तु क्या कहें तब? जुआ में हारें तो चोरी भी करनी पड़े और चोरी के पश्चात् क्या करे? किसी समय पैसा अधिक मिल जाये तो विषय में भी जाते हैं। ऐसा करके सात बोल लागू करते हैं। समझ में आया? झूठ भी बोलना पड़े। किसी समय ऐसी आवश्यकता पड़े और भोजन न मिले तो हमें शिकार भी करना पड़े। ऐसा करके जोड़ा है। एक जुआ में साल बोल का वर्णन है, कहीं है। शास्त्र में है, हों! वह कहीं है। टेकचन्दजी में है या कहीं है। समझे न? ऐसा वर्णन है, हों! एक जुआ में सातों ही पाप। सातों ही व्यसन कहलाते हैं न? सातों ही व्यसन इसमें आ जाते हैं।

सप्त व्यसनों में पहला अथवा सर्व अनर्थों में मुख्य... यह देखो? इसका अर्थ मुख्य किया। **'सर्वानर्थप्रथमं'** सात व्यसन हैं न? परस्त्री, वेश्यागमन, माँस, जुआ। समझ में आया? क्या रहा दूसरा? शराब आदि सात व्यसन हैं। उनमें पहला जुआ महापाप है, जुआ-जुआ। अभी देखो न यह सट्टा ऐसा बढ़ गया है न, यह जुए का बाप है ये सब। धन्धा ही ऐसा सब, कौन जाने? पूरे दिन आकुलता.. आकुलता.. आकुलता.. आकुलता.. आवे तो ममता, न आवे तो खेद। बड़े-बड़े पैसेवाले क्या यह सब धन्धा करे? उसमें अकेली

आकुलता, हों! महापाप, पाप, महापाप। लोग देखे पैसा आया, इतना दो, पाँच, दस करोड़ हुआ, धूल भी नहीं, वहाँ अकेली होली हुई है। दु:ख का-पाप का पोटला बँधा है। समझ में आया?

थोड़ी मेहनत से लेने का अभी बहुत होता है। पाप चाहे जितना अन्दर हो, झूठ बोलना पड़े, चोरी (करना पड़े), ऐसे व्यसन। फिर बहुत पैसा हो, फिर लोग, अनुकूल आदर करे सही न स्त्रियों को। फिर लम्पटी हो जाये। महापाप, महापाप। समझ में आया? अरे! कितना काल यहाँ रहना है? कहाँ जाना है? बापू! तुझे? भाई! उसमें कितनों को तो कितने वर्ष निकल गये हैं। साठ, साठ वर्ष निकले, सत्तर निकले। उसे साठ, सत्तर निकलनेवाले हैं? कहो, कितने वर्ष हुए? ७०, ७५, ७८, ८०, इसका चौथा भाग भी रहना नहीं है। न्यालचन्दभाई! अस्सी-अस्सी वर्ष हुए, उसका चौथा भाग भी कहाँ रहना है अब? आहा..हा..! यह तो एक मुद्दत की स्थिति। इसे तो आत्मा का काम कर लेना चाहिए। इसकी सम्हाल और स्थिरता (कर लेना चाहिए), ऐसा कहते हैं।

सप्त व्यसनों में पहला अथवा सर्व अनर्थों में मुख्य... सब अनर्थ जुआ में से खड़े होते हैं, ऐसा कहते हैं। **सन्तोष का नाश करनेवाला...** जुआ सब पाप में पहला और अनर्थों में मुख्य, दो (बात) और **'शौचस्य मथनं'** सन्तोष को तो मन्थन कर डालता है, सन्तोष का तो जुआ नाश कर डालता है। पहले तो कितना एक-दो हजार, हजार कमाने पर बेचारे सन्तोषी (रहते थे), बाहर की उस प्रकार की। भले धर्म की दृष्टि न हो परन्तु उसे (सन्तोष होता है)। यह तो पाँच-पाँच करोड़, दस-दस करोड़ होली सुलगती ही है उसमें, सब्र ही नहीं होता।

मुमुक्षु : दुनिया का प्रकार बदल गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या दुनिया का प्रकार बदल गया? मनुष्य कोई ढोर हो गया है? मनुष्य होकर देव हो गया है? रुपये बदलकर कहीं दूसरा-चेतन हो गया है? है वह है। आहा..हा..! कहते हैं, सन्तोष का तो जुआ नाश करनेवाला है। तीन बोल हुए? चौथा।

मायाचार का घर... जुआ तो कपट का घर है। माया सेवन करके कुछ करे, कुछ झूठा बोले। आयेगा, बाद में आयेगा। जुआ में कपट (करे)। समझे न? **और चोरी तथा असत्य का स्थान... 'स्पदम्' 'स्पदम्'** न? घर, घर, स्थान। इस चोरी का तो

स्थान जुआ, भाषा आचार्य को स्वयं कहना है, हों! सातों ही बोल डालकर बात है। सात व्यसन ही इसमें हैं। कहीं विशेष अर्थ है। कहीं होगा। उसे पूछा है कि तू ऐसे करता है? हाँ, मुझे तो ऐसा करना पड़ता है, ऐसा करके सातों ही डाले हैं। कहीं है अब, बहुत वर्ष पहले पढ़ा है। टेकचन्दजी का है न?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हाँ होगा कहीं। वह हाँ, हाँ करे। बहुत से तो जुआ के लिये सिद्ध करते हैं। कहो, समझ में आया? ओहो..हो..!

चोरी तथा असत्य का स्थान ऐसे जुआ को दूर ही से त्याग करना चाहिए। दूर से अर्थात् जहाँ खेलते हों, वहाँ भी नहीं जाना चाहिए। जुआ हो, वहाँ नहीं जाना चाहिए। कहो?

'सर्वानर्थप्रथमम् मथनं शौचस्य, सद्म, मायाया: चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम् दूरात् परिहरणीयम्'-सभी अनर्थों को उत्पन्न करनेवाला; शौच जो लोभ का त्याग, उसका नाश करनेवाला और कपट का घर, ऐसे जुआ को दूर से ही छोड़ना चाहिए। वास्तव में जुआ खेलना बहुत ही निन्द्य काम है... यह फालतू हों, तब जुआ खेलते हैं न? सातन और रांधणछठ, क्या कहलाता है? हमारे उमराला में तीन दिन पाले बड़ा। छठ, सप्तम और अष्टम। वहाँ 'ध्रौल' में बड़ा मेला भरता है। छठ, सप्तम, अष्टम का। फिर जुआरी जुआ खेलते हैं।

जुआ खेलना बहुत ही निन्द्य काम है और सातों व्यसनों में सबसे अधिक निकृष्ट है। लो! ठीक! माँस, वेश्या, शराब, परस्त्री, इसमें जुआ महापाप है। उसमें सब आ जाता है। ऐसा कहते हैं। **ज्वारी मनुष्य प्राय: सभी पापों का आचरण करता है, अत: जुआ का त्याग अवश्य करना चाहिए। इसलिए अनर्थदण्ड त्यागनेवाले को जुआ का भी त्याग करना चाहिए।** महाजुआ। यह सट्टा, बड़ा जुआ है, हों! कोई व्यापार नहीं और कोई मेहनत नहीं और पैसा एकदम पैदा करना, लो! सट्टा करे तो लाख, दो लाख हो जाये। मुँह से बोलना-चलना नहीं, कुछ दुकान लगाना नहीं और बाँधना नहीं, मसलना नहीं, (कोई मेहनत नहीं) नौकर रखना नहीं। रखना पड़ता होगा व्यक्ति? उसमें क्या? वह माल भरना या इस दुकान का माल डालना। पाँच सौ बोरी अनाज की रखी है, यह गुड़ की

गाड़ी आयी है, अमुक कुछ है ? ऐई ! जाओ मुँह से बातें। यह लाओ इतना, इतना दो ! और उसमें इतनी तृष्णा। आहा..हा.. !

एक बार मैंने देखा था वह कोलाबा। कोलाबा है न मुम्बई ? कोलाबा था न तब ? तब तो कहाँ था ? (संवत्) १९६८ के साल की बात है और एक बड़ा मारवाड़ी ऐसे (बोलता था) देखने गये थे, भाई ! क्या है यह बनिया, यह सब धन्धा क्या करते हैं ? ऐसे कलुषित (परिणाम)। १९६८ के साल की बात है। शोर मचाते थे। कछोटा बाँधकर मारवाड़ी... क्या है परन्तु ? यह होली मानो सुलगती हो ऐसी लगे अन्दर। ऐसी चिल्लाहट करे। हमारे पालेज में हॉल है न ? एक बार पहले उतरे न, उसमें बारह बजे चिल्लाहट की। क्या है ? सुलगा है या क्या ?

मुमुक्षु : भगवान की रथयात्रा के... वे देते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे देते हैं। ऐसा है। किसके रुपये कहे ?

मुमुक्षु : भगवान की रथयात्रा के।

पूज्य गुरुदेवश्री : रथयात्रा में उन्हें ? हाँ, समझ में आ गया। ऐसे कहे ऐसा कमाया हो, वह इतना दे, ऐसा कहते हैं। बात सच्ची। फिर वहाँ इतने में पाप जाये। फिर धर्म में गिन दे। वहाँ धूल भी धर्म नहीं। गायें मारकर कुत्ते धरने जैसा है। आहा..हा.. ! सज्जन को नीति का व्यापार (होता है), बहुत पाप ऐसा नहीं होता। कैसी बात ! समझ में आया ?

गाथा - १४७

विशेष कहते हैं:-

एवंविधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्डं यः।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते।।१४७।।

इस ही तरह के अन्य भी हैं, अनर्थ दण्ड सुजान नित।
जो छोड़ता सब उसी का, निर्मल अहिंसाव्रत विजित।।१४७।।

अन्वयार्थ : (यः) जो मनुष्य (एवं विधं) इस प्रकार के (अपरमपि) दूसरे भी

(अनर्थदण्डं) अनर्थदण्ड को (ज्ञात्वा) जानकर (मुञ्चति) त्याग करता है (तस्य) उसके (अनवद्यं) निर्दोष (अहिंसाव्रत) अहिंसाव्रत (अनिशं) निरन्तर (विजयं) विजय को (लभते) प्राप्त करता है।

टीका : 'यः एवं विधं अपरं अपि अनर्थदण्डं ज्ञात्वा मुञ्चति तस्य अनवद्यं अहिंसाव्रतं अनिशं विजयं लभते'-अर्थः- जो मनुष्य इस प्रकार दूसरे भी बिना प्रयोजन पापबन्ध करनेवाले अनर्थदण्ड को जानकर छोड़ देता है, उसका पापरहित अहिंसाव्रत हमेशा विजय प्राप्त करता है, अर्थात् सदैव पुण्यबन्ध करके, पाप का त्याग करता हुआ कर्मों की निर्जरा करता है।

भावार्थ : संसार में ऐसे छोटे-छोटे अनेक कार्य हैं जिनको करने से व्यर्थ ही पाप का बन्ध हुआ करता है, अतः सभी मनुष्यों को, जिससे अपना कोई प्रयोजन नहीं है ऐसे व्यर्थ, अनर्थदण्ड का त्याग अवश्य करना चाहिए-यही कर्त्तव्य है। इस प्रकार तीन गुणव्रतों का वर्णन समाप्त हुआ।।१४७।।

गाथा १४७ पर प्रवचन

विशेष कहते हैं:-

एवंविधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्डं यः।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते।।१४७।।

जो मनुष्य इस प्रकार के दूसरे भी अनर्थदण्ड को जानकर... बिना प्रयोजन के पाप को छोड़कर। जानकर छोड़ता है, ऐसा कहा है न? **'ज्ञात्वा'** पहले जाने तो सही कि ये पाप ऐसे हैं। **त्याग करता है, उसके निर्दोष अहिंसाव्रत निरन्तर विजय को प्राप्त करता है।** लो! मिलाया वापस अहिंसा के ऊपर। मूल तो अहिंसा; वह हिंसा - अनर्थदण्ड के परिणाम महाहिंसा है, और उसका त्याग, **निर्दोष अहिंसाव्रत निरन्तर विजय को प्राप्त करता है।** अहिंसा की वहाँ विजय है। भगवान आत्मा ज्ञातादृष्टा के भान में जितना इस राग का अभाव करके जितनी स्थिरता करे, उतनी अहिंसा की जय है। कहो, समझ में आया? इसका विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, १४७। अनर्थदण्ड के त्याग की व्याख्या आती है।

टीका : 'यः एवं विधं अपरं अपि अनर्थदण्डं ज्ञात्वा मुञ्चति तस्य अनवद्यं अहिंसाव्रतं अनिशं विजयं लभते'-जो मनुष्य... सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के भान सहित, पाँच अणुव्रत के सहित, पाँच अणुव्रत की रक्षारूप, दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डत्याग व्रत, ऐसे जो तीन गुणव्रत, उन्हें इस प्रकार धारण करता है। **दूसरे भी बिना प्रयोजन पापबन्ध करनेवाले अनर्थदण्ड को जानकर छोड़ देता है,...** बहुत तो कहे, परन्तु इसके अतिरिक्त निरर्थक पाप के बन्ध के कारण हों, उसे श्रावक छोड़ता है। जिसे आत्मा के स्वसन्मुख होने का ही जहाँ प्रयत्न और भाव है, उसे परसन्मुख के ऐसे अनर्थदण्डत्याग के भाव का त्याग होता है।

क्योंकि करना तो कर-करके यह है न? वस्तु चैतन्य जो स्वभाव से शाश्वत् है, उसके सन्मुख होकर श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता करनी है। कहो, सेठी! वास्तविक आत्मा कैसा है, यह पहले इसे ख्याल में (आना चाहिए)। कहा न यहाँ? **अनर्थदण्ड को जानकर छोड़ देता है,...** जाने बिना किस प्रकार छोडे? कि ये बिना प्रयोजन के पाप हैं, ऐसा जानकर छोड़े। ऐसे आत्मा क्या वस्तु है यह? समझ में आया?

शक्कर की एक डली हो और ऊपर मेल हो, परन्तु मेल के अन्दर में पूरी शक्कर की मिठास भरी हुई है, वह न देखे, तब तक वह शक्कर के स्वरूप को नहीं जान सकता। इसी तरह भगवान आत्मा के ऊपर तो पुण्य-पाप के मलिन परिणाम दिखते हैं। भिन्न पड़ने पर भी होते हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? पुण्य-पाप के राग से चैतन्य के स्वभाव को, अकेली शक्कर-अमृत आनन्द की ही वह डली है, उसे इस मेल से -पुण्य-पाप से भिन्न दृष्टि हुई और ज्ञान हुआ है; उसे ये जो पुण्य-पाप के तीव्र भाव हैं, उन्हें घटाने के लिये इन अणुव्रत आदि के भाव को आदरता है। कहो, समझ में आया? वह मेल है, स्वरूप

निर्मल है, उसकी दृष्टि-ज्ञान करके स्थिरता करने के लिये ऐसे अनर्थ के-बिना प्रयोजन के पाप के परिणाम छोड़ता है, जिससे स्वभावसन्मुख की एकाग्रता बढ़ती है। समझ में आया?

उसका पापरहित अहिंसाव्रत... भगवान आत्मा बिलकुल रागरहित चीज़ है, ऐसा अन्दर भान हुआ है, उसे स्थिरता के लिये ऐसे अनर्थदण्ड का त्याग होता है। उसे **अहिंसाव्रत हमेशा विजय प्राप्त करता है,...** उसे रागरहित अहिंसा की विजय होती है। सेठी! आहा..हा..! समझ में आया? **अर्थात् सदैव पुण्यबन्ध करके,...** अर्थात् कि वह इतना त्याग का विकल्प है न? उसका पुण्य-बन्ध होता है और तीव्र पाप का त्याग होता है। कर्मों की निर्जरा (होती है)। वह भी स्वरूप में जितनी एकाग्रता होती है, उतनी निर्जरा होती है; जितना विकल्प रहा, उसका पुण्य होता है और पाप के विकल्प का त्याग (-ऐसी) तीन बातें ली हैं। समझ में आया?

आत्मा शुद्ध आनन्दस्वरूप के सन्मुख की जो दृष्टि और ज्ञान हुआ है, तदुपरान्त जितना स्थिरता का अंश प्रगट होता है, उतनी निर्जरा है और यह त्यागता हूँ - ऐसा जो शुभभाव है, वह पुण्यबन्ध है और तीव्र पाप के परिणाम का त्याग है, उतना पाप का त्याग है। समझ में आया? सेठी! यह तुम्हारे जयपुर में कहीं नहीं मिलता।

मुमुक्षु : इसीलिए तो यहाँ आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सबेरे बात हुई थी। हुकमीचन्द है, वह पण्डित ठीक लगता है, हों! सेठी! ऐसा लगा। किसी ने कहा था। किसने कहा था? चेतनजी ने। भाई ने कहा था। बात की, मैंने कहा - किसी ने कहा था। भाई ने कहा था। हुकमीचन्द, हिम्मतभाई ने कहा था। सच्ची बात। इन्दौर में एक हुकमीचन्द पण्डित है न? वह ठीक व्यक्ति लगता है। दूसरा तो कोई वहाँ रह सके नहीं। किसी ने कहा था। दो भाई (हैं)। यह पण्डित, 'हुकमीचन्द' इनने वहाँ सुधारा है। अशोक (नगर) इन्दौर में भी। वह व्यक्ति जरा व्यवस्थित (लगता है)। वह जो इन्हें मिल जाये। सेठी! यह बात सबेरे रास्ते में हुई थी। हमारे हिम्मतभाई के (साथ) बातें निकली रास्ते में। कुछ इस मार्ग की पुष्टि हो अन्दर की और राग घटे, ऐसी कथन शैली की पद्धति होनी चाहिए। समझ में आया? और यह पूरे मोक्षमार्गप्रकाशक में वर्णन किया है, तो उसकी पुष्टि तो होनी चाहिए न? यह तो महेन्द्रभाई और यह करेंगे न?

महेन्द्रभाई को कहा था। यह सब तुम करके बैठे, अब उत्तरदायित्व तुम्हारे सिर पर आ गया। एक व्यक्ति को देखेंगे, अमुक करना, सब करना पड़ेगा या नहीं? कि हाँ, हाँ, हम करेंगे-करेंगे। यह कहाँ बाबूभाई ना करे, ऐसा नहीं यह कोई।

देखो! यहाँ तीन बोल के ऊपर से यह तो विचार आया। देखो! कि एक तो वस्तु की अन्दर दृष्टि, चैतन्यमूर्ति है - यह बात पहले होनी चाहिए; और फिर तीव्र राग छोड़ने को, मन्द राग का विकल्प हो, उस मन्द राग के विकल्प को व्यवहारव्रत कहते हैं, जो पुण्यबन्ध का कारण है और तीव्र पाप के परिणाम का त्याग हो। स्वरूप की जितनी एकाग्रता हो, उतनी संवर और निर्जरा होती है। समझ में आया? यह मार्ग है, भाई! इसके बिना दूसरा रास्ता नहीं है। कहो, समझ में आया? यह बाहर के चाहे जितने करोड़ों रुपये खर्च करे और ऐसा करे और वैसा करे, तथा मकान बनावे, परन्तु यह मार्ग लिये बिना इसे कभी श्रेय हो, ऐसा नहीं है। कहो, समझ में आया इसमें?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह शोभा थी बाहर की? शुभभाव भी यहाँ तो वास्तविक शोभा नहीं। वह तो एक बाहर व्यवहार से (कहलाता है)। उसमें कौन है? व्यवहार किसे कहना? आहा..हा..! ऐसा मार्ग, भाई!

ऐसा मार्ग वीतराग का अर्थात् आत्मा के स्वभाव का। उसका स्वभाव ही ज्ञान है, उसे हिलना या विकल्प होना, वह इसका स्वरूप ही नहीं। आहा..हा..! व्रत-अव्रत के विकल्प होना, वह भी इसका स्वरूप नहीं। ऐसा स्वरूप है, बापू! आहा..हा..! ऐसा जो ज्ञान की-खाण्ड की अतीन्द्रिय डली है, उसका जिसे स्वाद लेना है, उसे तो उसके प्रति एकाग्रता, सन्मुखता पहले करनी पड़ेगी। पहले दृष्टि की सन्मुखता होने के बाद स्थिरता की सन्मुखता के लिये ऐसे अणुव्रत आदि के भाव उसे होते हैं, वह विकल्प होता है, परन्तु पीछे जितनी स्थिरता, उतनी सन्मुखता है। समझ में आया? राजमलजी! बहुत नहीं आया। तीन बोल आये, तीन। स्थिरता, पुण्य और पाप का त्याग।

वस्तु है, भले गृहस्थाश्रम हो, स्त्री-कुटुम्ब भी हो, वह तो हो। राग हो, तथापि इसकी दृष्टि में शुद्ध चैतन्य जिस स्वरूप से है, जितनी ताकतवाला है, जितने गुण के स्वभाववाला जितना है, ऐसा उसके सन्मुख की दृष्टि पहले हो। इसके बिना कदम आगे

चले, ऐसा नहीं है। उसमें विशेष स्थिर होने के लिये ऐसे अणुव्रत आदि (होते हैं)। एकदेश आंशिक स्थिरता विशेष आश्रय करके होती है, उसमें ऐसे अणुव्रत आदि के भाव व्यवहार से होते हैं। समझ में आया? यह ऐसा कहा है कि **सदैव पुण्यबन्ध करके,...** विकल्प जितना है, उसका पुण्य होता है, तीव्र छूटे उतना पाप छूटता है और अन्तर की एकाग्रता अर्थात् कर्मों की निर्जरा करता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : एक सरीखा दोनों को कहा जाता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों को कहा जाता है। निर्जरा को देशव्रत कहा जाता है, क्योंकि स्थिरता अंश है; शुभपरिणाम है, उसे व्यवहार से देशव्रत कहा जाता है। कहो, दो को क्या तुम्हें कहना है? जिस स्वरूप की दृष्टि हुई है, उपरान्त स्थिरता अंश है, वह भी देशव्रत परमार्थ से है और जितना विकल्प रहा, वह व्यवहार से देशव्रत है।

पहला तो **'ज्ञात्वा'** कहा है न? देखो न! उसे जान तो सही कि यह कैसे है? यह चीज़ किस प्रकार है? किस प्रकार छूटे? आश्रय किस प्रकार हो? यह क्या चीज़ है? इसके ज्ञान में इस प्रकार से न आवे तो यह गति कहाँ करेगा? समझ में आया? मार्ग ऐसा है, भाई! पूरी दिशा बदलने की है। आहा..हा..! ऐसे, ऐसे झुक गया है न? उसे ऐसे (अन्तर में) झुकाना मार्ग ही कोई अलौकिक है। आहा..! समझ में आया? क्योंकि वस्तु अन्तर्मुख पड़ी है। बाहर की पर्याय में तो रागादि हैं। ऐसे भगवान आत्मा के ओर की दृष्टि करके और यहाँ देशव्रत की स्थिरता की व्याख्या चलती है।

कर सके तो सर्वविरति करना। तो कहे-ऐसा ही हो न, भाई! शक्ति न हो तो पहले दर्शनशुद्धि रखना और फिर विशेष शक्ति हो तो उसमें स्थिरता का अंश स्व का आश्रय थोड़ा विशेष लेना। उसमें स्थिरतापट रहे तो दूसरी कषाय टले, तब उसे ऐसे व्रत के विकल्प होते हैं। अहिंसा, सत्य, दत्त आदि की रक्षा के लिये तीन गुणव्रत होते हैं। समझ में आया? दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डत्याग। अलौकिक बात है। वीतराग का मार्ग।

भावार्थ : संसार में ऐसे छोटे छोटे अनेक कार्य हैं, जिनको करने से व्यर्थ ही पाप का बन्ध हुआ करता है,.. व्यर्थ किया करता है। बैठे-बैठे बातें करे, किसी का ऐसा करे, बाहर कुत्सा करे। ऐसी बातें लगाये, कथायें करे, ये खोटे गप्प लगाये। फालतू है। आहा..हा..! अरे! भगवान ऐसा समय मिला, भाई! ये बातें करने का समय है

या बापू! अन्दर जाने के लिये प्रयत्न करने का समय है ? आहा..हा.. ! और **पाप का बन्ध हुआ करता है,...** व्यर्थ पाप के परिणाम, कुत्सा किया करता है। **अतः सभी मनुष्यों को जिससे अपना कोई प्रयोजन नहीं है ऐसे व्यर्थ, अनर्थदण्ड का त्याग अवश्य करना चाहिए-यही कर्त्तव्य है। इस प्रकार तीन गुणव्रतों का वर्णन समाप्त हुआ।** लो! तीन गुणव्रतों का (वर्णन किया)।

गाथा - १४८

अब चार शिक्षाव्रतों का वर्णन करते हैं:-

पहला सामायिक शिक्षाव्रत

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम्।।१४८।।

सब राग द्वेष निषेध पूर्वक, सभी में समभाव धर।
तत्त्वोपलब्धि मूल हेतु, सामायिक बहु बार कर।।१४८।।

अन्वयार्थ : (रागद्वेषत्यागात्) राग-द्वेष के त्याग से (निखिलद्रव्येषु) सभी इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में (साम्यं) साम्यभाव को (अवलम्ब्य) अंगीकार करके (तत्त्वोपलब्धिमूलं) आत्मतत्त्व की प्राप्ति का मूलकारण ऐसा (सामायिक) सामायिक (बहुशः) बहुत बार (कार्यम्) करना चाहिए।

टीका : 'निखिलद्रव्येषु रागद्वेषत्यागात् साम्यं अवलम्ब्य तत्त्वोपलब्धिमूलं सामायिकं बहुशः कार्यम्'- अर्थः- समस्त इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष भावों के त्यागपूर्वक, समताभाव का अवलम्बन करके, आत्मा के (शुद्ध) स्वरूप की प्राप्ति करने में मूलकारण सामायिक है, वह बारबार करना चाहिए, अर्थात् प्रतिदिन तीन काल करना चाहिए। यही सामायिक शिक्षाव्रत है।

भावार्थ : 'सम्' अर्थात् एकरूप और 'अय' अर्थात् आत्मा के स्वरूप में गमन वह 'समय' हुआ। ऐसा 'समय' जिसका प्रयोजन है उसे सामायिक कहते हैं। यह

सामायिक समताभाव के बिना नहीं हो सकती। अतः सुखदायक और दुःखदायक पदार्थों में समान बुद्धि रखते हुए स्वरूप में मग्न होना ही परमकार्य है। श्रावक को ऐसी सामायिक तीनों काल पाँचों पापों का त्याग करके अवश्य करना चाहिए। इसे ही सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं।।१४८।।

गाथा १४८ पर प्रवचन

अब आयी सामायिक। शिक्षाव्रत का पहला व्रत नियम, सामायिक। **अब चार शिक्षाव्रतों का वर्णन करते हैं:-** पाँच अणुव्रत हो गये, तीन गुणव्रत हो गये - आठ और चार शिक्षाव्रत। उसमें पहली सामायिक। लो! यह तो बहुत प्रसिद्ध है, सामायिक का नाम तो। न्यालचन्दभाई! यह तो बहुत प्रसिद्ध। स्थानकवासी में, मन्दिरमार्गी में, दिगम्बर में सामायिक, सामायिक नाम (प्रसिद्ध है)।

मुमुक्षु : तुम कभी सामायिक करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : सामायिक करते हो? वापस ये पूछे। फिर कहा था न उस दिन? कौन से साल अन्त में इकट्ठे हुए वे? (संवत्) १९९०। एक व्यक्ति आया, सामायिक करते हो? कि हाँ। प्रौषध करते हो? कि हाँ। प्रतिक्रमण करते हो? कि हाँ। चोविहार करते हो? कि हाँ। फिर बात चलने पर कहे महाराज! आत्मा कितने परमाणुओं का बना होगा? कौन जाने तुम्हारे ऐई! 'पाणवी' वरनाला के पास नहीं, वह उजमसीभाई था? कौन? उजमसी का मामा था। उजमसी रोजका वाला, उसका मामा। नाम क्या होगा? वृद्ध था, वृद्ध। एक बार 'पाणवी' गये थे, तब एक बार वहाँ उतरे थे, हों! बहुत बात हुई, बहुत लोग आये थे। इकट्ठे हुए दो दिन। रात्रि को निकलते-निकलते बात तो मेरे साथ होती होवे न सब। बैठे, ऐसे करते-करते (कहा) बहुत परमाणुओं का पिण्ड यह सोना बने। बहुत रजकण हैं, वह एक नहीं। सोना इस जगत की स्वतन्त्र पर्याय इसकी हो, आत्मा उसे करे नहीं। तब कहे - आत्मा कितने परमाणुओं का बना हुआ होगा? यह सामायिक करनेवाला। भगवानभाई! अभी कितने परमाणु का आत्मा बने, वह सामायिक और प्रोषध करे। भान नहीं होता अभी तो आत्मा कैसा और कहाँ है? आहा..हा..!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बैठना लो! ठीक। यह सब किया था न इसने?

पहला सामायिक शिक्षाव्रत.. लो!

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम्।।१४८।।

वाह! **राग-द्वेष के त्याग से**... देखो! सामायिक उसे है कि जिसे राग-द्वेष का अभाव, ऐसे स्वभाव की दृष्टि हुई है, उसे राग-द्वेष के त्याग की परिणति प्रगट होती है, उसे सामायिक कहते हैं। पहले आत्मा ही राग-द्वेषरहित है, वह शुद्ध चैतन्य है। ऐसी अन्तर्दृष्टि हुई है, उसे फिर जो राग-द्वेष रहे हैं, उन राग-द्वेष का त्याग होकर स्वरूप में निर्विकल्प स्थिरता हो, उसे सामायिक कहने में आता है। समझ में आया? दृष्टि में तो वीतरागभाव था, स्थिरता नहीं थी। वह स्थिरता; राग और द्वेष की अस्थिरता जो थी, भिन्न तो जाना था, परन्तु फिर भी उसमें स्थिरता की शक्ति नहीं थी; इसलिए जितने पुण्य-पाप के विकल्प शुभाशुभभाव, उस राग-द्वेष को अंशतः छोड़कर स्वरूप में स्थिर निर्विकल्प शान्ति में आवे, उसे सामायिक कहते हैं। देखो! यह सामायिक।

पाँच अणुव्रत का यह रक्षण है। जो स्थिरता का अंश प्रगट हुआ है, उसमें अधिक स्थिरता होने में, पुष्टि होने में यह कारण है, ऐसा कहते हैं।

सभी इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में... देखा? भाषा। उस समय तो स्वयं ध्यान में होता है, ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द का कन्द, उसके स्वाद में-निर्विकल्प में स्थिर होता है, ऐसा कहते हैं। गृहस्थाश्रम होने पर भी, स्त्री-कुटुम्ब होने पर भी, जब स्वयं सामायिक करता है, तब उन सब द्रव्यों के प्रति; सब के प्रति शब्द में सब आ गया, हों! देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब और परिवार, व्यापार, इन सब द्रव्यों से लक्ष्य हट गया है, ऐसा कहते हैं। सामायिक काल में एक स्वद्रव्य में स्थिरता करने के लिये आत्मा के अतिरिक्त जितने परद्रव्य सबमें, उनमें से जिसका लक्ष्य हट गया है। ओहो..हो..! समझ में आया? उस स्वरूप की स्थिरता करने का यह एक प्रयोग है। वस्तु यह है, ऐसा जो भान हुआ है, फिर उसमें स्थिर कितना हो सकता हूँ, यह एक उसका सामायिक प्रयोग

/ आजमाईश है। प्रतिदिन सबेरे-शाम यह तो करनी चाहिए, ऐसा। मध्याह्न लेंगे न ? बाद में मध्याह्न भी डालेंगे।

सभी इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में साम्यभाव को अंगीकार करके... देखो! इष्ट-अनिष्ट दोनों। देव-गुरु-शास्त्र, परपदार्थ इष्ट हो या अनिष्ट, स्त्री, कुटुम्ब आदि सबके प्रति पूरा झुकाव खेंचकर स्वभाव-सन्मुख करता है। देखो! यह सामायिक। इस सामायिक की खबर भी नहीं होती। सामायिक चार, पाँच, दस आसन में बैठकर कर डाली। आसन से। अन्दर में आसन डालकर अन्दर स्थिर होना, उसकी खबर नहीं होती। सामायिक तो अन्दर में होती है। उसका ज्ञान भी नहीं होता।

कहते हैं **सभी इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में साम्यभाव को**... पहले वह कहा था नास्ति, राग-द्वेष का अभाव। सब द्रव्यों के प्रति साम्यभाव, ज्ञातादृष्टा होकर। ऐसे **साम्यभाव को 'अवलम्ब्य' अंगीकार करके 'तत्त्वोपलब्धिमूलं' आत्मतत्त्व की...** विशेष स्थिरता की **प्राप्ति का मूलकारण...** अकेला तत्त्व, ऐसा नहीं। विशेष तत्त्व जो है, स्थिरता की विशेष आत्मा की प्राप्ति का मूल कारण है। आत्मा की प्राप्ति का अर्थात् सम्यग्दर्शन तो है, परन्तु तदुपरान्त आत्मा की विशेष स्थिरतारूप आत्मा की प्राप्ति का वह सामायिक कारण है। समझ में आया ? आहा..हा..!

'तत्त्वोपलब्धिमूलं' तत्त्व ऐसा जो आत्मा, उसे प्राप्ति का अर्थात् स्थिरता से इस आत्मा का आश्रय करने में, यह सामायिक मूल कारण है। आहा..हा..! **ऐसा सामायिक करना चाहिए।** ऐसे सामायिक श्रावक को करना चाहिए। लो! सेठी! अभी तो सामायिक की व्याख्या भी ठीक से नहीं चलती। यह तो बैठा समझे बिना कि बैठा णमो अरिहंताणं.. णमो अरिहंतांण.. णमो अरिहंताणं.. सामायिक हो गयी, लो! दो घड़ी हो गयी। जाओ। कुछ हिंसा का वाक्य बोले हैं ? बापू! हम कुछ दुकान पर बैठे हैं ? यहाँ तो उपाश्रय में बैठे हैं, मन्दिर में बैठे हैं या सम्मेदशिखर में बैठकर ध्यान करते हैं। कहते हैं कि क्षेत्र चाहे जो हो, काल चाहे जो हो। भाव में वस्तु जो अखण्डानन्द वस्तु पदार्थ है, उसकी अन्तर में दृष्टि पड़े बिना, उसे प्राप्ति स्थिरता करने का भाव नहीं हो सकता। समझ में आया ? यह व्याख्या वहाँ जयपुर में तुमने ७० वर्ष में नहीं सुनी थी।

ऐसा है, मीठालाल है न ? मीठा ही बोले यह। आहा..हा..!

भाई! तू तो वीतरागस्वरूप है न? प्रभु! वीतरागस्वरूप में विकल्प चले, चलता है, वह कोई वस्तुस्वरूप है? स्थिरबिम्ब चैतन्य है न! अकेला ज्ञायक चैतन्यबिम्ब है न! उसकी दृष्टि की, इसलिए अब उसमें उसकी पूर्ण प्राप्ति कैसे हो? ऐसी झंखना सम्यग्दृष्टि को होती है। उस झंखना में पहला प्रयोग सामायिक का होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? ओहो..हो..! इस जगत के व्यापार-धन्धे में पड़ा पहले, वह जब छूटे, तब सब लक्ष्य छूट जाता है। व्यापार या धन्धा या स्त्री-कुटुम्ब। उसके मकान के बँगले में भले बैठा हो कहीं ऊपर।

बस **'निखिलद्रव्येषु'** देखो न! ओहो..हो..! सब द्रव्यों से इष्ट-अनिष्ट राग को हटाकर वर्तमान भगवान आत्मा में साम्यता प्रगट करके और उसके अवलम्बन से भगवान आत्मा की शान्ति की विशेष स्थिरतारूप आत्मा की प्राप्ति, उसका यह सामायिक कारण है। कहो, भगवानभाई! वहाँ भावनगर में कभी ऐसी सामायिक सुनी नहीं होगी। आहा..! देखो! आचार्यों की कथनी, सामायिक की कथनी। पाठ में पड़ा है, भरा है परन्तु पढ़ते भी नहीं। लो! यह पुस्तक कहीं अभी का बना हुआ नहीं है, यह तो ९०० वर्ष पहले का है, अमृतचन्द्राचार्य का है। यहाँ सोनगढ़ का नहीं यह। आहा..हा..!

सन्तों ने भी सामायिक की स्थिति को हु-ब-हु चित्रित की है। आहा..हा..! भाई! तेरा स्वरूप है न, भाई! वीतराग और ज्ञान है न? ऐसी दृष्टि हुई, पश्चात् उसमें स्थिरता करने की भावना होती है, तो प्रतिदिन थोड़ा आजमाईश का प्रयोग शाम, सबेरे और मध्य (मध्याह्न में करता है) यहाँ दो अर्थ कहेंगे। और यह मध्य है। समझ में आया? **सामायिक करना चाहिए।** ओहो..हो..! कैसे व्यापार-धन्धा, उसके विकल्प हों, उसे एकदम दो घड़ी में सँवारना, बाह्य में अरबोंपति हो, करोड़ोंपति हो। पति तो आत्मा का है परन्तु व्यवहार से बाह्य कहते हैं न? वह जब सामायिक में बैठे। आत्मा पर निर्विकल्पदृष्टिसहित निर्विकल्प स्थिरता करता है, तब उसे साम्यभाव प्रगट होता है अर्थात् वीतरागपर्याय प्रगट हुई, ऐसा कहना है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, सामायिक है ही नहीं। है ही नहीं। सामायिक कहाँ से? मिथ्यादृष्टि को सामायिक कहाँ से आयी?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यात्व है, मिथ्यात्व की सामायिक है वह तो। मिथ्यात्व का लाभ है। अभी वस्तु की दृष्टि की ही खबर नहीं होती। सामायिक तो व्रत है, वह तो पाँचवें गुणस्थान की बात है। चौथे गुणस्थान का ठिकाना नहीं होता और पाँचवें का प्रयोग आया कहाँ से ?

मुमुक्षु : स्थिरता लावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु कहाँ से स्थिरता लावे ? धूल में से ? अभी जो वस्तु है, जिसमें स्थिर होना है, वह वस्तु कैसी है, वह दृष्टि में तो आयी नहीं। स्थिरता का कहाँ प्रयोग करे ? यह तो अकेला अस्थिरता का प्रयोग करता है। सेठी ! क्या चीज़ है ? वह दृष्टि में तो आया नहीं कि यह चीज़ है और इस चीज़ में अब स्थिर होना है, यह प्रयोग करना है। तो उस चीज़ की तो खबर नहीं। फिर कहे मिथ्यादृष्टि सामायिक करता है न ? करे, बालव्रत-बालतप। मिथ्यादृष्टि को अभी दृष्टि का ठिकाना नहीं, उसे सामायिक कैसी ? अभी समकित नहीं, वहाँ सामायिक कैसी ? वह स्थिरता का प्रयोग किसमें करे ? राग में करे। समझ में आया ?

मुमुक्षु : उल्टा प्रयास हो जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : उल्टा प्रयास और माने कि हम कुछ स्थिरता का प्रयोग करते हैं। मिथ्यात्व पुष्टि हो जाये, मिथ्यात्व की पुष्टि बढ़े। आहा..हा..! मार्ग ऐसा है भाई ! स्थिरता किसे होती है ? सम्यग्दर्शन के पश्चात् स्थिरता होती है या सम्यग्दर्शन के बिना होती है ? क्योंकि जिसमें स्थिरता करनी है, उस चीज़ से तो पहिचान हुई नहीं। शरीर को बैठाकर रखना है ? वह तो बैठा ही है ऐसा का ऐसा उसमें। उसमें आत्मा को क्या है ? और उसमें राग आवे, तो वह तो विकल्प / पुण्य है, उसमें आत्मा को क्या ? भाई ! आत्मा का मार्ग निरालम्बी अलौकिक है। इसने अनन्त काल में कभी एक समय भी वस्तु की प्राप्ति नहीं की। देखो ! कितनी व्याख्या की है।

साम्यभाव को अंगीकार... साम्य का अर्थ शुद्धोपयोग। यह दूसरी भाषा की है, यहाँ लो ! यह आया, इष्ट-अनिष्ट पदार्थ में शुभ-अशुभभाव से हटकर साम्यभाव को अंगीकार करके, शुद्धोपयोग को अंगीकार करके, लो ! यह भाई ! यह तो याद आया। पहले

साम्य आता है न ? प्रवचनसार, वह साम्य यह, वह साम्य है। वह विशेष साम्य। ओहो..हो..! वाह.. वाह..! वस्तु ज्ञायकमूर्ति चैतन्यस्वरूप अनाकुल आनन्द पूरा तत्त्व जिसकी दृष्टि में, ज्ञान में, प्रतीति में आया है; अब उसमें स्थिर होता है, उसे शुद्धोपयोगरूपी साम्यभाव कहते हैं। यह शुद्धोपयोग सम्यभाव, वह निर्विकल्प परिणाम है, उसे सामायिक कहने में आता है। आहा..हा..! कहो, राजमलजी! इसने सुना नहीं हो वहाँ 'कुचामन' में कभी। इन लोगों ने दो व्यक्तियों ने बहुत प्रयास किया। दो व्यक्तियों ने गाँव में धमाल.. धमाल कर डाली। दस-दस हजार लोग। ये लोग भी पहले डर गये थे। ये होशियार व्यक्ति परन्तु... आठ पहले अभी क्या होगा, क्या होगा ? हो गया था। ये कहते थे। फिर तो और ये व्यक्ति... व्यक्ति... व्यक्ति... व्याख्यान में दस हजार लोग। बड़ा पाण्डाल बनाया खचाखच भरा हुआ। यह होने के काल में होता है। इस आत्मा में एकाग्र होना, वह वास्तविक सम्प्रदाय है। यह पाण्डाल अन्दर में बाँधा। कहो, समझ में आया इसमें ? आहा..हा..!

टीका : 'निखिलद्रव्येषु रागद्वेषत्यागात्' देखो! शब्द बदले हैं, दोनों के बदलते हैं न ? उसमें **'रागद्वेषत्यागात् निखिलद्रव्येषु' 'निखिलद्रव्येषु रागद्वेषत्यागात् साम्यं अवलम्ब्य तत्त्वोपलब्धिमूलं सामायिकं बहुशः कार्यम्'** लो!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह ठीक है, यह भाई का ठीक लगता है। टोडरमलजी का, भाई! ऐसा लगता है ? या पहला मूल है ? यह टोडरमलजी ने किया, वह ठीक लगता है ? यह भी अभी इसे खबर नहीं। अपने को खबर नहीं, इसे खबर नहीं। यह भाई कहते हैं कि इस अनुसार अन्वयार्थ करे तो कैसा ? ऐसा कहते हैं। इसके ऊपर से कहा।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें से लिया, परन्तु इसमें.. लो!

'निखिलद्रव्येषु' यहाँ से उठाया। **समस्त इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष भावों के त्यागपूर्वक,...** यह नास्ति से बात की। ऐसे स्थिर हो, इसलिए राग-द्वेष का उस प्रकार का त्याग हो जाता है। स्वरूप शुद्ध चैतन्य को दृष्टि में लिया हुआ है, उसमें फिर से ध्येय बनाकर स्थिरता का अंश प्रगट किया है, इसलिए उसे उस सम्बन्धी जितने राग-

द्वेष थे, उनका त्याग हो गया है, अर्थात् उत्पन्न नहीं हुए, उसे त्याग किया - ऐसा कहने में आता है। यह राग-द्वेष त्यागूँ और अब स्थिर होऊँ, ऐसा है कुछ वहाँ?

समस्त इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष भावों के त्यागपूर्वक,... देखो न! भाषा कितनी है! ओहो..हो..! समस्त पदार्थ। फिर देव-शास्त्र-गुरु हो तो भी नहीं, ऐसा कहते हैं। क्योंकि उन पर विकल्प जाये, वह शुभ है, वह सामायिक नहीं। आहा..हा..! दिगम्बर सन्तों की कथन की पद्धति गजब! थोड़े शब्दों में बहुत वीतरागपना रचने की बहुत कला! देखो न! ऐसे अमृतचन्द्राचार्य जब भरतक्षेत्र में होंगे... आहा..हा..! उन्हें पहिचान नहीं सके। उनका भी विरोध करनेवाले उस समय थे। आहा..हा..! पक्ष बँध जाता है न? फिर सत्य क्या है, यह बात ख्याल में नहीं रहती। कैसी बात ली है!

'निखिलद्रव्येषु' आत्मा के अतिरिक्त चाहे तो अरिहन्त हो या चाहे तो नारकी का जीव हो या शत्रु हो, सभी पदार्थों के प्रति विकल्प को समेटकर स्वभाव-सन्मुख के साम्यभाव के शुद्धोपयोग को (प्रगट करता है)। आहा..हा..! यह क्या कहा? यह श्रावक की बात चलती है। यह साम्यभाव (कहा), यह साम्यभाव किसका अर्थ है? साम्यभाव शुभभाव का अर्थ है? ऐई! समझ में आया? यह श्रावक के सामायिक व्रत की बात चलती है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : किये शुभभाव।

समस्त इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष भावों के त्यागपूर्वक,... इसका अर्थ हुआ। शुभभाव है, वहाँ तो देव-गुरु-शास्त्र के प्रति इष्टता, प्रीति वर्तती है। **समताभाव का अवलम्बन करके,...** समता। चैतन्य के आनन्दस्वरूप में शान्ति। कहीं किसी की प्रीति करने को एक वस्तु नहीं, अप्रीति करने को नहीं - ऐसा जो साम्यभाव स्वभाव -सन्मुख प्रगट करके। **आत्मा के (शुद्ध) स्वरूप की प्राप्ति करने में...** ऊपर था न? **'तत्त्वोपलब्धिमूलं' आत्मा के (शुद्ध) स्वरूप की प्राप्ति करने...** अर्थात् विशेष स्थिरता की प्राप्ति। ऐसा। **आत्मा के (शुद्ध) स्वरूप की प्राप्ति करने में मूलकारण सामायिक है...** समझ में आया?

यहाँ तो पंचम गुणस्थान की व्याख्या चलती है न यह ? उसे विशेष स्वरूप की स्थिरता का यह सामायिक कारण है। कहो, **वह बारम्बार करना चाहिए, अर्थात् प्रतिदिन तीन काल करना चाहिए।** लो! सबेरे, रात्रि के अन्तिम भाग में, शाम को दिन के अन्तिम भाग में, मध्याह्न का अर्ध पहर और अन्तिम भाग में और उसकी शुरुआत में, बीच में करना चाहिए। कहो, **यही सामायिक शिक्षाव्रत है।** लो! यह सामायिक की व्याख्या। आहा..हा..! यह तो लड़का दस वर्ष का आसन बिछाकर मुँहपत्ती बाँधकर बैठे, सामायिक हो गयी, लो! कितनी ? पंचरंगी की। पाँच एक आसन पर की। कितने लड़के थे ? कि दो सौ। जाओ सबको दे दो एक-एक रुपया। फिर जाकर बाद में बहुत करे। रुपये की सामायिक। आहा..हा..!

अरे! सामायिक, भाई! जो सर्वार्थसिद्धि के देव नहीं कर सकते, ऐसी सामायिक करे, उसे सामायिक कहने में आता है। आहा..हा..! एकावतारी-एक भव में मोक्ष जानेवाले सर्वार्थसिद्धि (के देव) हैं। महा एक भवतारी जीव हैं, वे भी इस पंचम गुणस्थान की यह सामायिक नहीं कर सकते। क्षायिक समकिती, हों! वहाँ कितने ही, बारह अंग पढ़े हुए, चौदह पूर्व के पढ़े हुए, ओहो..हो..! असंख्य अरब (वर्ष), तैतीस सागर तक अन्दर पड़े हैं परन्तु यह साम्यभाव प्रगट नहीं कर सकते, क्योंकि वह गति इसके लिये योग्य नहीं है। साम्यभाव प्रगट करने को वह योग्य गति नहीं है। आहा..हा..! ऐसा मनुष्यभव मिला, उसे तीनों काल ऐसा साम्यभाव स्वरूप के आश्रय से प्रगट करना चाहिए।

भावार्थ : 'सम्' अर्थात् एकरूप और 'अय' अर्थात् आत्मा के स्वरूप में गमन, वह 'समय' हुआ। समय से ऐसा लिया। समय एक काल को भी कहते हैं। सामायिक उसमें से निकलता है कुछ ? कहीं लिखा था एक जगह। सामायिक। नियमित काल बाँधकर करे, ऐसा भी एक सामायिक का अर्थ होता है। सामायिक और काल, नियमित काल बाँधकर इतना मुझे दो घड़ी, चार घड़ी सामायिक करना। **'सम्' अर्थात् एकरूप और 'अय' अर्थात् आत्मा के स्वरूप में गमन...** एकरूप आत्मा में गमन, देखा ? राग-द्वेष का खण्ड नहीं। समझ में आया ?

'सम्' अर्थात् एकरूप और 'अय' अर्थात् आत्मा के स्वरूप में गमन... परिणमन, एकरूप परिणमन। पहला खण्ड-खण्ड है न ? पुण्य-पाप का विकल्प है, वह

खण्ड है। इस आत्मा में, समताभाव में एकरूप में परिणमना, **ऐसा 'समय' जिसका प्रयोजन है...** लो! ऐसा समय। आत्मा में एकाग्र होना, **ऐसा 'समय' जिसका प्रयोजन है, उसे सामायिक कहते हैं।...** लो! सामायिक का अर्थ किया। 'यिक' प्रत्यय है उसका अर्थ होता है? ऊपर से आता है?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : होता है। सामायिक—सम-आय-यिक, यिक तो ऐसे तो प्रत्यय का अर्थ होता है। जिसका प्रयोजन है। समय जिसका प्रयोजन है, ऐसा लिखा है न वापस? उसे सामायिक कहते हैं। उसे सामायिक (कहते हैं)। बस! यह कहता हूँ। ये कहाँ पण्डित बोले ऐसा है? बहुत बोलते नहीं।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : ऊपर से डाले। वह ठीक है।

यह सामायिक समताभाव के बिना नहीं हो सकती। कितनी समता चाहिए! एक तो मानो दृष्टि हुई, वहाँ ज्ञातादृष्टा तो हो गया। चाहे तो शत्रु सिर का काटनेवाला मिले और चाहे तो देव-गुरु-मित्र मिले, परन्तु उसे ज्ञानदर्शन से ज्ञातादृष्टारूप से जानता है। अस्थिरता के कारण इसे विकल्प उठता है। उसे भी घटाने का यह प्रयोग है। उसका— उस राग का अभाव करके, समताभाव का निर्विकल्प शुद्धोपयोग का लाभ हो, उसे सामायिक कहते हैं। कहो, समझ में आया?

यह सामायिक समताभाव के बिना नहीं हो सकती। समता अर्थात् निर्विकल्प परिणाम। अर्थात् कि रागरहित परिणाम, ऐसा। शुभ-अशुभराग से रहित परिणाम। **अतः सुखदायक और दुःखदायक पदार्थों में समान बुद्धि रखते हुए...** सुखदायक अर्थात् अनुकूल, इष्ट और दुःखदायक अर्थात् प्रतिकूल। कोई दुःखदायक है नहीं, परन्तु निमित्त की बात है। **समान बुद्धि...** जाननेवाला-देखनेवाला होते हुए, स्थिरता का अवलम्बन करते हुए। **श्रावक को ऐसी सामायिक तीनों काल पाँचों पापों का त्याग करके...** हिंसा, झूठ आदि। अवश्य सामायिक करे। **अवश्य सामायिक करे। इसे ही सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं।** कहो समझ में आया?

गाथा - १४९

सामायिक कब और किस प्रकार से करना चाहिये यह बताते हैं:-

रजनीदिनयोरन्ते तदवश्यं भावनीयमविचलितम्।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम्।।१४९।।

वह रात दिन के अन्त में, एकाग्र हो निश्चित करो।
यदि अन्य में भी करो तो, नहिं दोष अति गुण नित्य हों।।१४९।।

अन्वयार्थ : (तत्) वह सामायिक (रजनीदिनयोः) रात्रि और दिन के (अन्ते) अन्त में (अविचलितम्) एकाग्रतापूर्वक (अवश्यं) अवश्य (भावनीयम्) करना चाहिये (पुनः) और यदि (इतरत्रसमये) अन्य समय में भी (कृतं) करने में आवे तो (तत्कृतं) वह सामायिक कार्य (दोषाय) दोष के लिये (न) नहीं है, अपितु (गुणाय) गुण के लिये ही होती है।

टीका : 'तत् सामायिकं रजनी दिनयोः अन्ते अवश्यं अविचलितं भावनीयम् पुनः इतरत्र समये दोषाय कृतम् न किन्तु तत् गुणाय कृतम् अस्ति' - अर्थ - वह *सामायिक प्रत्येक श्रावक को रात और दिन के अन्त में अर्थात् प्रभात और सन्ध्याकाल अवश्य ही नियमपूर्वक करना चाहिये। इसके अतिरिक्त यदि शेष समय में भी सामायिक की जावे तो वह गुण के निमित्त ही है, दोष के निमित्त नहीं है।

भावार्थ : गृहस्थ श्रावक गृहस्थी के अनेक कार्यों में संलग्न रहता है, अतः उसके लिये आलम्बनरूप प्रभात और सन्ध्या दोनों समय आचार्यों ने नियमित किये हैं। यों तो सामायिक जब भी इच्छा हो की जा सकती है, उससे आत्मा का कल्याण ही है, नुकसान कदापि नहीं है। इसलिए प्रत्येक श्रावक को दोनों समय अथवा तीन समय उत्कृष्ट छह घड़ी, मध्यम चार घड़ी, जघन्य दो घड़ी तक पाँचों पाप तथा आरम्भ परिग्रह का त्याग

* सामायिक के १-योग्य क्षेत्र, २-योग्य काल, ३-योग्य आसन, ४-योग्य विनय, ५-मनशुद्धि, ६-वचनशुद्धि, ७-भावशुद्धि, ८-कायशुद्धि - इन आठ बातों की अनुकूलता होना आवश्यक है। उसमें भेदज्ञानपूर्वक स्वसन्मुखता के बल से जितनी परिणामों की शुद्धता हो, उतनी निश्चय सामायिक है; वहाँ वर्तते हुए शुभराग को व्यवहार सामायिक कहते हैं। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक जिसने कषाय की दो चौकड़ियों का अभाव किया है, उस जीव

करके एकान्त स्थान में शुद्ध मन करके पहले पूर्व दिशा में नमस्कार करना अर्थात् अंगों को भूमि से लगाकर नमना, फिर नौ बार नमस्कार मन्त्र का जाप करना, पश्चात् तीन आवर्त्तन अर्थात् हाथ जोड़कर प्रदक्षिणा करना, और एक शिरोनति अर्थात् हाथ जोड़कर मस्तक नमना। इस प्रकार चारों दिशाओं में करके खड्गासन अथवा पद्मासन धारण करके सामायिक करना चाहिए। और जब सामायिक पूर्ण हो जाये, तब अन्त में भी प्रारम्भ की तरह नौ बार नमस्कार मन्त्र का जाप, तीन तीन आवर्त्तन, एक एक शिरोनति करना चाहिए। यही सामायिक करने की स्थूल विधि है। सामायिक करते समय- सामायिक काल में-श्रावक भी मुनि के समान है।।१४९।।

गाथा १४९ पर प्रवचन

सामायिक कब और किस प्रकार से करना चाहिये यह बताते हैं:-

रजनीदिनयोरन्ते तदवश्यं भावनीयमविचलितम्।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम्।।१४९।।

वह सामायिक रात्रि और दिन के अन्त में... अन्त में। रात्रि और अन्त में सबेरे में निवृत्ति हो, धन्धे की उपाधि न हो, व्यापार शुरु किया नहीं, रात्रि में नींद में से... शान्त। और दिन के अन्त में सब व्यापार-व्यापार करता न हो, अब तो सो जाने का या ऐसा प्रसंग हो। निवृत्ति (हो)। समझ में आया? **रात्रि और दिन के अन्त में 'अविचलितम्' एकाग्रतापूर्वक...** अन्दर एक अग्र, स्वभाव को लक्ष्य में रखकर **अवश्य करना चाहिये...** सामायिक रात्रि और दिन, शाम को या सबेरे करना। मध्य में भी करना, यह कहेंगे।

और यदि अन्य समय में भी करने में आवे तो वह सामायिक कार्य दोष के लिये नहीं है... अधिक गुण का कारण है। **अपितु गुण के लिये ही होती है।** ऐसा कहते हैं। तीन बार हो, चार बार हो, पाँच बार हो। समय का उपयोग अन्दर में लागू पड़े, वह तो बहुत लाभ का कारण है। कहो, एक दिन में बहुत बार शुद्धोपयोग और साम्यभाव

के सच्चे अणुव्रत और सामायिक व्रत होता है। जिसके निश्चय सम्यग्दर्शन न हुआ हो, उसके व्रत को भगवान सर्वज्ञदेव बालव्रत अर्थात् अज्ञानमयव्रत कहते हैं।

प्रगटे, वह तो लाभ का कारण है। लो! यहाँ तीन बार तो कहा। साम्यभाव उपयोग। समझ में आया? उपयोग न आवे किसी समय तो विकल्प हो, स्थिरता आंशिक हो और विकल्प हो, व्यवहार सामायिक कहते हैं। साम्यभाव प्रगटसहित हो, वह स्थिरता, वह निश्चय सामायिक है।

'तत् सामायिकं रजनी दिनयोः अन्ते अवश्यं अविचलितं भावनीयम् पुनः इतरत्र समये दोषाय कृतम् न किन्तु तत् गुणाय कृतम् अस्ति' – वह सामायिक प्रत्येक श्रावक को... लो! यह सामायिक शब्द पड़ा है न? इसकी नीचे व्याख्या है। सामायिक के लिये नीचे नोट। **सामायिक के १-योग्य क्षेत्र,...** चाहिए। पकाने का चूल्हा पड़ा हो और यहाँ पकाते हों, वहाँ सामायिक करने बैठे, ऐसे सामायिक होती है? ऐसा कहते हैं। बड़ा कमरा हो, उस ओर पकाते हों और लड़के खाते हों और कहे लो! यहाँ मैं सामायिक करने बैठता हूँ, हों! अब। उसे योग्य क्षेत्र चाहिए। इसलिए... एकान्त हो।

२-योग्य काल,.. चाहिए। कहो, समझ में आया? उसे योग्य निवृत्ति का काल चाहिए न? **३-योग्य आसन,...** चाहिए। आसन भी उसका उस प्रकार का ऐसा चाहिए। **४-योग्य विनय,...** चाहिए। **५-मनशुद्धि,...** मन में शुद्धि आनी चाहिए न? **६-वचनशुद्धि, ७-भावशुद्धि,...** देखा? मन शुद्धि में विशेष लेंगे। **८-कायशुद्धि – इन आठ बातों की अनुकूलता होना आवश्यक है। उसमें भेदज्ञानपूर्वक...** लो! स्पष्टीकरण करते हैं। पुण्य के परिणाम और पाप के परिणाम से आत्मा भिन्न है, ऐसे भेदज्ञानपूर्वक। **स्वसन्मुखता के बल से...** लो! शुद्ध चैतन्यस्वभाव की सन्मुखता के बल, जोर से, उसके द्वारा, किसी विकल्प से या उसके जोर द्वारा नहीं।

जितनी परिणामों की शुद्धता हो... जितनी शुद्धता परिणाम की हो, हों! विकल्प नहीं, **उतनी निश्चय सामायिक है,...** वह सच्ची सामायिक कहने में आती है। वीतराग मार्ग में उसे सच्ची सामायिक कहते हैं। सेठी! आहा..हा..! अरे! जगत को सत्य कान में नहीं पड़ता, वह विचारे कब? रुचि का प्रयोग कब करे? और स्थिरता को तो कब करे? ऐसा का ऐसा अद्धर का अद्धर समय चला जाता है। श्रद्धा के दौर में पक्का नहीं हो कि राग तथा पुण्य विकल्प बन्ध का कारण है, मेरा स्वरूप ही अकेला आश्रय लूँ, उसमें लाभ का कारण है—ऐसी श्रद्धा पक्की न हो, तब तक उसे स्वरूपसन्मुख का झुकाव,

पुरुषार्थ कर ही नहीं सकता। समझ में आया? पर का माहात्म्य रहा करे कि मैं जो यह करता हूँ और उसमें ऐसा होगा, ऐसा करता हूँ, उसमें ऐसा होगा, शुभभाव करूँ उसमें से ऐसा होगा। उसकी श्रद्धा में पहले यह तो निर्णय करना चाहिए कि रागादिभाव जो हैं, उन शुभ-अशुभ दोनों से हटकर स्वभाव के सन्मुख में जाना, वही सम्यग्दर्शन का कारण है। पश्चात् भेदज्ञानपूर्वक स्वरूप में विशेष सन्मुखता / स्थिरता, वह सामायिक है। समझ में आया? कैसी सामायिक होगी? ऐई! हिम्मतभाई! तुम्हारे गाँव में बहुत सामायिक होती थी। ऊं.. ऊं... ऊं... करे, नहीं वे तुम्हारे मूलचन्दभाई थे। जल्दी आवे, जल्दी। ऊं.. ऊं.. ऊं.. किया करे। प्रतिक्रमण करे और साथ में झोंका आवे। ऊं... करके प्रतिक्रमण पूरा हो जाये। समेट कर चले। उपाश्रय के सामने दुकान थी न?

घड़ी (समय) पूरा हो जाये, वह धूप ठीक से ऊपर निकले, ऊपर से नीचे। छोटाभाई! वे मूलचन्दभाई थे न तुम्हारे? बीसाश्रीमाली। कुछ खबर नहीं होती। अरे! जैन के नाम से और सामायिक के नाम से मिथ्यात्व का पोषण करे और कुछ हमने धर्म किया (ऐसा माने)।

बस बैठा रहे कि सामायिक हो गयी, जाओ।

हाँ, ग्यारह हजार, ग्यारह हजार? ग्यारह हजार सामायिक करनी हो तो करना किस प्रकार? नींद में भी करे, झोंकों में भी करे और भी करे, सब करे। लालन। वह तो अठारह हजार। पूरे घण्टे कितने हों? दो घड़ी, तीन सौ साठ दिन की घड़ियाँ अठारह हजार हो। ऐसा कुछ है। अठारह हजार, छत्तीस हजार, चौवन हजार। अठारह हजार करना, छत्तीस हजार कराना, चौवन हजार का अनुमोदन करना - ऐसा कुछ था। यह बारह महीनों की सामायिक हो गयी। ऐसा कुछ था। इतनी सब सामायिक होगी? गिनती तुम्हें मानों खबर नहीं, अठारह हजार सामायिक, उससे छत्तीस हजार की, उससे चौवन हजार की, ऐसे होकर होता होगा। ३६०। वहाँ मिले थे (संवत्) १९९० में लालन। यह सामायिक कहा, यह सब तुमने गप्प मारे हैं। आरोग्यभवन में। बाहर नहीं? वे मोरबीवाले भाई 'बनेचन्द त्रिभुवन' यह क्या तुम्हें? बस! उसमें से पुण्य हो और पुण्य में से बड़ी पवित्रता हो। ऐसा सामायिक हाथ में दिया और... मैंने कहा - यह क्या लिखा है तुमने? हमें कुछ भान नहीं था, हमने तो यह लिखा। यह सामायिक।

फिर कुछ कहा था मैंने तब। कहा था तब वहाँ आरोग्यभवन में रहते थे न! वे सामने नीचे रहते थे, हम यहाँ ऊपर रहते थे। बस! एक बार आहार करके ऊपर घूमते थे, उसमें आये और ऐसे सामायिक कराये। लाओ तो सही तुम्हारी सामायिक की पुस्तक कहा, पते पड़े। उसमें यह निकला कि पुण्य होगा, पुण्य से फिर तुम्हारे ऐसा होगा। यह क्या गप्प मारी है? ये शास्त्र के पढ़नेवाले और पण्डित भाषण करनेवाले बीस-बीस हजार में। यह विपरीत उठता। फिर मेरी चिट्ठी थी। फिर कहा था, फिर चिट्ठी मेरी। यह खोटा लगता है, पुण्य से सामायिक होगी होगी? बनेचन्दभाई है न? भाई! प्रभुभाई नहीं? सामने, नदी के किनारे नहीं? मोरबीवाले का बनेचन्द त्रिभुवन आरोग्य भवन। संघवी। वे वहाँ रहे थे न? समझ में आया?

यहाँ कहते हैं, देखो! **शुद्धता हो, उतनी निश्चय सामायिक है, वहाँ वर्तते हुए शुभराग को व्यवहार सामायिक कहते हैं।** विकल्प हो, उसे निश्चय भेदज्ञान है, भेदज्ञान है, राग से भिन्न पड़ा हुआ है, ऐसा भानवाला है, उसे जरा स्थिरता का अंश है, उसके शुभभाव को व्यवहार सामायिक कहने में आता है। **निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक जिसने कषाय की दो चौकड़ियों का अभाव किया है...** जिसने आत्मा के अन्तर अनुभव में आत्मा की प्रतीति में, स्वभाव की श्रद्धा में, स्वाश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट किया; उससहित ज्ञानपूर्वक, उससहित ज्ञानपूर्वक। **जिसने कषाय की दो चौकड़ियों का अभाव किया है...** किया है का अर्थ-स्वभाव का आश्रय लेकर हुआ है। **उस जीव के सच्चे अणुव्रत और सामायिक व्रत होता है।** ऐसे जीव को सच्चे अणुव्रत और सच्ची सामायिक होती है, दूसरे को खोटे अणुव्रत और खोटी सामायिक है। लो! लिखा है।

मुमुक्षु : करते-करते...

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ कहते हैं, करते-करते भटक मरेगा।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो सब... खड़ा रखना था। उन सबको खड़ा रखना था, क्या करे? यहाँ स्पष्ट बात है, यहाँ गड़बड-बड़बड़ कुछ नहीं। उसे तो अभी रखना था न सब संसार का। गृहस्थाश्रम था, क्या करे? और उन बेचारे साधुओं को समझाकर खड़े रखना था। ऐसा ही चलता है।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : दीक्षा अर्थात् दीक्षा का नहीं कहा? दीक्षा देना अमुक को। ...अब दीक्षा कैसी वहाँ? साधुपना कैसा? लघुराज स्वयं साधु नहीं था और फिर दूसरों को दीक्षा देना? परन्तु यह सब व्यवहार की बात ऐसी है कि उसमें से पूरा शासन खड़ा करना कठिन पड़ता है। यह तो तब (संवत्) १९८१ में मैंने तो स्पष्ट कहा था, भाई! उनको अच्छा नहीं लगा।

जैन शासन की पूरी रीति पहले से ठेठ तक, विरोध न आवे ऐसी खड़ी करना कठिन पड़ता है। कठिन पड़े ऐसा है। उनको अच्छा नहीं लगा जरा। नहीं लगा तो हम क्या करें? उसमें तो एक वह कहा तो भी अच्छा नहीं लगा। 'वीरा मोरा गज थकी उतरो' आता है न उनमें? उन बाहुबली में? कहा - ऐसा नहीं होता। आर्यिका उनके पास गयी नहीं। उन्होंने तो जरा भरत चक्रवर्ती का वह था। अरे! इन भरत को दुःख लगा होगा, बस! इसके कारण अन्दर अटका था। उन भरत ने आकर पूजा की, वहाँ एकदम अन्दर... ओहो...! इन्हें तो कुछ नहीं। यह नहीं। श्रीमद् ने ऐसा कहा है। भाई! श्रीमद् ने कहा कहीं से कल्पना से, वहाँ श्वेताम्बर में चला होगा; इसलिए कहा होगा। इससे उस वस्तु को सिद्ध करना है तुम्हें? यह कथा की बात है और यह बात सिद्ध करनी है? ऐसा तो बहुत कथन है उसमें - भावनाबोध में। ...थे कब मुनि को? यह तो मूल आता है परन्तु उसमें भावनाबोध में होगा। पहले भावनाबोध प्रकाशित हो गया था न? देरी लगी थी। देरी लगी थी। ऐसा आता है वह, श्वेताम्बर में आवे, ज्ञातासूत्र में आता है।

वह हट गया न जब... वृक्ष के ऊपर लटका दे। वृक्ष के ऊपर लटका दिया। ऐसा नहीं आता परन्तु वहाँ बैठा था। ऐसा आया है। फिर उसने कहीं से ऐसा रच दिया। उसमें वह आता है न, बाद में उसे... पाठ में ऐसा। पाठ में तो बैठा था। यह मुँहपत्ती उसे मानते हैं न, उससे आकर वह कहे - अहो! धन्य अवतार तुम्हारा। पहला हाँ नहीं करता। क्योंकि उसे वापस जाना है। धन्य अवतार, तुम्हें भाई! दो भाई थे। बहुत धन्य अवतार तुम लेकर आये। वह प्रसन्न नहीं होता, बोलता नहीं। क्या है? क्यों बोलता नहीं, यह? संसार के भोग का अर्थ है? कि हाँ। चल राज में। स्वयं छोड़ देता है। स्वयं मुनि हो जाये और उसको राज्य में ले जाये - ऐसी बात ज्ञातासूत्र में आती है।

कहीं कपड़े-बपड़े साधु को होते हैं ? कभी तीन काल में (नहीं होते)। अतीन्द्रिय स्वरूप को साधने के लिये उत्कृष्ट भाव से जहाँ निकले हैं। उसे यह रखूँ और यह रखूँ, यह वृत्ति ही नहीं होती, कहो।

जिसके निश्चय सम्यग्दर्शन न हुआ हो, उसके व्रत को भगवान सर्वज्ञदेव बालव्रत अर्थात् अज्ञानमयव्रत कहते हैं। कहो, समझ में आया? **वह सामायिक प्रत्येक श्रावक को रात और दिन के अन्त में अर्थात् प्रभात और सन्ध्याकाल अवश्य ही नियमपूर्वक करना चाहिये।** नियमपूर्वक। **इसके अतिरिक्त यदि शेष समय में भी सामायिक की जावे तो वह गुण के निमित्त ही है, दोष के निमित्त नहीं है।** अधिक भी करना, परन्तु दो समय उसे नियम से करना।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

क्या है परमार्थ जल-गालन ?

श्रावक को पानी छानकर पीने का उपदेश है, परन्तु पहले यह आवश्यक है कि उसके भावों में शुद्ध सम्यग्दर्शन हो, **अपने चित्त को दोषों से हटाकर साफ करें, अर्थात् अपने चित्त को गालकर परभावों से पृथक् करे। ऐसी चित्तशुद्धि के साथ पानी छानकर पीवे। भेदज्ञानरूपी छन्ने से छानकर विभावों से पृथक् करके शुद्ध शान्त चैतन्य-जल का पान करे। सम्यक्त्वरूप शुद्धभाव से चित्त को गालना-शुद्ध करना, यही परमार्थ जल-गालन है। जिसने शुद्ध सम्यक्त्व से छानकर विभावों को शुद्धात्मा में से निकाल दिया है और शुद्ध चैतन्य-रस को जो वेदता है, उसी को परमार्थ जल-गालन है।** बाहर के जल-गालन आदि क्रियाकाण्ड में ही धर्म समझकर रुक जाए, और अन्दर में अपने चैतन्यजल को भेदज्ञानरूपी छन्ने से छानकर परभाव से पृथक् न करे तो उसे धर्म का लाभ नहीं होता। **वह बाहर में जड़ की क्रिया का अभिमान करता है, परन्तु अन्दर में तो मिथ्यात्वरूप मल से अनछने जल को ही वह पीता है।**